श्री गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति-ग्रन्थ

सम्पादक

डा० पन्नालाल साहित्याचार्य,

नीरज जैन, एम. ए

⊙

प्रकाशक

श्री भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

⊙

वर्णी जन्म शताब्दी २०३१ विक्रमाब्द,

वीर निर्वाण स० २५००, सन् १९७४ ईस्वी

प्रकाशक

डा. पन्नालाल साहित्याचार्य

मन्त्री

भारतवर्षीय दि० जैन f

मूल्य

पच्चीस रुपया

मुद्रक

सिंघई प्रिंटिंग प्रेस

मढाताल, जबलपुर

श्रद्धासुमन और संकल्पपूर्ति

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने लगभग पाच वर्ष पूर्व सकल्प किया था कि इस बीसवी शती के अनेक शिक्षा-सस्थाओं के जन्मदाता, सैकडों विद्वानो की सन्तति के जनक और महान् आध्यात्मिक सन्त **श्री गणेशप्रसाद वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति)** महाराज की जन्मशती आश्विन कृष्णा ४ विक्रम सवत् २०३१ को समारोहपूर्वक देश मे मनायी जाय और इस अवसर पर एक वर्णी स्मृति-ग्रन्थ का भी प्रकाशन किया जाय।

हमे प्रसन्नता है कि आश्विन कृष्णा ४ विक्रम सवत् २०३१ दिनॉक ५ अक्टूबर १९७४ को देश के अनेक भागो मे वर्णी शती के समारोह आयोजित हो रहे है और जनसमूह एव विद्वद्वर्ग इस पावन प्रसङ्ग पर अपने श्रद्धासुमन, कृतज्ञता-स्वरूप, पूज्य वर्णीजी के प्रति समर्पित करने का आयोजन कर रहा है। बडे प्रमोद का विषय है कि इसी अवसर पर यह **'वर्णी स्मृति ग्रन्थ'** भी प्रकट किया जा रहा है। वर्णीजी जितने महान् थे और उन्होने जितने महान् कार्य किये उतनी कृतज्ञता का ज्ञापन तो इस छोटे से ग्रन्थ मे नही हो पाया, फिर भी उनके महान् गुणो के प्रति अल्पानुराग एव भक्तिका यह विनम्र प्रतीक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे पूज्यश्री के जीवन की एक सक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण झॉकी देने का प्रयत्न किया गया है। आशा है इस प्रयत्न से जहॉ हमने वर्णी जी की पावन स्मृति कर अपने को कृतार्थ किया वहॉ पाठक भी इस ग्रन्थ के माध्यम से उनका स्मरण करके लाभन्वित होगे। हमारी उन्हे अनन्त श्रद्धाञ्जलियॉ अर्पित है।

दरबारी लाल कोठिया
अध्यक्ष
भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

प्रकाशक की ओर से

इस शताब्दी मे पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी ने जैनधर्म और जैन समाज के उन्नयन मे जो कार्य किया है उसका मूल्याङ्कन नही हो सकता। उनके प्रति तो विनम्र मस्तक से कृतज्ञता ही ज्ञापित की जा सकती है। वर्णीजी की जन्म शताब्दी के पावन अवसर पर भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् का यह प्रकाशन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का एक लघु प्रयास मात्र है।

जैन शासनके संरक्षण और विद्वानोकी सामयिक उन्नतिका उद्देश्य लेकर सन् १९४४ मे वीरशासन महोत्सवके अवसर पर कलकत्ता मे भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्‌की स्थापना हुई थी। विद्वत्परिषद् अपनी कार्यप्रणाली से रुचिकर सस्था सिद्ध हुई। अल्प समय मे ही अनेक विद्वान् उसके सदस्य हो गये। श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीकी क्षत्र-छाया मे कटनी मे इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। अनेक सदस्य एकत्रित हुए और वर्णीजी की प्रेरणा पाकर उन्होने चार हजार रुपये एकत्रित कर परिषद्‌का कार्य आगे बढाया। श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी ने अपने मन्त्रित्वकाल मे सस्थाको अच्छी प्रगति दी। कटनी, मथुरा, सोनगढ, बरुवा-सागर, सोलापुर, खुरई, द्रोणगिरि, मढिया, जबलपुर, ललितपुर, सिवनी, सागर और शिवपुरी मे इसके अधिवेशन तथा श्रावस्ती और खतौली मे नैमित्तिक अधिवेशन हुए। कार्यकारिणी की बैठके अनेक स्थानो पर सम्पन्न हुई। जहा भी अधिवेशन होते थे वहा का वातावरण आस्थामय तथा जागृति से युक्त हो जाता था।

विद्वत्परिषद्‌ने अपने सिवनी अधिवेशन मे गुरूणां गुरु श्री गोपालदासजी बरैया की शताब्दी मनानेका प्रस्ताव पारित किया था। तदनुसार श्रीमान् स्व. डा नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा के सम्पादन मे ६०० पृष्ठ के गोपालदास बरैयास्मृतिग्रन्थका प्रकाशन करके दिल्ली मे उक्त शताब्दी समारोह मनाया गया था। इस समारोहकी अध्यक्षता श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी ने की थी। गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ एक ऐतिहासिक प्रकाशन सिद्ध हुआ और उसकी समस्त प्रतिया अल्प समय मे ही समाप्त हो गयी। विद्वत्परिषद् की ओर से भारतवर्ष के समस्त विश्व विद्यालयो को उसकी प्रतिया नि शुल्क भेजी गई।

इसी शृङ्खला मे विद्वत्परिषद् ने शिवपुरी मे सम्पन्न रजतजयन्ती अधिवेशन के समय श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज का शताब्दी समारोह मनाने के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया था।

"आगामी सन १९७४ मे पूज्य श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजका जन्म-शताब्दी समारोह अखिल भारतीय स्तर पर मनाया जाय। इसे 'वर्णि जन्म-शताब्दी समारोह-सप्ताह' या पक्ष के रूप मे विविध कार्यक्रमो के साथ सम्पन्न किया जावे। इस अवसर पर पूज्य श्री वर्णीजीके व्यक्तित्व, कृतित्व एव विचारधारा से सम्बद्ध ग्रन्थ तैयार कराया जावे तथा उसका अच्छे स्तर पर प्रकाशन और प्रचार हो।"

अधिवेशनके उक्त प्रस्तावको क्रियान्वित करनेके लिये कार्यकारिणी ने पूज्य वर्णीजीके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालने वाले एक स्मृतिग्रन्थके प्रकाशनकी योजना बनायी। उसी योजना के अनुसार यह 'श्री गणेशप्रसाद वर्णी--स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ मे पूज्य वर्णीजी के प्रति श्रद्धालु भक्तजनो के हृदयोद्गार, पूज्य वर्णीजी का जीवनपरिचय, उनके प्रवचन तथा अन्य क्रियाकलापो का सकलन किया गया है। ग्रन्थकी सामग्रीको व्यवस्थित करने तथा सुन्दरतासे उसे प्रकाशित कराने मे श्री नीरज जी ने पर्याप्त श्रम किया है। श्री नीरज जी पूज्य वर्णीजी के सम्पर्क मे रहने वालो मे से एक है। बहुत भारी श्रद्धा, वर्णीजीके प्रति इनके हृदय मे है।

ग्रन्थके प्रकाशनमे आर्थिक सहयोगके रूपमे जिनसे जितना सहयोग प्राप्त हुआ है उनका आभार मानता हू। विद्वत्परिषद्की ओर से इस समय श्रीमान् स्व डा नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा के द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' नामक ग्रन्थ दो हजार पृष्ठके चार भागो मे प्रकाशित हो रहा है। इसका प्रकाशन भगवान् महावीर २५०० वे निर्वाण समारोह के उपलक्ष मे किया जा रहा है। विद्वत्परिषद् की समग्र शक्ति इसके प्रकाशन मे लग रही है। फिरभी हमे हर्ष है कि हम यह प्रकाशन भी समय पर प्रस्तुत कर रहे है।

ग्रन्थ मे प्रकाशित चित्रो मे से गया के चातुर्मास के दोनो चित्रो के लिये हम डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी के अनुग्रहीत है। अन्य सभी चित्र श्री नीरज जैन के कैमरे की कृति है। ग्रन्थ की रूप-सज्जा तथा ब्लाक निर्माण की दिशा मे राज ब्लाक वर्क्स के सचालक श्री राजेन्द्रकुमार जी से उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। परिषद इन सभी सहयोगियो के प्रति आभारी है।

इस स्मृतिग्रन्थ का मुद्रण श्री अमृतलालजी परवार ने अपने सिंघई प्रेस जबलपुर मे बडी तत्परता और लगनके साथ किया है। कागज की मँहगाई और मुद्रणकी कठिनाईके कारण हम ग्रन्थ को जितनी सुन्दरताके साथ प्रकाशित करना चाहते थे उतना नही कर सके है, इसका खेद है। श्री प मोहनलाल जी शास्त्री जबलपुर ने प्रूफ देख कर प्रकाशनमे अच्छा सहयोग दिया है। अन्तमे समस्त सहयोगियो के प्रति नम्र आभार प्रकट करता हुआ आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ समाज मे सुरुचिपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

विनीत

पन्नालाल साहित्याचार्य

मन्त्री

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्

सागर

सम्पादकीय

श्रीमान् पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी वह सोलह् वानी के सुवर्ण थे, जो त्याग की आग मे अपनी किट्टकालिमा को भस्म कर चुके थे । एक अजैन कुल मे उत्पन्न हो कर भी उन्होने अपनी परीक्षा-प्रधानता से लोक-कल्याण-कारी जैनधर्मको स्वीकृत किया और उसके आचार विचार तथा सिद्धान्तोके अनुरूप अपना आचरण बनाया । जो पुरातन इतिवृत्त को नही जानते वे इस बात की कल्पना भी नही कर सकते कि कभी वर्णीजी अजैन थे ।

आज जन्मजात धर्मको छोड कर दिगम्बरधर्म मे आये हुए कितने ही लोगो के अपने पुरातन सस्कार नही छूट रहे है । उनके खान-पान तथा रहन-सहन आदिके वही सस्कार बने हुए है जो पूर्व मे थे, परन्तु पूज्य वर्णीजी अङ्गीकृत परीक्षित धर्मके आचार विचार और सस्कारोमे इतने रच पच गये थे कि उनमे पूर्वधर्मके सस्कार अंशमात्र भी नही रह गये थे ।

जहा तहा भ्रमण कर जब वे जैनधर्म का सर्वाङ्गीण अध्ययन कर चुके तब समाजके उन्नयन मे उन्होने पग बढाया । शिक्षा ही मनुष्य का आत्मबल बढाती है तथा उसकी आन्तरिक निर्बलता दूर करती है । यही विचार कर उन्होने जैनसमाज मे शिक्षाप्रसार का काम हाथ मे लिया । मात्र स्वाध्यायकी शैलियो मे शिक्षाका सर्वतोमुखी विकास नही हो सकता । उसके लिये तो सस्कृत प्राकृत आदि भाषाओका यथाविधि ज्ञानार्जन करना आवश्यक होता है । यही सब मन मे रख कर उन्होने वाराणसी मे स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर मे सत्तर्कसुधातरङ्गिणी पाठशाला की स्थापना की । इन पाठशालाओके साथ उन्होने छात्रावास भी रक्खे जिससे ग्रामीण बालकोको उच्चस्तरीय अध्ययन करनेका प्रसङ्ग मिलने लगा । इन विद्यालयो मे धर्मशास्त्र के साथ न्याय, व्याकरण तथा साहित्य आदि का भी साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कराया जाता था इसलिये इनमे अध्ययन कर निकले हुए विद्वान अजैन विद्वानो की टक्कर मे कम नही उतरे । उन्होने अनेको शास्त्रार्थ जीते तथा प्राचीन साहित्यको सम्पादन तथा अनुवाद आदि से अलकृत कर प्रकाशित किया ।

विद्वानोकी इस श्रेणीको देख पूज्य वर्णीजी का रोम-रोम विकसित हो जाता था और हृदय मे वे भारी आनन्दका अनुभव करने लगते थे । देहातोमे भ्रमण कर वे साधन विहीन प्रतिभाशाली बालकोको ले आते थे और इन पाठशालाओ मे प्रविष्ट कराकर उन्हे उत्तम विद्वान् बना देते थे । मेरे जैसे साधन-विहीन कितने बालकोको उन्होने सहीरूप मे विद्वान बनाया है यह कह सकने की मुझमे क्षमता नही है ।

मै अपने जीवननिर्माणमे पूज्य वर्णीजी का महान् उपकार मानता हूँ । यही कारण है कि उनसे सम्बद्ध किसी कार्यके करने मे मुझे असीम आनन्द होता है । पूज्य वर्णीजीकी **'मेरी जीवन गाथा'** दोनो भाग तथा **समयसार-प्रवचन** के सम्पादन मे मै रात दिन का विभाग ही भूल गया था । बड़ी तन्मयताके साथ ये तीनो कार्य हुए थे ।

अभी पिछले दिनो शिवपुरी मे जब विद्वत्परिषद्ने पूज्य वर्णीजीकी जन्म शताब्दी मनानेका निश्चय किया और मडावरा की कार्यकारिणी मे ग्रन्थसम्पादन का कार्य मुझे सौपा गया तब वर्णी

जीके अनन्त उपकार एकवार फिर हृदय मे स्मृत हो उठे और कार्य-कारिणीका आग्रह मैंने नतमस्तक होकर स्वीकृत कर लिया। विद्वानो से सम्पर्क स्थापित कर कार्य प्रारम्भ किया गया।

इच्छा थी कि वर्णीजीकी स्मृति मे निकलने वाला यह सम्भवत अन्तिम ग्रन्थ है अत उनकी बिखरी हुई सामग्री इस ग्रन्थ मे व्यवस्थित रूपसे सकलित की जाय। विविध विषयोके लेख 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' मे पहले प्रकाशित किये जा चुके थे इसलिये उनकी ओरसे व्यामोह छोड मात्र वर्णीजीसे सम्बद्ध लेख प्रकाशित किये जाय और उनके विषय मे भक्तजनो के श्रद्धापुष्प प्रकट किये जावे।

पूज्य वर्णीजीके समाधिमरणका 'आखो देखा हाल' मै प्रकाशित करना चाहता था और उसके लिये जीवनगाथा द्वितीयभागके आगे तृतीयभाग प्रकाशित करने हेतु उनकी डायरियाँ आदि एकत्रित करली थी परन्तु समय और साधनके अभाव मे इच्छा पूर्ण नही कर सका था। उनकी समाधिके समय नीरज जी ईसरीमे ही थे अत मैंने उनसे आग्रह किया कि समाधि का वृतान्त आप अपनी लेखिनी से लिख दीजिये। उन्होने सहर्ष स्वीकृत किया और 'कथा का विसर्जन, और विसर्जन-की कथा' शीर्षक से एक सुन्दर लेख लिखकर भेज दिया।

श्री डा० नरेन्द्र विद्यार्थी वर्णी-साहित्य के अनुपम अध्येता विद्वान हैं। उनके द्वारा सकलित और सम्पादित वर्णीवाणी (४ भाग) तथा पत्रपारिजात (५ भाग) मे अधिकाश वर्णी साहित्य प्रकाशित होकर समाज के हाथो मे पहुँच चुका है। इस ग्रन्थ के तृतीयखण्ड की अधिकाश सामग्री विद्यार्थी जी के द्वारा सम्पादित ग्रन्थो मे से चुनी गई है जिसके लिये विद्यार्थीजीका आभार मानना मेरा कर्त्तव्य है। पूज्य वर्णीजीके प्रमुख भक्त समुदायमे विद्यार्थी जीका महत्त्वपूर्ण स्थान उनके विद्या-ध्ययन काल से सतत ही रहा है।

श्री कपूरचन्द्र जी बरैया एम ए लश्कर ने 'सुख की एक झलक' नाम से वर्णीजी महाराज के प्रवचन १०–१५ भागो मे प्रकाशित किए है। नीरज जी के प्रयत्न से वर्णी अध्यात्म पत्रावली' तथा 'समाधिमरण पत्रपुञ्ज' का प्रकाशन वर्णी स्नातक परिषद के लिए ग्रन्थमाला ने किया था। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही महानुभावोके पास वर्णीजीके पत्र आदि सकलित है। इस बहुविध सामग्रीके विविधभाँति उपयोग से इस ग्रन्थको महत्त्वपूर्ण बनाया गया है। उन सबका मैं आभारी हूँ। श्री वर्णी-ग्रन्थमालाके द्वारा प्रकाशित **मेरी जीवन गाथा** के दो भाग तथा **समयसार** से भी यथेच्छ उपयोगी सामग्री इसमे ली गयी है। पूज्य वर्णीजीकी वाणी जिन्होने साक्षात् सुनी है वे तो आनन्दका अनुभव करते ही है परन्तु उनकी प्रकाशित वाणीका जो स्वाध्याय करते हैं वे भी कम आनन्द का अनुभव नही करते। पूज्य वर्णीजीकी वाणीको मै मिसरीकी डलीके समान समझता हूँ जिसमे सदा माधुर्य विद्यमान रहता है। सस्मरणो और लेखो के विद्वान् लेखको ने जो भी तथ्य या घटनाये अपने शब्दो मे बाधी है वे स्वत ही उनकी प्रामाणिकता के लिये उत्तरदायी हैं। लेखको की विचारधारा के साथ भी सम्पादक या विद्वत् परिषद् की अनुमोदना अनिवार्य नही।

इस सब बिखरी सामग्री को सकलित और समलकृत करने का कार्य श्री नीरजजी ने किया है। आप प्रतिभाशाली लेखक है। यदि मुझे इनका सक्रिय सहयोग प्राप्त न होता और ग्रन्थ की सामग्री सवारने से लेकर मुद्रण तक केलिये वे इतनी दौड धूप नही करते तो अल्प समयमे इस ग्रन्थका प्रकाशन सम्भव नही था।

यह ग्रन्थ चार खण्डो मे विभाजित है। प्रथम खण्ड मे पूज्य वर्णीजी की लेखनी से प्रसूत पाच पत्रो को 'उनके अक्षर उनकी बात' शीर्षक के अन्तर्गत प्रारम्भ करके उनके श्रद्धालु भक्तो की अडसठ श्रद्धाजलिया और संस्मरण प्रकाशित किये गये है। इस खण्ड के अन्त मे दस संस्कृत की और तीस हिन्दी की वर्णीजी विषयिक कविताओ का सकलन 'काव्य कुसुमाजलि' के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार श्रद्धाञ्जलियोकी इस माला मे एक सौ आठ पुष्प पिरोये गये है।

द्वितीय खण्ड मे छोटे-बड़े उन्नीस रेखाचित्रो के माध्यम से पूज्य वर्णीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इसी खण्ड मे सागर की सस्थाओ और मड़ावरा के इतिहास की भी झाकी प्रस्तुत की गयी है।

तृतीय खण्ड मे पूज्य वर्णीजी के प्रवचन और चिन्तन की गहन गगा को इक्कीस अलग-अलग शीर्षको के अन्तर्गत डेढ सौ पृष्ठ की छोटी सी गागर मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

अन्तिम चौथे खण्ड मे भगवान महावीर की देशना को गुम्फित करने वाले पाच लेख प्रस्तुत किये गये है।

जिन लेखको और कवियो ने अपनी सारगर्भित तथा ललित रचनाए भेज कर ग्रन्थको गौरवान्वित किया है उन सबके प्रति मै विनम्र शब्दो मे आभार प्रकट करता हूँ साथ ही उन लेखक तथा कवियो से क्षमायाचना भी करता हूँ कि जिनकी रचनाओ को मै विलम्ब से प्राप्त होने तथा कागज की महर्धताके कारण ग्रन्थ मे प्रकाशित नही कर सका हूँ। उन अर्थ दाताओ के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनसे पत्र पुष्प फल तोय के रूप मे प्राप्त अर्थराशि से ग्रन्थ के प्रकाशन मे कुछ भी सहयोग प्राप्त हुआ है।

अन्त मे पूज्य वर्णीजीकी दिवगत आत्मा से निम्नाकित कामना करता हुआ प्रस्तावना लेख समाप्त करता हूं।

येषा कृपा - कोमलदृष्टिपातै.,
सुपुष्पिताभून्मम सूक्तिवल्ली।
तान् प्रार्थये वर्णिगणेश - पादान्,
फलोदय तत्र नतेन मूर्ध्ना॥

✲

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

श्रद्धाञ्जलियाँ, संस्मरण और काव्य-कुसुमाञ्जलि

१	उनके अक्षर उनकी बात	१३
२.	सन्देश ..	१७
३	अद्भुत व्यक्तित्व उच्च विचार श्री ब्र सुरेन्द्रनाथजी	२०
४.	उनकी पावन-स्मृति को प्रणाम श्री नीरज जैन, एम ए., सतना	२३
५	गणेश-वर्णी : श्री जिनेन्द्र वर्णी	२४
६	अकारण अनुग्रही महात्मा स्व ब्र मूलशकर देसाई .	२६
७	प्रबुद्ध सन्त श्री ब्र प्रद्युम्नकुमार जी, एम. ए ..	२६
८	कुछ निकट के क्षण ' श्री ब्र गोरेलालजी शास्त्री .	२८
९	जागृति के अग्रदूत श्री ब्र सरदारमलजी जैन ...	२९
१०	महान् परोपकारी वर्णीजी ' श्री ब्र भगवानदासजी लाहरी ..	३१
११	शाँति की मूर्ति और दया के अवतार स्व प० दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री	३२
१२.	करुणासागर, असमानविद्वान श्री साहू शातिप्रसाद जी ...	३४
१३.	परम आध्यात्मिक सत : सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी .	३४
१४	अमूल्य देन सर सेठ राजकुमारसिह जी ...	३५
१५	पूज्य वर्णीजी के कुछ सस्मरण श्री प० जगन्मोहनलाल जी ...	३६
१६	उस ज्ञान-प्रकाश-दाता को सादर प्रणाम सिद्धान्ताचार्य श्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री	३९
१७.	एक महान् विभूति श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री	४०
१८	मेरे जीवन-दाता वर्णी जी प० श्री फूलचन्द्रजी शास्त्री	४१
१९	सोवत जागत लगन हिये की श्री ब्र० नाथूलालजी शास्त्री .	४६
२०	मेरे दीक्षा-गुरु श्री ब्र० राजाराम जी जैन ...	४७
२१	उत्कृष्ट सन्त श्री प० नाथूलाल जी शास्त्री	४८
२२	इस शती के महानतम पुरुष श्री वर्णी जी डॉ दरबारीलालजी कोठिया	४८
२३	अविस्मरणीय सस्मरण ' श्री प० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री .	५१
२४	परम-उदार महा-मानव श्री उदयचन्द्रजी जैन	५४
२५	विद्वानो के प्राण श्री प० नन्हेलालजी शास्त्री .	५९
२६	सच्चे मार्गदर्शक श्री जम्बूप्रसादजी शास्त्री .	६०
२७.	प्रथम दर्शन श्री प० भुजबलीजी शास्त्री ..	६१
२८	परमोपकारक वर्णीजी श्री प० बालचन्द्रजी शास्त्री ..	६२

२९ आध्यात्मिक संत . श्री पं० परमानन्दजी शास्त्री ...
३०. चिरस्मरणीय विभूति : श्री प० सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर ... ६४
३१. बड़े पण्डितजी : स्वामी सत्यभक्तजी ... ६९
३२. मेरे जीवन निर्माता डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य ... ७२
३३ परोपकाराय सता प्रवृत्ति श्री आर्यिका विशुद्धमती माताजी ... ७५
३४. आध्यात्मिक सत श्री आर्यिका विनयमती माताजी ... ७६
३५. मुनि श्री १०८ श्री गणेशकीर्ति जी महाराज श्री ब्र० चन्दाबाईजी ७८
३६. उजियारी का बेटा जगत का दीप–स्तम्भ . पं० ब्र० सुमित्राजी जैन ७८
३७ भक्तो के भगवान् : सौ० कपूरीदेवी ... ८०
३८. वर्णी जी और स्त्रीसमाज : पुष्पलता देवी "कौशल" ... ८१
३९ नारी-समाज के परम-हितैषी . श्रीमती रूपवती 'किरण' ... ८३
४०. ऐसे हते हमाये बाबाजी श्रीमती शान्ति नीरज जैन ... ८४
४१ दो सन्तो का साक्षात्कार : श्रीमती रमा जैन ... ८५
४२. उस मातृत्व को प्रणाम कुमारी मजुला जैन ... ८९
४३. युग पुरुष वर्णीजी : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ... ९१
४४ पूज्य वर्णीजी के कुछ प्रेरक सस्मरण : श्री भैयालालजी सराफ ... ९५
४५ संत समागम के कुछ क्षण : श्री शारदा प्रसादजी ... ९७
४६ उस महायात्रा की दो स्मृतियाँ · डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी ... ९९
४७ इसकी इच्छा मत करना . प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला ... १०४
४८ वर्णीजी का क्षणिक-व्यामोह : डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन ... १०७
४९. वे शान्ति-विधाता पूज्य-चरण . श्री अमरचन्द्रजी जैन ... १०८
५०. अमृतपुत्र वर्णी जी : डॉ० भागचन्द्रजी जैन 'भास्कर' ... ११०
५१. मुमुक्ष शिरोमणि . गणेश वर्णी · श्री नीरज जैन ... १११
५२. भविष्य-दृष्टा परम गुरु · श्री भागचन्द्रजी इटौरिया ... ११९
५३ बाबाजी के कुछ संस्मरण : श्री नन्दलालजी सरावगी ... १२१
५४ तेजस्वी आत्मा वर्णी जी . श्री गुलाबचन्द्रजी पांड्या ... १२४
५५. अतीत के वे अविस्मरणीय क्षण श्री कपूरचन्द्रजी वरैया ... १२६
५६ वाचमर्थोऽनुधावति : श्री पं० अमृतलालजी शास्त्री ... १२८
५७. ज्ञानमूर्ति वर्णी जी : श्री प० कन्छेदीलालजी जैन ... १२९
५८. उन सन्त को प्रणाम . श्री प० बालचन्द्रजी जैन शास्त्री ... १३१
५९. एक लोकोत्तर पुरुष वर्णी जी स० सिं धन्यकुमारजी जैन ... १३१
६०. वर्णीजी! तुम्हे शत शत वन्दन, शत शत प्रणाम : श्री महेन्द्रकुमारजी मानव १३४
६१. मेरी डायरी के पृष्ठो पर पूज्य वर्णी जी : श्री प० भैया शास्त्री "कोछल्ल" १३५
६२ श्रद्धाजलि : स सि. प० रतनचन्द्रजी जैन शास्त्री ... १३७
६३. सस्मरण : श्री शाह हजारीलाल रामप्रसाद जैन ... १३७
६४. संत-हृदय नवनीत समाना : श्री पं० पन्नालाल जैन ... १३८

६५ जिसे कभी नही भुलाया जा सकता श्री कमलकुमारजी जैन ... १३९
६६ रेखा चित्र मेरे वर्णी श्री रतनचन्द्रजी 'अभय' .. १४०
६७ वर्णी बाबा से मेरा परोक्ष साक्षात्कार श्री हेमचन्द्रजी जैन 'हेम' १४२
६८ वे करुणानिधि सन्त श्री अमृतलालजी परवार ... १४४

काव्य-कुसुमांजली—

६९ श्री मद्वर्णिगणेशाष्टकम् स्व श्री ठाकुरदासजी जैन शास्त्री १४५
७० ते वन्द्यपादा वरवर्णिदेवा श्री पन्नालालजी जैन १४७
७१ श्री गणेशाष्टकम् . श्री गोपीलालजी अमर ... १५०
७२ वर्णि-सूर्य श्री प० अमृतलालजी शास्त्री ... १५१
७३. वर्णिनेऽस्तु नमो नम श्री प० अमृतलालजी जैन . १५२
७४ वर्णि गाथा श्री कमलकुमारजी जैन १५३
७५ समर्पणम् . श्री कमल कुमारजी जैन ... १५५
७६. गणेशस्तुति श्री मूलचन्द्रजी शास्त्री .. १५६
७७ वर्णि वन्दना श्री मूलचन्द्र शास्त्री ... १५८
७८. शब्द प्रसून डॉ० नरेन्द्र 'विद्यार्थी' १६०
७९ एक चादर मे बँधा है विश्व का विश्वास स्व० हरिप्रसादजी 'हरि' १६१
८० पूज्य वर्णी जी के प्रति स्व० धन्यकुमारजी जैन 'सुधेश' ... १६२
८१ श्रद्धाजलि अध्यापक एव छात्र समुदाय जनता हायर सेकेन्डरी स्कूल १६३
८२ तुम्हारा ही वह पौरुष धन्य श्री हुकुमचन्दजी बुखारिया .. १६५
८३ सत की चादर श्री नीरज जैन १६६
८४ जाओ सुपन्थ के पथिक श्री नीरज जैन . १६८
८५. किसकी पुण्य जयन्ती श्री नीरज जैन ... १७१
८६ शाश्वत सहज प्रकाश है श्री नीरज जैन .. १७२
८७ आशका भरी एक चिट्ठी नरेन्द्र विद्यार्थी के नाम श्री नीरज जैन १७३
८८ बच्चो के वर्णी जी . डा० नरेन्द्र विद्यार्थी ... १७४
८९ गणेश मन भाया था श्री सुमेरचन्द्रजी 'कौशल' .. १७५
९० ओ, महासत वर्णी महान श्री प्रेमचदजी जैन 'विद्यार्थी' १७५
९१ मेरे वर्णी मेरे महान श्री ज्ञानचदजी जैन 'आलोक' १७६
९२ मानवता के अमर प्राण वैद्य श्री ज्ञानचंदजी जैन 'ज्ञानेन्द्र' ... १७७
९३ चिरोजा मा के चरणो मे वैद्य श्री ज्ञानचदजी जैन 'ज्ञानेन्द्र' ... १७८
९४. हृदयोद्‌गार श्री राजकुमारजी शास्त्री ... १७८
९५ पूज्य वर्णी जी के प्रति श्री निर्मल जैन ... १७९
९६ शत-शत अभिनन्दन : श्री हजारीलालजी 'काका' ... १८०
९७ सौ सौ बार प्रणाम श्री शर्मनलालजी जैन 'सरस' . १८१
९८ वर्णी जी की अमर कहानी ' श्री धरणेन्द्रकुमार जी जैन कुमुद १८२

९९ वर्णीजी के चरणो मे : श्री धरणेन्द्र कुमारजी जैन कुमुद ...
१००. वर्णी महान् . श्री फूलचन्द्रजी 'मधुर' ...
१०१. श्री जैनजाति के बादशाह : श्री जीवेन्द्रकुमारजी सिघई .. १८५
१०२ आध्यात्मिक योगी · श्री नेमिचन्द्रजी विनम्र ... १८६
१०३. गुरु गणेश : श्री रवीन्द्रकुमारजी जैन ... १८७
१०४ शत शत वन्दन शत शत वन्दन . वैद्य श्री दामोदर दासजी जैन .. १८८
१०५ महासन्त श्री वर्णी जी : श्री ब्र० माणिकचन्द्र जी चवरे ... १८९
१०६. छोड तन वर्णी महान पद पा गये : श्री प्रकाश जैन 'प्रभाकर' ... १९२
१०७. एक बार फिर आना होगा श्री फूलचन्द्रजी पुष्पेन्दु ... १९१
१०८. पूज्य वर्णी जी के निधन पर : श्री निर्मल जैन ... १९२

द्वितीय-खण्ड—व्यक्तित्व और कृतित्व

१. वर्णीजी और उनकी उपलब्धिया डॉ० पन्नालालजी जैन ... १
२. आत्म-विश्लेषक गणेश वर्णी का पत्र : साधक गणेश वर्णी के नाम १५
३. रोशनी का बेटा : डॉ० नेमीचन्द्र जैन ... १६
४. जैनसस्कृति के विकास मे वर्णी जी का योगदान · श्री प० दयाचन्द्र जी २०
५. पूज्य गुरुदेव के सम्पर्क मे . प० शिखरचन्द्र जी ... २६
६. ज्ञानरथ के प्रवर्तक : प्रो० उदयचन्दजी जैन ... ३१
७ विद्वानो की परम्परा का भविष्य : प० जगन्मोहनलालजी ... ३६
८. उनका एक प्रेरक पत्र नई पीढी के नाम . श्री नीरज जैन ... ३७
९. वर्णी जी और समाज श्री सुमेरचन्द्रजी कौशल ... ३९
१०. कथा का विसर्जन और विसर्जन की कथा : श्री नीरज जैन ... ४१
११. पूज्य वर्णी जी के कुछ अप्रकाशित पत्र : डॉ० कन्हैयालालजी अग्रवाल ५०
१२. पूज्य वर्णी जी के सुभाषित : श्रीचन्द्रजी जैन ... ५५
१३ वर्णी जी और जैनधर्म : सन्तविनोवा जी भावे ... ५८
१४. सागर विद्यालय के सस्थापक और सहकारी . पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य ६०
१५ सागर विद्यालय-एक दृष्टि : पं० फूलचन्द्रजी ... ६७
१६. सागर नगर के जीवन स्मारक : श्रीचन्द्रजी जैन ... ७०
१७ समस्त वर्णी वाङ्गमय—एक सक्षिप्त परिचय . कुमारी बन्दना जैन ७२
१८ वर्णी जी की विकासभूमि मड़ावरा श्री विमलकुमारजी जैन सोरया ७६
१९. श्रुत-पञ्चमी : त्यागियो और विद्वानो से ... ८२

तृतीय-खण्ड—प्रवचन और चिन्तन

१. भगवान महावीर ... १
२. सम्यग्दर्शन ... ६

३.	सम्यग्दृष्टि	...	६
४	मोह महाविष	...	१६
५.	ससार-चक्र	..	२४
६.	शाति कहाँ ?	...	२८
७	वर्णी जयन्ती	...	३१
८	प्रज्ञा	..	३३
६.	रक्षा—बन्धन	..	३५
१०	अशान्ति	.	३७
११	कर्मबन्ध का कारण	..	३६
१२	त्याग की विडम्बना	..	४१
१३	अनेक समस्याओ का हल—स्त्री-शिक्षा	...	४३
१४	दश-लक्षण धर्म	...	४५
१५	समाधिमरण पत्र-पुज	...	७६
१६	एक ऐतिहासिक प्रवचन	...	८७
१७.	हरिजनो की धार्मिक पात्रता	...	६३
१८	द्रव्य और उसके परिणाम का कारण	...	६६
१६	वर्णी-प्रवचन (समयसार)	...	११४
२०	वर्णी-प्रवचन (ज्ञानार्णव)	..	१३१
२१	गागर मे सागर	...	१४३

चतुर्थ-खण्ड—लेख माला

१	सबसे बडा पाप—मिथ्यात्व	श्री सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री	१
२	आध्यात्मिक सुख के सोपान गुणस्थान	बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	५
३	भगवान् महावीर की अध्यात्मदेशना	डॉ० प० पन्नालालजी साहित्याचार्य	१८
४	पूज्य वर्णी जी के प्रशसक श्री मुकुन्द शास्त्री 'खिस्ते'	श्री अमृतलालजी शास्त्री	२७
५	'जैन-दर्शन मे लोक-मगल की भावना	श्री मिश्रीलाल जैन एडवोकेट	३१

✲

प्रथम खण्ड

श्रद्धाँजलियाँ संस्मरण

और

काव्य-कुसुमाञ्जलि

ममता समता क्षमता की, शुचि धाराओं के संगम।
तुम्हीं कर सके महावीर की, वाणी को हृदयंगम॥

—नीरज जैन

उनके अक्षर उनकी बात

अगाध विद्वत्ता, असाधारण अनुभव और अनेक महानताओं के पुञ्जीभूत व्यक्तित्व का नाम था गणेश प्रसाद वर्णी । उनका कहा एक एक वाक्य और उनका लिखा एक एक अक्षर अपनी जगह 'गागर में सागर' की उपमा का सशक्त उपमेय होता था । उनके प्रत्यक्ष दर्शन का जैसे एक अद्‌भुत प्रभाव मन पर पडता था, उसी प्रकार उनकी पावन लेखनी से प्रसूत उनकी बात को, उन्ही की लिपि मे पढकर एक अनोखे ही आनन्द की अनुभूति होती थी ।

यह बडे सौभाग्यकी बात मानी जानी चाहिए कि पूज्य वर्णीजीका लेखन आज भी हजारो पत्रो के रूप मे, सैकडो नोट्स तथा दैनन्दिनी के पृष्ठोके रूप मे और समयसार-प्रवचन की विस्तृत पाण्डुलिपिके रूप में आज भी हमे उपलब्ध है । इस अनमोल सामग्रीको सकलित, सुरक्षित और सुनियोजित करने का कार्य जितना श्रम-साध्य है, उतना ही व्यय-साध्य भी है । यह एक कटु सत्य है कि इस दिशा मे कोई प्रयत्न अब तक हम नही कर पाये है । यह भी आशका अब लगने लगी है कि यदि समय रहते पर्याप्त प्रयत्न नही किये गये तो यह अनमोल निधि हमारी उपेक्षा और काल-दोष से नष्ट या विलुप्त हो जाने मे अधिक विलम्ब अब नही लगेगा ।

आज उनकी जन्म-शताब्दीके अवसर पर हम अपने अशक्त हाथों मे जब उनके लिए थोड़े से शब्द-प्रसून सजाने बैठे तब हमे यही उपयुक्त लगा कि उनकी हस्त-लिपि मे ही थोड़े से अक्षर प्रस्तुत करके इस अञ्जलि का आरम्भ किया जाय । इस मालाका वही पहिला गुरिया हो ।

सर्व प्रथम हम दे रहे है वह दुर्लभ पत्र जो पूज्य वर्णी जी ने अपने प्रशसक श्री खिस्ते महोदय को उनकी जीवन सगिनी के चिर विछोह के अवसर पर सवेदना देने हेतु लिखा था ।

इस ऐतिहासिक पत्र के लिए हम डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी के आभारी। उनसे प्राप्त सामग्री का उपयोग अन्यत्र भी इस ग्रन्थ मे किया गया है।

श्रीयुत महानुभाव स्वस्ति कल्याणभाजनमस्तु

आप की धर्मपत्नी का वियोग होने से आप को
शोक होना तो अनिवार्य है ही परन्तु हम को भी
यह हुवा - परन्तु क्या उपाय है जो नहीं जब जिस
का वियोग हुवा उस का संयोग होना तो असम्भ
व है हां यह हो सकता है जो हम उस वियोग का
स्मरण न करें यह होना असम्भव नहीं और आप
बहु ज्ञानी हैं मैं आप को क्या लिखूं - आप ही के
द्वारा कुछ जाना है आप ही कहते थे

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम्

आ. शु. चिं
गणेश वर्णी

ज्ञान बाबा जी की दृष्टि मे चारित्रका प्राण ही था। शान्तिको वे ज्ञान का फल कहा करते थे। डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी को एक बार उन्होने लिखा—

श्रीयुत चिरंजीवी नरेन्द्र कुमार जी योग्य आनन्द रहो
ज्ञानार्जन का चरम फल शान्ति है - चारित्र का प्राणभूत है -
ज्ञान का लाभ करने वाले को अपने कल्याण का सर्वदा
ध्यान रहना चाहिए अगर का कल्याण आज तक न कोई
कर सका और न कर सकेगा - आप का जिस में कल्याण
हो करो - विशेष क्या लिखें

आ. शु. चि
का. सु. ३ गणेश वर्णी
सं २००९

पारस प्रभुके पाद मूल मे जाकर बस जाने के बाद उनकी लगन वही सिद्ध भूमि मे ही देहोत्सर्ग करनेकी लग गई थी। बीच बीच मे जब भी उन्हे बुन्देलखण्ड वापस लानेके प्रयत्न किये गये, पूज्यश्री ने सदैव निरुत्साहित ही किया। स० २०१२ मे श्री नीरज जैन के एक पत्रके उत्तर मे उन्होने अपना सकल्प इन शब्दों मे प्रकट किया—

श्रीयुत महाशय नीरजजी योग्य
कल्याण भाजन हो
अब हमारा शरीर इतना दुर्बल हो गया है और
मील गमन करने में भी असमर्थ है - कैसे इतनी
यात्रा कर सकता हूं - अब स्वतन्त्र स्वाध्याय करूं
यह बहुत है - यदि किसी को कुछ सुना नहीं सके
केवल भार भूत होके रहना उचित नहीं आप तो
विज्ञ हैं केवल आज कल निरपेक्ष उपकार
करना कठिन है अतः आप बुलाने का प्रयास मत
करिए - यहीं पर शरीर पतन दे दिया इसलिए
और यहीं स्थिर रहने का यत्न कीजिए
अब ऐसे सज्जन नहीं जो निरपेक्ष वैयावृत्य
करने में उत्साही हों —
आ. शु. चि.
गणेश वर्णी

बुन्देलखण्डके उत्कर्षके नाम पर एक बार पुन ऐसी ही प्रार्थना किये जाने पर उन्होने अपना निश्चय दोहराते हुए एक बडी मार्मिक बात लिखी कि—"सगठन होता तो ऐसा (बुन्देल खण्ड सा) सदाचारी प्रान्त इस दशा मे न रहता—

कल्याणभाजन हो— पत्र आया समाचार जाने— अब हमारी
अवस्था पक्व पात सदृश है— न जाने कब पात हो जावे
अतः यातायात प्रयास से कोई जनता को लाभ नहीं— हमारी
भावना निरन्तर प्रान्त के उत्कर्ष की रहती है परन्तु प्रान्त
में संघटन नहीं— अन्यथा ऐसा सदाचारी प्रान्त इस
दशा में न रहता।

गणेश वर्णी

वर्णीजीके प्राय सभी पत्र छोटे-छोटे उपदेशो से भरे रहते थे। पत्र का एक एक शब्द अपने मे न जाने क्या कुछ समेटे रहता था। अपने एक भक्त श्री भागचन्द्र इटौरया दमोहको लिखा गया उनका एक पत्र इस सदर्भ मे दृष्टव्य है।

कल्याणभाजन हो— जहां तक बने आपकी जो वृत्ति है
उसकी रक्षा करना— थोड़ा स्वाध्याय अवश्य
करना— कल्याण का मार्ग उदारता है वह आप में है
पर्वदिवस में शक्ति के कुछ भी प्रत्याख्यान करना चाहि
ए— आत्म की दया जिसके होती है वही
पराई दया कर सकता है— पड़ोसी यदि दुखी
हो तब प्रथम उसके ऊपर दया करना चाहिए
चाहे कोई हो— जो उदारता आप में है वह
गृहिणी को भी सिखाना चाहिए—

आ. शु. चि.

जेठ सुदि १४
सं २०१३

गणेशवर्णी

*

श्री सत्यनारायण सिंह
राज्यपाल,
भोपाल, मध्यप्रदेश

हार्दिक प्रसन्नता की बात है कि भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद द्वारा संत श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी का शताब्दि महोत्सव आयोजित किया जा रहा है, तथा इस अवसर पर वर्णी-स्मृति-ग्रंथ का भी प्रकाशन किया जा रहा है।

श्री वर्णीजी द्वारा सस्कृत तथा जैन साहित्य के अध्ययन तथा प्रचार-प्रसार के लिये उल्लेखनीय प्रयास किये गये है। आशा है, शताब्दि-महोत्सव के आयोजन तथा स्मृतिग्रथ के माध्यम से, सत श्री वर्णीजी के विचारो और आदर्शों के अधिकाधिक प्रसार का अवसर सुलभ होगा।

शुभ कामनाओ सहित।

—सत्यनारायण सिंह

✲

श्री प्रकाशचन्द्र सेठी
मुख्यमत्री,
भोपाल, मध्यप्रदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद, संत-प्रवर श्रद्धेय श्री गणेशप्रसाद वर्णी महाराज का शताब्दी महोत्सव आयोजित करने जा रही है। परमतपस्वी, विद्वत्-शिरोमणि, श्रद्धेय वर्णीजी महाराज ने अपना समस्त जीवन शिक्षा के प्रसार तथा धर्म के उन्नयन मे लगाया। उनका त्याग एवं तपस्यामय जीवन आगे आने वाली पीढी को सतत प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

इस पावन अवसर पर श्रद्धेय वर्णीजी के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हुआ मैं आयोजन की सफलता की कामना करता हूँ।

— प्रकाशचन्द्र सेठी

✲

श्री जगजीवनराम
रक्षामत्री, भारतशासन,
नयी दिल्ली

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सागर द्वारा श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज का शताब्दी महोत्सव आयोजित किया जा रहा है। इस अवसर पर एक वर्णी-स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, यह ज्ञात हुआ।

आशा है, ग्रन्थ मे वर्णी जी की जीवनी, उनकी आध्यात्मिक, धार्मिक एव सामाजिक सेवाओ का समुचित दिग्दर्शन होगा।

आयोजन सफल हो एव ग्रन्थ जनोपयोगी सिद्ध हो।

—जगजीवनराम

श्री विद्याचरण शुक्ल
रक्षा उत्पादन मत्री
नई दिल्ली,

यह जानकर हर्ष हुआ कि भारतवर्षीय दिगम्बर-जैन-विद्वत्परिषद् द्वारा आध्यात्मिक सत श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी का शताब्दि-महोत्सव मनाया जा रहा है। अहिंसा के प्रचारक स्वामी वर्णीजी ने मनुष्य-मात्र के शत्रु काम, माया, मोह, लोभ से वचने के लिए ससार को सन्मार्ग दिखाया। ऐसी त्याग तपस्या की मूर्ति को श्रद्धाजलि अर्पित करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। मुझे विश्वास है, परिषद् द्वारा आयोजित यह महोत्सव, सग्रह-लोलुप जीवो को सतोष प्राप्ति के लिए पथ-प्रदर्शक होगा।

आयोजन की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाए।

— विद्याचरण शुक्ल

'सौख्य चर्तुर्दिक् वितरनहारा'

—प. द्वारकाप्रसाद मिश्र
(भूतपूर्व उपकुलपति, सागर-विश्व-विद्यालय)

श्री वर्णीजी की मेरे निवास-नगर जबलपुर पर बहुत वर्षो से कृपा रही है। परन्तु मुझे उनके दर्शन करने का अवसर १९४५ मे जेल से निकलने के पश्चात ही प्राप्त हुआ। उनकी विद्वत्ता तो असंदिग्ध है ही, परन्तु मुझ पर उनके सरल स्वभाव का अत्यधिक प्रभाव पडा। वृद्धावस्था को अंग्रेजी मे लोग द्वितीय बाल्यकाल कहते है, इसका कारण उस अवस्था मे उत्पन्न होने वाली शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता है। परन्तु वर्णीजी मुझे बालक के समान भोले लगे, अपने चरित्रबल के कारण। अपने ग्रन्थ 'कृष्णायन' मे मैने जीवन्मुक्त का जो वर्णन किया है उसकी निम्नलिखित चौपाइयाँ मुझे वर्णीजी को देखते ही याद आ जाती थी —

जिमि वितरत अनजाने लोका,
सुमन सुरभि, ताराक अलोका,
तिमि जीवन क्रम तासु उदारा,
सौख्य चतुर्दिक वितरन हारा।

परम जिज्ञासु वर्णी जी

—श्री शिवानन्द, भूतपूर्व अध्यक्ष, विधानसभा

बुन्देलखड से ईसरी की उनकी अन्तिम यात्रा के समय सतना मे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य मिला। घडी भर के ही सम्पर्क ने मुझे उनकी सरलता, सदाशयता और जिज्ञासु-प्रवृत्ति ने उनका प्रसंशक बना दिया। विधान-सभा की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध मे उन्होने अनेक प्रश्न किये।

निराडम्बर सत और निश्छल जिज्ञासु की कसौटी पर वर्णीजी का व्यक्तित्व सौटंच खरा था।

✲

अद्भुत व्यक्तित्व : उच्च विचार

ब्र०—सुरेन्द्रनाथ जी ईसरी

पूज्य वर्णीजी सन १९५४ के प्रारम्भ मे अपनी उत्तर और मध्य प्रान्तीय पदयात्रा समाप्तकर क्षुल्लक-वेश मे स्वय के द्वारा स्थापित ईसरी आश्रम मे इस उद्देश्य को लेकर पधारे कि अब अन्तिम समय समाधिपूर्वक श्री पार्श्वप्रभु को निर्वाणभूमि मे व्यतीत करेंगे। उसी समयसे मुझे उनके सान्निध्य मे रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, एव उनके चिरवियोग सन् १९६१ तक रहा। इतने समय मे मैंने उनमे क्या-क्या देखा और कैसा पाया, यह लेखनी या शब्दो के द्वारा मुझ सरीखा अल्पशक्तिसम्पन्न व्यक्त नही कर सकता। तथापि वह अनेक असाधारण विशेषताओ से विभूषित थे। सर्व प्रथम उनमे एक विलक्षण आकर्षण-शक्ति थी जिससे मिलने वाला अवश्य प्रभावित होता था। उनके परिचय मे व्रती-अव्रती, विद्वान्-मूर्ख, धनी और निर्धन जो आया, वह समझने लगा यह हमारे है, हमारा इनपर अधिकार है। और वह भी उन सबसे अपनी स्वाभाविक सरलता से इस प्रकार मिलते, उनकी सुनते, योग्य परामर्श देकर न्यायमार्ग मे चलने को प्रोत्साहित किया करते थे। उनके हृदय मे स्वप्न मे भी कभी जीवमात्र के प्रति तिरस्कार-भाव देखने मे नही आया। इसका प्रमाण उनकी मधुर वाणी—भैया सम्बोधन और काय की चेष्टा निरतर दिया करती थी। विद्वान् और त्यागियो को देखकर वह अतिशय प्रसन्न होते, प्राय कहा करते थे कि यह हमारे प्राण है। जैसी सरलता, मधुरता, उदारता तथा विनयादि गुणोका समावेश उनमे देखा गया, वह अन्यत्र सहसा देखने मे नही आया। मानो सम्यकत्व के अष्टाङ्ग उनमे अकृत्रिमरूप से व्यक्त हुये थे।

इसके अतिरिक्त उनकी पदार्थों के स्वरूप की प्रतिपादन शैली अद्वितीय थी। द्रव्यानुयोग और उसमे भी भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्म-ग्रन्थो के मर्मज्ञ होकर भी उनकी दृष्टि नयपक्ष से शून्य अपितु व्यवहार और निश्चय नय के विषय का यथा योग्यसम्मान करने वाली थी। वह व्यवहारनय के द्वारा तीर्थ की रक्षा और निश्चयनय के अवलम्बन से तीर्थफल की प्राप्ति होगी, व्यवहार के अभाव से तीर्थ और निश्चय के बिना तत्त्व का लोप हो जायगा, ऐसी श्रद्धा सम्पन्न स्वय थे और यही शिष्य-मण्डली को उपदेश दिया करते थे। एव अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग-रमण करना ही स्वय का स्वभाव बना लिया हो, ऐसा उनके व्यवहार से प्रकट हुआ करता था।

वृद्धावस्था के कारण उनका शरीर दिन प्रतिदिन जीर्ण स्वय हो रहा था। परन्तु ज्वर का जो प्रकोप ता० ६-७-६१ से प्रारम्भ हुआ, उसने पीछा नही छोडा, यह देखकर आपने किसी प्रकार का प्रचार किये बिना ही मन मे सल्लेखना का सकल्प कर लिया और उसके फलस्वरूप ता० १७-७-६१ से अन्नाहार का त्याग कर दिया और अल्पमात्रा मे दूध और फल लेना ही स्वीकार किया। पश्चात् दुग्ध भी छोड़ दिया, अब आहार मे फलो का रस और जल ही रह गया, जिसकी मात्रा भी क्रमश कम होकर अत्यल्प रह गई। स्वर्गारोहणके चार दिन पूर्व फल रसका भी निषेध कर मात्र जल ही रहने दिया। इधर शारीरिक शक्ति साथ छोड चुकी थी अतएव यथा

योग्य विधि का पालन न होने से जल भी न ले सके। इस प्रकार ज्वर के सद्भाव और भोजन के अभाव से कायबल नाममात्र को ही शेष रह गया। परन्तु ज्ञानचेतना यथावत् अपना कार्य करने मे पूर्ण समर्थ थी। अनुकूल अवसर को देखकर और अपनी वर्तमान दशा का अनुभव कर उन्होने बडे हर्ष के साथ इस मनुष्य के मण्डन-स्वरूप सबल संयम को स्वीकार कर निर्ग्रन्थ-दीक्षा धारण कर ली। इस अवस्था से १३ घन्टे सानन्द व्यतीत कर धर्म-ध्यान-पूर्वक ता० ५ सितम्बर सन् १९६१ की रात्रि को १ बजकर २० मिनट पर इस नश्वर पर्याय से सम्बन्ध छोड स्वर्गारोहण किया।

स्वयं की रुग्णावस्था मे भी जब तक वाणी ने साथ दिया समय समय पर कुछ न कुछ निकटवर्ती जनो को सूत्ररूप मे उपदेश दिया करते थे। यह शक्ति भी क्षीण हो गई तो आप स्लेट पर लिखकर अपने अभिप्राय को प्रकट करने लगे। साराश यह जो स्वयं की स्वपरोपकारिणी वृत्ति को अन्त समय नक नही छोडा। जो सूत्ररूप मे वाक्य स्लेट पर लिख दिया करते थे उनमे कुछ निम्नप्रकार है। 'गुण तो है ही, जो दोष प्रवेश कर गये है उन्हे निकाले।' 'अन्त मे स्व ही काम आयगा, शरीर तो पर है।' 'पर जब अपना नही, फिर उससे स्नेह क्यो।' 'ज्वर देह मे है, इससे क्या ज्ञान नष्ट हो गया।' 'ज्वर शरीर मे है ज्ञान आत्मा मे है।' 'परमात्मा की भक्ति यदि परमात्मा नही बना सकी, तो वह परमात्मा की भक्ति ही नही।' 'विद्याव्यसनं व्यसनं अथवा जिनपादसेवनं व्यसनम्।' 'विद्वानो के समागम से परम संतोष है।' इत्यादि अपनी शक्ति भर वाक्यामृत की वर्षा से समीपस्थ जनो को तृप्त किया करते थे।

जिस प्रकार महान आचार्य श्री समतभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार मे अन्तिम क्रिया समाधिमरण का उल्लेख किया है, ठीक उसी प्रकार पूज्य वर्णीजी ने निर्यापकाचार्य के असद्भाव मे भी क्षपक के योग्य शास्त्रोक्त प्रकार से आहारादि के क्रमश त्यागपूर्वक भक्त-प्रत्याख्यान मांडकर स्वय तो आत्मकल्याण के अधिकारी बने ही—हम सर्व आश्रमवासियो को एव निकटवर्ती भक्त-मण्डली को, समाधिपूर्वक प्राण-विसर्जन कैसे किया जाता है, यह प्रत्यक्ष दिखा दिया।

उन्होने स्वय जैनकुल मे उत्पन्न न होकर भी स्वय की परीक्षा-प्रधानी-बुद्धि के द्वारा जैन-धर्म को स्वीकार कर गृहवास छोडा और ज्ञानाभ्यास की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर कहाँ कहाँ अध्ययन किया, इस उद्देश्य पूर्ति के सन्मुख जो बाधाये उपस्थित हुई उनसे विजय प्राप्त की और उनके द्वारा जो ज्ञानार्जन के साधन वाराणसी-सागर आदि स्थानो मे विद्यालय पाठशालाये स्थापित हुई वह सर्वजन विदित है, एव स्वय "जीवनगाथा" मे भी उनका उल्लेख किया है।

स्वर्गीय वर्णीजी जिस प्रकार ख्याति, लाभ, पूजादि की अपेक्षा से अत्यन्त दूर एवं गुणग्राही बुद्धि– विपरीत-मार्गी जीवो पर भी अनाक्रोशभाव एवं स्वय की त्रुटियो को प्रगट कर सशोधन करने मे सर्वदा जागरूक रहा करते थे, उसके कतिपय दृष्टान्त इस प्रकार हैं। एक दिन दोपहर को एक प्रज्ञाचक्षु सज्जन जो भजन गाकर उदरपूर्ति करते थे उनके पास आये, कहा मुझे अमुक स्थान पर जाना है वहा के अमुक सज्जन के लिये यदि आप दो अक्षर मेरे विषय मे लिख दे तो मेरा कार्य हो जायगा। उस समय पूज्य श्री किसी विचार मे मग्न थे इसलिये इधर ध्यान न देकर

कहने लगे, कि यह भीख मागते मागते बहुत समय हो गया है, अब वह कार्य नही होगा। यह सुन कर उन महाशय ने बडी दृढतापूर्वक कहा कि आप निमित्तमात्र बनकर पुण्यसचय मे सकोच क्यो करते हैं, मिलना न मिलना तो मेरे भाग्याधीन है। यह सुनते ही समीप बैठे पंडित जी को सकेत किया कि सूरदास जी जो कुछ लिखाना चाहे आप लिख दीजिये, मै हस्ताक्षर किये देता हूँ। मध्याह्न को शास्त्रसभा मे उपस्थित होकर इस प्रसग का इन शव्दो मे उल्लेख किया जो "आज हमारे गुरु मिल गये" पश्चात् घटना सुनाई। ऐसे गुणग्राही थे वर्णीजी।

एक सज्जन जो अन्तरङ्ग मे थे तो "वक्र" स्वभावी परन्तु बाह्य मे वाक्चातुर्य द्वारा उनका गुणगान किया करते थे। प्रसगवश उन्होने अपने किसी मित्र को पत्र लिखते हुये पूज्य वर्णीजी के लिये अपशव्दो का प्रयोग किया, सयोगवश वह पत्र यथास्थान न पहुँचकर वर्णीजी की भक्तमण्डली के हाथ लग गया और उन्होने उसे Circulate कराकर यहा उस समय वितरण किया जब वह शास्त्रसभा मे प्रवचन कर रहे थे और श्रोतृमण्डली मे मूललेखक महोदय भी उपस्थित थे, श्रोताओ मे उत्तेजना दिखाई दी परन्तु महाराज की मुखमुद्रा मे कोई अन्तर दृष्टिगोचर नही हुआ। इतना अवश्य कहा "यह तो हमारे परम हितैषी है।"

'सद्य कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्, तद्वधादिविकारापनयनबुद्धि प्रशमो मत·।'

उक्त घटना इस कारण की प्रत्यक्ष उदाहरण बन गई।

वर्णीजी गम्भीर तो थे ही साथ ही विनोदप्रिय भी असाधारण थे। जघाबल क्षीण हो जाने से देवदर्शन अथवा चर्या के लिये कुरसी पर बैठ कर (जिसे दो भाई उठाते) जाने लगे थे। स्वय की इस अवस्था को 'छहढाला के छन्द' "अर्धमृतक सम बूढापनो' से तुलना कर कहते, मृतक कलेवर को चार उठाते है मुझे दो लेकर चलते हैं। एक दिन ज्वर का वेग कुछ कम होने से अधिक प्रसन्न मुद्रा मे थे। आश्रमवासी और विद्वान निकट बैठे थे। उस समय श्रीमान प वशीधरजी को सकेत कर पूँछने लगे, कि कहो पडित जी मुझे तो अपना अन्त समय निकट नही प्रतीत होता, आपकी क्या राय है। इस पर पडित जी ने अपनी स्वाभाविक सरल भाषा मे उत्तर दिया "चलो चोखे रहे" (अर्थात इसका समाधान भी मुझे करना होगा) जिसे सुनकर महाराज स्वय हँसे, साथ ही हम सब भी खूब हँसे। कहा तक लिखा जाय यह प्रत्यक्ष नही है सुखद स्मृतिया शेष रह गई है।

विद्वत्परिषद् उनकी शताब्दी समारोह का आयोजन कर रही है। यह बडे हर्ष का विषय है। ऐसे महापुरुष के गुणस्मरण के लिये जो कुछ भी किया जाय, वह अल्प है। उनसे मैने क्या सीखा या उनका कितना स्नेह मुझे प्राप्त था इसे व्यक्त करने मे लेखिनी असमर्थ है। अन्त मे ऐसे परमोपकारी महात्मा के प्रति नतमस्तक होकर श्रद्धाजलि अर्पण करने के अतिरिक्त शेष सम्बल ही क्या है।

*

उनकी पावन-स्मृति को प्रणाम

नीरज जैन, एम. ए., सतना

पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी सच्चे अर्थों मे महापुरुष थे। उनका व्यक्तित्व अलौकिक था। यह तो हमने सुना भर है कि पारस पत्थर मे छू जाने से लोहा सोना बन जाता है, लेकिन यह हमने देखा है, देखा भर नही है—स्वत अनुभव किया है कि उन वन्दनीय महापुरुष के पावन चरणो के स्पर्श से अज्ञानी को ज्ञान मिल जाता था, अधीर को धीरज मिल जाता था और अन्धे को भी मार्ग सूझने लग जाता था। परिग्रह-पंक मे गले तक धसे हुए हमारे जैसे कितने ही अज्ञानी जीव उनकी शरण मे जाते थे। उनका शास्त्र-प्रवचन और उपदेश सुनते तो थे पर समझने की पात्रता अपने मे नही पाते थे, फिर भी हम कभी निराश नही लौटे। हमे यह भी मालूम है कि वहाँ से कोई कभी निराश नही लौटा।

उनकी वाणी समझ मे आना और जीवन मे उसका साकार होना बडे सौभाग्य की बात थी। वह जिन्हे प्राप्त हो गयी उन्हे भी हमारे प्रणाम। परन्तु हम जैसे लोग जो न कुछ समझ पाते थे, न कुछ कर पाते थे वे भी उनके सम्पर्क मे आकर निहाल हो गये। वाणी भले ही कठिन होती हो पर उनकी कृपावती चितवन सीधे समझ मे आती थी। "भैया" का उनका एक अपनत्व से भरा सम्बोधन जो कुछ समझा देता था उसे कोई और वाणी, कोई और भाषा नही समझा सकती।

उनके दर्शन से जो शान्ति मिलती थी उसे शब्दो मे कहना सभव नही। सारे मानसिक अवसाद, सारी खिन्नता उनके चरणो की धूल मस्तक पर लगाते ही कहाँ चली जाती थी सो हम नही जानते। कैसे चली जाती थी सो हम नही बता सकते। उनके दर्शनो के लिये मन इतना व्यग्र हो उठता था कि जैसे-जैसे ईसरी का स्टेशन नजदीक आता था, हमारा धीरज छूटने लगता था। क्षण का विलम्ब असह हो जाता था। स्टेशन पर गाडी रुकते ही अपनी गठरी-मुठरी किसी कुली को सौपकर हम प्राय. आश्रम की ओर दौड पडते थे। उनके दृष्टि-निक्षेप-मात्र से मन की आतुरता शान्त हो जाती थी और ऐसी अद्भुत शान्ति मिलती थी जिसका अनुभव अन्यत्र कही हुआ नही।

कई बार हम सोचते थे कि अपना रोना रोकर हम उनकी साधना के क्षण क्यो बरबाद करे। कहाँ राग-द्वेष मय निम्नतम धरातल पर खडे हुए हमारे जैसे क्षुद्र जीव, और कहाँ उत्कर्ष के शिखर पर बैठे हुए वे प्रात स्मरणीय संत ? परन्तु जब सामने पहुँचते अथवा उनकी ममतामयी आकृतिका ध्यान भी करते तब यह सकोच स्वत तिरोहित हो जाता था। सामने पहुँच कर तो लगता था कि वे केवल हमारी सुन रहे है, केवल हम पर दृष्टिपात कर रहे है, केवल हमसे बात कर रहे है और सिर्फ हमारे है। उनके बिना कहाँ मिलेगी ऐसी आत्मीयता, कहाँ मिलेगा ऐसा अपनापन और कहाँ मिलेगी ऐसी ममता ?

वे चले गये। उनके तेरह जन्मदिन और चले गये। उनके निधन का स्मृति दिवस भी बारह बार हमे झकझोर कर चला गया। उनकी जन्म शताब्दी का दिन भी आया है, चला

जायेगा । पर हम जहाँ थे वही खडे रहे । ऐसी कृतघ्नता, ऐसी अवमानता, इतना विश्वासघात ? यह हमने क्या किया ? क्या उनकी वाणी केवल सुन डालने के लिये थी ? क्या उनका लेखन केवल सकलित करने के लिये था ? क्या उनके दृष्टि-निक्षेप का क्रियानुवाद बिलकुल नही होना चाहिये था ? फिर हमारे जीवन मे वह क्यो नही हुआ ?

वे तो दया के अवतार थे । क्षमानिघान थे । हमारा सारा प्रमाद पी गये होगे । पर जन्म-शताब्दी के समय उनकी पावन स्मृति को प्रणाम करने के लिये हम उनकी तरफ एक पग तो आगे बढे । उनके मदिर की एक सीढी तो चढे ।

❊

गणेश–वर्णी

(लेखक—**श्री जिनेन्द्र वर्णी पानीपत**)

प्रारब्ध की महिमा अपार है । भले ही अहकार भरे चित्त मे उसको कोई स्थान न मिले, परन्तु आश्चर्यकारी घटनाए उसे निरुत्तर अवश्य कर देती है और वह किंकर्तव्यविमूढ सा विचारो की रौ मे सब कुछ भूलकर यह भी जान नही पाता कि यह क्या हो गया और कैसे हो गया ? सामने रह जाती है केवल वह घटना और उसका अहकार भरा व्यक्तित्व । कौन जानता था, कि अजैन कुल मे उत्पन्न हुआ साधनहीन एक बालक सुप्त जैनजाति मे एक क्रान्ति पैदा कर देगा । वह क्रान्ति जिसमे कि रसहीन शुष्क रूढिया आँसू बहाती रह जायेंगी और उसके नीचे दबी हुई ज्ञानज्योति अपना दैदीप्यमान तेजोरूप प्रकट करके जैनजगत को प्रकाशित कर देगी । अध्यात्म की शुष्क जडो मे अमृत का सिंचन होगा और हर बाल-गोपाल के हृदय मे वह अंकुरित होगा । सारहीन कथाओ व गप्पो के स्थान पर अध्यात्मचर्चा प्रतिष्ठित होगी और रूढियो मात्र मे सतुष्ट अधकारमय जीवन खिलखिला कर हँसने लगेगा ।

प्रारब्ध के उतार चढाव का यह चक्र सदा से चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा । व्यक्तिगत जीवन के अथवा सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन के पीछे छिपा हुआ वह सदा से नृत्य कर रहा है और करता रहेगा । उसी के कारण जीवन मे नित्य ही चढाव व उतार आते रहते है । वह अदृश्य रहता हुआ अपना परिचय बराबर दे रहा है, भले ही कोई उसे स्वीकार करे या न करे । मेरा सकेत जैनजगत के उस सुविख्यात व्यक्ति से है, जो आज से कुछ समय पूर्व तक हमारे बीच साक्षात् रूप से विद्यमान था । जिसका हृदयकोष साम्यधन से भरपूर था । अन्तर्दर्शन जिसका प्रहरी था । दया जिसकी दासी थी । मधुर मुस्कान जिसकी चेरी थी । हितमित सभाषण जिसके मत्री थे । असीम अध्यात्म जिसका साम्राज्य था । पुण्य जिसका दिन रात जागने वाला सेवक था । आगम के गहन व सारपूर्ण सामगान के द्वारा ही जो नित्य सुलाया व जगाया जाता था । अष्टम आध्यात्मिक स्वर ही जिसका गाना था और वही जिसका रोना था । कहाँ तक कहूँ, छोटी सी बुद्धि, लचर सी जिह्वा, टूटी हुई लेखिनी और साहस कर बैठा हूँ इतने बडे अर्थात् एक महान व्यक्ति के गुणगान करने का, वह कैसे सभव हो ?

न सही सभव, गुणगान न सही सभव, स्वर व ताल पर आपकी बुद्धि, मेरे सकेत को पकड़ तो पायेगी ही । बस तो प्रयोजन की सिद्धि हो गयी । आम खाने हैं, पेड नही गिनने हैं ।

प्रातःस्मरणीय श्री १०५ श्री क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी को जैनजगत् मे ही नहीं, भारत भर में कौन ऐसा व्यक्ति है जो नही जानता। यद्यपि अपनी जीवनलीला के अन्तिम दिनों में समाधि-मरण धरते समय उन्होने मुनिव्रत ग्रहण कर लिया था, पर आप मुझे क्षमा करेंगे मैं उन्हें अब भी क्षुल्लक ही कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। कारण वही जो कि हमें सिद्धों से पहले अरिहन्तो को नमस्कार करने के लिए बाध्य करता है, अर्थात् हमारा स्वार्थ। पूजा व्यक्ति की कभी नही हुआ करती, बल्कि आदर्श की हुआ करती है। वास्तव मे वर्णी जी के जीवन का वह क्रांतिकारी आदर्श उनके उस क्षुल्लक वाले रूप मे ही दृष्ट होता है। अत. वह ही प्रधान है।

एक समय था जबकि जैनजगत् अधकार मे विलुप्तप्राय पडा था। महान सिद्धान्त व साहित्य के अटूट भडार का स्वामी होते हुए भी कोई यह बताने को समर्थ नही था, कि जैन-दर्शन वास्तव मे क्या है? खाने पीने की शुष्क रूढियो मे तथा पुराणों के कहानी किस्सो की सारहीन गोष्ठियो मे ही मानो यह दर्शन समाप्त हो गया था। किसी भी जैन जिज्ञासु को शिक्षा दान देने के लिये ब्राह्मण विद्वान तैयार न होते थे, इस भय से कि कही मृतप्राय यह दर्शन पुनः जीवित होकर उन्हे वही क्षति न पहुँचा दे, जो कि समन्तभद्र व अकलंक भट्ट के हाथो उन्हे पूर्व-काल मे उठानी पडी थी, जिसकी याद करके भी उनके रोंगटे खडे हो जाते थे।

ऐसे समय मे पूज्य श्री ने जैनदर्शन के उत्थान का बीडा उठाया और अनेको संकटों का सामना करते हुए वह आगे बढने लगे। रूढिवादियो के द्वारा उनके मार्ग मे अनेको बाधाएं उपस्थित की गईं, पर वह अपने संकल्प पर दृढ रहे। अपने उद्देश्य की सफलता के लिए उनके पास कोई भी पर्याप्त साधन न था पर वह अडिग रहे और उसका ही फल है कि आज जैनसमाज के स्तभस्वरूप अनेको विद्वान् इसका गौरव बढा रहे है। जैनसाहित्य मे प्राण पड गए है। वादी जनो की जबान बंद कर दी गयी है। अनेको शास्त्रार्थो मे इस दर्शन के महान् सत्य का जयघोष सुनने का सौभाग्य हमे प्राप्त हो सका है। स्थान-स्थान पर पाठशालाए, विद्यालय व आश्रम आदि की सुचारु व्यवस्था चल रही है। लुप्तप्राय हो जाने वाला त्यागमार्ग जीवित हो उठा है। कोने-कोने मे ज्ञानचर्चाए सुनने को मिलती हैं। विरक्तचित्त भव्यप्राणियो को शान्तिपूर्वक जीवन बिताने का सुयोग्य अवसर प्राप्त हुआ है। गर्ज, क्या गृहस्थ क्या त्यागी, क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी, सर्व ही उस महान् व्यक्ति के किसी न किसी रूप में ऋणी अवश्य हैं।

सन् १९६१ मे वे हम सभी को अनाथवत् छोड़कर स्वर्गलोक सिधार गए पर क्या उनकी याद भी चली गयी? नहीं, वह तो अमर है। जिस प्रकार आ[illegible] अकलंक भट्ट ने इस धर्म की रक्षा की थी उसी प्रकार आज के युग मे पूज्य श्री ने [illegible] प्रदान करके अपने को युग-युगान्तरो के लिए अमर बना लिया है। उनका पञ्च[illegible] हो गया है, वास्तव मे वह नही गए है। आश्विन कृष्ण चतुर्थी के दिन, पुन: [illegible] स्थानस्थ शान्तिनिकेतन आश्रम मे, इस आश्रम के [illegible] कण-कण मे उनकी स्मृ[illegible] है, जहाँ के वायुमडल मे नित्य उनकी गुणगाथाएँ गुंजार करती रहती हैं, जि[illegible] मानों उन्होंने अपने प्राण-प्रतिष्ठित कर दिए हैं, [illegible] शताब्दी [illegible]

अकारण अनुग्रही महात्मा

—स्व० ब्र० मूलशंकर देसाई

२८ वर्ष पूर्व ईसरी मे उनकी उपस्थिति का पता चला, अध्यात्म का अपूर्व वक्ता है। मैं वहाँ गया। पूज्य वर्णी जी महाराज का दर्शन हुआ। उनकी धर्मचर्चा सुनकर मेरा मन पलट गया और **मैने श्वेताम्बर सम्प्रदाय त्यागकर दिगम्बर सम्प्रदाय धारण किया।** इसके उपरात कलकत्ते से प्रति सप्ताह शनिवार इतवार उनकी सेवा मे बहुत समय तक आता रहा। खूब धर्म-चर्चा हुई, शका-समाधान हुए। मेरी आत्मा को कल्याणपथ पर लाने और इस पद तक पहुँचाने का श्रेय पूज्य वर्णी जी को है। चाहे सब लोग उन्हे भूल जावे, पर मैं उन्हे नही भूल सकता। जो आत्मा अपने को सुमार्ग पर लगा देवे उसका बदला किसी भी प्रकार दिया जाना सभव नही है। **अपने चर्म की चरण-पादुका बनाकर उस महात्मा के उपयोगार्थ प्रस्तुत कर दें तब भी क्या उसके अनुग्रह का बदला सभव है ? कभी नहीं।**

सतना, अगस्त १९६२ —ब्र० मूलशकर देसाई,

—जैनसदेश २६/१७ पृष्ठ ५

✲

प्रबुद्ध सन्त

—ब्र. प्रद्युम्नकुमारजी एम. ए. ईसरी

जन्मत जैन न होने पर भी पूज्य वर्णी जी द्वारा ही इस युग मे जैनधर्म का बिगुल वजा। पूज्य श्री वर्णी जी महाराज इस युग के महान् तपस्वी, त्यागमूर्ति, आध्यात्मिकसन्त एव अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होने जिज्ञासा, अन्वेषण और शोध से अपना जीवन प्रारम्भ करके जीवन का प्रत्येक क्षण ज्ञानार्जन और धर्मप्रचार मे लगाया। विद्या और भगवद्भक्ति से आपका अनूठा प्रेम था। आपने अपने जीवन मे अनेक प्रकार की आपत्तियाँ झेली, परन्तु आपत्तियो और विरोध को अपना उन्नतिसाधक समझकर कभी क्षुब्ध नही हुये, सदा अपनी सहनशीलता का परिचय दिया।

आपने अपने जीवन मे समाज को निरन्तर दिया ही दिया है। बदले मे समाज से कुछ नही चाहा। उनकी मूल विशेषता यह थी कि वे जो उपदेश दूसरो को देते थे उससे कई गुना स्वय पालन करते थे, उनका उपदेश आचरणो की जजीरो से बँधा होता था। उनकी अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' ही उनके हृदय की सरलता का प्रतिबिम्ब है। उनकी निर्मलता का प्रभाव पशुओ पर भी पडता था। उनके ब्रह्मचर्य अवस्था की एक घटना उनकी हस्तलिखित कापी मे मुझे यहाँ पढने को मिली, वह उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार है,—"जब हम ब्रह्मचारी अवस्था मे द्रोणगिरि थे तब वहाँ २-४ माह ठहरना था तो कोई मोल दूध नही देता था। तब मत्री जी हीरापुर वालो ने एक गाय रख दी, वह बहुत सीधी थी। जब हम भोजन करके आवे तब गाय को एक रोटी खिलाते थे और एक चौथाई उसके बच्चे को। जहाँ हम नदी आदि

पर बाहर जावें तब वह भी साथ जावे। उस गाय का दूध १ सेर निकलता था। कुछ दिन बाद २ सेर हो गया और बहुत मीठा। एक दिन बच्छा छूट गया और दूध सब पी लिया। किसी ने कहा देखो वर्णी जी के लिये थोडा बच गया हो। जब दूध निकाला, तो देखा उस गाय ने बच्चे को पूरा दूध नही पिलाया था, पूरा का पूरा दूध मिल गया—देखो एक पशु भी स्नेहवश अपना हितैषी बन जाता है"।

उनका हृदय उदारता और करुणा से भरा रहता था। किसी दीन दु.खी को देखकर अपने निकट का सब कुछ त्यागते उन्हे देर नही लगती थी। यह उनकी जीवनव्यापी अनेक घटनाओ से विदित होता है।

उनका व्यवहार सबके साथ एक सा था, छोटे बडे, धनिक एव गरीब सभी को एक-दृष्टि से देखते थे। अहिसक और सन्मार्गगामी पर तो उनका वात्सल्य रहता ही था किन्तु हिंसक तथा कुमार्गगामी पर भी उनकी करुणा का प्रवाह सविशेष बहा करता था। वे कहा करते थे "पाप से घृणा करो, पापी से नही।" उनके 'भैया' शब्द मे अत्यन्त आकर्षण था। उन्होने जैन समाज मे व्याप्त कुरीतियो एव अज्ञान अन्धकार से एक कर्मयोगी की तरह विद्रोह किया और सच्चे मार्ग का दर्शन कराया। उनकी कापी मे पढने को मिला "प्रत्येक प्राणी की आत्मा जीवत्व की दृष्टि से समान है। उसमे भी शक्तिरूप से अनन्तबल विद्यमान है। अत. किसी भी प्राणी को कष्ट मत पहुँचाओ। प्रमाद तथा हिंसा से सदैव बचते रहो यही आत्मा और धर्म की उन्नति का मूल है।"

आप मानव-समाज के सच्चे पथप्रदर्शक और शिक्षासस्थाओ के जन्मदाता थे। आपने सागर, बनारस, बरुआसागर, द्रोणगिरि, ललितपुर, अहार, साढूमल व जबलपुर आदि अनेक स्थानो पर विद्यालयो की स्थापना कर धर्म और साहित्य का प्रचार किया। इन शिक्षा सस्थाओ को जन्म देकर ही आपने धर्म का बिगुल बजाया, जिससे समाज के हजारो बालको का भविष्य उज्ज्वल बना और वर्तमान मे बन रहा है।

उनके द्वारा ही स्थापित इस शान्तिनिकेतन आश्रम के प्रांगण मे आपने ८७ वर्ष की परम तपस्या के फलस्वरूप समाधिमरण के समय अपनी असाधारण धीरता और क्षमता का परिचय देकर जो सबक दिया वह मुमुक्षु-ससार को सदा प्रेरणा देता रहेगा। अन्त समय मे उनके कुछ सन्देश थे कि—**'तीर्थंकरो को भी सयम के बिना मुक्ति नही होती।' 'कोई अपना नही, समता राखो।' 'जितना परिकर, उतना दुख।' 'जब अमल करो, तब बात बने। कहना और बात है करना और बात है।' 'ज्ञान में जो ज्ञेय आवें, आओ, उनमें रागद्वेष मत होवे, इतना ही तत्त्व है, विशेष कुछ नही।**

पूज्य महाराज श्री वर्णी जी आज हमारे बीच नही, परन्तु उनके द्वारा प्रज्ज्वलित ज्ञान-ज्योति अब भी प्रकाशमान हो रही है। यह ज्ञानज्योति सदैव समृद्धता को प्राप्त होती रहे इस शुभाकाक्षा के साथ ऐसे सत्यशोधक, महोपकारी, गुणरत्नाकर आदर्शसन्त की इस शताब्दी समारोह की पुण्यवेला पर उनके पुनीत चरणो मे मेरा शत-शत प्रणाम है।

✻

कुछ निकट के क्षण

— श्री ब्र० गोरेलाल शास्त्री
द्रोणगिरि, छतरपुर (म प्र.)

पूज्य प्रात स्मरणीय गणेशप्रसाद जी वर्णी, जिन्हे साधारण से साधारण व्यक्ति भी वर्णी जी के नाम से ही जानता है, परोपकारी, पर-दु खकातर, विद्यादानी, निर्मोही, सहृदय सन्त थे। जीवन मे एक बार भी जिसे देखा उसे भूलना तो उनका स्वभाव ही नही था। उनकी सहृदयता तो इसी से परिलक्षित होती थी कि जब भी कोई वर्णी जी से दूसरी बार मिलता था उस समय उनका जो व्यवहार उस व्यक्ति के साथ होता था वह व्यक्ति स्वत यह समझता था कि वर्णी जी जितना स्मरण मुझे रखते हैं किसी अन्य को नही। यह भावना प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे घर किये थी। वर्णी जी किसके थे, किसके नही, यह ज्ञात तो था ही नही। वर्णी जी सभी के थे और सभी व्यक्ति उन्हे अपना मानते थे।

पूज्य वर्णी जी के पुण्य का प्रताप इतना तेज था कि जो भी व्यक्ति चाहे कितना भी दम्भी हो सामने आते ही चरणो मे गिरता था। भविष्य-दृष्टा तो आप थे ही, जो अनर्थ आगे होने वाला होता था उसकी झलक आपको पहले ही प्राप्त हो जाती थी।

पूज्य वर्णी जी हमेशा जागृत अवस्था मे रहे। शरीर से कितने भी अस्वस्थ हुये परन्तु आत्मा सजग रहा और अपना चिन्तन करते रहे। पूर्ण चेतनावस्था मे ही आपका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गवास के १५ दिन पूर्व मैं दर्शनार्थ एव स्वास्थ्य की खबर लेने ईशरी पहुँचा, उस समय शरीर से अत्यधिक अस्वस्थ होने पर भी मुझे देखते ही पास बुलाया और सारा समाचार प्रान्त का पूछा। बोलते तो थे ही नही यह सब इशारो से ही हुआ। फिर भी आपके नेत्र वा कर्ण पूर्ण स्वस्थ थे और अपना कार्य विधिवत् कर रहे थे। जब मैंने पूज्य वर्णी जी से पूछा कि शरीर का कष्ट तो अधिक है तब आपने स्लेट पर लिखा—"शरीर के कष्ट होने से क्या ? आत्मा तो मेरा पूर्ण सजग है।" यह थी आपकी आत्मा की सजगता, जागरूकता।

छोटे से छोटे जीवो के प्रति आप मे दया की भावना थी और उनको यदि कोई कष्ट देता था तो उन जीवो से भी अधिक कष्ट का अनुभव आपको होना था। सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि की एक घटना है जिसे उन्होने स्वय 'मेरी जीवनगाथा' मे लिखा है। मन्दिर मे मधु-मक्खियो के कारण जाना कठिन था। माली चिन्तित था कि इससे छुटकारा कैसे प्राप्त हो। इन लोगो मे छोटे जीवो के प्रति दया का अभाव तो होता ही है। माली को सबसे सरल उपाय मधु-मक्खियो के छत्ते को जलाना ही समझ मे आया। भोर को जलाने के लिये जैसे ही माली तैयार हुआ, वर्णी जी को खबर लगी। तुरन्त मदिर पहुँचे और माली से कहा भैया काहे को इन्हे कष्ट देते हो। ये कल तो यहाँ रहने वाली नही हैं। आज इन्हे बचा दो। माली रुक गया और प्रात जब देखा तो वास्तव मे वहाँ एक भी मधुमक्खी नही थी। वर्णी जी की दया प्रकृति भविष्य का ज्ञान एव जीवो का उनकी भावना के प्रति समादर देख सभी दग रह गये।

✲

जागृति के अग्रदूत

—ब्र० सरदारमल जैन 'सच्चिन्दानद' सिरोज

जीवन के कुछ क्षण ऐसे होते है जो भुलाये से नही भूले जाते । इस दृष्टि से प्रात' स्मरणीय परमपूज्य श्री वर्णी जी के दर्शन और सान्निध्य के क्षण मेरी विरक्ति और ज्ञानवृद्धि के मूलस्रोत रहे है। पूज्य श्री वर्णी जी के आकर्षक व्यक्तित्व, प्रभावक वाणी एवं त्यागमय जीवन ने केवल मुझे ही नही, अपितु असख्य प्राणियो को सन्मार्ग पर लगाया है। जैनकला व जैनसस्कृति का केन्द्र बुन्देलखण्ड तो उनके जीवन की साधना का आदिस्थान रहा, पर उनका व्यक्तित्व अखिल-भारतीय बन गया था। उन्होने वर्तमान-पर्याय-संबंधी ऐहिक-स्वार्थो को ठुकराकर बीतराग-प्रणीत-मार्ग का त्यागपूर्ण जीवन बिताया। शिक्षा और ज्ञान प्रधान त्याग का मार्ग चलाया। श्री १०८ कुन्दकुन्द भगवान की वाणी को हृदयगम कर जैनधर्म के मर्म को समझाया। गाँव-गॉव पैदल भ्रमण कर जैन व जैनेतर जनता का उद्धार किया। जो भी सपर्क मे आया वह अतरग मे मायाशून्यता, सत्यनिष्ठा, प्रकाण्डपाण्डित्य आदि गुण-राशि से प्रभावित हुए बिना नही रहा। वे जागृति के अग्रदूत थे, तथा स्याद्वाद-सदेश-वाहक, अध्यात्म-जगत के सहस्र-रश्मि थे। निर्ग्रंथ-साधना के यथार्थ मार्गदर्शक थे।

प्राय: पडित त्यागी नही होते और त्यागी प्राय पडित नही होते। किन्तु उनके भीतर त्याग और पाडित्य का समिलन सोने मे सुगध की कहावत को चरितार्थ करता था।

पूज्य वर्णी जी उन महापुरुषो मे से थे जिनकी वैयक्तिक-साधना और मानवजाति के प्रति अनन्य-प्रेम अपनी समता नही रखते। जैनसमाज तो उनका अत्यत ऋणी है। उन्होने अगनित लोकोपयोगी कार्य किये और असख्य लोगो को प्रेरणा दी।

उनकी अतिम सूचना थी – **यदि आपको मेरे विभाव परिणामो द्वारा हर्ष विषाद हुआ हो तो उस हर्ष विषाद में मुख्यता तो आपके विकारी परिणामों की है, मेरी चेष्टा तो एक निमित्त-मात्र रही। ऐसा वस्तु-स्वरूप जानकर अपनी विकृत-परिणति की पहिचान करना और मेरी विभाव-परिणति जान अपनी क्षमाशील आत्मा को फिर से विभाव के जाल में न फँसाना, अपनी परिणति अपनी जान, पर को निमित्त मान, उसमे न फँसना, आत्मा की भलाई मे निरतर लगना।**

श्री वर्णी जी के भौतिक शरीर के दर्शन तो अप्राप्य हो गये, किंतु उनका यश.शरीर हम सबको आत्म-कल्याण की ओर निरतर प्रेरणा दे रहा है। उनके स्मरणहेतु उनके सस्मरणमात्र शेष है। सं० ७६ मे मेरे पिता श्री हुकमचद्र जी वैद्यरत्न ने सपरिवार श्री समेदशिखर की यात्रा की, शिखरजी से लौटकर वाराणसी आये। उस समय विद्यालय मे पूज्य श्री वर्णी जी को पाकर मेरे पिताजी मुझे उनके समक्ष ले गये और विनयपूर्वक परिचय देते हुए प्रार्थना की कि महाराज

आपके भेजे हुए पंडितजी के पास ये बालक पढता है। पूज्य श्री वर्णीजी ने स्नेह भरे शब्दो मे पठित विषय मे से मुझसे पूछा। समुचित उत्तर पाकर मुझे वर्णीजी ने आशीर्वाद दिया और मेरी कुशाग्र-बुद्धि पर हर्षित हो पिताजी से कहने लगे कि इसे आप मेरे पास छोड दीजिये—होनहार बालक है, ये अच्छा विद्वान बन जायगा, किंतु माता पिता ने मोहवश मुझे छोडना पसद नही किया, मेरे अतरग मे पूज्य श्री वर्णी जी के प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गई। मै यहाँ पर ही अध्ययन करता रहा, क्योकि बचपन से ही मेरी रुचि धर्मज्ञान प्राप्त करने की ओर विशेष थी। तदनदर पूज्य श्री वर्णी जी के दर्शन मुझे शिक्षणशिविर सागर मे हुए, जो विद्वत्-परिषद् की ओर से हुआ था। उनके सपर्क मे मुझे जो आनद प्राप्त हुआ वह वचनातीत है।

कालान्तर मे मुझे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जो अल्पायु मे ही काल-कवलित हो गया। मेरे जीवन मे यह पाचवी सतान का वियोग था। उस समय मुझे पूज्य श्री वर्णी जी ने पत्र द्वारा जो सात्वना दी, उससे मेरे जीवन की दिशा बदल गई। पत्र मे गाथा थी 'उप्पइ हरइ कलत्त वड्ढइ जिहि बड्ढमाणेहि। सव्वइ हरइ समत्थो पुत्रसमो वेरियो णत्थि' पत्र का आशय था कि यह तो बहुत अच्छा हुआ। तुम्हारा आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो गया। अब सब झझटें छोडकर आत्म-कल्याण करो। मुझे इस पत्र से अपने आत्महित का मार्गदर्शन हुआ। मेरा झुकाव आत्म-कल्याण की ओर हो गया। मैने क्रमश राजनैतिक सामाजिक क्षेत्र सबधी सभी सस्थाओ के कार्यों से सन्न्यास लेना प्रारम्भ कर दिया।

स० २००७ मे फिरोजाबाद के समारोह मे मै गया। वहाँ आचार्य श्री सूर्यसागर जी महाराज और श्री वर्णीजी महाराज विराज रहे थे। मैने आचार्य श्री को अपने गत जीवन का वृतात सविनय सुनाया और भविष्य के लिए मार्गदर्शन की प्रार्थना की। उन्होने पूज्य श्री वर्णी जी की ओर सकेत करते हुए कहा कि तुम वर्णी जी के सान्निध्य मे जीवन-यापन करो। तुम्हारा कल्याण होगा। मैने विनयपूर्वक आज्ञा शिरोधार्य की और पूज्य श्री वर्णी जी के आदेशानुसार उत्सव की समाप्ति के पश्चात् घर चला आया। व्यापारिक तथा गार्हस्थिक कार्यो को घटाता हुआ समय व्यतीत करने लगा। स २००८ मे पूज्य श्री वर्णीजी के ललितपुर चातुर्मास मे सपरिवार ललितपुर गया। पूज्य श्री के सान्निध्य मे धर्म-साधन-रत रहा।

स २०१० मे पूज्य श्री वर्णी जी महाराज ईसरी पहुँच गये थे। मै भी अपनी माताजी को साथ लेकर सपरिवार ईसरी चला गया। तब से स. २०१८ तक का अधिकाश समय (पूज्य श्री के समाधि-मरण पर्यंत) उन ही के सान्निध्य मे बिताया। पूज्य श्री से अध्यात्म-ग्रथो (पचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि) का मनन किया। व्रत-धारण कर धर्माराधना की। अब तक उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण करता हुआ जीवन-यापन कर रहा हूँ। यह सब उन ही का वरदान है। मैने तो कृतज्ञता-ज्ञापनार्थ यह सस्मरण लिखा है। यद्यपि आज वे हमारे बीच मे नही है, तथापि परोक्ष वदना करता हुआ मै अपने को कृतार्थ मानता हूँ।

महान् परोपकारी वर्णी जी

—ब्र. भगवानदास लाहरी, दमोह

सन् ४७ की बात है। मै शारीरिक अस्वस्थता के कारण यात्रार्थ गया हुआ था। मेरे दोनो बच्चे सागर विद्यालय मे अध्ययन करते थे। कारणवश विद्यालय मे फीस न जमा होने पर उन्हे विद्यालय से पृथक् कर दिया गया। इसकी जानकारी पूज्य बाबा जी तक जौहरी जी के बगीचा मे पहुँच गयी। पूज्य बाबा जी ने बच्चो को अपने पास बुलाया और कारण पूछा। बच्चो ने कारण बताए। बाबा जी का हृदय, बच्चो को शिक्षा से वञ्चित होना पडा, इससे द्रवित हो उठा। उन्होने अपने लिए आई हुई घी की कुप्पी देकर कहा "इसे ले जाओ, बेचकर फीस जमा कर दो व पढने जाओ।"

सन् ५३ मे हम श्री १००८ तीर्थराज की वदनार्थ गए तो ईसरी मे बाबा जी के दर्शनार्थ आश्रम मे कुछ देर बाद पहुँचे। कुशलक्षेम के पश्चात् बाबा जी ने पूछा—"काए भैया दमोह की पाठशाला चला रहे हो? मै मौन था। बोले भाई जड सीचते रहना, कभी न कभी अकुर फूटते रहेगे।

कुडलपुर जी मे एक बार शौच से लौटते समय सुना कुछ महाशय शादी सबध मे ठहराव कर रहे थे। बाबा जी के कान मे बात पड जाने से वे रुक गए और कहा भैया तुम डाकू मत बनो। लडकी भी ले जाओगे और ठहराया हुआ धन जो ग्यारहवा प्राण है, वह भी ले जाओगे? अपन सब उच्चकुल मे उत्पन्न हुए है। जो अपन को कन्या रत्न दे रहा है उस पर ऐसा डाका डालना क्या शोभा देता है?

सन् ५१ मे पूज्य वर्णी जी का गणेशगज, (शाहपुर) से श्री तीर्थराज सम्मेदशिखर जी की ओर प्रस्थान हुआ। मुझे भी बाबा जी की पद-यात्रा मे संघ के साथ साथ यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बाबाजी के त्रिकाल उपदेश मिलते ही थे लेकिन साथ रहने से मूक उपदेश भी ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता था। पथरिया से चलकर सदगुवा पहुँचे। बाबा जी के आहार हो जाने पर बाबा जी हम लोगो को सकेत करने आए। भैया आप लोग भी भोजन करो। हमे तो भोजन करा दिया और तुम सभी भूखे हो। यह हमारे ही कारण से है। आप लोगो को दुखी होने मे हम निमित्त बन रहे है। कितने करुणाभाव थे। आगे हिन्डोरिया (दमोह) स्कूल मे रात ठहरे। दूसरे दिन देव-डोगरा मे कुआ के पास प्रबध किया गया था। हिन्डोरिया से देवडोगरा तक साथ पदयात्रा मे कभी कभी मै उनका कमडलु ले लेता था। मुकाम पर पहुँचने पर बाबा जी के पैर दबाने लगा तो मेरे हाथ हटाकर बोले "भैया हम सब साथ साथ ही तो आए है। मैं सिर्फ पीछी लेकर आया पर तुम मेरा कमडलु का बोझ लाए हो। तुम सब सुस्ता लो, शात हो जाओ, फिर पैर दबाना। तुम भी तो थक जाते हो। करुणा की भावना का अटूट भंडार बाबा जी मे भरा था। ऐसे परोपकारी करुणानिधि संत के चरणो मे प्रणाम।

❀

शान्ति की मूर्ति और दया के अवतार

लेखक—स्व० पं० दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, सागर

(स्व० श्रीमान् गुरुवर प० दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री जैन आगम के प्रकाण्ड ज्ञाता, मृदुस्वभावी, निष्ठावान, समताभावी विद्वान थे। पूज्य वर्णी जी से उनका दीर्घकालीन सम्बन्ध रहा। थोडे ही दिनो पूर्व प० दयाचन्द्रजी का सागर मे, हृदयगति रुक जानेसे स्वर्गवास होगया। उनका वियोग दिगम्बर जैन विद्वत समाज की अपूरणीय क्षति है)

—सम्पादक

नमः श्री गुरुवर्याय, वर्णिने शान्तिमूर्तये।
अनुकम्पा-वताराय, अज्ञानौघ-विनाशिने॥

पूज्य वर्णी जी के शताब्दिसमारोह के अवसर पर हम उनके पुनीततम चरणो मे श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं। वे शान्ति की मूर्ति थे। उनकी शान्तमुद्रा के दृष्टिगोचर होते ही मतभेद रखने वाले भी अनेक मानव नत-मस्तक हो जाते थे। उनकी सम्मेदशिखर आदि की पदयात्रा के समय अनेक स्थानो पर अनेक सज्जनो ने सत्कारपूर्वक अपने आयतनो मे ठहराया एव उनकी परिचर्या करने मे अपना अहोभाग्य समझा। उनके प्रत्येक भक्तजन को जो ऐसा अनुभव होता था कि पूज्य वर्णी जी की सबसे अधिक कृपादृष्टि हमारे ऊपर है, यह उनकी सौम्यदृष्टि का ही प्रभाव था।

अनुकम्पा के तो वे अवतार ही थे। यद्यपि दयाभाव अनेक सज्जनो मे पाया जाता है, परन्तु अनुकम्पा विरले ही महानुभावो मे उपलब्ध होती है। दुखी प्राणी के दुख को दूर करने की इच्छा दया कही जाती है, परन्तु दूसरे के कष्ट को अपना सा समझकर शीघ्र ही उसको दूर करने के प्रयत्न मे जुट जाना अनुकम्पा है।

"दुखित-दुःख-प्रहाणेच्छा दया"
"परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा"

पूज्य वर्णी जी की यह अनुकम्पा अनेक बार व्यक्तरूप मे देखी गई है।

एक बार ग्रीष्म काल मे एक त्यागी जी के साथ वे बण्डा से सागर आ रहे थे। मार्ग मे एक कुए पर त्यागी जी के साथ पानी पीने लगे। इनको पानी पीते देखकर एक बुढिया इनके पास आकर कहने लगी कि महाराज जी थोडा सा पानी हमको भी पिला दीजिये। साथ के त्यागी जी ने कहा कि तुम अपना वर्तन लाओ उसमे हम पानी डाल देवेंगे। बुढिया करुण स्वर से कहने लगी कि यदि वर्तन होता तो हम स्वय पी लेते, आपको कष्ट नही देते। मेरा कण्ठ सूख रहा है,

कृपा कर पानी पिला दीजिये, त्यागी जी उसी प्रान्त के निवासी थे, उस बुढिया को पहिचानते थे, इसलिये उन्होने कहा कि हम तुमको अपने लोटा से पानी नही पिला सकते । परन्तु वर्णी जी से नही रहा गया । उन्होने उसकी अञ्जलि मे पानी दे देकर उसकी प्यास शान्त कर दी । त्यागी जी यह देखकर कहने लगे कि आपने यह वर्तन अपवित्र कर लिया है । यह सुनते ही वर्णी जी ने वह लोटा भी बुढिया को दे दिया ।

ऐसे अनेक उदाहरण है, जिनमे उन्होने शीतबाधा से ठिठुरते हुए लोगो को अपना सर्वस्व (छुल्लक अवस्था का वस्त्र) अर्पण कर दिया था। उनकी अनुकम्पा सिर्फ मनुष्यवर्ग मे ही सीमित नही थी किंतु प्राणिमात्र पर व्यापक थी ।

एक बार (जब सागर विद्यालय चमेली चौक मुहल्ला मे था) वे विद्यालय के तीसरे खड की एक कोठरी मे अध्ययन कर रहे थे । बाहर सडक पर लोगो की भीड देखकर उन्हे ज्ञात हुआ कि सडक के किनारे ३ फुट गहरी झील(खाई)मे एक गधा गिर पडा है । लोग चिल्ला रहे थे हाय बडा अनर्थ हो गया । बिचारा गधा मर रहा है । परन्तु वर्णी जी ने अतिशीघ्र ही सडक पर आकर कुछ छात्रो के सहयोग से गधे को बाहिर निकाल लिया । बाहिर निकलते ही वह वहाँ से भाग गया । वर्णी जी जिस कोठरी मे अध्ययन कर रहे थे उसका द्वार छोटा (सिर्फ ४।। फुट ऊँचा) था, अत शीघ्रतापूर्वक बाहर निकलते समय उनका सिर द्वार की चौखट से टकरा गया था एवं सिर से रुधिर वहने लगा था। परतु उन्होने इसकी कोई चिता नही की । गधे को निकाल चुकने के बाद ही उन्होने मरहम पट्टी करवाई ।

समाज मे व्याप्त घोर अज्ञान का निराकरण करने वाले महानुभावो मे पूज्य वर्णी जी ही एक अग्रगण्य महान् पुरुप थे । उनको स्वय ज्ञान का सम्पादन करने मे अनेक कष्टो का साम्हना करना पड़ा, परतु पीछे उन्होने उस कष्ट से साध्य ज्ञान को अनेक स्थानो मे विद्यालय और पाठशालाए खुलवाकर जन-जन को सुलभ कर दिया । समाज को बडे से बडे, मध्यम या निम्न कोटि के जो विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनकी ज्ञान-सम्प्राप्ति मे पूज्य वर्णी जी निश्चितरूप से साक्षात् या परस्परया साधन बने है । ज्ञान की आराधना एव उसके प्रचार मे ही उन्होने अपने आदर्श जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग किया था । अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग द्वारा वे समय-सारादि अनेक ग्रथो को हृदयङ्गम कर चुके थे । स्वप्न मे भी अक्षुण्ण प्रवाह से किया गया उक्त ग्रथो का प्रवचन उनके निकटवर्ती सज्जनो ने अनेक बार सुना है ।

एक चतुर शिल्पी साधारण पददलित मिट्टी का सुन्दर खिलौना बना देता है तो लोग उसको हाथो मे लेकर गौरव का अनुभव करते है । इसी तरह पूज्य वर्णी जी ने सर्व-साधन-विहीन अनेक बालको को हस्तावलम्बन देकर उनको समाज का भूषण बना दिया है ।

पूज्य वर्णी जी अनन्य साधारण अनेक गुणो के भण्डार थे । उन सबको वर्णन करने की रसनामे और लिखने की लेखिनी मे शक्ति नही है । उन्हे श्रद्धाविनत प्रणाम ।

करुणासागर, असमानविद्वान

—श्रावक शिरोमणि **श्रीमान साहु शान्तिप्रसाद जी**

व्यापारिक जीवन मे आने के बाद मेरे ऊपर जिस महात्मा का असर पडा है वे हैं श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी। उनमे प्यार और करुणा कूट-कूट कर भरी थी। ज्ञान के तो वे समुद्र थे। जीवन उनका सादा और पवित्र था। वे निश्चय का उपदेश देते हुए भी व्यावहारिकता से दूर नही होते थे। जिसकी जो कठिनाइयाँ होती थी उनको सुलझाते थे और उनको धर्म से विचलित नही होने देते थे। समयसार मे लिखा है कि विना व्यवहार के ज्ञान के कोई निश्चय धर्म का पालन नही कर सकता है। वे इसकी एक साक्षात् मूर्त्ति थे। उनके देहावसान के बाद मे भी उनके विचार करने ही से मुझे शान्ति और सुख मिलता है।

दिल्ली
२५ जुलाई, ७४

परम आध्यात्मिक सन्त

—**सरसेठ भागचन्द्रजी सोनी**
(अजमेर)

श्रीमान् पूज्य श्री १०५ श्री क्षल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज वर्तमान युग के एक अध्यात्म-रसिक त्यागी थे। जिन्होने अपनी विद्वत्ता, सरलता, गम्भीरता और त्यागशीलता द्वारा सम्पर्क मे आने वाले मुमुक्षुओ को अनायास ही आकर्षित किया था। आप साम्यस्वभावी, भद्रपरिणामी और मृदुभाषी थे। जो भी व्यक्ति एक बार आपके सम्पर्क मे आया वह आपकी वाक्यावली से प्रभावित होकर आपका चिर ऋणी हो जाता था।

सन् १९३७ मे मुझे आपके दर्शन का पुण्यलाभ मिला। उस समय धवल महासिद्धात ग्रथ का स्वाध्याय चल रहा था। आप स्वाध्यायान्तर्गत गाथा और उद्धरणो को इस प्रकार उच्चारण कर रहे थे मानो सरस्वतीरूपी नदी का अविरल प्रवाह वह रहा हो। जैनजगत् मे आपकी विद्वत्ता जहाँ मान्य थी वहाँ आपकी चारित्राराधना और अध्यात्मनिष्ठा ने आपको त्यागी वर्ग मे अग्रणी बना दिया था।

धार्मिकशिक्षा की ओर आपका जीवनान्त तक अकथनीय प्रयत्न रहा। शतश पाठशालाये आपके सतत प्रयत्न का ही सुफल है। श्री स्यादवाद महाविद्यालय काशी और सत्तर्क सुधा तरगिणी

कहकर आसन छोड कर मेरा हाथ पकड कर गद्दी पर बैठा दिया। मैंने साहस जोड़कर पढा। चूंकि पठित विषय तो था, अत पढ भी सका। अनन्तर अपने स्थान पर आ जाने पर मैंने कहा गुरुजी मैं आपके साथ अब बाहर कही न जाऊँगा, आप वहुत संकोच मे डाल देते हैं। वर्णी जी का उत्तर था कि मेरे सामने यदि तू समाज मे सभा मे बोलने का साहस न करेगा तो कैसे सीखेगा। इसी सिखाने को तो साथ लाता हूँ। और मैने जो कहा था सो क्या मिथ्या था ? मैं चुप रह गया उनकी शिष्यानुग्रह-बुद्धि पर आश्चर्य था।

(५) स्थितिकरण—

कटनी के पास बडगाव मे सिं० रघुनाथदास तथा उनका परिवार व उनसे रिस्ता रखने वाले अन्य सज्जन सब मिलकर करीब ५०घर पचासो वरसो से जाति समाज के व्यवहार से वहिष्कृत थे। अपराध इनके पिता का था। उन्होने कभी पचायत की बैठक मे पचो के बुलाने पर भी अवहेलना की, पचायत की बैठक मे नही पहुँचे। पंचो ने उनकी इस वृत्ति पर उन्हे समाज से बद कर दिया, तथा निर्णय दिया कि १।) नगदी व १ नारियल दण्डस्वरूप देने पर ही वे समाज मे सम्मिलित हो सकेंगे। उन्होने दण्ड न दिया। व्याह शादिया जिन परिवारो मे उन्होने अपने बच्चे बच्चियो की की थी वे भी समाज से बहिष्कृत होते गए।

हमारे पिताजी ने वर्णी जी से कहा कि इन परिवारो का न्याय होना चाहिये तथा प्रनिबन्ध उठना चाहिए अब तीसरी पीढी उनकी चल रही है। पितामह के अल्प अपराध की सजा ये उनके पौत्र भोग रहे हैं, यह अनुचित है। पूज्य वर्णी जी का ध्यान गया—और बाबा जी को साथ लेकर बडगाँव आए, परिस्थिति भी समझी, कटनी तथा आसपास की पंचायतें बुलाई गईं। मामला उपस्थित हुआ, लोग दृढ थे कि ये अब १०१ नारियल जुरमाना दे, बिरादरी को जेवनार दे, तब मिलाए जाय।

वर्णी जी ने फैसला दिया कि जुरमाना जिनसे चाहिए था वे दिवगत हो गए, अत जुरमाने का प्रश्न नही है। ये सब परिवार निर्दोष घोषित किये जाते है। समाज के सब प्रतिवध उठा दिये गये। इस पचायत की सफलता मे सागर के श्री मूलचद्र बिलौआ, रीठी के सिघई लछमनलाल और बाकल के नन्हेलाल पुजेरी का विशेष सहयोग रहा।

इस खुशी मे वर्णी जी की प्रेरणा से उस परिवार ने उस गॉव मे पक्का जिनमंदिर बनवा देना, पच-कल्याणक-प्रतिष्ठा कराना तथा १०००१) दस हजार रुपया नगदी देकर वहाँ पाठशाला खुलवा देना स्वीकार किया तथा सभी पचो को भोज दिया।

ऐसी सुदरता से उन ५० परिवारो का न्याय हुआ कि सब प्रसन्न हुए तथा धर्म की प्रभावना हुई।

मैने नमूने के तौर पर ये पाच सस्मरण पाठको के सामने रखे हैं। उनके सपर्क मे मुझे अनेक वर्ष रहना पडा। उनका समस्त व्यवहार आचार ही परोपकारमय था। यदि केवल अपने साथ घटी घटनाओ के सभी सस्मरण लिखे जाय तो वह स्वय एक विशाल पुस्तक होगी अत सक्षेप मे केवल ५ बाते ही लिखी है।

उनका जीवन-चरित्र जो कोई पढेगा वही उनके सम्पूर्ण जीवन की महत्ता समझ सकेगा। उनका जीवन स्वय मे एक जीता जागता विशाल नैतिक चरित्र था। वे करुणा और परोपकार की साक्षात् मूर्ति थे।

सदाचार पर उनका बल था। पाचो पाप उन्हे जीवन भर नही छू सके थे। उन्होंने संस्कृत तथा धार्मिक शिक्षा-प्रसार मे ही अपना सपूर्ण जीवन व्यतीत किया है। उनके दर्शनमात्र से ही शाति मिलती थी। ऐसा अपूर्व जीवन उनका था।

मै अपनी आतरिक अशेष शक्तियो से
इस शताब्दी पर उनके प्रति अपनी
पूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पित
करता हूँ।

उस ज्ञान-प्रकाश-दाता को सादर प्रणाम

सिद्धान्ताचार्य श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
वाराणसी

पूज्य वर्णी जी महाराज ने काशी मे श्री स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर मे सत्तर्क-सुधा-तरगिणी पाठशाला स्थापित करके (जो बाद को वर्णी महाविद्यालय बना दिया) दिगम्बर जैन समाज का महान् उपकार किया है। इन विद्यालयो मे अन्य प्रान्तो से तो विरल ही छात्र पढने आते है किन्तु मध्यप्रदेश बुन्देलखण्ड के ऐसे-ऐसे छोटे ग्रामो से छात्र आते है जहाँ उस समय छोटा सा स्कूल तक नही था। इन विद्यालयो मे पढकर आचार्य और एम. ए. बनकर कालिजो और विश्व-विद्यालयो मे प्राध्यापक बन जाते है। यदि इन विद्यालयो का सहयोग न मिलता तो ये छात्र पता नही कहाँ किस रूप मे जीवन बिताते।

पुराने और नये प्राय अधिकाश विद्वान वर्णी जी महाराज के ही विद्यालयो की देन है।

मै जब स्याद्वाद विद्यालय मे पढने गया तो वही प्रथम बार उनके दर्शन किये। उनकी वह विहंसती हुई मुखमुद्रा, उनका विद्यालय के भवन मे आना, हम लोगो का उठकर खडा होना, उनका सबकी ओर विहंसता दृष्टिपात, लटकती हुई धोती, कन्धे पर दुपट्टा, यज्ञोपवीत मे या अगुली मे सोने की हीरा जडी अगूठी आज भी स्मृतिपथ मे तदवस्थ है।

उनका जैसा निर्विकार, पर-दु.ख-कातर, विद्यारसिक त्यागी होना कठिन है। जब वह विद्यालय मे रहते थे तो कभी-कभी बाबा भागीरथ जी वर्णी भी आ जाते थे। इन दोनो मे बडा सौहार्द था। बाहर से पार्सल आते रहते थे। उनके प्रेमी भक्तो की सौगातें लाते रहते थे।

उन्होने सवारी का त्याग किया और बनारस से पैदल सागर गये। फिर तो उन्होने पैदल ही सागर से ईसरी, ईसरी से सागर, दिल्ली आदि की यात्रा की और अत मे ईसरी ही मे रहने लगे। उनका प्रभाव दिनो दिन बढता गया। अत मे वे पैरो से लाचार हो गये। तब वह दिन भी आया जब उनके समयसार-मय जीवन की परीक्षा की घडी आई। वे परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए। उस सकटकाल मे तीव्रवेदना को उन्होने किस धैर्य से सहा वैसा धैर्य आत्मबोध के बिना सभव नही है। यह शताब्दी उनके आलोक से आलोकित है और जब तक उनकी ज्ञानदात्री सस्थाए चलती रहेगी उनसे प्रकाश की किरणे मिलती रहेगी। उस ज्ञान-प्रकाश-दाता को सादर प्रणाम।

एक महान विभूति

कैलाशचन्द्र शास्त्री

स्व० पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी जन्म से वैष्णव धर्मावलम्बी थे। पीछे सगति के प्रसाद से जब उन्होने जैनधर्म धारण कर लिया तो आजीवन उनकी अटल श्रद्धा जैनधर्म पर रही। जैनधर्म उनके जीवन मे समा गया था। वह मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक थे। उनका समस्त जीवन स्व-पर-कल्याण मे बीता। ज्ञानाराधना और ज्ञान का प्रचार ही एक तरह से उनके जीवन का ध्येय बन गया। जैनधर्म मे दीक्षित होने के पश्चात् उन्होने सप्तम प्रतिमा धारण कर ली और फिर क्षुल्लक बन गए। उनका समस्त जीवन एक निरीहवृत्ति का प्रतीक था। उनके पीछे लक्ष्मी लोटती थी, बडे-बडे धनाधीश उनके लिए धन खर्चने को तैयार थे किन्तु वे सदा नि सग रहे। पूज्य बाई जी का स्वर्गवास होते ही उनका शेष रुपया स्याद्वाद विद्यालय वगैरह को दे डाला। अपने पास उन्होने कभी एक दमडी नही रखी। एक बार छपरा गए, लौटते समय वहाँ के भाइयो ने जबरदस्ती मार्गव्यय के लिए ५) उनके छोर मे बाध दिए। स्टेशन पहुँचे एक रुपया इक्के वाले को दे दिया। दूसरा रुपया कुली को दे दिया। बनारस उतरे तो तीसरा रुपया वहाँ के कुली को दे दिया। शेष बचे दो। वे दोनो रुपये बनारस के इक्के वाले को दे दिए। साथ के व्यक्ति ने रोका भी कि महाराज! इतना क्यो देते हो, तो बोले देने वाले ने मार्गव्यय के लिए दिये थे सो जिनके निमित्त के थे सो दे दिए। इस तरह वह पैसे से सदा नि सग रहे। और स्त्रीजाति के प्रति भी उनकी सदा नि सग भावना रही। उनका पादस्पर्श करना तो दूर, कमरे की चोखट लाधकर कोई स्त्री अन्दर पैर नही रख सकती थी। त्रिकाल सामायिक का नियम अन्त तक निवाहा उसमें कभी कोई व्यतिक्रम नही हुआ। भोजन की जो प्रक्रिया त्यागियो के लिए प्रचलित है उसी प्रक्रिया से दिन मे एक बार भोजन लेते थे। स्वर्गवास से दो दिन पहले तक जब वह अत्यत अशक्त हो गए थे, बारम्बार प्रेरणा करने पर भी अपने कमरे मे जलपान करने के लिए तैयार नही हुए। और देवदर्शन करने के पश्चात् ही पडगाहे जाने पर जल लेने के लिए तत्पर हुए किन्तु ले नही सके। बीमारी का डेढ दो माह का समय उन्होने कितनी शान्ति से बिताया है इसे तो देखने वाले सभी जानते हैं। पूज्य वर्णी जी मे बनावट

तई नही थी। अपनी कमजोरियो से वे अजान नही थे। ईसरी मे कई बार प्रवचन करते हुए न्होने स्वयं अपनी कमजोरियो की निन्दा की थी। वृद्धावस्था ने उन्हे पगु कर दिया था। शरीर वह एक तरह एक दम अशक्त हो गए थे। और भक्तो का यह हाल था कि वे चाहते थे कि र्णी जी अभी इसी हालत मे बैठे रहे। आचार्य और मुनिराज तक उन्हे आदर और सम्मान की - से देखते थे। स्व० आचार्य श्री शातिसागर जी महाराज आचार्य श्री सूर्यसागर जी महाराज, आचार्य श्री नमिसागर जी महाराज आदि का उनके प्रति आदर भाव रहा है। वह जैन समाज की एक विभूति थे और जैनधर्म के एक स्तंभ थे।

—जैन सदेश २६/१७ पृष्ट ११

मेरे जीवन-दाता वर्णीजी

—श्री पं. फूलचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

व्यक्ति आखिर व्यक्ति है। काल की गति के साथ प्रत्येक व्यक्ति की इह लीला समाप्त होना स्वाभाविक है। फिर भी कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होते है जो काल पर भी विजय पाते हुए देखे जाते है। इह लीला समाप्त होने पर भी अपने जीवित कार्यों द्वारा उनका चिरकाल तक अस्तित्व बना रहता है। इस काल मे जो इस गणना के योग्य है उनमे श्रद्धेय वर्णीजी अन्यतम है। वे अब हमारे मध्य नहीं हैं। पर वे समाज के दृष्टि-ओझल हो जायेगे यह सम्भव नही है। उन्होने अपने जीवनकाल मे रचनात्मक दृष्टि से जिस इतिहास का निर्माण किया है वह युग-युग तक उनकी जीवन-कहानी मुखरित करता रहेगा।

अभी मेरा शिक्षा-काल पूरा नही हुआ था कि जवलपुर मे शिक्षामन्दिर खुलने वाला है और उसके प्रधानाचार्य श्रद्धेय पं० वशीधर जी न्यायालकार होने वाले है यह सुसमाचार मुझे जबलपुर खीच कर ले गया। जिस दिन मैं जिस गाडी से अपने घर लौट रहा था, उसी गाड़ी से श्रद्धेय वर्णी जी ने भी सागर के लिये प्रस्थान किया। श्रद्धेय प० जी उनके साथ चल रहे थे। गाडी कटनी तक आती थी, इसलिये उनके साथ मैं भी वही रुक गया।

मुझसे यह कह कर कि सामान छात्रावास मे रखा आओ, वे श्री जिनमन्दिर जी मे चले गये। सामान रखाकर पीछे से मै भी पहुँच गया। दर्शनविधि सम्पन्न होने पर दोनो महानुभाव सामायिक करने लगे। मैं कर्मकाण्ड ग्रन्थ का स्वाध्याय करने लगा। इसी बीच खबर पाकर अनेक श्रावक और श्राविकाएँ श्रद्धेय वर्णी जी के मुख से अमृतवाणी सुनने और उनका पुनीत दर्शन करने के लिये वहाँ एकत्रित हो गये। सामायिक-विधि सम्पन्न होने पर प्रवचन के लिये सबने श्रद्धेय वर्णी जी से प्रार्थना की। मैने अवसर देख कर चौकी उनके सामने रख दी। किन्तु उन्होने स्वय प्रवचन न कर मुझसे कहा—"भैया! कौन ग्रन्थ है ?"

मैंने कहा—"कर्मकाण्ड है।"

वे बोले—"पढे हो ?"

मैने कहा—"हाँ, पढा हूँ," प० जी की ओर सकेत करते हुए पुन कहा—"गुरु जी ने ही पढाया है ।"

वे बोले—"तो सुनाओ, मै सुनूँगा और सब सुनेगे । कहो भैया ! ठीक है न ।" कौन निषेध करे, सबने सकोचवश हाँ भर दी ।

उनकी यह अनुग्रहपूर्ण वाणी सुनकर मैं तो गद्गद हो गया । मिनट-दो-मिनट स्तब्ध रहने के बाद मैं अपनी शक्ति अनुसार व्याख्यान करने लगा ।

मेरे उस व्याख्यान को सुनकर वे पण्डित जी से बोले, भैया ! बालक तो बुद्धिमान दिखाई देता है । इसे शिक्षामन्दिर मे सहायक अध्यापक बना लेना । आपके पास अध्ययन भी करेगा और मध्य की कक्षाओ के छात्रो को अध्यापन भी करायेगा । फिर मुझे लक्ष्य कर बोले, भैया ! पत्र की प्रतीक्षा नही करना । जिस दिन शिक्षामन्दिर का उद्घाटन हो, आ जाना । समझो, तुम्हारी नियुक्ति हो गई । अभी २५) रु० मासिक मिलेगा । आगे तरक्की हो जायगी । उनका यह प्रथम आशीर्वाद है जिसे पाकर मैं धन्य हो गया ।

शिक्षामन्दिर का उद्घाटन कर श्रावणमास मे पूज्य श्री का नागपुर जाना हुआ । समाज ने उनसे दशलक्षण पर्व के लिये एक विद्वान् की याचना की । प० फूलचन्द्र को बुला लेना यह कह कर वे सागर लौट आये । मुझे आमन्त्रण-पत्र मिलने पर मै सागर भागा गया । श्री चरणो मे निवेदन किया मै इस योग्य नही हूँ । बोले, एक दिन रुको, (बाई जी के हाथ का) प्रेम से भोजन करो, शान्ति से बात करेगे । मैने समझा मेरी प्रार्थना सुन ली गई, बडी प्रसन्नता हुई । अपने साथ बिठाकर प्रेमपूर्वक भोजन कराया । श्रद्धेय बाई जी के हाथ का सुस्वादु भोजन पाकर मैं धन्य हो गया । भोजन के अन्त मे वही बोले—देखो बाई जी ! यह बालक कैसा हठी है । मैं नागपुर वचन दे आया । यह मना करता है । यहाँ भगा आया । इसे समझा दो । यह अपना भविष्य नही देखता । बालक होनहार है, बन जायगा तो .... । मैं मुँह देखता रह गया । गुरु-कृपा मान कर नागपुर गया तो, पर साथ मे समझा-बुझा कर श्री प० हीरालाल जी सिद्धान्त-शास्त्री को भी ले गया ।

शिक्षामन्दिर सुचारुरूप से चलने लगा । सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर स्व० श्री छोटेलाल जी मास्टर की नियुक्ति हुई । मत्री स्व० श्रद्धेय कन्छेदीलाल जी वकील थे । कुछ दिन तो मास्टर सा ने ठीक ढग से काम चलाया । बाद मे अपना रग जमाने के लिये उन्होने कुछ ऐसी नीति अपनाई जिससे शिक्षामन्दिर की प्रगति रुक गई । उनकी इसी नीति के कारण मै शिक्षामन्दिर छोड कर बनारस चला आया । उस समय पूज्य श्री वहाँ विराजमान थे ही । पूरा समाचार जानकर उन्होने मुझे अन्य दर्शनो के शिक्षण के लिये विद्यालय मे स्थान दे दिया और २५)रु० माह वृत्ति निश्चित कर दी । किन्तु मै उनके इस शुभाशीर्वाद का अधिक समय तक लाभ न उठा सका । अपनी गृह-सम्बन्धी आर्थिक कठिनाई के कारण मुझे अध्यापकी जीवन व्यतीत करने के लिये विवश होना पडा ।

मध्य का काल ऐसा बहुत है जो प्रकृत मे विशेष उल्लेखनीय नही है। सन् ४१ मे मथुरा सघ ने श्री जयधवला के प्रकाशन का निर्णय लिया। उसका अनुवादादि कार्य सम्पन्न करने के लिये मुझे बनारस आमन्त्रित किया गया। मै जेलयात्रा से हुई शारीरिक क्षति को पूरा कर पुनः बनारस आ गया और इस मगल कार्य मे जुट गया। इसी बीच अ० भ० दि० जैन विद्वत्परिषद की स्थापना हुई। मै उसका सयुक्त मत्री नियुक्त हुआ। कार्यालय का भार मुझे ही सौपा गया। निश्चय हुआ कि कटनी मे होने वाले विशेष उत्सव के समय वहाँ इसका पूज्य श्री की अध्यक्षता मे प्रथम अधिवेशन किया जाय। उस समय पूज्य श्री पनागर मे विराजमान थे। निवेदन करने के लिये मै ही नियुक्त किया गया। मै पनागर गया। पूज्य श्री से निवेदन किया। बहुत अनुनय-विनय करने पर स्वीकृति मिल गयी। अधिवेशन तो निश्चित समय पर हुआ, पर इस दौड-धूप और कार्याधिक्य के कारण मै लीवर जैसे कठिन रोग से इतना ग्रसित हुआ कि लगभग सात माह तक अन्न के दर्शन करना भी दुर्लभ हो गया। केवल फलो के रस और दूध पर ही मुझे रखा गया।

किसी पण्डित की आजीविका कितनी ? काम करो, वृत्ति लो। आजीविका बन्द हो गई। पास मे जो सोना-चाँदी था उसमे से कुछ हिस्सा वेचकर काम चलाने लगा। यह समाचार परम कृपालु पूज्य श्री के कानो तक पहुँचा। उनकी आत्मा द्रवीभूत हो उठी। तत्काल उन्होने आ बाबू रामस्वरूप जी बरुआसागर वालो को सकेत कर ६००) रु० भिजाये। मुझे गुरुकृपा का सहारा मिला, अच्छा होकर पुन. जयधवला के सम्पादन मे जुट गया। यह पूज्य श्री की ही महती कृपा है कि मै आज जीवित हूँ और धर्म-समाज के कार्यो मे योगदान कर रहा हूँ। श्री गणेशप्रसाद दि. जैन वर्णी ग्रन्थमाला की मगल स्थापना इन्ही ६००) रु० के शुभ सकल्प से की गई थी। हाला कि मै उन रुपयो को कुछ काल बाद ही ग्रन्थमाला मे जमा करा सका था। यह मेरा जीवनव्रत है कि जहाँ तक सभव होगा मै अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी पुण्यस्मृति मे कुछ न कुछ कार्य करता रहूँगा।

चैत्र का महिना था। पूज्य श्री सोनागिर सिद्धक्षेत्र पर विराजमान थे। मै और स्व० डा० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य झाँसी की महावीर जयन्ती सम्पन्न कर श्री सिद्धक्षेत्र की वन्दना और पूज्य श्री के दर्शनो के लिये सोनागिर गये। उस दिन आहार के लिये दो चौकाओ की व्यवस्था थी। उनमे से एक चौका गया निवासिनी ब्र० पतासीबाई ने लगाया था। शुद्धि के पश्चात् जब पूज्य श्री आहार के लिये उठे तो दूसरे चौके वाला प्रौढ पुरुष आगे बढा। यह देखकर ब्रह्मचारिणी जी भी आगे बढने लगी। दोनो मे आगे बढने की एक प्रकार से होड सी लग गई। यह दृश्य देख कर पूज्य श्री ठिठक गये, उस भाई से बोले—भैया ! क्या करते हो, क्या आहार कराने के लिये यही दिन है, दूसरे दिन करा देना। देखते नही हो। ये बाई जी वृद्धा महिला है, तपस्या के कारण कृशशरीर हैं। थोडी तो दया करो। और यह कह कर लौट आये। कुछ देर रुकने के बाद पुन. शुद्धि कर आहार को उठे। आहार करने के बाद हम दोनो से बोले—भैया ! आचारशास्त्र के अनुसार यदि हमसे कुछ प्रमाद हुआ है तो हम प्रायश्चित कर लेते है। हमसे वह दृश्य देख कर रहा नही गया, इसलिए दो शब्द मुख से निकल गये। कैसी विडम्बना है, लोग मात्र आहार कराने मे ही धर्म समझते है। जहाँ आकुलता हो वहाँ धर्म कैसा ! हम दोनो पूज्य श्री के ये वचन सुन कर अवाक् रह गये।

चौरासी-मथुरा मे पचकल्याण-प्रतिष्ठा का आयोजन था। पूज्य श्री वहाँ विराजमान थे। देश के कौने-कौने से वडे-वडे पुरुष आये हुए थे। हम पण्डितो का भी पूरा मजमा हो गया था। एक दिन प्रमुख विद्वानो ने पूज्य श्री को आहार देने का सकल्प लिया। प्रतिग्रह करने के लिये खडा किसे किया जाय। सबने विचारकर परीक्षा के तौर पर मुझे खडा कर दिया। श्री मन्दिर के प्रागण मे शुद्धिविधि सम्पन्न कर पूज्य श्री आहार के लिये उठे। किन्तु वे विरुद्ध दिशा मे चले गये। ३०-४० चौके लगे थे। आशा-निराशा के झूले मे मै झूलता रहा। यह तो होनहार ही समझिये कि पूज्य श्री उन सब चौको मे से होते हुए वहा पधार गये जहाँ हम पण्डितो ने चौका लगा रखा था। मेरी श्रद्धा फलीभूत हुई। सोल्लास वातावरण मे आहारविधि सम्पन्न होने पर आशीर्वादो की पुष्पवृष्टि से मै धन्य हो गया।

वही दूसरे दिन पूज्य श्री का प्रवचन हो रहा था। उसी समय एक भाई ने आकर मेरे हाथ मे तार थमा दिया। मैंने उसे खोले बिना ही कुरते के ऊपरी जेब मे रख तो लिया, किन्तु बार-बार हाथ उस ओर जाने लगा। मन होता था कि खोल कर पढ लूँ। मेरी यह मन स्थिति और हाथ की हलन-चलन क्रिया पूज्य श्री के दृष्टि ओझल न रह सकी। प्रवचन की धारा बन्द कर बोले—भैया! आकुलित होने से अच्छा तो यह है कि खोल कर पढ लो। मैं सिटपिटा गया। पुन बोले—घबडाओ नही। तुम खोल कर पढ लो। उसके बाद ही मैं प्रवचन करूँगा। गुरु आज्ञा मान कर मैंने तार को खोल कर पढाया। तार का आशय समझते ही मेरा चेहरा फीका पड गया। तार मे कोई अनहोनी बात का सकेत है, पूज्य श्री को यह समझते देर न लगी। बोले—भैया! अब तुम उठ जाओ, अपने कार्य मे लगो। चिन्ता न करो, सब अच्छा होगा। घटना तो अनहोनी थी ही। मेरी छोटी बेटी चि० पुष्पा तीसरे मजिल से गिर पडी थी, किन्तु वह पूज्य श्री के आशीर्वाद से पूर्ववत् पुन स्वस्थ हो गई।

ललितपुर मे पूज्य श्री का चातुर्मास प्रारम्भ हुआ। चातुर्मास की समग्र व्यवस्था क्षेत्रपाल जी मे की गई थी। मैं बीना मे घर पर अपना सामान रख कर एक झोला लेकर पूज्य श्री के दर्शनो के लिये ललितपुर चला गया। मुझे आया हुआ देख कर पूज्य श्री ने वहाँ उपस्थित समाज को सकेत कर दिया—इसे जाने नही देना। मैं निर्देश को टाल न सका। पाँच माह तक उसी स्थिति मे रहा आया। वर्णी इटर कालेज की स्थापना उसी चातुर्मास का सुफल है। मुझे अपने प्रदेश की सेवा करने का सुअवसर मिला। मैंने इसे पूज्यश्री का शुभाशीर्वाद माना।

चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हो रहा था। भाद्रपदी दशलक्षणपर्व सम्पन्न हुआ ही था कि इसी बीच पूज्य श्री को गुदा के बगल मे अदृष्ट फोडे ने दबोच लिया। चलने-बैठने मे तकलीफ होने लगी। तब कही पता लग सका कि गुदा के मुखद्वार के बगल मे अदृष्ट फोडा अपना स्थान बना रहा है। जनता मे तरह-तरह की बाते होने लगी। कोई कहता चीरा लग जाना चाहिए, कोई इसका निषेध करता। बहुत विचार के बाद चीरा लगाना निश्चित हुआ कि इजक्शन लगाने न लगाने के विवाद ने सबको आ घेरा। जनता इजक्शन लगा कर चीरा लगाया जाय इस पक्ष मे नही थी। पूज्य श्री के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ। वे बोले—भैया! इतनी चिन्ता क्यो

करते हो। मैं स्वयं इंजक्शन लेकर चीरा लगवाने के पक्ष मे नही हूँ। तब कही जनता ने संतोष की साँस ली।

टीकमगढ से डाक्टर बुलाया गया। फोड़ा देख कर उसने कहा भी कि महाराज जी बिना इंजक्शन लगाये चीरा लगाना सम्भव नही है। किन्तु पूज्य श्री ने उसे समझा कर कहा—भैया! आप चिन्ता क्यो करते हो, आप निर्द्वन्द्व होकर अपना काम करो। मेरे कारण आपको चीरा लगाने, उसे साफ करने और मलहम-पट्टी करने मे कोई दिक्कत नही होगी। बहुत समझाने-बुझाने के बाद उसे तैयार किया जा सका।

पूज्य श्री को भीतर के एक कमरे मे पट्टे पर ओधा लिटाया गया। मात्र मैं और स्व० श्री लाला राजकृष्ण जी सम्हाल के लिये वहाँ रह गये और सब को अलग कर दिया गया। मैं पैरो को सम्हाल रहा था और श्री राजकृष्ण जी ऊपरी भाग को। डाक्टर ने फोडे को साफ कर नश्तर लगाया। दुर्गन्धमय पू का फुव्वारा फूट पड़ा। फोडे ने लगभग चार अगुल गहरा स्थान बना लिया था। घेरा ६ इच से कम न होगा। इतना बडा फोडा होते हुए भी सजीव शरीर मे चीरा लगाया जा रहा है यह अन्दाज लगाना कठिन था। समाधिस्थ पुरुष की जो स्थिति होती है उसी स्थिति मे पूज्य श्री ने स्वय को पहुँचा दिया था। न हाथ हिले, न पैर हिले और न शरीर का शेष भाग ही हिला। ओठ जैसे प्रारम्भ मे बन्द थे, अन्त तक उसी तरह बन्द रहे आये। लगभग इस पूरी क्रिया को सम्पन्न करने मे २०-२५ मिनट लगे होगे। पर जो कुछ हुआ सब एक सास मे हो गया। डाक्टर को आश्चर्य हो रहा था कि ऐसा भी कोई पुरुप हो सकता है? सब क्रिया सम्पन्न कर अन्त मे जाते हुए वह कहने लगा—ये पुरुष नही, महापुरुष है। मुझे ऐसे महापुरुष की यत्किंचित् सेवा करने का सुअवसर मिल सका, मैं धन्य हो गया। मेरा डाक्टरी करना आज सफल हुआ। मैने आज जो पाठ पढा है वह जीवन भर याद रहेगा।

ललितपुर चातुर्मास के समय का वर्णीजयन्ती का नजारा भी देखने लायक था। न भूतो न भविष्यति ऐसा वह महोत्सव था। गजरथ जैसे महोत्सव के समय जो जनसमर्द दृष्टिगोचर होता है वही दृश्य वर्णीजयन्ती के समय दृष्टिगोचर हो रहा था। पूज्य श्री बुदेलखण्ड की जनता के लिए देवतास्वरूप रहे है। उस दिन उसने उसी भावना से उनके श्री चरणो मे श्रद्धा-सुमन अर्पित किये।

पूज्यश्री के जीवन-सम्बन्धी ऐसे उल्लेखनीय प्रसग तो बहुत है। तत्काल मुझे एक ही प्रसग का और उल्लेख करना है जो उनके अन्तिम जीवन से सम्बन्ध रखता है। अन्तिम दिनो मे पूज्य श्री का चलना-फिरना बन्द हो गया था। वाचा ने अपना सूक्ष्मरूप धारण कर लिया था। इतना सब होने पर भी पूज्य श्री की दृष्टि, श्रवण और स्मरण शक्ति बराबर उनका साथ दे रही थी। जिस शारीरिक वेदना मे पूज्यश्री के अन्तिम दिन व्यतीत हुए उसमे शायद ही कोई अपने को स्थिर रखने मे समर्थ होता। किन्तु उन धीर-गम्भीर महापुरुष की बात निराली थी। उनकी आन्तरिक वेदना को वे ही जानते थे। पर उन्होने अपनी वाचिक या कायिक किसी भी चेष्टा द्वारा दूसरो पर उसे कभी भी प्रकट नही होने दिया। जब उनसे मुनिपद अगीकार करने के लिये निवेदन

किया गया तब उनके पिछी ग्रहण करने के लिये यत्किंचित् हाथ उठे और मुख से अस्पष्ट ये शब्द प्रस्फुटित हो उठे—**आत्मा ही आत्मा के लिये शरण है** और पूर्णरूप से परिग्रह राहत होकर पूज्यश्री ने अपनी इहलीला समाप्त की।

वे ऐसे महापुरुष थे, जिनकी शताब्दि-महोत्सव की पुण्यबेला मे पुण्यस्मृतिस्वरूप श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए हम सब यही भावना करे कि जिस निष्काम भाव से वे अपने कर्तव्यपथ पर अग्रसर होते रहे, उनके द्वारा बताये गये उस मार्ग पर चलने का हमे भी बल प्राप्त होओ।

मैं स्वय तो पूज्यश्री को अपने जीवनदाता के रूप मे स्मरण करता हूँ और जीवन भर स्मरण करता रहूँगा, यही मेरी उस महान दिवगत आत्मा के प्रति श्रद्धाजलि है।

सोवत जागत लगन हिये की

ब्र० नाथूलाल शास्त्री

[पूज्य वर्णी जी सस्कार-वश स्वप्न मे भी उपदेश देते सुने जाते थे। उनके एक ऐसे ही उपदेश को लिपिबद्ध करके भेजा है ब्र० नाथूलाल जी शास्त्री उर्फ नित्यानद शास्त्री ईसरी ने]

स्वप्न-दशा मे उपदेश

भो आत्मन् तुम तो स्वय ज्ञानमया, अमूर्तिक, अनुभवगम्य हो, त्रिकालध्रुव हो और जो यह पर्याय परिणमनशील नाशवान है यह भी तो तुम्हारे पुरुषार्थ से प्राप्त है अत. मध्यस्थ रहो यह मनुष्यपर्याय, श्रावककुल, जैनधर्म तथा अटूट श्रद्धा, यथायोग्य सयम यह भी पुरुषार्थ का फल है और जो शरीर है इसकी यह दशा हो रही है कि एक जगह पत्थर की तरह बैठे रहते हैं और अपने आप इधर से उधर तक नही हो पाते। स्वय शरीर की क्रिया नही कर पाते, चलने फिरने की बात दूर रही, अपने आप करवट तक लेना कठिन है, सारी क्रियाये पराधीन हो गई, यह भी तो पुरुषार्थ का फल है। लोग कहते है निमित्त कुछ नही होता सो देख लो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, यह सब हम जानते है—किससे क्या कहे अब तो सतोष से सहन करो, आकुलता से कोई फायदा नही। देखो नरक के नारकी कितनी वेदना का अनुभव करते है, तिर्यञ्च विचारे कितने पराधीन है, जो रातदिन सक्लेशित (आकुलतामय) है हम अपनी बात किससे कहै, अच्छा है जो होना था सो ही होगा। आप सब सुखमय जीवन बितावें, विश्वशाति की भावना करते हुए आत्महितैषी बने।

✲

मेरे दीक्षा-गुरु

—ब्रह्मचारी राजाराम जैन
श्री दिगम्बर जैन धर्मशाला, मगलवारा, भोपाल

मैं अपनी जन्मभूमि ग्राम पडवार मे था। सवत १९७१ मे मेरी बहन की शादी मे वडे पडित जी के नाम से पूज्य श्री का दर्शन हुआ। उसके वाद दो तीन वार मेरे यहा धर्म के अवसरो पर पधारे। मुझे विद्यालय मे आपने प्रवेश दिया। उस समय ढाकनलाल सिंघई के मकान मे विद्यालय था। अभाग्यवश गृहकार्य से मुझे विद्यालय छोडना पड़ा। इसके बाद गृह से उदास हो पूज्य श्री की शरण मे जवलपुर गया तो आपने कहा कि मै तुमको और तुम्हारे पिता को जानता हू। तुम क्या व्रतो को पालोगे। किन्तु मेरे आग्रह से १ साल का ब्रह्मचर्य व्रत दिया और कहा कि अभक्ष्य वा व्यसनो का त्याग करो। इसके वाद सागर आकर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत एव ५ पापो का एक देश त्यागव्रत दिया और कई जगह कई चातुर्मास मे मै उनकी सेवा मे रहकर इस योग्य उन्ही के प्रसाद से हुआ। हमारे प्रान्त मे धर्म एव विद्या का प्रकाश उन्ही महात्मा की देन है। दया वात्सल्य सौम्यता साक्षात् मूर्तिस्वरूप उनमे थी। न्याय नीति आगम के अगाध सागर थे। उनको भूला नही जा सकता। जो उनके सम्पर्क मे आ जाता था वह उनको नही भूल सकता था और वह उसको नहीं भूलते थे। अत मैं उनके व्यक्तित्व को कहने मे समर्थ नही। रास्ते मे एक गाव के पास एक वार आम के नीचे बैठ गए। उस गाव के लोग आ गए कि यह कोई महात्मा जी हैं उन्होने कहा महाराज यह आम फलता नही है, आपने कहा कि फलेगा। अगली साल वह आम की जिस डाली के नीचे बैठे थे फली। लोगो ने बताया कि वह डाली फली थी। अस्तु मैं क्या कहू मात्र श्रद्धा के पुष्प ही उन महापुरुष के चरणो मे समर्पित करता हू।

ससार मे कोई भी पदार्थ स्थिर नही, जो आज है वह कल नही रहेगा। ससार क्षणभगुर है इसमे आश्चर्य की बात नही। हमारी आयु ७४ वर्ष की हो गई परन्तु शान्ति का लेश भी नही आया और न आने की सभावना है, क्योंकि मार्ग जो है उससे हम विरुद्ध चल रहे है। यदि सुमार्ग पर चलते तो अवश्य शान्ति का आस्वाद आता परन्तु यहाँ तो उलटी गगा बहाना चाहते है। धिक् इस विचार को जो मनुष्यजन्म की अनर्थकता कर रहा है। केवल गल्पवाद मे जन्म गमा दिया। बाह्य प्रशसा का लोभी महान् पापी है।

—गणेश वर्णी

उत्कृष्ट सन्त

श्री पं० नाथूलाल जी शास्त्री, इदौर

पूज्य वर्णी जी का नाम हमारी आध्यात्मिक विभूतियो मे अग्रगण्य है। वे उत्कृष्ट कोटि के सत थे। उनके व्यक्तित्व मे ऐसा अपूर्व आकर्षण था कि उनके सानिध्य मे आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनसे प्रभावित हुये बिना नही रह सकता था। वे अत्यत सरल, अनाग्रही और निर्मल परिणाम वाले थे। सागर, नैनागिरि और ईसरी मे उनके साक्षात्कार की अनेक घटनाओ की बार-बार स्मृति आती रहती है। नीतिशास्त्र मे उल्लिखित पाँच पिताओ मे गुरु (अज्ञानाधकार-निवारक) का सर्वाधिक महत्त्व है। पूज्य वर्णी जी इसी सर्वोपरि कोटि के अतर्गत विद्वानो के पिता थे। उन्होने न केवल शिक्षा सस्थाएँ खुलवाकर, उनमे हमे शिक्षण दिलाकर हमारा उपकार किया, बल्कि आध्यात्मिक ज्ञान और उत्कृष्ट चरित्र द्वारा अनुपम आदर्श भी प्रस्तुत किया। उनका जीवन लोकोत्तर था।

इस शताब्दी समारोह के प्रसग पर उनके प्रति कृतज्ञ होकर हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित है।

इस शती के महानतम पुरुष : श्री वर्णीजी

—डा० दरबारीलाल कोठिया,
अध्यक्ष अखिल भारत वर्षीय
दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद

मनुष्य मनुष्य बना रहे, यह सरल नही है, बडा कठिन है। उसके चारो ओर ऐसा वातावरण रहता है, जिससे वह प्रभावित हो जाता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त चार सज्ञाएँ तो उसके साथ रहती ही हैं। बच्चा जब उत्पन्न होता है तो माता के स्तन्यपान मे उसकी निसर्गज प्रवृत्ति होती हे। भय, काम और तृष्णा सज्ञाएँ भी उसमे धीरे-धीरे अभिव्यक्त होने लगती है। बाल से कुमार, कुमार से युवा और युवा से वृद्ध जब वह होता है तो उसमे उन सज्ञाओ की वृद्धि तो होती ही है, क्रोध, अहकार, माया और परिग्रह के सग्रह की प्रवृत्ति भी बढ जाती है। इस तरह मनुष्य विकारो और उप-विकारो का शिकार जाने-अनजाने मे होता रहता है, जिनसे बचना उसके लिए मुश्किल हो जाता है। यदि विवेक-बुद्धि और पूर्व-सुसस्कार हुए तो वह उनसे किसी तरह बच जाता है। इन्ही के बल पर उसकी दृष्टि, समझ और चेष्टा गुणग्राहिणी भी होती है, उसमे दया, दाक्षिण्य, परोपकार, सेवा आदि मानवीय गुण आते जाते है। ऐसे मनुष्य को लोकोत्तर मनुष्य कहा जाता है।

श्री वर्णीजी इस शती के ऐसे ही लोकोत्तर पुरुष थे। उनका आद्यन्त समग्र जीवन काम-क्रोधादि विकारो तथा मात्सर्य-सकीर्णता आदि उपविकारो से अछूता रहा और निर्मलता, भद्रता, सरलता, उदात्तता, सेवा, सहनशीलता, परोपकार आदि कितने ही गुणो का वह निधान रहा। उनके जीवन मे आरम्भ से लेकर अन्त समय तक बाधाये, कष्ट, बीमारियाँ आदि अनेको उपद्रव आये, पर वे उनके सामने हिले नही, डिगे नही, सुमेरु की तरह अचल रहे, कोई विकार उन्हे प्रभावित नही कर सका। एक सामान्य व्यक्ति असामान्य कैसे बन जाता है, यह उनका जीवन हमे बताता है।

दस वर्ष की अवस्था मे बालक गणेशप्रसाद जब अपने मास्टर जी का हुक्का भरने गया, तो उसकी इच्छा उसे पीने की हो गयी। उसे पीने पर उसकी बदबू आते ही उसने हुक्का को फोड दिया और निर्भयता से जाकर मास्टर जी से कहा—'मास्टर जी, हुक्का मे बदबू आने से हमने उसे फोड दिया है। आप ऐसे बदबूदार हुक्का को क्यो पीते है?' मास्टर जी गणेशप्रसाद की निर्भयतापूर्ण स्पष्ट बात से अप्रसन्न न होकर प्रसन्न हुए और सदा के लिए हुक्का पीना छोड दिया। निश्चय ही निर्भयतापूर्वक कही गयी सही बात का प्रभाव पड़ता है।

ललितपुर (उत्तरप्रदेश) मे वर्णीजी का चातुर्मास था। उनकी जयन्ती का समारोह बाजार के मैदान मे मनाया जा रहा था, जनसमुदाय से सभा ठसाठस भरी हुई थी। विद्वानो के भाषण हो रहे थे। एक मुसलमान भाई आया और सभा के आयोजक श्री अभिनन्दनकुमार टडैया से बोला, 'भाई, हमे यह रुपयो की टाची पडी मिली है, आप लोगो की होगी, लीजिए।' उसी समय घोषणा कर दी गयी कि टाची जिसकी हो वह अपना परिचय और टाची की राशि बताकर ले जाय। तीन घटे बाद एक गाव का जैन भाई दौडता और हाँपता हुआ आया तथा बाजार के मैदान की सडक के किनारे, जहाँ उसकी बैलगाड़ी पहले रखी थी, भूल से छूट गयी अपनी रुपयो की टाची खोजने लगा। जब उसे ज्ञात हुआ कि उसकी टाची एक मुसलमान भाई को मिली थी और वह टाची टड़ैयाजी को दे गया है। तो वह टडैयाजी के पास गया और अपना परिचय तथा टाची के रुपयो की राशि बताकर उसे ले आया। टाची मे घी की बिक्री से प्राप्त ३००) रु कलदार थे। वह टाची पाकर ऐसा प्रसन्न हुआ कि मानो उसे निधि मिल गयी है, क्योकि वही उसकी सारी पूंजी थी। इस घटना को सब लोगो ने वर्णीजी की आत्म-निर्मलता का प्रभाव बतलाया। वास्तव मे रास्ते मे एक रुपया पडा हुआ दिखने पर उसे ग्रहण करने से कोई नही चूकता, फिर ३००) रु० मिलने पर वह मुसलमान भाई भी कैसे चूकता? उसके मन मे उस टाची को ग्रहण न करने तथा उचित स्थान पर पहुँचा देने का जो उत्तम विचार आया, उसका एकमात्र कारण वर्णीजी जैसी निर्मल आत्मा का सान्निध्य ही था। शास्त्र मे कहा गया है कि निर्मल आत्मा तीर्थंकर जहाँ विराजमान होते है वहाँ सौ योजन तक कोई चोरी-चपाटी, दुर्भिक्ष, रोग, कलह आदि की घटनाये नही होती। इससे अनुमान होता है कि उक्त प्रभाव वर्णीजी की सच्ची आत्मिक निर्मलता का ही था।

इसी चातुर्मास मे वर्णीजी को जाघ मे एक कालवकर फोड़ा हो गया। फोडा को डाक्टर ने भयानक और खतरनाक बतलाया। और कहा कि उसका ऑपरेशन होगा। स्व ला. राजकृष्णजी

दिल्ली उक्त सिविल सर्जन डाक्टर को ले आये थे। उनके विनम्र आग्रह करने पर वर्णीजी ऑप-रेशन के लिये तैयार हुए। डाक्टर को उसके ऑपरेशन मे जितना समय लगा उसमे वर्णीजी के चेहरे पर जरा भी सिकुडन या कष्ट का प्रदर्शन दिखायी नही दिया और वे लोगो से बात करते रहे। यह उनकी शारीरिक सहनशीलता थी। लेखक स्वय वहाँ था।

इटावा मे वर्णीजी बीमार हो गये और पैरो मे शोथ हो गया। उनकी बीमारी का यह समाचार ज्ञात कर दिल्ली से ला. राजकृष्णजी, ला फिरोजीलालजी, ला. हरिश्चन्दजी और हम इटावा पहुँचे। गाडी इटावा ३ बजे रात मे पहुँची। हम लोग स्टेशन से इक्का गाडी करके पुरानी धर्मशाला मे पहुँचे, जहाँ वर्णीजी ससघ ठहरे हुए थे। पहुँचने के समय ३।। बजा था और सब सोये हुए थे। एक कमरे मे से कुछ रोशनी आ रही थी। हम लोग उस कमरे के पास पहुँचे। कमरे के किवाड केवल अटके हुए थे और धका लगाते ही वे खुल गये। सामने देखा कि वर्णीजी महाराज समयसार का स्वाध्याय कर रहे है। ला फिरोजीलालजी ने थर्मामीटर लगा कर देखा, तो बाबाजी का १०४।। डिग्री टेम्प्रेचर निकला। निवेदन किया कि महाराज, ऐसी हालत मे शरीर को आराम देना चाहिए। वर्णीजी बोले—'भइया, उसे अपना काम करने दो और हमे अपना काम।' यह कैसी अद्भुत सहनशीलता और निस्पृहता थी। इसी को तो विवेक कहा है।

वर्णीजी ने जब हरिजन-मन्दिर प्रवेश को आगम-सम्मत बताया और उसका समर्थन किया, तो समाज के कतिपय लोगो ने उनकी पीछी-कमण्डलु छीन लेने की बात कही और पत्रो मे वह प्रकाशित हुई। यह बात उनके पास पहुँची। बोले—'जिन्हे पीछी-कमण्डलु छीनना है, छीन ले, हमारे आत्म-धर्म को थोडे ही छीन लेगे।' हमने देखा कि उनके मन पर क्षोभ की छोटी-सी रेखा भी नही उभरी। महापुरुषो के विषय मे कहा गया है कि वे सम्पत्ति-प्रतिष्ठा-सम्मानादि प्राप्त होने पर हर्षित नही होते और विपत्ति-अपमानादि क्षोभ के कारण मिलने पर विषण्ण नही होते—'**सम्पदि हर्षो, न विपदि विषाद**।' उनकी मानसिक सहनशीलता का अपूर्व उदाहरण है यह।

वर्णीजी की करुणा और उदात्तता के तो अनेक प्रसङ्ग हैं। माघ का महीना था। कडाके की ठड पड रही थी। सागर की बात है। वर्णीजी रात के ९-१० बजे सडक से गुजर रहे थे। उन्होने सडक के किनारे एक भिखारी को ठड से ठिठुरते देखा। उनसे रहा न गया और घर से अपने लिए बनी बिलकुल नयी रजाई ले आये और उस भिखारी को उढा दी। भिखारी ने सुख की सास ली।

समाजसेवा का क्षेत्र उनका यद्यपि बुन्देलखण्ड रहा, फिर भी उनकी पदयात्रा सागर से दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, खतौली, सहारनपुर, सरसाबा, जगाधरी और जगाधरी से ईसरी तक हजारो मील की हुई और इस पदयात्रा मे उन्होने कितने ही लोगो को सम्बोधित किया, कल्याणमार्ग मे लगाया। बुन्देलखण्ड मे तो वे गाव-गाव गये और समाज मे व्याप्त अशिक्षा, रुढियाँ और पारस्परिक झगडे सुलझाये। आज जो वहाँ जागृति है उसका एकमात्र श्रेय श्री वर्णीजी को है। वे सैकडो विद्वानो के जनक है। दर्जनो पाठशालाओ और विद्यालयो की स्थापना उनके द्वारा हुई, जो आज सैकडो बालको को ज्ञान-दान कर रही हैं। काशी का सुप्रसिद्ध स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर का गणेश दि जैन विद्यालय उन्ही के प्रयत्नो के सुफल है।

वर्णीजी ने जयपुर, खुर्जा, वाराणसी और नवद्वीप मे जाकर अपनी ज्ञान की भूख मिटायी और उच्चकोटि की विद्वत्ता प्राप्त की। ज्ञान का फल वैराग्य-परिणति है। उसे भी आपने खूब अर्जित किया। ब्रह्मचारी गोकुलचन्दजी से ब्रह्मचर्य प्रतिमा ली, आचार्य श्री १०८ सूर्यसागरजी के आदेशानुसार क्षुल्लक-दीक्षा ग्रहण की और अन्त समय जीवन के अन्तिम फल मुनि-दीक्षा को लेकर समाधिपूर्वक निर्मल परिणामो से ईसरी (बिहार) मे शरीर-त्याग किया। मुनि-दीक्षा का पूत नाम श्री १०८ गणेशकीर्ति मुनिराज था। ईसरी का पार्श्वनाथ दि. जैन उदासीनाश्रम वर्णीजी के उपदेश से स्थापित हुआ था और उसके जीवन का बहुभाग तथा अन्तिम जीवन वहीं व्यतीत हुआ। आपके उपदेश सुनने को कितने ही भक्तगण बाहर से आते थे और अनेक ब्रह्मचारिगण वहाँ रहते ही थे।

ऐसे परम उपकारी महानतम पुरुष श्री वर्णीजी के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए अखिल भारतवर्षीय दि जैन विद्वत्परिषद् ने छह वर्ष पूर्व वर्णीजी की जन्म शती मनाने का निश्चय किया। हमे प्रसन्नता है कि इस पावन अवसर पर 'वर्णी-स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन विद्वत्परिषद् कर रही है। हमारी पूज्य वर्णीजी के प्रति विनम्र परोक्ष श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

चमेली-कुटीर, अस्सी,
वाराणसी–५ (उ. प्र.)

अविस्मरणीय संस्मरण

—श्री पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, ब्यावर

श्रद्धेय पूज्य वर्णी जी ने अपनी जीवन-गाथा मे लिखा है कि बमराना (झासी) वाले सेठो के साथ उनका संबध बहुत पुराना रहा है। जब वहाँ के निवासी स्व० सेठ लक्ष्मीचद्र जी ने अपनी जमीदारी के ग्राम साढूमल मे पाठशाला स्थापित की और स्व० पं० घनश्यामदास जी प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए, तब उन्होने वर्षाकाल मे पूज्य वर्णी जी से साढूमल आने की प्रार्थना की। वे अन्य स्थान के लिए स्वीकृति दे चुके थे, अत अगले वर्ष वि० स० १९७५ मे वे स्व० श्री बाबा जी भागीरथ जी वर्णी और पं० दीपचद्र जी वर्णी के साथ साढूमल पधारे और श्रावण-भाद्र-पद दो मास रहे। उस समय वे बडे पडित जी कहलाते थे और चातुर्मास के नियम से बँधे नही थे। वर्णी जी की धर्मभूमि और कार्य-क्षेत्र मडावरा दो मील पर होने से वहाँ के निवासी प्रमुख लोग वर्णित्रय के दर्शन एव शास्त्र-श्रवण के लिए आते रहते थे। पाठशाला मे साढूमल के स्थानीय छात्रो की अपेक्षा मडावरा के छात्रो की सख्या अधिक थी और वहाँ जैनियो के घर चौगुने से भी ज्यादा थे, इसलिए एक दिन वर्णी जी ने वहाँ के प्रमुख लोगो से कहा—भैया, यदि आप लोग सहयोग करे तो दोनो स्थानो की सम्मिलित एक बहुत बडी पाठशाला हो सकती है। चर्चा आगे बढी और वहाँ के प्रमुख पचो ने इस शर्त पर स्वीकारता दी कि पाठशाला ६-६ मास दोनो स्थानो पर रहे, या मध्य मे—जहाँ पर दोनो गावो की सीमा पर जमडार नदी बहती है वहाँ पर पाठशाला खोली

जावे। बाद को यह निश्चित हुआ कि अभी हाल तो दोनो स्थानो पर ६-६ मास रहे। आगे अवसर आने पर निर्णय होगा। वर्णी जी की प्रेरणा पर मडावरा के सिंघई दमरूलाल जी ने पाच हजार की और सोरया वश के प्रमुख श्री हरीसिंह जी ने भी पाँच हजार रुपये देने की घोषणा की। दोनो को वर्णी जी के कहने पर स्थानीय पचो ने क्रमश. सवाई सिघई और सिघई की पदवी प्रदान की। यह हमारी स्मृति मे वर्णी जी का सर्वप्रथम सस्मरण है।

आगे चलकर दोनो स्थानो की पाठशाला सम्मिलित नही चल सकी और मडावरा समाज ने अपने यहाँ स्व० प० गोविन्दराय जी को बुलाकर स्वतत्र पाठशाला खोल दी। जब वर्णी जी के पास यह समाचार पहुँचा और बताया गया कि मडावरा मे जैन-सख्या अधिक होने से पढने वाले बालको की सख्या भी अधिक है और सभी प्रतिदिन न साढूमल जा-आ सकते है और न वहाँ के छात्रावास मे रह ही सकते है, तब उन्होने भी कह दिया—यदि वहाँ पाठशाला खोलने से अधिक छात्र लाभ उठाते हैं, तो अच्छी बात है। बीच-बीच मे वर्णी जी दोनो जगह आते-जाते रहे और हम लोगो की परीक्षा भी लेते रहे।

सन् १९५२ के अप्रेल मे भारतीय ज्ञानपीठ से मेरे द्वारा सम्पादित वसुनन्दि-श्रावकाचार प्रकाशित हुआ। मैने उसका समर्पण वर्णीजी को किया था। उस समय वे क्षुल्लक हो चुके थे। समर्पण के शब्दो मे मैंने उन्हे क्षुल्लक न लिखकर 'सचेल साधु' लिखा था। जिसका कारण यह था कि उसकी प्रस्तावना मे मैने 'क्षुल्लक' शब्द की सप्रमाण मीमासा करते हुए अन्त मे लिखा था--

'क्षुल्लक' उस व्यक्ति को कहा जाता था कि जो मुनि-दीक्षा के अयोग्य कुल मे या शूद्र वर्ण मे उत्पन्न होकर स्व-योग्य, शास्त्रोक्त, सर्वोच्च व्रतो का पालन किया करता था। एक वस्त्र को धारण करता था। पात्र रखता था। अनेक घरो से भिक्षा लाकर और एक जगह बैठकर खाता था। वस्त्रादि का प्रतिलेखन करता था। कैंची या उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता था। इसके लिए वीरचर्या, आतापनादि योग करने और सिद्धान्त-ग्रन्थ तथा प्रायश्चित्त-शास्त्र के पढने का निषेध था।'

सबसे अन्त मे मैने लिखा था—'क्या आज के उच्च कुलीन, ग्यारहवी प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावको को 'क्षुल्लक' कहा जाना योग्य है ?'

जैसे ही मुद्रित प्रति मेरे पास आई, मैने तुरन्त वर्णी जी की सेवा मे सागर भेज दी। वे उस समय अनेक ब्रह्मचारियो के साथ जोहरी जी की बगीची मे विराज रहे थे। प्रति भेजने के ८ दिन बाद ही उनकी 'क्षुल्लक' पद पर लिखी गई उक्त पक्तियो पर प्रतिक्रिया जानने के लिये मैं सागर उनकी सेवा मे उपस्थित हुआ। उस समय वहाँ इसी प्रस्तावना का वाचन समाप्त हो रहा था। चरण-वन्दन करने के पश्चात् मैंने उनकी प्रतिक्रिया जानना चाही। वे उपस्थित जन-समुदाय को मेरा परिचय देते हुए बोले—भैया, तुमने बात तो साची लिखी है, पर हम इन क्षुल्लक कहने वालो से का कहे ? उनके इन शब्दो को सुनकर मेरा हृदय आनन्द से गद्गद् हो गया।

एक बार वर्णी जी का ललितपुर आगमन हुआ। सारे प्रान्त के लोग उनके दर्शनार्थ गये। मेरे गाव से भी प्राय· सब लोग गये थे, पर पत्नी की अत्यधिक बीमारी के कारण मै नही जा

सका। एक अति संक्षिप्त पत्र लिखकर उसे मैंने पं० शीलचन्द्र जी न्यायतीर्थ के साथ भेजा। उसमे मैंने लिखा था--

'यद्यपि मै इस समय स्वाधीन होकर घर पर ही रह रहा हूँ, आप ललितपुर पधारे है और सारा प्रान्त आपके दर्शनार्थ उमड़ रहा है, पर घर मे बीमारी अधिक होने से इस सुअवसर पर नही पहुँच पा रहा हूँ। इसका मुझे अत्यन्त दु ख है। कुछ तबियत सुधरते ही सेवा मे उपस्थित होऊँगा ?'

वर्णी जी का उत्तर पहुँचा—

"जहाँ तक बने स्वाधीन जीवन ही बनाना चाहिये—आजकल जैन जनता मे परस्पर सौमनस्य नही कोई पुण्यशाली भी नही जो इनमे सौमनस्य करा सके—आप अवकाश पाकर ही आना—आपके घर मे रुग्ण है, उसका वैयावृत्य करना यही धर्म है।"

उक्त पत्र पाकर मै निहाल हो गया क्योकि इसके पूर्व कभी कोई पत्र मैने उन्हे नही लिखा था और न मै उत्तर की आशा ही कर रहा था। जब पत्र पाया और उसके एक-एक पद के अर्थ की गहराई मे गया तो पाया कि वर्णीजी का हृदय कितना विशाल है। उसमे इस अकिंचन को भी उन्होने स्थान दे रखा है। इसके बाद चतुर्मास मे मै कई बार उनकी सेवा मे गया और उनका सहज स्नेह पाया।

सन् १९५७ के मई मास मे मैं कलकत्ता से लौटते हुए वर्णी जी के दर्शनार्थ ईसरी उतरा। अकस्मात् बिना किसी पूर्व सूचना के मुझे आपने पास आया देखकर अतिप्रसन्न हुए। आहार को जाने के पूर्व एक बन्धु को मुझे भोजनार्थ ले जाने का सकेत किया। आप आहारार्थ जहाँ गये थे, वहाँ से कुछ फल और मीठा मेरे लिये भिजवाया। उनकी यह स्नेहमयी ममता देखकर हृदय आनन्द से भर गया।

शाम को मैने कहा—महाराज, मधुवन जा रहा हूँ। कल गिरिराज की वन्दना करूँगा। बोले—ऐसी गर्मी मे ऊपर कैसे जाओगे-आओगे ? मैने विनयावनत होते हुए कहा—महाराज ! भक्ति सब करा लेगी। यह कह कर मै मधुवन चला गया। दूसरे दिन गिरिराज की वन्दना करके जब ईसरी लौटा और उनके पास पहुँचा, तो देखते ही बोले -बन्दना कर आये ? मैने कहा—हाँ महाराज। फिर पूछा—क्या पैदल ही गये थे ? मैने कहा हाँ महाराज। सुनते ही समीप मे बैठे हुए ब्रह्मचारियो को लक्ष्य कर बोले—"लोग कहते है—पडितो मे श्रद्धा नही ! बताओ—बिना श्रद्धा के कोई ऐसी गर्मी मे पैदल यात्रा कर सकता है ?"

उनके हृदय मे यो तो समीप पहुँचने वाले अदना-से-अदना भी व्यक्ति के लिये भी स्थान था, पर पंडितो के लिए तो वे मानो उनके पिता ही थे। जैसे पिता अपने पुत्रो को देखकर आनद से गद्गद् हो जाता है, उसी प्रकार वे विद्वानो को देखकर आनन्द से गद्गद् हो जाते थे।

उनका स्वर्गवास हुए इतने वर्ष वीत गये, पर अभी तक कोई भी उनका स्थान नही ले सका और न भविष्य मे लेने की आशा है। आज भी पडित-वर्ग उनके बिना अपने को अनाथ-सा अनुभव करता है। उनके लिए सदा ही सहस्रो श्रद्धाञ्जलिया समर्पित है।

✲

परम-उदार महा-मानव

(प्रो. उदयचन्द्र जैन एम. ए., जैन बौद्ध–सर्वदर्शनाचार्य)

इस भारतभूमि पर समय समय पर ऐसे महापुरुषो ने जन्म लिया है, जिन्होने अपने आचरण और कार्यों द्वारा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त का पाठ पढाया है और इस प्रकार भारत के प्राचीन आदर्श को सबके समक्ष रखकर प्रत्येक मानव को उदारचरित बनने का उदाहरण प्रस्तुत किया है । इसीलिए कहा गया है—

अयं निज परो वेति गणना लघुचेतसाम्
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

जिनका हृदय लघु होता है उनके चित्त मे सदा यही विचार उठा करते है कि यह मेरा है और यह पराया है । किन्तु विशाल-हृदय वाले व्यक्तियो को तो सारा ससार अपने कुटुम्ब के समान प्रतीत होता है ।

पूज्य वर्णी जी, जिनकी जन्म शताब्दी हम इस वर्ष मना रहे है, ऐसे ही उदारचरित्र महापुरुषो मे से थे । वे मानवमात्र के प्रति उदार ही नही किन्तु अति उदार थे । उनकी उदारता के अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं । उनमे से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं जिससे उनके द्वारा अन्य जन भी कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकें और उन पर चलने का प्रयत्न भी कर सकें ।

अकारण बन्धु

जब वर्णी जी मिडिल-कक्षा मे पढते थे उस समय उनको दो रुपया मासिक छात्रवृत्ति मिलती थी । तुलसीदास नामक एक ब्राह्मण छात्र वर्णी जी का सहपाठी था । उसके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी । अत वर्णी जी अपनी दो रुपया मासिक छात्रवृत्ति उसे सहर्ष प्रदान कर देते थे । इससे ज्ञात होता है कि वर्णी जी कितने दयालु तथा उदार थे ।

एक समय वर्णी जी किसी ग्राम से लौटकर सागर आ रहे थे । साथ मे बरायठा वाले सेठ कमलापति भी थे । वर्णी जी मार्ग मे एक कुआ पर पानी पीने लगे । इतने मे क्या देखते है कि सामने एक पाँच वर्ष का बालक और उसकी माँ खडी है । बालक को पानी पिलाया और खाने को मेवा दिया । जब चलने लगे तब सामने खडी औरत रोने लगी । पूँछने पर पता चला कि वह विधवा और दुखी है । वर्णी जी ने उसकी दरिद्र अवस्था को देखकर अपनी धोती, दुपट्टा तथा जो रुपया पास मे थे वे सब दे दिये । पहिनने को केवल लँगोट रह गया । और रात्रि होने पर उसी वेष मे सागर पहुँच गये ।

पतित-पावन

सागर की ही बात है। एक दिन वर्णी जी प० वेणीमाधव जी व्याकरणाचार्य और छात्रगण के साथ सायकाल ४ बजे शौचादिक्रिया से निवृत्त होने के लिए गॉव के बाहर एक मील दूर गये थे। वहॉ एक औरत बडे जोर से रोने लगी। पूँछने पर उसने बतलाया कि पैर मे कॉटा लग गया है। वर्णी जी ने कॉटा निकालना चाहा किन्तु वह पैर नही छूने देती थी। कहती थी कि मै जाति की कोरिन स्त्री हूँ। आप लोग पण्डित है। कैसे पैर छूने दूँ। एक छात्र ने पैर देखकर कहा कि इसमे खजूर का कॉटा टूट गया है जो बिना सडसी के निकलने का नही। तब एक लुहार के यहॉ से सडसी मँगाई गई। कुछ छात्रो ने उसके हाथ पकड़ लिये और कुछ ने पैर। वर्णी जी ने सडसी से कॉटा दबाकर ज्यो ही खीचा त्यो ही एक अगुल का कॉटा बाहर आ गया। साथ ही खून की धारा बहने लगी। फिर पानी से उसे धोकर और अपनी धोती फाडकर पट्टी बॉध दी। उसे मूर्च्छा आ गई। वह लकडहारी थी। जब मूर्च्छा शान्त हुई तब लकडी की मौरी उठाने की चेष्टा करने लगी। तब वर्णी जी ने कहा कि तुम धीरे-धीरे चलो। हम तुम्हारी लकडियॉ तुम्हारे घर पहुँचा देगे। और वर्णी जी आदि ने उसका बोझ शिर पर रखकर उसके घर पहुँचा दिया। इससे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को सर्वसाधारण के प्रति दया का व्यवहार करना चाहिये। क्योकि दया ही मानव का प्रमुख कर्तव्य है।

बण्डा की बात है। वर्णी जी उस समय बण्डा मे रहते थे। एक लकडी बेचने वाली आई। उसकी लकडी चार आने मे तय हुई। वर्णी जी के पास अठन्नी थी। उसे अठन्नी देकर कहा कि चार आना वापिस कर दे। उसने कहा कि मेरे पास पैसा नहीं है। तब वर्णी जी ने सोचा कि कौन बाजार तुडाने जावे और कहा कि अच्छा आठ आना ही ले जा। जब वह चलने लगी तब वर्णी जी की दृष्टि उसकी फटी धोती पर गई। अपनी स्वाभाविक दयालुता के कारण वर्णी जी ने बाई जी की एक धोती और चार सेर गेहूँ लाकर उस लकडी वाली को दे दिये।

उदार-चेता

सागर की बात है। एक दिन बाजार जाते समय लकड़ी की एक गाडी मिली। वर्णी जी ने उसके मालिक से पूँछा कि कितने मे दोगे। वह बोला कि पौने तीन रुपया मे देगे। यद्यपि माल पौने दो रुपया का था फिर भी वर्णी जी ने लकडी लेना स्वीकार कर लिया। वह कटरा की धर्मशाला मे लकडी रखने लगा। वर्णी जी ने कहा कि काट कर रखो। वह बोला काटने के दो आना और लगेगे। वर्णी जी ने दो आना और देने से मना किया और कहा कि नही काटना चाहते हो तो चले जाओ, हमे लकडी नही चाहिये। वह बोला कि आपने ठहराते समय यह नही कहा था कि काटना पडेगा। मै तो काटकर रखे देता हूँ किन्तु आपको अपनी भूल पर पछताना पड़ेगा। उसने लकड़ी काटकर रख दी। वर्णी जी ने पौने तीन रुपया दे दिये। वह चला गया। बाई जी उस समय घर नही थी। जब वर्णी जी भोजन करने बैठे तब आधे भोजन के बाद अपनी भूल याद आई। भोजन छोडकर उठ बैठे और पूँछने पर बाई जी को लकड़ी वाले की सब बात सुना दी। बाई जी ने कहा कि जब पौने तीन रुपया दिये तब दो आना और दे देते। अन्त मे

वर्णी जी एक सेर मिष्टान्न और दो आना लेकर चले। दो मील चलने के बाद वह गाडी वाला मिला। उसे दो आना और मिष्टान्न दिया। वह आशीर्वाद देता हुआ बोला। देखो जो काम करो विवेक से करो। अब भविष्य मे ऐसी भूल न करना।

एक बार वर्णी जो और सेठ कमलापति बरायठा से सागर आ रहे थे। मार्ग मे एक कुआ पर पानी पीने लगे। पानी पीकर ज्योही चलने लगे त्योही एक मनुष्य आया और कहने लगा कि मुझे पानी पिला दीजिये। वह भगी था। वर्णी जी ने उसको लोटे से पानी पिला दिया। सेठ जी बोले कि अब लोटा आग मे शुद्ध करना पडेगा। वर्णी जी ने वह लोटा उसे ही दे दिया और कहा कि चलो शुद्ध करने की झझट मिटी। वह भगी वर्णी जी की जय बोलता हुआ चला गया।

दीन-बन्धु

एक बार वर्णी जी बनारस से सागर आ रहे थे। पचास लगडा आमो की एक टोकनी साथ मे थी। बीच मे कटनी उतर गये और बीस आम छात्रो को दे दिये। शेष आम लेकर सागर चले। मार्ग मे शाहपुर की स्टेशन पर गाडी पन्द्रह मिनिट रुकी। वर्णी जी ने देखा कि वहाँ कितने ही छोटे-छोटे बच्चे भीख माँग रहे हैं। उनकी करुण अवस्था देखकर वर्णी जी से न रहा गया और तुरन्त शेष तीस आम उन बालको को बाँट दिये। बाई जी को एक भी आम नही बचा। सागर पहुँचने पर जब बाई जी ने पूँछा कि भैया, आम नही लाये, तब सब कथा सुना दी। बाई जी उनकी इस प्रवृत्ति से प्रसन्न ही हुईं।

सागर की ही घटना है। वर्णी जी जिस धर्मशाला मे रहते थे उसमे एक बिल्ली का बच्चा था। उसकी माँ मर गई थी। वर्णी जी उस बच्चे को दूध पिलाने लगे। बाई जी ने दूध पिलाने को मना किया, फिर भी अपनी दयालुतावश दूध पिलाते रहे। अन्त मे जब वह बीमार हुआ तब दो दिन तक उसने कुछ नही खाया और बाई जी के द्वारा नमस्कार मत्र का श्रवण करते हुए उसने प्राण विसर्जन किया। इससे यही शिक्षा मिलती है कि पशु-पक्षी भी सत्सगति पाकर शुभ गति प्राप्त कर सकते हैं।

गजपन्था क्षेत्र की बात है। वर्णी जी ने आरबी के एक सेठ जी के साथ पर्वत की वन्दना की और सेठ जी के आग्रह से उनके यहाँ ही भोजन किया। भोजन के अनन्तर सेठ जी मन्दिर के भण्डार मे रुपया देने के लिए गये। उन्होने पाँच रुपया दिये। वर्णी जी भी वही थे और उनके पास केवल एक आना था। वह भी इसलिये बच गया था कि उस दिन सेठ जी के यहाँ भोजन किया था। वर्णी जी ने सोचा कि यदि आज अपना भोजन करता तो यह एक आना खर्च हो जाता। अत इसे भण्डार मे दे देना अच्छा है। अत वह एक आना मुनीम को दे दिया। मुनीम ने लेने मे सकोच किया। किन्तु वह शुद्ध भावो से दिया गया था। इसलिये उस एक आना के दान ने वर्णी जी का जीवन ही पलट दिया। सेठ जी वर्णी जी से प्रभावित होकर अपने साथ बम्बई ले गये और वहाँ अध्ययन की अच्छी व्यवस्था हो गई।

कटनी की बात है। वर्णी जी सिंघई धन्यकुमार जी के बगला मे ठहरे थे। यह बगला

एक रमणीय उद्यान मे गाँव से एक मील दूर है। एक दिन वर्णी जी गाँव मे भोजन करके बाग मे जा रहे थे। मार्ग मे एक वृद्धा शिर के ऊपर घास का एक गट्ठा लिये बेचने जा रही थी। एक आदमी ने उस घास का साढे तीन आना देना कहा। बुढिया ने कहा कि चार आना लेवेगे। इतने मे वर्णी जी ने कह दिया, भाई घास अच्छी है, चार आना ही दे दो। तब बुढिया को चार आना मिल गये और वह प्रसन्न होकर चली गई।

इसके बाद वर्णी जी स्टेशन के फाटक पर आये। वहाँ एक वृद्ध ब्राह्मण सत्तू का लोदा बनाये बैठा था। वर्णी जी ने पूँछा—बाबा जी सत्तू क्यो नही खाते ? वह बोला—भैया पानी नही है। वर्णी जी ने कहा कि नल से ले लाओ। वह बोला कि नल बन्द हो गया है। वर्णी जी ने फिर कहा कि कुआ से ले लाओ। उसने कहा कि डोरी नही है। तब वर्णीजी बोले कि उस तरफ नल खुला होगा वहाँ से ले लाओ। वह बोला कि सत्तू को छोडकर कैसे जाऊँ। वर्णी जी ने कहा कि मै आपके सामान की रक्षा करूँगा, आप सानन्द जाइये।

वह उस पार गया और वापिस आकर बोला कि वहाँ भी पानी नही मिला। तब वर्णी जी ने कहा कि मेरे कमण्डलु मे पानी है, जो स्वच्छ है और आपके पीने योग्य है। इस पर उसने प्रसन्नतापूर्वक जल ले लिया और आशीर्वाद देकर कहने लगा कि यदि भारतवर्ष मे यह भाव आ जावे तो इसका उत्थान अनायास ही हो जावे।

देशभक्ति के प्रेरक

जबलपुर की बात है। उस समय आजाद-हिन्द-सेना के सैनिको पर मुकदमा चल रहा था। प० द्वारिकाप्रसाद मिश्र की अध्यक्षता मे आजाद-हिन्द-सैनिको की सहायता के लिए एक सभा का आयोजन किया गया था। वर्णी जी भी उस सभा मे उपस्थित थे। वर्णी जी ने अपने व्याख्यान मे कहा कि हे भगवन्, देश का सकट टालो। जिन लोगो ने देश-हित के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर किया, उनके प्राण सकट से बचाओ। मेरे पास त्याग करने को कुछ द्रव्य तो है नही, केवल पहिनने और ओढने के दो चादर पास मे है। इनमे से एक चादर मुकदमे की पैरवी के लिए देता हूँ और मन से परमात्मा का स्मरण करता हुआ विश्वास करता हूँ कि ये सैनिक अवश्य ही कारागार से मुक्त होगे। अन्त मे वह चादर तीन हजार मे नीलाम हुई। प० द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र इस प्रकरण से बहुत ही प्रसन्न हुए। देश के प्रति वर्णी जी का यह उदार दृष्टिकोण था और अन्त मे उनकी भावना की पूर्ण सफलता हुई।

सबै भूमि गोपाल की

हजारीबाग की बात है। एक बार वर्णी जी ईसरी से हजारीबाग आ रहे थे। ग्राम से बाहर चार मील पर रात्रि हो गई। सड़क पर ठहरने के लिये कोई स्थान नही था, केवल एक धर्मशाला थी, जो कि कलकत्ता मे रहने वाले एक भगी ने बनवाई थी। चूँकि वह भगी ने बनवाई थी इसलिये साथ के लोगो ने उसमे ठहरने मे एतराज किया। किन्तु वर्णी जी ने कहा—भाइयो! धर्मशाला तो ईंट चूना की है। इसमे ठहरने से क्या हानि है ? इतनी घृणा क्यो ? आखिर वह

भी तो मनुष्य है और उसने परोपकार की दृष्टि से बनवाई है । एक दृष्टान्त देकर कहा कि मार्ग मे किसी भगी ने छाया के लिये पेड लगवा दिये । तो क्या भगी के पेड होने के कारण आतप से पीडित कोई उन पेडो की छाया मे नही बैठेगा । क्या भगी के पैसे से बनी हुई धर्मशाला मे ठहरने से लोक-मर्यादा नष्ट हो जायगी । ये थे वर्णी जी के अस्पृश्य माने जाने वाले लोगो के प्रति उच्च विचार ।

हरिजन मन्दिर प्रवेश

अस्पृश्यो के उद्धार की भावना तो भारत मे बहुत पहले से ही चली आ रही थी किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत का जो सविधान बना उसमे मनुष्यमात्र को समानाधिकार घोषित किया गया । जिस समय देश तथा समाज मे हरिजन-मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन चल रहा था उस समय वर्णी जी ने उक्त समस्या पर अपने विचार निम्नलिखित शब्दो मे प्रकट किये थे ।

"हरिजन भी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मनुष्य है । उनमे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सामर्थ्य है । सम्यग्दर्शन ही नही, व्रत-धारण करने की भी योग्यता है । यदि कदाचित् काल लब्धिवश उन्हे सम्यग्दर्शन या व्रत की प्राप्ति हो जाय तब भी क्या वे भगवान् के दर्शन से वञ्चित रहे आवेंगे । समन्तभद्राचार्य ने तो सम्यग्दर्शन-सम्पन्न चाण्डाल को भी देवसज्ञा दी है । पर आज के मनुष्य धर्म की भावना जागृत होने पर भी उन्हे जिनदर्शन और मन्दिरप्रवेश के अनधिकारी मानते है ।"

बाई जी की उदारता

वर्णी जी की धर्ममाता चिरोजाबाई जी जितनी शान्त थी उतनी ही उदार थी । वर्णी जी की धर्ममाता बनने के बाद उन्होने वर्णी जी के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था । एक बार वर्णी जी ने बनारस से बाई जी को लिखा कि पीतल के बर्तनो मे खटाई के पदार्थ विकृत हो जाते है । बाई जी ने उत्तर दिया कि जितने आवश्यक समझो उतने चाँदी के बर्तन बनवा लो । वर्णी जी ने एक थाली एक सौ तीस तोला की, एक भगौनी सौ तोला की, एक ग्लास बीस तोला का, दो चमची दस तोला की, एक कटोरदान अस्सी तोला का, और एक लोटा अस्सी तोला वजन का बनवा लिया । जब बर्तन बनकर आ गये तब वर्णी जी ने यह विचार कर कि इनके उपयोग से इनकी सुन्दरता चली जावेगी, उन्हे पेटी मे बन्द करके रख दिया । दो माह बाद सागर आने पर बाई जी ने पूँछा कि क्या इन बर्तनो को उपयोग मे नही लाये ? इस पर वर्णी जी ने कहा कि उपयोग मे लाने से सुन्दरता बिगड जाती । तब बाई जी ने हँसते हुए कहा कि तो फिर किस लिए बनवाये थे । उसी दिन से बाई जी उन बर्तनो को वर्णी जी के उपयोग मे लाने लगी । बाई जी मे सबसे बडा गुण उदारता का था । जो पदार्थ वर्णी जी को भोजन मे देती थी वही नाई, धोबी, मेहतरानी आदि को भी देती थी । वे कहती थी कि महीनो बाद त्योहार के दिन ही तो इन्हे देती हूँ । खराब भोजन क्यो दूँ । आखिर ये भी तो मनुष्य है ।

वर्णी जी की धर्ममाता चिरोजाबाई जी ऐसी परम उदार थी । माता के सस्कार पुत्र पर

सम्पन्न माता का मिलना, ज्ञानार्जन के योग्य साधनो, तथा जीवनभर सुख सुविधाओ की प्राप्ति एव देश और समाज के प्रख्यात श्रीमानो और धीमानो का सेवारत रहने का लाभ आदि साधारण पुण्य के काम नही थे ।

आपकी शान्तमुद्रा, गम्भीरप्रकृति और निश्छल-स्वभाव का अवलोकन कर आत्मा मे अलौकिक शान्ति का लाभ हुये बिना नही रहता था । आप प्रतिभा-सम्पन्न तो इतने ऊँचे दर्जे के थे कि जिज्ञासुओ की जटिल से जटिल समस्याओ का समाधान चुटकियो मे कर दिया करते थे । दया के भी आप अपार सागर थे । लकडहारो, भीख मागने वालो जैसो के प्रति भी उनकी दया सदा सक्रिय रहती थी । वे जहाँ तक बनता उनकी इच्छा पूरी करके ही आनन्द का अनुभव करते थे । आपके द्वारा जैन सस्कृति का जो उत्थान हुआ है वह जैन इतिहास मे अमर रहेगा । ऐसे महापुरुष के चरणो मे मै अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ ।

सच्चे मार्ग दर्शक

ले० जम्बूप्रसाद शास्त्री प्रज्ञाचक्षु, मड़ावरा

मेरे पिता श्री हरिसिह जी सोरया के साथ पूज्य वर्णी जी महाराज की अत्यन्त घनिष्ठ मित्रता थी । वर्णी जी ने अपनी जीवन-गाथा मे उन्हे अपना लगोटिया मित्र लिखा है । उनकी इस घनिष्ठता के कारण मुझे अनेको बार पूज्य वर्णी जी के सपर्क मे आने का सुअवसर मिला है । मै अपने अशुभ कर्मोदय से बाल्यावस्था मे ही दृष्टि-विहीन हो गया था फिर भी वर्णी जी की प्रेरणा से मै दृष्टिविहीन होने पर भी जिनागम का अध्ययन दूसरो के माध्यम से करता रहा । शास्त्रिपरीक्षा भी मैंने दी । अपनी दृष्टिविहीनता पर मुझे जब कभी अन्तरङ्ग से खेद होता था, तब पूज्य वर्णी जी कहा करते थे भैया ! खिन्न क्यो होते हो ? जिनवाणी के श्रवण करने की तो आप मे अपूर्व क्षमता है । वीतराग भगवान् की वाणी है । जगत् से पार करने वाली है । वर्णी जी के सारपूर्ण आश्वासन से मै अपना सारा खेद भूल जाता था ।

वर्णी जी मडावरा के रहने वाले है । यहाँ की धूलि मे वे खेले है । यहीं के मन्दिर मे शास्त्र-प्रवचन सुनकर उनकी जैनधर्म पर आस्था सुदृढ हुई थी । उनके बाल्यजीवन की स्मृतिया यहाँ के वृद्धजनो से सुनकर बडा आह्लाद होता है । जिस प्रकार की कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उनके विरह मे व्रजवासी दुखी होते रहे, उसी प्रकार वर्णी जी के चले जाने पर मडावरावासी दुखी होते रहे ।

हमारे नगर का हीरा जग मे सर्वत्र प्रतिष्ठा पा रहा है यह विचार कर मडावरा के लोग मन मे गौरव का अनुभव करते रहे । वर्णी-शताब्दी-समारोह के प्रसग मे मै उनके चरणो मे अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ—**वे मेरे सच्चे मार्गदर्शक थे ।**

✲

प्रथम दर्शन

ले० विद्याभूषण पं० के. भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री

पूज्य वर्णी जी का पवित्र दर्शन सर्वप्रथम मुझे काशी मे हुआ था। उस समय मै मोरेना विद्यालय का विद्यार्थी रहा। उस समय वर्णीजी विद्यार्थियो को न्याय पढा रहे थे। बाद सागर आदि कई स्थानो मे आपका दर्शन मिला। अतिम दर्शन रोगशय्या पर ईसरी मे हुआ था। आपके प्रत्येक दर्शन से मुझ पर गहरा प्रभाव पडा। पूज्य वर्णीजी एक प्रकाड अध्यात्म एव न्यायशास्त्र के विद्वान् थे। खासकर उनका चारित्र प्रत्येक आस्तिक व्यक्ति पर अपार प्रभाव डालता था। विद्या-प्रचार मे वर्णीजी ने असीम कष्ट उठाया है। स्याद्वाद विद्यालय काशी और वर्णी विद्यालय सागर ये दोनो आपके प्राण ही थे। एक अजैन कुल मे जन्म लेकर अद्वितीय विद्वान् तथा सर्वोच्च त्यागी बनना कोई सामान्य बात नही है। खासकर बुन्देलखड के जैनो को वर्णीजी देवतास्वरूप ही थे। बडे-बडे लक्षाधिपतियो को वर्णीजी पर अपार श्रद्धा थी। आपकी बातो को वे महावीर की वाणी ही मानते थे। वे वर्णीजी के पावन चरणो पर अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए कटिबद्ध रहते थे।

वास्तव मे बुन्देलखड प्रात वर्णीजी के कारण ही इतना आगे बढा। वर्णीजी के प्रत्येक वाक्य अमृततुल्य रहते थे। आपके मधुर वचनो से श्रोता लोग मंत्रमुध हो जाते थे। बुन्देलखड की हरेक शिक्षासस्था वर्णीजी का चिर ऋणी है। आजकल एक-दो नही, सैकडो दिग्गज जैन विद्वान, जो जैनधर्म और समाज की सेवा मे सलग्न है, वे सभी किसी न किसी प्रकार से पूज्य वर्णीजी से उपकृत है। आज उत्तर-भारत मे जैन विद्वानो की कमी नही है। हाँ, आजकल दक्षिण मे जैन विद्वानो की कमी खटकती है। यहाँ के जैनसमाज मे उनका कोई स्थान मान भी नही है। उन्हे समाज मे गौरव-प्रोत्साहन नही है। मालूम होता है कि थोड़े समय मे दक्षिण की स्थिति शोचनीय हो जायगी।

एक विशाल सभा मे जैन विद्वानो को सम्बोधित कर वर्णीजी ने कहा था कि भूख मिटाने के लिए जैन पडितो को चना चबाकर पानी पी लेना चाहिये। मगर होटलो मे जाकर खाना नही चाहिये। वर्णीजी का विद्याभ्यास बहुत ही कष्ट से हुआ है। उस समय जैन विद्यार्थियो को आजकल की तरह पूरी-पूरी व्यवस्था नही रही। इस कठिन परिस्थिति को जानने के लिये एक बार उनके पुनीत जीवनचरित्र को अवश्य पढना चाहिये। आदर्शरूपी वर्णीवाणी को प्रत्येक भापा मे अनुवाद करने की आवश्यकता है। विद्वत्परिपद मे इसका प्रस्ताव भी हुआ था, पर अभी तक वह कार्यरूप मे देखने मे नही आया। मै पूज्य वर्णीजी को बहुत ही श्रद्धा से मानने वाला हूँ। इस वर्णी शताब्दी के शुभ अवसर पर मै पूर्ण भक्ति से, हृदय से, उन्हे सादर पुनीत श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर अपने जीवन को पवित्र तथा धन्य मानता हूँ।

✲

परमोपकारक वर्णी जी

ले० पं० बालचन्द्र शास्त्री, दिल्ली

सन् १६२० की बात है। माता-पिता का हमारी अल्पवय मे स्वर्गवास हो जाने से तथा आर्थिकस्थिति के कमजोर होने से मेरे बडे भाई ने, जो मुझ से सिर्फ अढाई वर्ष ही बडे थे, मुझे किसी विद्यालय मे पढाने का विचार किया। इसके लिये वे मुझे सागर ले गये। सागर से मुझे अन्य दो विद्यार्थियो के साथ महासभा द्वारा सचालित मथुरा महाविद्यालय मे भेजा गया। परन्तु हिन्दी कमजोर होने से विद्यालय के प्रधानाध्यापक प० रमानाथ जी ने भरती नही किया। तीनो को पुन सागर वापिस आना पडा। वहाँ कटरा मे रहकर पढने के लिये लगभग चार मास तक प्रतिदिन विद्यालय मे जाते रहे। इस बीच पूज्य प० गणेशप्रसाद जी वर्णी का सागर मे शुभागमन हुआ। उन्हे जब श्री प० मुन्नालाल जी राधेलीय से हम लोगो का समाचार ज्ञात हुआ तब वे हम लोगो को अपने साथ ही बनारस ले गये। इस समय बशीधर जी (व्याकरणाचार्य, बीना) भी साथ हो गये थे। बनारस पहुँच जाने पर वर्णी जी के प्रभाव से हम चारो ने स्याद्वाद महाविद्यालय मे सहज मे प्रवेश पा लिया। वहाँ अध्ययन करते हुए जो कुछ भी थोडासा ज्ञान प्राप्त किया जा सका, यह उन वर्णी जी का महान् उपकार हे, जिसे कभी विस्मृत नही किया जा सकता। मेरे जैसे सैकडो बालको को उन्होने प्रेरणापूर्वक विद्याध्ययन मे लगाया। आज जो विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हे उनमे अधिकाश वर्णी जी की ही देन है। उनके श्रीमुख से मुझे स्वय प्रमेयकमलमार्तण्ड और अष्टसहस्री का कुछ अश पढने को मिला। उनका समस्त जैन समाज पर, विशेपत बुन्देलखण्ड निवासी समाज पर, अपरिमित उपकार रहा, जो चिरस्मरणीय रहेगा। उनके चरणो मे शत-शत प्रणाम।

यह केवल कहने की बात है कि नश्वर देह से अविनश्वर सुख मिलता है। सुख तो आत्मीय गुण है। उसका घातक न तो शरीर है और न द्रव्यान्तर। यह आत्मा स्वय रागादिरूप परिणमन कर स्वय आकुलतारूप दु ख का भोक्ता होता है और जब रागादि परिणामो से पृथक् अपनी परिणति का अनुभव करता है तभी अनन्तसुख का उपभोक्ता हो जाता है। देह न सुख का कारण है और न दु ख का।

—गणेश वर्णी

आध्यात्मिक सन्त

श्री पं० परमानन्द शास्त्री, दिल्ली

पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी उन आध्यात्मिक सन्तो मे है जिन्होने ससार के बाह्य कषायमय वातावरण से अपने को सदा दूर रखने का प्रयत्न किया। वे अत्यन्त नि.स्पृह और दयालु थे। वे सामाजिक वातावरण मे रहे किन्तु उदासीन और नि.स्पृह। उन्होने समयसारादि अध्यात्म-ग्रन्थो का अध्ययन, मनन एव परिशीलन किया। उनकी वाणी उनकी अध्यात्म-पटुता की निदर्शक है। उनके सरल वाक्य-विन्यास हृदय मे गुदगुदी पैदा किये बिना नही रहते। उनके वाक्य नपे तुले अध्यात्म-रस से गर्भित सरल और सरस होते थे। उन्हे समाज मे धार्मिक शिक्षा दिलाने की उत्कट अभिलाषा थी, इसी से उन्होने अनेक विद्यालय और पाठशालाएँ खुलवाईं। उनके माध्यम से अनेक विद्वान् समुत्पन्न किये। मुझे भी उनकी असीम कृपा से विद्याध्ययन करने का अवसर मिला। अष्टसहस्री और प्रमेयकमलमार्तण्ड का पाठ भी उन्होने पढ़ाया। उनके साथ ४ बजे से गोम्मटसार कर्मकाण्ड का पाठ करने का भी अवसर मिला। उनके साथ प्रात काल घूमने जाने का अवसर कई बार मिला। माघ महीने की सर्दी मे उनकी दयालुता को देखकर आश्चर्य मे पड गया। जब सडक पर ठिठुर रहे दीन भिखारी को उन्होने अपनी चादर दे दी। स्वय तोलिया ओढकर विद्यालय वापिस पहुँचे और मुझे कटरा से दूसरी चादर लाने को कहा।

समाज की प्रेरणा से उन्होने लाखो रुपये का चन्दा कराया। किन्तु स्वय उससे अत्यन्त नि.स्पृह रहे। बाद मे उन्हे उसकी कोई चिन्ता न रही। मेरे जैसे अर्थ-हीन अनेक विद्यार्थियो को शिक्षा दिलाकर जो विद्वान् उत्पन्न किये, यह उनका उन सब विद्वानो पर असीम उपकार है। सामाजिक कुरूढियो को मिटाने मे उन्हे अथक श्रम करना पड़ा यह उनका समाज पर उपकार है। देश के उद्धार मे भी उनका तन मन सक्रिय रहा है। ऐसे उन आदर्श गुरुवर वर्णीजी के चरणो मे हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

हम बहुत ही दुर्बल प्रकृति के मनुष्य है, हर किसी को निमित्त मान लेते है, अपने आप चक्र मे आ जाते है, अन्य को व्यर्थ ही उपालम्भ देते है, कोई द्रव्य किसी का बिगाड सुधार करने वाला नही······यह मुख से कहते है परन्तु उस पर अमल नही करते। केवल गल्पवाद है। बड़े-बड़े विद्वान् व्याख्यान देते है परन्तु उस पर अमल नही करते।

—गणेश वर्णी

चिरस्मरणीय विभूति

लेखक—**विद्वद्रत्न, धर्मदिवाकर प. सुमेरुचन्द्र दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री**
B A LL B सिवनी (म प्र)

पूज्य वर्णी जी के समीप हमे १९६१ के मई माह के तीसरे सप्ताह मे कुछ समय व्यतीत करने का सुयोग मिला था। एक दिन रात्रि को लगभग तीन बजे उनके शरीर मे बहुत पीडा उत्पन्न हुई। उन्होने गढाकोटा के ब्र० मूलचन्द्र जी शास्त्री को कहकर मुझे जगवाया और कहा—"भैया कुछ सुनाओ।" मैने कहा महाराज आपने समयसार आदि महान शास्त्रो का अमृत रस खूब पिया है। मै तो आपको आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के जीवन की कुछ बाते सुनाता हूँ।

सस्मरण—

यह कहकर मैने आचार्य महाराज के सस्मरण सुनाये। शरीर मे बडे भारी सर्प के लिपटने पर भी वे अपने ध्यान से विचलित नही हुए। एक बार वर्षाकाल मे उनके शरीर पर असख्य चीटिया चढी रही। शरीर के अधोभाग को चीटियो ने खा लिया था। इससे बैठने का आसन खून से लाल हो गया था, फिर भी वे स्थिर रहे। कुथलगिरि मे समाधि के चौथे सप्ताह मे मैंने उनसे पूछा था, महाराज आपके शरीर को कोई कष्ट तो नही है ?

आचार्य महाराज ने कहा था हम शरीर से भिन्न अपनी आत्मा की ओर अपनी दृष्टि लगाये हुये हे, इसलिये हमे कोई कष्ट नही हे। हम तो अपने विचारो के द्वारा लोक के अग्रभाग मे पहुँचकर अनन्त सिद्धो के समीप अपनी आत्मा का ध्यान करते है।

इस प्रकार आचार्य महाराज की अनेक जीवन घटनाओ के साथ महापुराण मे प्रतिपादित भरत चक्रवर्ती की कुछ बातो पर प्रकाश डाला इससे पूज्य वर्णी जी बडे सतुष्ट हुए और बोले "भैय्या तुमने तो हमारे शरीर के कष्टो को दूर कर दिया। इसके पश्चात् सवेरे और सायकाल की शास्त्रसभा मे उपस्थित लोगो के समक्ष हमारी चर्चा का उल्लेख करते हुए कहा कि उससे उन्हे बडी शाति मिली। मैने कहा, "महाराज आप हमारे गुरु है। हमे आपने अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ बनारस मे पढाये थे। आपकी सेवा करना हमारा कर्त्तव्य हे।"

उस दिन अवसर मिलने पर प्रकाड विद्वान पडित शिखरचन्द जी शास्त्री ईसरी वालो के समक्ष हमने बाबा जी से कुछ आवश्यक प्रश्न पूछे। उन्होने बडा सुन्दर समाधान किया था।

प्रश्न—यदि सम्यग्ज्ञान की सपत्ति बँटे, तो क्या निश्चयनय को सवा आठ आना और व्यवहारनय को पौने आठ आना हिस्सा मिलेगा ?

उत्तर—**जैसा सच्चा ज्ञानपना निश्चयनय मे है उसी प्रकार सच्चा ज्ञानपना व्यवहारनय**

धर्म तो आत्मा में है, हम निमित्तों में खो जाते हैं। चक्षु निर्मल रखने से (आत्मा का) नेत्र बिना आत्मा नहीं देख सकता अतः नेत्र की रक्षा भी आवश्यक है—चश्मा भी सहकारी है।

गणेश वर्णी

समता की धारा बह निकली,
उठ गए जिधर ये सबल-चरण,
मानव-मानव का भेद मिटा,
अशरण को भी मिल गई शरण।

—नीरज जैन

गया में चातुर्मास सन् १९५३

वर्णी जी और विनोबा भावे—दो सन्तो का साक्षात्कार
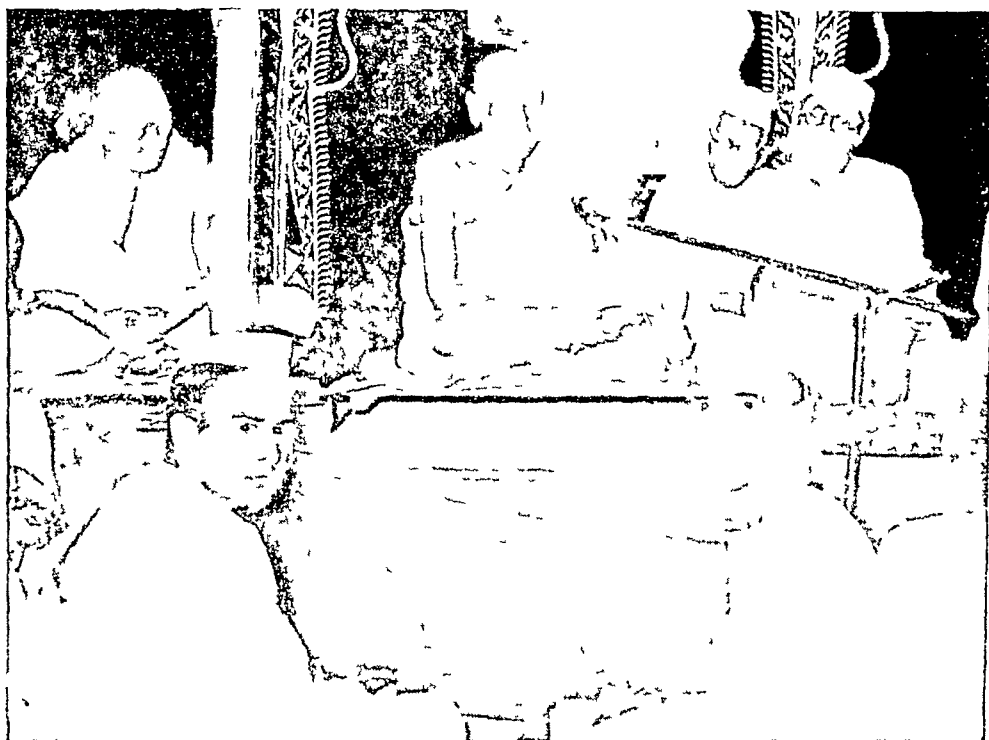
दसलक्षण धर्म के प्रवचन—मच पर सर्वश्री प्यारेलाल भगत, जुगलकिशोर मुख्तार और पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

मे भी है। क्योकि दोनो सम्यग्ज्ञान के बेटे है। व्यवहारनय का कथन उतना ही सच्चा है जितना कि निश्चयनय का।

प्रश्न—व्यवहारधर्म का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर—व्यवहारधर्म सम्यग्दर्शन का साधन है। वह चारित्र का भी साधक है। इस प्रकार देवपूजा आदि व्यवहारधर्मो के द्वारा जीव का कल्याण होता है।

प्रश्न—सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना चारित्र नही पालना चाहिये, वह निस्सार है, विचारवान को साररहित पदार्थ नही अपनाना चाहिये ? इस विषय मे उचित बात क्या है।

उत्तर—सम्यक्त्व नही प्राप्त होने पर भी चारित्र का अभ्यास करना अच्छा है। क्योकि चारित्र के द्वारा आगामी सुगति होगी। दूसरी बात यह है कि इससे धर्म के निमित्त मिल जायेंगे। इसलिये सम्यक्त्व के अभाव मे भी सयम का शरण स्वीकार करने मे सदा तत्पर रहना चाहिये।

प्रश्न—निमित्तकारण को लोग व्यर्थ मे महत्त्व देते है। असली कारण तो उपादान कारण है। उपादान मे ही कार्य होता है। उस समय निमित्तकारण केवल उपस्थित रहता है, वह कुछ करता नही। आपका अनुभव क्या है ?

उत्तर—कार्य की उत्पत्ति मे निमित्त और उपादान दोनो कारण आवश्यक है। जैसे—उपादान कारण के अभाव मे कार्य नही होता, उसी प्रकार निमित्तकारण के अभाव मे भी कार्य नही होगा। ऐसा निमित्तकारण मानने की क्या जरूरत है। जो उपादान का सहायक न बनकर केवल उपस्थित रहता है। निमित्त यदि कुछ नही करता तो बताओ बिना पानी के चावल भातरूप क्यो नही बनता ? जल के विना क्या चावल, भातरूप मे परिणमन करेगा ?

प्रश्न—आजकल लोग एक समयसार को ही लिये रहते है, मानो अन्य आगमग्रन्थ कल्याणकारी नही है। सामान्यतया लोगो को किन-किन ग्रन्थो का स्वाध्याय करना आपकी दृष्टि मे लाभकारी रहेगा।

उत्तर—आजकल सर्वसाधारण को जैन-सिद्धान्त-प्रवेशिका अवश्य पढना चाहिये। द्रव्यसग्रह की टीका बड़ी सुन्दर है। पद्मपुराण सुन्दर ग्रथ है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार भी सुन्दर ग्रन्थ है।

प्रश्न—व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है। अभूतार्थ का भाव मिथ्या है, ऐसा कोई-कोई मानते है, इसलिये वे व्यवहारनय को हेय बताते है, क्या व्यवहारनय मिथ्या है ?

उत्तर—व्यवहारन जो अभूतार्थ है सो अभूतार्थ का भाव मिथ्या नही है। जो व्यवहारनय निश्चयनय से निरपेक्ष है, वह व्यवहारनय मिथ्या है। अतएव वह नयाभास हो जाता है। इसी प्रकार वह निश्चयनय भी मिथ्या तथा नयाभास है, जो व्यवहारनय से निरपेक्ष है। व्यवहार-नय और निश्चयनय दोनो सम्यग्ज्ञान के अग होने से सम्यक् है। जब व्यवहार और निश्चय दृष्टिया परस्पर मे निरपेक्ष होती हैं तब उन दोनो को मिथ्यानय कहा जाता है। व्यवहारनय अवस्तु को विषय नही करता है। वह पर्यायग्राही होने से अभूतार्थ माना गया है। उसे झूठा मानना अयोग्य है। व्यवहारनय उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान से सम्बन्धित है जिसप्रकार निश्चयनय।

प्रश्न—आजकल कोई २ गृहस्थ अन्य लोगो को सम्यक्त्वी कह दिया करते है । जो उनके विचार से सहमत नही हैं, वे उसे मिथ्यात्वी कह दिया करते है । सो क्या गृहस्थ को इतना ज्ञान है कि वह दूसरे के सम्यक्त्वीपन का निश्चयरूप से कथन कर सके ?

उत्तर—गृहस्थ दूसरे के सम्यक्त्व के सद्भाव असद्भाव का निरूपण नही कर सकता । करणानुयोग मे निरूपित सम्यक्त्व को वह नही बता सकता, क्योकि गृहस्थ कर्मो के उपशम, क्षय क्षयोपशम आदि को साक्षात् नही देख सकता ।

आगम से ज्ञात होता है कि सम्यक्त्वरूप-निधि को पाने वाला गृहस्थ देवपूजा आदि कार्य करता है । सम्यक्चारित्र के दो भेद कुदकुद स्वामी ने चारित्रपाहुड मे बताये है । श्रावक का चारित्र सम्यक्चारित्र-रूप धर्म का अग है । श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ मे व्रत-प्रतिमा हे । उसका अग दूसरी प्रतिमा है । उसमे 'अतिथिपूजा' नाम का शिक्षाव्रत है । उसमे दान पूजा का समावेश है इस कारण दान पूजा आदि को सम्यक्चारित्र के अन्तर्भूत होने से धर्मपना प्राप्त होता है । अध्यात्मशास्त्र के पडित बनारसीदास जी ने जिनेन्द्र भगवान की पूजा को स्वर्ग तथा परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है ।

देवलोक ताके घर आगन राजरिद्धि सेवें तसु पाय ।
ताके तन सौभाग्य आदि गुन केलि निवास करें नित आय ।।
सो नर तुरत तिरै भवसागर निर्मल होय मोक्षपद पाय ।
द्रव्य, भाव, विधि सहित बनारसि जो जिनवर पूजै मन लाय ।।

पूज्य वर्णी जी केवल अध्यात्मशास्त्र के ज्ञाता नही थे, वे न्याय के आचार्य थे और सयम-रूपी अमृत का रसपान करने वाले महाज्ञानी संत थे । इसलिये उनकी जिनवाणी-रूपी-वीणा द्वारा स्याद्वाद का मधुर सगीत सुनाई पडता था । पूज्य वर्णी जी के पास से सिवनी वापिस आने पर उनका ३० मई सन् १९६१ का लिखा पत्र प्राप्त हुआ ।

श्रीमान् दिवाकर प० सुमेरचन्द्र जी,

योग्य कल्याणभाजन हो ।

पत्र मिला समाचार जाने । हमारा स्वास्थ्य गर्मी के कारण अति कमजोर हो गया हे । यहॉ माता कुथुमती जी तथा ऐलक सिद्धिसागर जी आदि सब संघ सानद है । आप भी सकुशल होगे । आपकी तीर्थंकर पुस्तक अनुपम है । एकत्र सर्व-सामग्री का सयोग किया है । जैनधर्म की प्राचीनता इससे पूर्व झलकती है । इतिहास के गवेषियो को यह सक्षेप मे अतिगभीर शिक्षा देने वाली है । इसमे तीर्थंकरो की सर्वोदय सामग्री सन्निहित है । सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए सच्चा शास्त्र है । मैने इसे सुना । सुनकर अपूर्व आह्लाद हुआ । आज ऐसे ही ग्रथो की लोक मे आवश्यकता है । उसकी पूर्ति इस पुस्तक से हो गई । घर मे सबसे शुभाशी· कहना ।

आ शु चि —गणेश वर्णी

दुर्भाग्य की बात रही कि पूज्य बाबा जी की बीमारी का समाचार न मिलने से मै उनकी समाधि के समय सेवा न कर पाया । उस समय अद्भुत कारण-कलाप एकत्रित हो गए थे ।

भाग्यवान—

यथार्थ मे वे बडे भाग्यवान सत्पुरुष थे, जो जैनेतर कुल मे जन्म लेने पर भी सौभाग्य से चिन्तामणि-तुल्य जैनधर्म-रूपी रत्न उनके हाथ लग गया । उन्होने सम्यक् श्रद्धा ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र रूप त्रिवेणी मे स्नान कर अपना मनुष्य-जन्म कृतार्थ किया तथा सहज उदार स्वभाववश अगणित लोगो को सत्पथ मे लगाया ।

महान भक्त—

पूज्य वर्णी जी महान दार्शनिक, अध्यात्म-शास्त्रवेत्ता होने के साथ जिनेन्द्र भगवान के महान भक्त रहे है । जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से ससार के समस्त दु:ख दूर होते है । आचार्य समंतभद्र ने कहा है "क्लेशाम्बुधे नौं पदे"—दुखीरूपी समुद्र के पार जाने के लिए नौका के समान जिनेन्द्र भगवान के चरणकमल है । मुनिराज के छह आवश्यको मे बंदना के द्वारा जिनेन्द्रभक्ति का ही वर्णन है । भक्ति के द्वारा पाप का क्षय होता है । इससे संकट दूर होते है और शुभकर्म के उदय से मनोवाछित वस्तु भी मिलती है ।

वर्णी जी की तीर्थभक्ति का यह भी उदाहरण सत्पुरुषो के लिये स्मरण-योग्य है । "गर्मी के दिनो मे शिखर जी की वदना के पश्चात् पर्वत की प्रदक्षिणा के लिये चला । प्यास के मारे कठ सूख रहा था, पानी का पता नही था, मैंने पार्श्वनाथ भगवान को स्मरण कर कहा—भगवन ! आपकी निर्वाणभूमि की बंदना करने वाला भक्त नरक और पशु गति मे नही जाता । आज प्यास से पीडित हो आर्तध्यान-पूर्वक यदि मेरा मरण हो गया तो मै दुर्गति का पात्र बनूगा । भगवान, ऐसा करो कि मुझे दुर्गति मे न जाना पडे । थोडी देर के बाद निर्मल जल से भरा एक कुड दिखाई पड़ा । उसके जल से प्यास बुझाकर हम सानंद प्रदक्षिणा कर लौट आये ।"

वर्णी जी कहते थे "जिनेन्द्र देव की भक्ति मे बडी शक्ति है उससे सब सकट दूर हो जाते है ।"

मंद-कषाय—

इस काल मे धर्मध्यान रूप शुभभाव हो सकता है । शुक्लध्यान-रूप शुद्धभाव नही होता यह बात कुदकुदाचार्य ने भावपाहुड तथा मोक्षपाहुड की ६ नम्बर की गाथा मे कही है । कार्ति-केयानुप्रेक्षा मे कहा है कि "मंदकसाय धम्म" ।। गाथा ४७० ।।, धर्मध्यान मे कषाय मदरूप रहती है । पूज्य वर्णी जी मे कभी भी तीव्र-कषाय नही देखी गयी । कार्तिकेयानुप्रेक्षा की यह गाथा जिन गुणो पर प्रकाश डालती है, वे सभी गुण पूज्य वर्णी जी मे थे । उनके कारण ही वे सर्वप्रिय और सर्वमान्य रहे, तथा जो व्यक्ति अपने जीवन मे इन गुणो को प्राप्त करेगा वह भी उनके ही समान महान आत्मा बनेगा । वह गाथा इस प्रकार है—

सव्वत्थवि पियवयण दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरण ।
सव्वेसिं गुणबहृण मदकसायाण दिट्ठता ।।

सब व्यक्तियो के प्रति प्रिय वचन बोलना, दुष्ट वचन बोलने वाले दुजन के प्रति क्षमाभाव धारण करना तथा सब के गुण ग्रहण करना ये बातें मदकषाय वाले जीव के उदाहरण है ।

उनका यह कथन बडा मार्मिक है—चित्त को उदार बनाओ, परपदार्थो की आशा छोडो, पर के दोष देखने का जो स्वभाव बना रखा हे उसे त्यागो । वैराग्य-दृष्टि को विकसित करो । वैराग्य ही तो मोक्षमार्ग है । वैराग्य के विना केवल अपने को ज्ञायकभाव बताने वाले से तुम ज्ञाता दृष्टा नही हो जाओगे । परपदार्थ मे जो इष्ट अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती हे उसको दूर करने का प्रयत्न करो ।

राग द्वेष त्याग का उपाय—

परपदार्थ मे इष्ट-अनिष्ट बुद्धि दूर करने का अथवा राग तथा द्वेप के परित्याग का क्या उपाय हे इस विपय मे समतभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहा है—

रागद्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु ।। ४७ ।।

मुनिराज राग तथा द्वेष के परित्याग हेतु चारित्र को स्वीकार करते है । जो चारित्र से डरते हुए राग द्वेप त्याग की कल्पना करते है, वे इसी प्रकार के विचित्र बुद्धिमान है, जो पानी मे घुसे बिना नदी पार करने की सतरण-कला का ज्ञान प्राप्त करना चाहते है ।

कुदकुद स्वामी ने शीलपाहुड मे यह बडी महत्त्व की बात कही हे ।

णाण चरित्तसुद्ध थोवो वि महाफलो होदि ।। ६ ।।

सम्यक्चारित्र से शुद्ध ज्ञान थोडा होते हुए भी महान फल का दाता होता हे । पूज्य वर्णी ने अपने ज्ञान को चारित्र से समलकृत कर अपूर्व कार्य किया । इसके कारण वे चिरस्मरणीय विभूति हो गए ।

लोगो की अन्तरङ्ग भावना त्यागी के प्रति निर्मल है, किन्तु इस समय त्यागी वर्ग उतना निर्मल नही ।

—**गणेश वर्णी**

बड़े पण्डितजी

स्वामी सत्यभक्त, वर्धा

जैन समाजमे जो आज वर्णीजीके नामसे विख्यात है वे मेरी छात्रावस्थाके आचार्य हैं और हम लोग उन्हे वडे पण्डितजी कहते रहे है । आज मैं कार्यक्षेत्रके अन्तरसे, विचारोकी भिन्नतासे उनसे काफी दूर पड गया हूँ फिर भी उनके प्रति जो आत्मीयताका भाव है वह क्षेत्र; काल; भावका अन्तर आ जाने पर भी वना हुआ है और सन् ११ से सन् १६ तक के वर्षोके अनेक छोटे बडे दृश्य चल-चित्र-पटकी तरह दिखाई देते है । उन सवका वर्णन करने लग जाऊँ तो पोथा नही तो पोथी जरूर वन जाय । पर न तो इतना समय है और न इतनी उपयोगिता, इसलिए दो एक घटनाएँ ही लिख रहा हूँ ।

मनोवैज्ञानिक चिकित्सक—उन दिनो सागरमे प्लेग था । विद्यार्थियोको घर भेजकर पाठशाला वन्द करनेकी अपेक्षा वडे पण्डितजीने यह ठीक समझा कि पाठशाला कुछ माहके लिए स्थानान्तरित कर दी जाय । और काफी दूर वरुआसागर (झाँसी) मे स्थानान्तरित की गई । एक दिन जरुवा-खेडा रुके पर वहाँ रहने लायक परिस्थिति नही थी इसलिए वरुवासागर पहुँचे । स्थान वडा अच्छा था । सागरके समान वहाँ का तालाव, उससे निकलने वाली पक्की नहरे, उनमे स्नान आदि के दृश्य आज भी गुद्‌गुदी पैदा करते है । यही एक छोटी-सी घटना ऐसी हुई जिसका प्रभाव मेरे जीवनके एक पहलू पर काफी स्थायी हुआ ।

एक दिन मेरा एक साथीके साथ कुछ झगडा हो गया और उसने उसमे मुझे एक धक्का मार दिया । धक्का नाममात्रका था उससे कुछ चोट नही पहुँची पर उतनेसे ही अभिमानी मन घायल हो गया । शरीरमे निर्वल होनेसे मैं धक्का का वदला धक्कासे नही दे सका था इसलिए वदला लेनेका काम दिमाग को ही सोचना पडा । मैने उस साथीके विरोधमे कुछ दोहे वनाये जिनमे गालिया भरी हुई थीं, मजाक भी था । दोहे हुए पच्चीस और नाम भी रख लिया 'दुष्ट पच्चीसी' । यह वात सन् १४ की होगी, मेरी उम्र भी उस समय करीव पन्द्रह वर्ष की थी । इस तरह मैं वदला लेनेके मौकामे कवि वन गया और जिन्दगीकी पहली कविता वना डाली । दुष्ट-पच्चीसी मैं अकेलेमे एक-एक विद्यार्थीको सुनाने लगा और इससे मेरे साथीको सव चिढाने लगे और वह वहुत दुखी हुआ । जितना जितना वह दुखी हुआ उतना उतना मेरा प्रतिहिंसक मन प्रसन्न हुआ । मेरे साथीने किसी दिन छिपकर उस कविताकी नकल करली और एक अध्यापक के सामने पेश कर दी । उनने मुझसे जवाव-तलव किया मैंने एक दार्शनिककी तरह उत्तर दिया कि जव इनने मुझे धक्का मारा और इसकी अपेक्षा शरीरमे निर्वल होनेके कारण मैं धक्केसे ही वदला न ले सका । तव वतलाइये कि मे क्या करता ? आपसे शिकायत करता तो आप कहते 'चोट वताओ' । धक्केकी चोट तनपर तो थी नही, मन पर थी । मैं मनकी चोट कैसे दिखाता ? तव आप उपेक्षा कर देते और मेरा जी जलता रहता । इसलिए जिस तरीकेसे मे अपने अपमान का वदला ले सका, मने लिया ।

इस उत्तर मे उन्हे मेरी धृष्टता दिखाई दी और वास्तवमे धृष्टता थी भी, इसलिए उन्होने चुपचाप इस मामलेकी अपील बडे पण्डितजीके पास कर दी। पर बडे पण्डितजीने इस मामले को एक शासककी तरह न लिया किन्तु एक चिकित्सककी तरह लिया। उन्होने न मुझे बुलाया, न डॉटा फटकारा।

दूसरे दिन मै स्नान करके आ रहा था कि बडे पण्डितजी सामने खडे मिल गये। उन्होने मुझसे बिना किसी प्रकारकी भूमिका बाँधे कहा 'दरबारी! तुम कविता तो अच्छी करते हो भैया!"। मै लज्जासे स्तब्ध होकर नीची नजर करके खडा हो गया। एक मिनिट रुककर वे बोले—'यदि तुम भगवान्‌की प्रार्थना बनानेमे अपनी शक्ति आजमाओ तो मुझे बहुत प्रसन्नता हो।'

फिर भी मैं चुप रहा। पर एक क्षणमे ही लज्जाका विवाह उत्साहके साथ हो गया। तब वे बोले–'अच्छा जाओ, मेरी बातका ध्यान रखना।' मैं बिना कुछ बोले चल दिया और अपने स्थानपर पहुँचकर कविता बनाने बैठ गया। उस समय पाठशालामे जिस लयकी प्रार्थना पढी जाती थी उसी लयमे शामतक मैंने दो प्रार्थनाएँ बना डाली। एक सुबहके लिए, दूसरी शामके लिए। और जब मैने दोनो कविताएँ बडे पडितजीको सुनाई तो उन्होने खूब शाबासी दी और वे कविताएँ प्रार्थनामे भी पढी जाने लगी।

कुछ माह बाद पाठशाला सागर आ गई। एक दिन कक्षामे सब बैठे हुए थे कि डॉक आई उसमै जैनगजट निकला। बडे पण्डितजी मुखपृष्ठ की एक कविता पढने लगे और तारीफ करने लगे। जब पृष्ठ लोटा तो उसके नीचे मेरा नाम था। नाम पढकर उनके हर्ष और आश्चर्यका ठिकाना न रहा। किसी चिकित्सकने किसी रोगीकी चिकित्साकी हो और थोडे दिन बाद ही रोगी ने अखाडेमे मैदान मारा हो, यह देखकर चिकित्सकको आश्चर्यजनक प्रसन्नता हो सकती है वही प्रसन्नता बडे पण्डितजीको हुई।

वक्तृत्व—एकबार जब मैं घर गया और वहाँ व्याख्यान देते न बना तो मुझे बडी शर्म आई, हालाँकि उन दिनो मेरे ज्ञानकी पूजी रत्न करण्ड-श्रावकाचारके दश बारह श्लोक पढने तककी ही थी, पर सागर पाठशालाका नाम बडा था इसलिए मै पढा चाहे जितना कम होऊँ पर व्याख्यान न दे सकने ने मुझे शरमिन्दा कर दिया। मैने बड पडितजीसे यह बात कही। कुछ दिन तो उन्होने उपेक्षा की पर एकाध वर्ष बाद उन्होने एक साप्ताहिक पत्रकी योजना कर दी। पर शुरूमे तो किसीको व्याख्यान देना आता ही न था। मुझमे उत्साह बहुत था, पर व्याख्यान देने के लिये उत्साह ही तो काफी नही होता। कला, निर्भयता तथा कुछ निर्लज्जता भी तो चाहिये। तब बडे पडितजीने कहा—कि 'तुम्हे कुछ बोलना नही सूझता तो गाली देना तो आता है। गाली ही दो' और मुझे खडा कर दिया और मै सहमते-सहमते कुछ कुछ बोल ही गया। फिर तो उन्होने मुझे सभाका मत्री बना दिया और जब तक मैं सागर पाठशालामे रहा मै ही मत्री रहा और काफी बोलने लगा और जब मै सन १७ मे बनारस गया तब वहाँ मेरी वक्तृत्व शक्तिकी ख्याति पहिले ही पहुँच गई थी और कुछ समय बाद मै वहाँ भी मत्री बना दिया गया और अन्त तक रहा। 'बोलना नही आता तो गाली ही दो' बडे पडितजीका यह वाक्य-बीज काफी फला-फला।

खिलाड़ी—कोई आदमी वडा विद्वान् हो और तपस्वी हो तो महान् तो कहला सकता है, उनकी गिनती देवताओमे भी हो सकती है परन्तु यदि उसमे विनोद न हो, प्रसन्नताकी वृत्ति न हो तो पूर्ण आदमी नही वन सकता। पूर्ण आदमीमे चारो पुरुषार्थ चाहिये। निर्दोष काम भी चाहिये। यह पूरी आदमियत देवत्वसे भी दुर्लभ है।

मानता हूँ हो फरिस्ते शेखजी।
आदमी होना मगर दुश्वार है॥

पर वडे पडितजीमे वह आदमियत काफी थी। इसीलिए हम सरीखे वालकोको लेकर मैदानमे जाते थे और 'खो' खेलते थे और खेलनेमे पूरे खिलाड़ी वन जाते थे और हमारी गलतियाँ अधिकारीकी हैसियतसे नही खिलाडी की हैसियतसे सुधारते थे। असाधारण होकर भी उचित मान्यता पर साधारण वन जाना ऐसी असाधारणता है जिसपर सैकडो असाधारणताएँ न्यौछावर की जा सकती हे ?

स्वालम्बन—सन १६१६ की वात है। मै स्याद्वाद विद्यालय वनारसमे अध्यापक हो गया था। वडे पडितजी कुछ दिनोके लिए भेलूपुरा आकर ठहरे थे। मै प्रतिदिन शामको भदैनीसे भेलूपुरा उनसे मिलने जाता था फिर उनके साथ बात करता हुआ थोडी दूर टहलने भी जाता था। वडे पडितजी काफी स्वावलम्बी थे और अपना वहुत-सा काम अपने ही हाथसे करते थे। उनका एक मिट्टीका बर्तन था जिसमे वे तेल रक्खा करते थे। उन्हे उस दिन तेल खरीदना था। उन्होने वह बर्तन उठा लिया और मुझे साथ लेकर घूमने निकल पडे। मैं सोचता था कि वर्तन मेरी ओर बढाएँगे और मै ले लूगा, यह सर्वथा उचित भी था पर उन्होने वह बर्तन न दिया तब मुझे ही उनके हाथसे वर्तन छीन लेना पडा। 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत्' का यह प्रतिपालन था जो कि उनकी स्वावलम्बन-वृत्तिका सूचक था।

वडे पडितजी की विद्वत्ता, वक्तृत्व, त्याग, तप आदि बड़ी-बडी बाते विख्यात है अत उन्हे संस्मरणका विषय बनाना बेकार-सा है। आदमीकी सच्ची परख छोटी और छिपी बातोसे होती हे इसलिए मैंने भी दो-चार ऐसी ही बाते की है।

वही मनुष्य सुख का पात्र होता है जो विश्व को अपना नही मानता। पर को अपना मानना ही ससार की जड है।

—गणेश वर्णी

मेरे जीवन-निर्माता

ले० डा० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

पिताजी का स्वर्गवास हो जाने के बाद जब १६१६ मे मैं सागर आया तब मेरी अवस्था ७-८ वर्ष की थी। सागर आने पर ही मेरी स्कूली पढाई शुरू हुई। मैं दिन को स्कूल मे पढता था और रात को गौराबाई जैन मन्दिर मे लगने वाली स्थानीय पाठशाला मे बालबोध तथा पूजा-पाठ पढता था। पूज्य वर्णीजी ऊपर छत पर शास्त्र-प्रवचन कर जब नीचे हमारी पाठशाला मे आते थे तब हम लोगो से कुछ न कुछ पूछा करते थे। उनके प्रश्नो का उत्तर मुझसे बन जाता था इसलिये साथ के लोगो से वे कहा करते थे—इसे पढाना है।

जब मैं हिन्दी की चौथी कक्षा पास कर चुका तब वर्णीजी ने मुझे अपनी सत्तर्कसुधा-तरङ्गिणी दि० जैन पाठशाला मे भरती कर लिया। फीस देने को मेरा सामर्थ्य नही था, इसलिये उन्होने मेरा नाम कमरया लक्ष्मणदास-ट्रष्ट की ओर से नि शुल्क भर्ती होने वाले ३० छात्रो मे लिखा दिया। मैं निश्चिन्त होकर अध्ययन करने लगा। उस समय जिस छात्र के लिये जो ग्रन्थ वर्णीजी बता देते थे उसे वही पढाया जाता था। कोई बँधा हुआ पठनक्रम नही था। वर्णी जी ने मुझे पहली साल अमर कोष-मूल, अष्टाध्यायी के सूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार पढवाया। छात्र की देखरेख वर्णीजी स्वय रखते थे। अपराह्न काल मे पठित श्लोको की परमाच करना पडती थी और प्रात पढे हुए श्लोको को स्लेट पर लिखना पडता था। रात्रि को सामायिक के बाद वर्णीजी घटा आध घटा के लिये छात्रो को बुलाकर उनसे पिछला पूछते थे। तात्पर्य यह कि इतनी चौकसी मे अगला और पिछला सब पठित विषय तैयार रखना पडता था।

तीसरी वर्ष बनारस की प्रथमा-परीक्षा देने का अवसर आया। इसी बीच कमरया रज्जीलाल जी के मन मे लक्ष्मणदास कमरया ट्रस्ट के ३० छात्रो को लेकर अपनी पाठशाला स्वय चलने की भावना उठी। मेरा नाम कमरया ट्रष्ट के छात्रो मे था परन्तु वर्णीजी ने उस समय के सुपरिन्टेन्डेन्ट प० मूलचन्द जी से कहा कि कमरया जी स्वतत्र सस्था चला नही सकेंगे ऐसा हमारा विश्वास है। छात्रो का भविष्य खराब होगा। जिसका जो होना हो सो हो पर 'मूलचन्द्र जी आप पन्नालाल का नाम उनकी सूची से अलग कर अपनी सूची मे लिख लो। इसका भविष्य खराब न हो।' वर्णी जी की आज्ञानुसार मेरा नाम कमरया ट्रष्ट की सूची मे नही रहा। अत' मुझे उनकी स्वतन्त्र पाठशाला मे नही जाना पडा। दो साल बाद कमरया जी ने वर्णीजी के चरणो मे माथा टेक कर कहा—महाराज जी ! स्वतन्त्र पाठशाला चलाना मेरे वश की बात नही है। आप ही चलाइये। मैं तो प्रायश्चित-स्वरूप यहा के भवन बनवाये देता हूँ। दो साल के बीच होने वाली अव्यवस्था से वर्णीजी ने मुझे बचा लिया।

प्रथमा पास होने के बाद उन्होने मुझे सिद्धान्तकौमुदी और सर्वार्थसिद्धि पढवाई। सस्था

मे स्वतत्र व्याकरणाध्यापक नही था, अत. उन्होने अलग से छेदीप्रसाद जी शर्मा को व्याकरणाध्यापक रखवाया। उनसे मुझे तथा कमलकुमार जी को, जो आजकल कलकत्ता मे है, व्याकरण पढवायी। कमेटी ने वर्णी जी से कहा कि व्याकरण पढने वाले दो ही लडके है, अत इनके लिये स्वतन्त्र अध्यापक नही बुलाया जाय। वर्णी जी ने उत्तर दिया कि यदि ये दो ही लडके व्याकरण पढ गये तो आप लोगो को अजैन पण्डितो की दासता से मुक्त कर देगे।

वर्णी जी कहा करते थे कि अधिक ग्रन्थ पढने वालो की अपेक्षा थोडे ग्रन्थ पढने वाले अधिक विद्वान् बनते है। इसलिये उन्होने हमे व्याकरण-मध्यमा के खण्ड और एक धर्मशास्त्र, ये दो ही विषय पढवाये। जैनसाहित्य और जैनन्याय से हमे दूर रखा। उनका कहना था कि यदि तुमने व्याकरण ठीक पढ ली तो ये विषय अपने आप आ जावेंगे।

व्याकरण-मध्यमा के चार खण्ड और काव्यतीर्थ की परीक्षा पास कर लेने पर एक साल मे उन्होने समस्त जैन साहित्य और प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा अष्टसहस्री पढवा दी। सन् १९३१ मे जब अध्यापकी की नौकरी करने के लिये मै उदयपुर जाने लगा तब वर्णीजी बरुवासागर मे थे। उन्हे पता चला कि यह उदयपुर जा रहा है उन्होने बरुवासागर से तार दिया कि पन्नालाल को रोको हम सागर आ रहे है। मै रुक गया और दूसरे दिन वर्णी जी सागर आ गये। उन्होने मुझे अपने ही विद्यालय मे अध्यापक रख लिया। विद्यालय की आर्थिक स्थिति कमजोर थी इसलिये उन्होने चालू कार्यकर्ताओ को दान की रसीद देकर उनके वेतन से कुछ कटौती कर ली और मुझे २५) मासिक पर साहित्याध्यापक रख लिया।

मन मे खेद तो रहता था कि ७ साल पढा और वेतन २५) ही मासिक मिला। एक दिन उन्होने कहा कि देखो, व्यग्र मत होना। काम लगन से करो। इसी वेतन से फलो फूलोगे। मै चुप रह गया और वेतन कम होने की व्यग्रता छूट गयी। रुपये के १८-२० किलो गेहूं आते थे इसलिये खर्च मे कोई कमी भी नही पडती थी।

अध्यापन के साथ ही साथ मैने अपना अध्ययन जारी रक्खा और सन् १९३६ मे मैने साहित्याचार्य परीक्षा पास कर ली। वर्णी जी ने बडी प्रसन्नता प्रकट की। उस समय तक जैन समाज मे कोई साहित्याचार्य हुआ भी नही था। पहला नम्बर मेरा ही था, इसलिये उन्हे भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई। वर्णी जी के आदेशानुसार सन् ३१ से ही मै विद्यालय मे अध्यापन कार्य कर रहा हूँ।

अध्ययन-काल मे जब बनारस-प्रथमा पास कर चुका था और व्याकरण-मध्यमा का प्रथम-खण्ड पढता था तब एक बार दशलक्षणपर्व मे उत्तमक्षमादि धर्मो का वर्णन करने वाले कुछ सस्कृत के पद्य बनाये थे। बनाकर वे पद्य मैने वर्णी जी को दिखाये। उन्होने बडी प्रशसा की और शास्त्रसभा मे मेरे मुख से सबको सुनवाये। उस अवस्था मे लिखे श्लोक कहा तक शुद्ध हो सकते है यह पाठक स्वय समझ सकते है। परन्तु अशुद्धियो की ओर वर्णी जी ने बिलकुल ही दृष्टि नही दी और प्रशसा कर मेरा उत्साह बढा दिया।

वे कहा करते थे कि ग्रन्थ, मूल पर से पढना चाहिये, टीका पर से नही। क्योकि मूल ग्रन्थ पर से पढने मे धारणाशक्ति बढती है इसीलिये साधारण ग्रन्थ की कौन कहे जीवकाण्ड भी मैंने उस समय प्रकाशित एक मूल गुटका पर से पढा था। मेरी इच्छा थी कि सिद्धान्तकौमुदी की सस्कृतटीका तत्त्वबोधिनी ले लू, पर उन्होने उसे लेने की सलाह तब दी जब मै व्याकरण-मध्यमा के ३ खण्ड पास कर चुका। सलाह ही नही दी ५) कही से छात्रो को फल-वितरण करने के लिये उनके पास ग्राये थे वे रुपये उन्होने मुझे दे दिये और उनसे तत्त्वबोधिनी ग्रा गई। तात्पर्य यह है कि विद्यार्थी का जीवन-निर्माण कैसे होता है यह वे खूब जानते थे और विद्यार्थी को परख कर उसकी सब प्रकार से सहायता करते थे।

बचपन मे मुझे क्रोध बहुत ग्राता था, इसलिये मै दूसरे छात्रो से कुछ ग्रलग ग्रलग सा रहता था। विद्यालय मे बने कमरया रज्जीलाल के मन्दिर पर कलशारोहण का उत्सव हो रहा था। उत्सव के समय एक दिन विद्यालय का ग्रधिवेशन हुग्रा। ग्रधिवेशन मे उन्होने छात्रो का परिचय देते हुए मेरी बहुत प्रशसा की परन्तु प्रशसा के बाद एक वाक्य उन्होने भरी सभा मे कह दिया—'भैया! इसे गुस्सा बहुत ग्राती है।' सब लोग हँस पडे, परन्तु मेरे जीवन मे उनके एक वाक्य ने ही मोड ला दिया। मै उसी समय से क्रोध पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करने लगा। मै कितना सफल हो सका हूँ, यह तो नही जानता परन्तु बुराई का उत्तर देने का भाव ग्रब नही होता।

उनके प्रति कृतज्ञता ग्रौर श्रद्धाञ्जलि किन शब्दो मे प्रकट करूँ? समझ नही पाता। ग्रपने द्वारा लिखित 'श्रीपाल चरित्रम्' नामक गद्यकाव्य मे मैंने उनका इस प्रकार स्मरण किया है–

येषा कृपाकोमल - दृष्टिपातैः
सुपुष्पिताभून्मम सूक्तिवल्ली।
तान्प्रार्थये वर्णिगणेशपादान्
फलोदय तत्र नतेन मूर्ध्ना॥

कलकत्ता मे हुई सम्मानसभा मे गद्गद् कण्ठ से मैने कहा था कि यदि पूज्य वर्णी जी मेरे जीवन का निर्माण न करते तो बम्बई ग्रौर कलकत्ता जैसे महानगरो मे मुझे कौन पूछने वाला था?

उन महान उपकारी गुरुवर के चरणो मे कोटि कोटि प्रणाम।

धर्म का सम्बन्ध शारीरिक कष्ट से नही होता। धर्म का सम्बन्ध ग्रात्मा से है। जब सब उपद्रवो की समाप्ति हो जाती है तब धर्म का उदय होता है।

—गणेश वर्णी

परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः

—पूज्य श्री १०५ श्री आर्यिका विशुद्धमती माताजी

इस भ्रमणशील चतुर्गति संसार मे प्रतिदिन अनन्त जीव जन्म लेते है और मरण करते है, किन्तु सभी जीवो की जन्म-शताब्दियाँ, जन्म-तिथियाँ एव पुण्य-जयन्तियाँ नही मनाई जाती। "परोपकाराय सता प्रवृत्ति" इस नीति के अनुसार जिन महापुरुषो की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ परोपकार के लिये होती है, उन्ही की जन्म-शताब्दिया आदि मनाई जाती है। परम पूज्य १०८ गणेशकीर्ति महाराज जो कि "वर्णीजी" नाम से विख्यात थे, वे भी एक महानात्मा थे। समीचीन ज्ञानदान के द्वारा अज्ञ-प्राणियो का उपकार करना ही उनके जीवन का व्रत था। आप अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी थे, आपके उपदेश से सैकड़ो ज्ञान आयतनो की जड़ो मे जलसिंचन हुआ जो आज तक समुन्नत पुष्पो एव फलो के वितरण से समाज को गौरवान्वित कर रहा है।

पूज्य वर्णीजी का हृदय अत्यन्त सरल एव निर्लेप था। परिग्रह-रूपी पिशाच से आप निरन्तर भयभीत रहते थे। स्वाध्याय ही आपका परम तप था। सम्पूर्ण जैनेन्द्रवाणी अर्थात् चारो अनुयोगो पर अटूट श्रद्धा होते हुए भी समयसार ग्रन्थ आपको अत्यन्त प्रिय था। आप अधिकतर उसी का स्वाध्याय करते थे। एक बार आपने कुछ समय के लिये इस प्रकार की प्रतिज्ञा की थी कि "मै सटीक समयसार का आद्योपान्त प्रतिदिन स्वाध्याय करूगा और जिस दिन पूरा नही पढ पाऊँगा उसके दूसरे दिन नमक नही खाऊँगा।" प्रतिदिन टीकासहित पूरा समयसार पढना कितने महान् पुरुषार्थ का द्योतक है। आपकी निम्नलिखित पक्तियो मे समयसार के प्रति कितना महान् आत्म-समर्पण है ? आप लिखते है कि "एक समयसार का ही स्वाध्याय करता हू। चाहे कुछ आवे या न आवे, वही शरण है अब किस किस की शरण लूं। अगर पार होना है तो वही कर देगा।"

उपर्युक्त वाक्यो मे शास्त्र के प्रति कितनी अपूर्व भक्ति (राग) झलक रही है। वस्तु-स्वातन्त्र्य की विवेचना करने वाले आध्यात्मिक ग्रन्थ के रसिक (वेत्ता) होकर भी द्रव्यश्रुत का शरण ले रहे है और "वही पार कर देगा" इतना प्रबल कर्तृत्व अन्य (पुद्गल) द्रव्य को बना रहे है। इससे ज्ञात होता है कि आप समयसार के हार्द को स्पर्श कर चुके थे, अत: निश्चय एकान्त से दूर रहे। कषायो की उपशमता-सहित जो कुछ ज्ञान है उसे ही आप यथार्थ ज्ञान मानते थे। आप लिखते है कि **"इस काल में ज्ञानार्जन ही आत्मगुण का पोषक है यदि ज्ञान के सद्भाव में मोह का उपशम नही हुआ तब उस ज्ञान की कोई प्रतिष्ठा नही। वह ज्ञान प्राण बिना मृतशरीर के तुल्य है"** इसीलिये आप लिखते हैं कि स्वाध्याय का उपयोग यथार्थ वस्तु के परिज्ञान मे पर्यवसान न हो जाना चाहिये किन्तु जिनके द्वारा हम अनन्त ससार के बन्धन मे बद्ध है ऐसे मोह-राग-द्वेष का अभाव करके ही उससे विराम लेना चाहिये। अर्थात् मात्र ज्ञान से एव मात्र आत्मा की कथनी से आत्मा की प्राप्ति आप नही मानते थे। आपका दृढतर विश्वास

था कि उसके अनुकूल प्रवर्तन से ही उसका लाभ हो सकता है। और वह अनुकूल प्रवर्तन निवृत्ति ही है, क्योकि "यथानिवृत्तिरूप यतस्तत्त्वम्" अर्थात् तत्त्व निवृत्तिरूप ही है इस प्रकार आपके सरल हृदय और सौम्यमुखाकृति से निकले हुए हृदयस्पर्शी तात्त्विक उपदेशो ने एव आपकी लेखनी ने अनेक जीवो का कल्याण किया है। आपके उपकारो को न तो भुलाया ही जा सकता है और न उससे उऋण ही हुआ जा सकता है।

जन्मशताब्दी ग्रन्थ का प्रकाशन आपके प्रति उत्पन्न होने वाली श्रद्धा का द्योतक ही माना जाना चाहिये। किन्तु आज के इस वैज्ञानिकयुग मे साहित्य के प्रसार और प्रचार की मानो बाढ ही आई हुई है, अत इस वेग मे श्रद्धा-सुमन के रूप मे हम जो कुछ भी उनके प्रति लिखते या कहते है उसके अनुरूप हमारे आचरण मे उनका उपदेश (प्रेक्टिकल) कितना उतरता है इसका परिशीलन करना आवश्यक है। आपके उपदेशो को जितने अशो मे हम अपने जीवन मे उतार सकेंगे उतने अशो मे ही हमारे आयोजन सफल समझे जावेगे।

आध्यात्मिक संत

(लेखिका—पूज्या श्री १०५ श्री आर्यिका विनयमति माता जी)

भारत सदा आध्यात्मिकविद्या का केन्द्र रहा है। उसमे मुमुक्षु आध्यात्मिक योगियो ने अपनी साधना और समीचीन तपश्चर्या के अनुष्ठान द्वारा अध्यात्म-विद्या के चरम विकास को पाकर जगत का परम कल्याण किया है। इतना ही नही, किन्तु उन्होने वस्तुतत्त्व की यथार्थता को दिखाया और स्वय उस आदर्श मार्ग के पथिक बनकर आत्मविकास के अनुपम आनद को प्राप्त किया है। श्री पूज्य १०८ मुनि गणेशकीर्ति जी (वर्णी न्यायाचार्य) उन्ही आध्यात्मिक सतो मे से एक थे, जिनकी छत्रच्छाया मे रहकर अनेक मानवो ने अपने जीवन का उत्थान किया। आप केवल तत्त्वज्ञानी और अध्यात्मविद्या के रसिक ही नही थे किन्तु सयमी होने के साथ बडे ही अहिसक और वस्तुतत्त्व के यथार्थ उपदेष्टा भी थे। आपकी दयालुता अथवा करुणावृत्ति तो लोक मे प्रसिद्ध है। अपने आजादहिन्द फौज के सैनिको की रक्षार्थ आशीर्वाद के साथ अपनी चादर भी दान मे दे दी थी। उनकी रक्षा के सबन्ध मे वर्णी जी ने जो उद्गार व्यक्त किये थे वे महानता के सूचक थे। दीन दुखी के दु खमोचन करने के लिये आप शक्तिभर प्रयत्न करते रहते थे। आपकी पैदलयात्रा करना, गर्मी, सर्दी वर्षात की कठिनाइयो का सहना, आसान नही था। किन्तु आत्मबल, निरीहवृत्ति और लोककल्याण की भावना ने आपमे अपूर्व बल सचय कर दिया था। समयसार का हमेशा नियमित प्रवचन करते थे। आप मानवस्वभाव के पारखी थे। यात्रा मे अनेको मुमुक्षु जीवो ने आत्म-साधना का व्रत लिया। अनेको के आचार विचारो मे परिवर्तन, परिवर्धन और परिमार्जन हुआ। कितनो को तत्त्वज्ञान अभ्यास की प्रेरणा मिली।

आपका जीवन बडा ही शान्त और शरीर की आकृति सौम्य तथा स्वभाव अत्यत भद्र था।

पूज्य वर्णी जी के जीवन की दूसरी विशेषता यह थी कि आप कभी किसी की निंदा नही करते थे और न उनके अवगुणो का प्रकाश व प्रचार ही करते थे। कोई किसी का दोष जबरन सुनाता ही हो तो उस तरफ से उपयोग हटा लेते थे तथा अपनी प्रशसा से बहुत दूर रहते थे।

आपका पदार्थ-विवेचन गम्भीर, मधुर, सरल और मृदुलभाषा मे होता था और वस्तुतत्त्व की यथार्थता उसमे दर्शित होती थी।

आपने अनेक शिक्षा-सस्थाओ का निर्माण कराया। जिसके फलस्वरूप अनेक प्रतिष्ठित विद्वान जैन श्रमणसस्कृति के प्रचार व प्रसार मे लगे हुए हैं। आपने जगत का और खास कर जैनसमाज का जो उपकार किया है वह इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे अकित रहेगा। दिगम्बर जैन-समाज चिरकाल तक आपका ऋणी रहेगा।

बाबा जी ने अपना जीवन परिचय 'जीवनगाथा' नाम की पुस्तक मे स्वय लिखा हे जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अनेक ऐतिहासिक जीवन-घटनाओ से ओत प्रोत हे। उससे सहज ही जान सकेंगे कि उजयारी मा के लाल ने आदर्श बन कर, जगत मे कैसा उजाला किया है।

अध्यात्मसत वर्णी जी के ये सारगर्भित वचन थे कि मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ हे। जैसे पका हुआ फल एक बार पृथ्वी पर गिर जाने पर पुन वह वृक्ष की डाल मे नही लगता, उसी प्रकार मनुष्यजन्म की प्राप्ति समझना चाहिए। सिद्धान्तत जो वस्तु जितनी अधिक कठिनता से मिलती हे वह उतनी ही अधिक मूल्यवान है। मनुष्यभव पा लेना एक बात है, परन्तु मनुष्यता का प्राप्त कर लेना दूसरी बात है, वह अतिदुर्लभ है। मनुष्यता के लिये आन्तरिक गुणो की आवश्यकता होती है। सच्चा जीवन सफल बनाने वाले अगुलियो पर ही गिनने लायक है। मनुष्य अपनी शुभ वृत्तियो से देवता का अधिकार पा लेता है। अध्यात्म हमे असत् से निकाल-कर सत् की ओर ले जाता है। वासनामय जीवन से कुछ ऊँचे उठकर शुद्ध निर्लिप्त जीवन बिताने को प्रोत्साहित करता हे। अध्यात्म ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सहज उपाय है। आपके प्रवचन अतिसरल ओर ओजस्वी होते थे। श्रोताओ पर उनका असर पड़े बिना नही रहता था।

पूज्य वर्णी जी समयसार के अनुपम अध्येता थे। यह महान ग्रन्थ इनके जीवन का कण्ठहार बन गया था। उसमे पू श्री अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति नामक सस्कृतटीका का अर्थ तो सोने मे सुगन्ध का काम करती थी। उन्हे यह इतना प्रिय था इसका वर्णन करते करते वह स्वय नहीं अघाते थे। सुनने की इच्छा बनी ही रहती थी। उनके जीवन मे चिन्तन की गहरी अनुभूति थी। वे अपने प्रवचनो मे कई अनूठे दृष्टान्त दे दिया करते थे। वे सभी दृष्टान्त बडे ही मार्मिक ओर रोचक होते थे। उनसे न केवल वस्तुस्वरूप को समझने मे मदद मिलती किन्तु जीवनसम्बन्धी अनेक लौकिक कडिया सुलझती चली जाती थी। इसके सिवा छोटे २ चुटकुले भी प्रवचनो मे आपके भडार मे मिल जाते थे। वार्तालाप के समय भी नित्य नये चुटकुले व दृष्टान्त सुनने को मिलते थे।

इस प्रकार आपके प्रत्यक्ष उपदेशो से तो जीवो का कल्याण हुआ ही है किन्तु अब हमारा कर्तव्य है कि आपके बताए हुए मार्ग पर चलकर आत्मकल्याण करें।

*

"मुनि श्री १०८ श्री गणेशकीर्ति जी महाराज"

श्री ब्र० चन्दाबाई आरा

श्री वर्णीजी गणशप्रसाद जी महाराज के ईशरी चातुर्मास मे जाकर हमारा रहना हुआ। उस समय लगभग ४५ वर्ष पहले वर्णीजी के दर्शन और उनके शास्त्रप्रवचन को सुनकर हृदय प्रफुल्लित हो गया। लगातार डेढ दो घण्टे धाराप्रवाह से शास्त्रप्रवचन और उसी मे उपदेश-मिश्रित, लोकिक कर्तव्य का पाठ मिलता था। मेरे ईशरी पहुँचने पर वर्णीजी महाराज ने पूछा—कैसे आयी ? मैने कहा, आपसे समयसार जी का प्रवचन सुनने की इच्छा है। तब आपने कहा पूरा सुनो, तब सुनायेगे, ठहरना होगा। मैने स्वीकार किया और हम दो माह ईशरी ठहर गयी। समयसार जी तो वर्णीजी महाराज को कण्ठ सा ही हो गया था। **आज उस ग्रन्थ का स्वाध्याय करने, अर्थ समझने पर भी वह अणुमात्र नही मिलता, जो वर्णीजी की वाणी मे था।** आप तो स्वर्गारोहण कर गये और लोकशिखर पर भी कालान्तर मे पहुँचेगे ही, पर हम लोगो को वह उपदेशामृत पान करने को नही मिलेगा। श्री स्वर्गवासी वर्णीजी ईशरी मे धर्मजागृति करके, एव अन्य उपकारी सस्थाओ को स्थापित कराकर स्वर्गवासी हुए। वहाँ से विदेह क्षेत्रस्थ श्री १००८ श्री तीर्थकर भगवान के दर्शन करते होगे। तथा विदेहक्षेत्र मे धर्मधारण करके स्वय सिद्धस्वरूप को प्राप्त होगे। आपको बार-२ नमस्कार एव सादर श्रद्धाञ्जलि सर्मपित है।

उजियारी का बेटा जगत का दीप-स्तम्भ

प० ब्र० सुमित्रा जैन, सागर

(वर्तमान आर्यिका पूज्य विशुद्धमती माता जी)

उजयारी माँ से जन्म लेकर ससार को प्रकाशित करने वाले दीपक और पिता हीरालाल जी का अनमोल और सच्चा लाल, जिसकी जगमगाहट से अज्ञानरूपी अधकार नष्ट हुआ। चिरोंजा मा के जिस चिरस्थायी धर्मस्नेह ने जिसे चिन्तनशील बनाकर ससार का कल्याण किया, ऐसे परम पूज्य प्रात स्मरणीय बाबा जी थे, जिनके लिये आज केवल सागर या बुन्देलखड ही नही वरन भारत के प्रत्येक भागो मे जिनके वियोग से सन्तप्त भक्त लोग चीत्कार कर रहे हैं। पूज्य बाबा जी गुणो के भडार थे पर उनमे प्रमुखता थी उनकी सरलता और उदारता की। उनके मन मे जो होता था वे वही कहते और वही करते थे। त्यागमार्ग मे तो यह सब होना ही चाहिए। पर बचपन से ही उनमे ये गुण विद्यमान थे। जिन्होने आज उन्हे क्या जैन क्या जैनेतर, क्या बाल क्या वृद्ध जन-जन के हृदय मे सादर स्थापित किया है।

पूज्य बाबा जी के विद्यार्थी जीवन की एक घटना (मेरी जीवनगाथा से)

बनारस मे वर्णी जी को पूज्य बाबा लालमन जी के दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वर्णी जी ने सविनय प्रणाम किया।

बाबा जी—तुम कौन हो ?

वर्णी जी—मैं छात्र हूँ।

बाबा जी—कहाँ पढते हो ?

वर्णी जी—स्याद्वाद विद्यालय मे।

बाबा जी—कुछ त्याग कर सकते हो ?

वर्णी जी—कर सकते है।

बाबा जी—तुमको भोजन मे सबसे प्रिय शाक कौनसा है ?

वर्णी जी—महाराज ! आपने कहा था कुछ त्याग कर सकते हो, मैने समझा था कुछ पैसे का त्याग करावेगे, सो एक दो आना कर देगे, पर आप तो शाक पूँछ रहे है। महाराज ! मुझे सबसे प्रिय शाक भिडी है।

बाबा जी—इसी को त्यागो।

वर्णी जी—महाराज ! यह कैसे होगा, यह तो मुझे अत्यन्त प्रिय है।

बाबा जी—तूने स्वय कहा था कि त्याग कर सकते है।

वर्णी जी—महाराज ! भूल हुई क्षमा करो।

बाबा जी—भूल का फल भोगना ही पडेगा।

वर्णी जी—महाराज ! जो आज्ञा। कब तक को छोडू।

बाबा जी—तेरी इच्छा पर निर्भर है।

वर्णी जी—महाराज ! जब तक बनारस विद्यालय के भोजनालय मे नही पहुँचा तब तक के लिए त्याग है।

निर्भयता और निश्छलता का कैसा अपूर्व उदाहरण है। इसी प्रकार उनके उदारता के अनेको आदर्श उदाहरण हमारे सामने पथप्रदर्शक के रूप मे है।

ये गुण उनके स्वाभाविक गुण है जैसे—

चंपयकेषु यथा गन्ध.
कांतिर्मुक्ता-फलेषु च।
यथेक्षु - दंडे माधुर्यं,
मौदार्यं सहजं तथा।

पूज्य श्री आज हमारे बीच नही है, पर दूध और पानी के समान हमारे हृदयो मे समाये हुए है, किन्तु उसका भान हमे तभी होगा जब हम उनके उज्ज्वल प्रकाश से ज्योति प्राप्त कर उनके ही मार्ग का अनुगमन करेंगे।

—जैनसन्देश २६/१७; पृष्ठ १६ से

भक्तों के भगवान्

ले० सौ० कपूरीदेवी और महिलासमाज, गया

स्व० श्री १०८ श्री मुनिवर वर्णी जी महाराज के चरणकमलो मे नत मस्तक होकर श्रद्धाजलि अर्पित करती हूँ। जिन गुरुदेव के स्मरणमात्र से ही आत्मबल जागृत हो उनके गुणो का बयान करना मानो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। गया मे आपका समागम व दर्शन पूज्या माँ ब्र० पतासीबाई जी के सानिध्य से हुआ था। पूज्य गुरुदेव हमे बाई जी के 'परिकर' कह कर सम्बोधित किया करते थे। उस समय आप ब्रह्मचर्य अवस्था मे थे। तभी उनके सदुपदेश को प्राप्त करने का सौभाग्य प्रथमवार मिला तथा हृदय ने असीम शाति महसूस की। गुरुदेव के आदेशानुसार प० शिखरचन्द्र जी सान ईसरीनिवासी ने मुझे सस्कृत पढाना शुरू किया तथा मुझे इनके द्वारा धर्म के विषय मे कुछ जानकारी भी प्राप्त हुई। यद्यपि उस समय आपके सामने जाने की हिम्मत मुझ मे नही होती थी क्योकि उस समय जैनदर्शन का मुझे विशेष ज्ञान नही था, पर धन्य है आपकी सरलता और सज्जनता जो व्यक्ति को बरबस अपनी ओर खीच लेती है। आपकी प्रेरणा द्वारा ही जैन सिद्धात-प्रवेशिका और अर्थप्रकाशक आदि शास्त्रो का अध्ययन किया और यही एक तथ्य समझ मे आया कि जैनदर्शन का सही सिद्धात है कि उपयोग मे विकार का न आना ही वास्तविक ज्ञानानन्द है। विकार कर्मजन्य परिणमन चाहे स्व का हो या पर का, उसमे स्थाई आस्था का होना ही भूल कहो या मिथ्यात्व अथवा भ्रम है। कारण कर्ता भोक्तापना का भाव स्थाई पने से ही आता है। यदि हम हमारे भीतर इन परकृत भावो का आदर न करें तो यही सच्चा पुरुषार्थ होगा तथा मनुष्यजन्म पाना सार्थक होगा।

पूज्य गुरुदेव का दूसरी वार समागम उनकी क्षुल्लक अवस्था मे पारसनाथ जाते समय मिला। उनका विचार पारसनाथ मे ही चातुर्मास करने का था लेकिन दादा जी चम्पालाल जी और सभी भक्तजनो की तीव्र इच्छा थी कि महाराज का चातुर्मास गया ही हो। कहावत है भक्तो के वश मे ही भगवान होते है। आपने इसको चरितार्थ कर दिया। गया से २० मील दूर 'डोभी' तक विहार करने के वाद भक्तो की पुकार पर दयार्द्र होकर आप वापस गया पधारे। भाग्य से उस साल आषाढ २ थे इस कारण पाँच महीने तक गया मे एक मेला सा प्रतीत होने लगा था। हर समय भक्तो का ताता सा लगा रहता था। श्रीमान और धीमान जन आपके दर्शन और प्रवचन सुनकर अपना अहोभाग्य मानते थे। हम लोगो को भी नित्य नये महापुरुषो का सदुपदेश सुनने को मिलता था। आपका जयती समारोह भी गया मे बहुत जोर शोर से मनाया गया था। उस समय धर्मामृत मे स्नान करने के लिये बाहर से बहुसख्यक जन आये तथा आपके चरणो मे श्रद्धाजलि अर्पित की।

आपके करकमलो द्वारा ही गया मे महिला कालेज का भव्य उद्घाटन हुआ। आम जनता मे जैनदर्शन पर आपका भाषण गभीर और भावपूर्ण था। जिससे जैनेतर लोगो पर आपके प्रति

बहुमान जागृत हुआ । यहाँ से आपका विहार पारसनाथ की ओर हुआ । पारसनाथ मे भी चतुर्थ काल जैसी व्यवस्था और धर्मामृत की वर्षा होती थी । प्रायः आपकी जयती समारोह मे बगाल, बिहार, यू पी , सी. पी आदि दूर-दूर प्रातो से भक्त जन आते थे । हम तथा हमारी मण्डली के सभी लोग इस समय ईसरी आते थे । इस अवसर पर आध्यात्मिक धारा की वर्षा सी होती थी । सुनने वालो के हृदय गद्गद् हो उठते थे । आपके द्वारा कई धुरन्धर विद्वान् बने । आपके द्वारा बड़ी-बडी सस्थाओ की स्थापना हुई जो अभिनन्दनीय है ।

आपके चरणकमलो मे श्रद्धाजलि अर्पित करती हूँ ।

वर्णी जी और स्त्रीसमाज

(ले० पुष्पलता देवी 'कौशल' विशारद सिवनी)

यह घटना उस समय की है जब प० गणेशप्रसाद जी वर्णी का जबलपुर मे चातुर्मास हो रहा था । मैं उस समय अपने मायके मे ही थी ।

उन दिनो वर्णी जी का उपदेश प्राय· प्रतिदिन होता था । स्त्री समाज तो उनका बहुत समय लेती थी । वर्णी जी मदिर मे हो या आहार के पश्चात् घर मे, स्त्रिया अच्छे समूह मे वहा उपस्थित रहती थी । बाबा जी अपनी सरल मिष्ट भाषा मे सबकी शकाओ का समाधान करते और सदा स्त्रीशिक्षा पर जोर देते थे । वे कहा करते थे कि कोई क्रियाकांड व्रत उपवास आदि बिना विवेक के कार्यकारी नही । विवेक प्राप्त होता है अध्ययन से और पढा लिखा व्यक्ति ही ठीक अध्ययन कर सकता है । अतएव प्रत्येक स्त्री पुरुष को पढना चाहिये । स्त्री को तो अवश्य ही पढी लिखी होना चाहिये क्योकि उसे घर सम्हालना पडता है और बालक बालिकाओ का पालन पोषण करना पड़ता है ।

वर्णी जी का उपर्युक्त कथन अत्यन्त समीचीन है । स्त्री गृह-स्वामिनी है । बालक बालिकाए उसी की कूख से उत्पन्न होते है । यदि स्त्री मूर्खा है तो उसका प्रभाव संतान पर बुरा पड़ेगा । सारा गृहकार्य स्त्री को ही करना पडता है । पढी लिखी स्त्री जितने उत्तम ढग से घर का काम कर सकती है फूहड स्त्री नही कर सकती । ऐसा देखा जाता है कि वेपढ़ी लिखी स्त्रिया रातदिन विकथा और कलह-विग्रह मे लगी रहती है । एक की दो बताना और एक की बात दूसरे को बता कर लडाई करा देना इस प्रकार सदा ऐसी महिलाए आर्त रौद्र ध्यान मे लगी रहती है । घर घर मे ये मूर्खा कलह का बीज बोकर फूट पैदा करती है । घर मे ये फूट करा देती है, जिससे कुटुम्बियो मे मनो-मालिन्य बढ जाता है और लडाई झगडा प्रारभ हो जाता है । तरह तरह से अयोग्य आचरण वरता जाता है । इसीलिये वर्णी जी स्त्रीशिक्षा पर जोर देते थे । यदि स्त्री सुशिक्षिता हो तो गृहकलह कभी भी न हो ।

श्री १०५ श्री क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य ने अपने जीवन को धर्म के साचे मे ढाल कर उत्तरोत्तर वैराग्य की वृद्धि की और अंत मे समाधि-मरण कर मनुष्य-पर्याय सार्थक बनाई। उनने अपना जीवन अत्यत सादगी से बिताया। दया का श्रोत उनके अतरग से प्रवाहित होता था। भाषा वहुत ही मधुर थी। वे ज्ञान के विकास का उपदेश हर नर नारी को दिया करते थे। महान विद्वान होकर भी अभिमान का लेश उनमे न था। पडित जी की महानता हम किन शब्दो मे कहे, वे बडे गभीर थे, शातचित्त थे। अनेक आपदाओ को सहन करने वाले धर्मस्नेही थे। अनेकान्त वाणी का मर्म जानने वाले थे। आपने समयसार ग्रन्थ की टीका लिखकर भी कभी यश की कामना नही की और इसीलिये आपके स्वर्गवास के पश्चात् ही वह टीका प्रकाश मे आई।

आज जो नकली मोक्षमार्गी हैं, वे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की आड लेकर स्वच्छाचारी हो नाम और दाम के मोह मे फँसकर दुनिया को ठग रहे है। यदि सच्चे कुदकुद अम्नाय के मानने वाले होते तो वर्णी जी के समान कुदकुद स्वामी के मार्ग को ग्रहण कर विषय कषायो को तिलाञ्जलि देते। वीतरागी का जीवन ही बदल जाता है। वर्णी जी का जीवन इसका ज्वलत उदाहरण है। जिनने अत मे क्षुल्लक-भेष को छोडकर मुनिपद धारण किया तथा सल्लेखना-सहित स्वर्ग सिधारे।

आत्मकल्याण की वात तो दूर, यदि गार्हस्थ्य-जीवन या ससारी-जीवन भी, सुचारु-रूप से, चलाना हो, तो और उसे सुखी बनाना हे तो, वर्णी जी का कहना था कि पुरुप के साथ साथ स्त्री को भी शिक्षित होना चाहिये। शिक्षण के क्षेत्र मे अन्य विषयो की शिक्षा के साथ ही साथ, धार्मिक तथा नैतिक शिक्षण परमावश्यक है। तव ही व्यक्ति सदाचारी और विवेकी वन सकता है। अतएव वर्णी जी प्राय लडको की पाठशाला तथा विद्यालय के साथ साथ लडकियो की पाठशाला वा विद्यालय आदि अवश्य खुलवाते थे। वर्णी जी के उपदेश और धर्म तथा शिक्षा प्रचार से महिला समाज को जो लाभ हुआ है स्त्रीसमाज उससे सदा आभारी ही रहेगा।

रागादि का मूल कारण मोह है अत: सबसे प्रथम इसी का त्याग होना चाहिये। जब पर पदार्थो मे त्याग की कल्पना मिट जावेगी तब रागद्वेप अनायास प्रलयावस्था को प्राप्त हो जावेगे ·· इस कथा से कार्य-सिद्धि नही होती। भोजनकथा से भोजन नही बन जाता, भोजन की प्रक्रिया से भोजन बनेगा तथा भोजन बनने से तृप्ति नही होती, किन्तु भोजन खाने से तृप्ति होती है।

—गणेश वर्णी

नारी-समाज के परम-हितैषी

श्री रूपवती 'किरण' जबलपुर

वर्णी जी के विषय मे कुछ कहना सूर्य को दीप दिखाना है। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर हमारे मध्य नही है; तथापि उनका यश शरीर आज भी विद्यमान है। उनकी गुण-सुरभि से जैन जैनेतर समाज अभी भी सुरभित है। वे तलस्पर्शी विद्वान् तो थे ही, साथ ही उज्ज्वल चरित्र के धनी भी थे। वे जैनधर्म की विलक्षणता मे आस्थावान् थे। उन्हे दृढ विश्वास था कि ज्ञान का मूल्याकन उसकी इकाई चरित्र के साथ ही होता है, कोरा ज्ञान आदरास्पद नही। अतएव उनके जीवन मे ज्ञान के सुमन तो खिले ही, चारित्र के फल भी उपलब्ध हुए। ज्ञान-चारित्र का अद्भुत सम्मिश्रण मणि-काचन सयोग की सुध दिला रहा था। चरित्रनिष्ठा के कारण उनकी वाणी तत्क्षण सबको आकर्षित कर लेती थी। मानवमात्र के उद्धार की तीव्र भावना लिये वे जीवन भर जैनधर्म के मर्म को जन-मन तक पहुँचाते रहे। अध विश्वासो से दिग्भ्रान्त समाज को उन्होने नई दिशा दी। सत् शिक्षा के प्रचार प्रसार हेतु वे सदैव व्यग्र व सक्रिय रहे।

नारी-समाज मे फैली कुरीतियो के उन्मूलनार्थ उन्होने नारी-जागरण का सिहनाद किया। सप्रति सामाजिक बधन अत्यत शिथिल हो गये है, पर उस समय कडे बधन थे। हमारा परिवार बडा था तथा बहू होने के नाते समयानुसार लबा घूघट व दुपट्टा ओढना पडता था। कुरूढियो के प्रति विद्रोही वृत्ति शायद मुझे घुट्टी मे ही घोल कर पिला दी गई है। तिस पर भी समाज का तथा अपने घर का वातावरण देखकर कल्पना ही नही होती थी कि इन नियमो की अवहेलना कर सकूँगी।

जबलपुर मे महावीर जयती की आमसभा का आयोजन कमानियागेट पर जैन जैनेतर समाज के विशाल समुदाय के मध्य होता है। मैने भी उस सभा मे अपने वही घूघट और दुपट्टा के वेश मे धड़कते हृदय से प्रथम बार कवितापाठ करने का दुस्साहस कर एक परम्परा तोडने का सूत्रपात किया। परिणाम शुभ हुआ। वर्णी जी भरी सभा मे मेरी प्रशसा कर बैठे। बस 'अधा क्या चाहे दो आँखे'। मुझे अत्यत प्रसन्नता हुई। इस प्रोत्साहन से भविष्य मे अग्रसर होने के लिये मनोबल प्राप्त हुआ। घर मे अपने बड़े दद्दा (बडे श्वसुर स्व० मुन्नीलाल जी) से निरंतर प्रेरणा मिलने लगी तदुपरात वर्णी जी के जबलपुर प्रवास की समयावधि मे मुझे मार्ग-दर्शन लेने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा।

वर्णी जी का जीवन एक खुली पुस्तक है। उन्होने "मेरी जीवन गाथा" लिखकर सरलता का जो प्रमाण दिया है, वह अनुपम व अनुकरणीय है। गुरु गोपालदास जी बरैया के पश्चात् जैनधर्म की रक्षा एवं प्रगति मे प्राणपन से निरतर सहयोग देने वालो मे यदि किसी का स्वर्णाक्षरो मे नाम लिखा जा सकता है तो वे है प्रात: स्मरणीय पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी।

उस युगपुरुष के शताब्दी समारोह के पावन अवसर पर उनके युगल-चरणो मे मै विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करती हूँ।

✲

ऐंसे हते हमाये बाबा जी

—श्रीमती शान्ति नीरज जैन, सतना

हम सागर मे रैंत ते, उतई सुनी कै बाबाजी ने क्षुल्लक दीक्षा लै लई। सो दर्शनो खो बरुआसागर भौत जने जा रए। हम औरे सोईं एक दिना पोच गए।

उतै तों जगल मे मगल हो रओ तो। मेला सौ लगो तो। एक पाल लगाके हम औरे सोई टिक गए, दोई बिरिया उपदेश होत तो।

मोए तौ आहार दैंवे की बडी अभिलाषा हो रई ती। पैल तौ मन्दिर से उनकी कमडलु उठा के सगे लुवा ल्याए सो चाहे जब आहार करा देत ते, अकेले अब पड़गाउने पर है, दूनो सुक्ख अर चौगुनो पुन्न। मैने इनसे चर्चा करी अर तीसरे दिन चौका लगा लओ। करने काय हतो ? बाबा जी के आहार, नै तो कोनऊ आडम्बर की जरुरत, अर नै कोनऊ दुरलभ बसत को अटका। साफ सफाई से चौका मे रुखौ सूखौ जो जुरै सो बना लो, बिर्रा की रोटी, मूँग की दार के बबरा, मका की मूठिया, रैंहन की बतिया, जो सामने धर दो सोई उन्हे खाने, अर आहार करके सराहना करने।

पूरब भव के पुन्न, बाबा जी हमारेई चौका मे आ गए। हमाई सिगैंन फुआ (श्री सिघैंन चम्पाबाई जी सागर) सगैं हती, सो अच्छी तार बार लग गयी ती। आहार शुरु हो तो गए, अकेले हो नै पाए।

दार के सग रोटी के चारइ कौर बाबा जी लै पाए कै हमाए कुजाने कौन पाप को उदव बार बनके निकर आओ। हम तौ ए ···· करके रैं गए। अकेले बाबा जी खो कछु नै व्यापी। ऊसई हसत मुस्क्यात उठ के चले गए। हम औरेन पे तो गाजइ सी गिरी। मैंने तो सौगद खा लई कि जब बाबा जी खो बिना अतराय के आहार करा देओ तबई अन्न कौ दाना मो मे डार हो। सबने समझाओ सभा को तो बाबाजी ने सोई कई कै अतराय से तौ अविपाक निर्जरा भई, इमे काए कौ खेद ? अकेले मोरे मन खो बोध ने लगो।

धर्मशाला खाली नें ती, पाल मे चौका लगावे की अब हिम्मत नै परी। तीन चार रोज लौ आहार करावे कौ कच्छू जोग नैं लगत दिखानो।

दूसरे दिन की बात, दिल्ली वारो के चौका मे आहार हो रए ते। फुआ ने कई कै काजू दाखे लै आके अहारन मे दै दे, अर मन खो बोध लगा ले। अकेलें मोय न जँची। मै तो अन्न को आहार दै हो, तबई अन्न खै हो। तबई इनखो कुजाने का सूझी, कन लगे दो ठौआ लुचई बनाके काए नई लै जात। फिर का ती, शौध कौ चौका तो हतोई, मैंने मौन डारके दो खारी

लुचँइ बनाईं। अर डबा मे धर के लै चली। चौका मे जाके सुद्दी बोल के बैठ गयी। अकेले लुचई परसबे की हिम्मत नैं परी। एक तौ उनकौ थरा खूबई भरो तो, भौत चीज उठाके उनने एक खाली थरा मे धर दई ती, दूसरे मौ से कछू केई ने आई। बाबा जी ने आउतो तो देखइ लओ तौ, मौरे कुदँई फिर देखो जैसे पूँछ रए होय-काय ल्याई ? मौए लगौ जैसे मोरो सबरा पछतावा भाग गओ। कौन गैल गओ दुक्ख और कौन गैल गई किलपना। कुजाने का हतो उनकी आखन मे कै जब वे हेरत ते, ऐसो लगत तौ जैसे गुरु को ज्ञान, मताइ बाप कौ प्यार, अर सत की करुना, सब मूड पर बरस रई होय, नैं भय, नै दुक्ख, नै सताप, एक नै टिकत ते उनकी दृष्टि के आगे।

हिम्मत करकै मैने कई—"बाबा जी अन्न जल शुद्ध है, मन, वचन, काय शुद्ध है, खारी लुचई ल्यायी हो" सुनके कछू नै बोले, तनक हसी सी बिखर गई उनके मौ पै। मैने दोई लुचइ परस दई, अर भगवान् को नॉव लेते बैठ गयी। उनने धीरे धीरे कौर टोरे अर दार सग खान लगे, मोए तो जैसे मौ मोगी मुराद मिल गयी, कछू समजई नै परी, उनके मन मे दया कौ सागर है, कै करुना को पारावार है, कै ममता की धारा है, मोरी आखन मे अँसुआ भर आए। अर फुआ ने मोए बाहर बुला लओ।

ऐसे करुना-निधान हते हमाए बाबा जी, अब बे तो नइयाँ, उनकी बाते रै गईं।

दो सन्तों का साक्षात्कार

—श्रीमती रमा जैन
व्याख्याता हिन्दी, महाराजा कालेज, छतरपुर

सन्त विनोवा भावे और भारत के आध्यात्मिक सत पूज्य श्री वर्णी जी दोनो का मिलन मध्यप्रदेश मे आयोजित भूमिदान प्रचार मे एव उत्तरप्रदेश मे दोनो सतो के विहार के समय हुआ। ३ अक्टूबर १६५६ के सध्या समय सत विनोवा भावे जब श्री गणेश दि जैन सस्कृत विद्यालय, सागर मे पधारे और उनके स्वागत के अनन्तर उनके करकमलो मे 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' 'मेरी जीवन गाथा' और 'वर्णी वाणी' की प्रतिया भेट की गई तब उन्होने कहा कि 'यह बात सबसे अच्छी है।" ग्रन्थो को मस्तक से लगाकर सत वर्णी को प्रणाम किया। वर्णी जी का परिचय सुनने के पश्चात् अपने प्रत्युत्तर मे उन्होने कहा कि "सस्था के परिचय के साथ जिन महात्मा का परिचय दिया गया है उनके प्रति हमारे हृदय मे आस्था है।" इससे लोगो को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वर्णी या विनोवा यद्यपि अब तक प्रत्यक्ष भेट नही कर सके है फिर भी उन्हे एक दूसरे का परोक्ष परिचय प्राप्त है। सत विनोवा भावे ने जैनधर्म और जैनसमाज के प्रति वर्णी जी के उपकारो की चर्चा की, जैनधर्म की महानता का प्रतिपादन किया तथा जैनसमाज से अनुरोध किया कि "जिस तरह जैन लोग अहिसा का पालन करते है उसी तरह सत्य को भी व्यवहार मे लावें और पूर्व

की तरह अपना गौरव बढावें। क्योकि महावीर से लेकर महात्मा गाधी तक ने इसी सत्य से सम्बद्ध अहिंसा का उपदेश दिया है। अपने जीवन भर उसका प्रचार किया है। यह अहिंसा नई नही, किन्तु अतिप्राचीन है।" विनोवा जी के सारगर्भित भाषण के अनन्तर वर्णी जी द्वारा स्थापित इस सस्था की ओर से भूमिदान यज्ञ मे चार एकड जमीन दी गई।

सत विनोवा भावे भूमिदान के हेतु पैदल यात्रा करते हुये तारीख ८ अक्टूवर १९५१ को प्रात काल ललितपुर पधारे। उनकी मध्याह्नोत्तर होने वाली आमसभा मे सम्मिलित होने के लिये सत वर्णी जी को लेने बाबा राघवदास जी, विनोवा जी के कुछ साथी और कई नागरिक जहाँ वर्णी जी ठहरे थे, वहाँ पहुँचे। वहाँ से वर्णी जी अन्य त्यागियो के साथ जव सभास्थल पर पहुँचे तब सन्त विनोवा अपना चरखा छोडकर एकदम खडे हो गये और पूज्य वर्णी जी के चरणो मे झुक गये। वर्णी जी ने उनके हाथो को रोक लिया। दोनो सन्त इस प्रत्यक्ष मिलन की मगल-वेला मे गद्गद् थे। सन्त समागम के इस अपूर्व दृश्य को देखकर हजारो दर्शको के गद्गद् कण्ठ एक साथ जोर से बोल उठे "सन्त वर्णी विनोवा जिन्दाबाद।"

'सत वर्णी जी की जय' 'सन्त विनोवा भावे की जय' के नारो से आकाश गूज उठा। विनोवा जी ने वर्णी जी को अपने साथ तखत पर बिठाया। दोनो सतो का यह मगल मिलन सभी को आनन्द-विभोर कर रहा था। परस्पर औपचारिक सामान्य चर्चा प्रारभ हो गई। श्री विनोवा जी ने कहा - आपका नाम तो बहुत समय से सुन रखा था और आपकी जीवनगाथा 'वर्णी वाणी" तथा अभिनन्दन ग्रन्थ देखा है किन्तु दर्शन आज हो पाये है। वर्णी जी ने कहा आप तो बहुत बडा उपकार का कार्य कर रहे हैं। आपके भूमिदान कार्यक्रम से लाखो-करोडो लोगो का भला होने वाला है। तदनन्तर सभा का कार्यक्रम प्रारम्भ होने पर सत विनोवा ने कहा "मै गरीबो को भूमि दिलाने का कार्यक्रम लेकर निकला हूँ, मैं केवल भूमिदान नही चाहता, किन्तु इसके द्वारा समाज-रचना मे परिवर्तन चाहता हूँ। एक के पास पर्याप्त भूमि है और दूसरे के पास बिल्कुल नही। मैं इस विषमता को कुछ कम करना चाहता हूँ। यद्यपि विदेशो मे भी ऐसा कुछ हुआ है किंतु विदेशो का तरीका हिंसा का तरीका है। भारतीय सस्कृति मे अहिंसा की प्रधानता है। हिंसक तरीके से जनता का दु ख नही मिट सकता। उससे थोडी देर के लिये समस्या का हल भले ही मालूम हो, किन्तु उससे कई अन्य जटिल समस्याये पैदा हो जाती हैं। मैंने लोगो के हृदयो मे और विचारो मे परिवर्तन करने का कार्य प्रारभ किया है। भूमिदानयज्ञ भी उसका एक उपाय है। लोग मेरे इस कार्य मे शका करते हैं मगर मेरा दृढ विश्वास है कि मुझे इसमे सफलता मिलेगी। जो काम हिन्दुस्तान के बाहर के देशो मे कभी नही हुआ वह यहाँ हो सकता है। विदेशो मे करोडो मे से एक दो मासाहार त्यागी होगे, जबकि भारत मे करोडो मासाहार त्यागी हैं। जो लोग मास खाते भी है वे उसे अच्छा नही मानते। भगवान् महावीर और बुद्ध ने मिलकर लोगो की विचारधारा को बदला था। भारत ने अहिंसा से स्वतन्त्रता प्राप्त की है। इतिहास मे अन्यत्र ऐसा उदाहरण नही है। इसी प्रकार अभी जो अन्यत्र नही हुआ वह यहाँ हो जायगा।

"हिन्दुस्थान मे असख्य लोग भूख से पीडित है क्योकि ग्रामोद्योग टूट गये है। वेकारी

बढ़ गई है। दारिद्र्य ने अड्डा जमाया है। स्वराज्य के इन चार वर्षों मे भी दारिद्र्य घटा नही, बढा ही है। इसमे अपना ही दोष है। जमीन थोडी है और लोग अधिक है, किन्तु कुछ लोगो के पास अनावश्यक जमीन भी है। वे अपना स्वामित्व छोडे, जैसे बाप-बेटे के लिये छोडना है। दान देकर अभिमानी मत बनो', दान का और दया का अहकार नही होना चाहिये, वह पतन का कारण है। अपरिग्रह की शिक्षा लो। सम्पूर्ण अपरिग्रही तो वर्णी जी जैसे साधु पुरुष है। ललितपुर का यह परम सौभाग्य है कि वे यहाँ विराजमान है। आप लोगो को उनके उपदेशो का नित्य लाभ मिल रहा है। अपरिग्रह के मूर्त्तरूप इन महापुरुष के समक्ष मै आप लोगो को त्याग और अपरिग्रह का क्या उपदेश दू? मेरा यह अधिकार भी नही है। मैं आप लोगो से इन जैसा पूर्ण अपरिग्रही होने को नही कहता किन्तु इतना कहता हूँ कि परिग्रह की मर्यादा करो। हमे ऐसे पारमार्थिक पुरुष के पीछे चलना चाहिये। यह कहते हुये विनोवा जी का गला भर आया, आँखो मे आँसू आ गये। वे एकदम दयार्द्र हो उठे और कुछ क्षण को रुक गये। उपस्थित जनता भी स्तब्ध रह गई। मै हाथ जोडकर प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग गरीबो के लिये अपनी भूमि का उचित और अच्छा भाग प्रदान करें। आपके नगर मे एक महान पुरुष (पूज्य वर्णी जी की ओर सकेत करते हुये) बैठा है। मै इनके समक्ष आपसे अधिक क्या कहूँ? आचार्य विनोवा भावे ने अपना प्रवचन समाप्त कर पूज्य वर्णी जी से कुछ बोलने का अनुरोध किया। समय थोडा रह गया था तथापि वर्णी जी ने बडे ही प्रभावक एव प्रेरक ढग से अपनी सहज एव स्वाभाविक वाणी मे कहा—"हमारी भारतीय पुरातन सस्कृति मे कोई पराया नही, यहाँ तो

> "अय निजः परो वेति, गणना लघु-चेतसाम्।
> उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

के अनुसार निज पर की क्षुद्र भावना ही नहीं होनी चाहिये। मै तो मानता हूँ कि सारा विश्व अपना कुटुम्ब है और ऐसा कौन है जो कुटुम्ब की रक्षा नही करना चाहेगा? यदि आप भूमि-दान देते है तो किसे देते है? कौन पराया है, "एक निर्मल परिणामी (विनोवा जी) के आ जाने से सबके मन मे निर्मलता आ गई है इसलिये जी खोलकर दान दे डालो। यह सुन्दर सुयोग है। उचित तो यह था कि ऐसे सन्त पुरुष (श्री विनोवा जी) से आप लोगो को पारमार्थिक, आध्यात्मिक शिक्षा मिलती, मगर आप लोगो ने अपनी भीख का काम इनके सिर मढ दिया है। आप लोग अपनी भीख हम लोगो से मँगवाते हो। इसलिये अब भी भिक्षा की पूर्ति कर दो। भइया! यह काम भी जनहित का अच्छा काम है। विनोवा जी तो यह कार्य कर ही रहे है। मै भी जहाँ जाऊँगा इनके इस कार्य का प्रचार करूँगा और लोगो को प्रेरित करूँगा।"

यह सुनकर लोगो मे उत्साह आ गया और करतल ध्वनि होने लगी। पश्चात् भूमि-दान का कार्य प्रारभ हुआ।

महरौनी में—

आचार्य विनोवा जी १० तारीख को महरौनी पहुँचे। वहाँ की आम सभा मे प्रवचन देते हुये उन्होने—"दुर्लभ भारते जन्म" कहकर विशाल भारत की प्रतिष्ठा की गई है। किसी

प्रान्त विशेष की नही । हमारे आचार्य एकरूपता लाने के लिये समस्त भारत मे पैदल यात्रा करते थे। भगवान महावीर के जैनधर्म का उदय विहार मे हुआ किन्तु उनका भ्रमण सर्वत्र हुआ और धर्म फैला । महावीर-वाणी सारे देश मे फैल गई । जाति-भेद और धर्म-भेद होने पर भी हम सब एक हैं । हमे एक दूसरे के लिये सहायक होना चाहिये । अपरिग्रह का उपदेश भी इसीलिये है । अपरिग्रह का अर्थ है कि राष्ट्र तो समृद्ध हो मगर मेरा कुछ नही है ।

"ललितपुर मे एक अपरिग्रही सत वर्णी जी विराजमान है । वहाँ मुझे उनके दर्शन हुये । मेरा मस्तक झुक गया । वे अपरिग्रही है इसलिये वे क्या देते ? मगर उनने यह वचन दिया कि मे आपके काम का प्रचार करूँगा । इससे मेरा मन अत्यन्त सतुष्ट हुआ । एक सन्त पुरुष का भी मुझे सहयोग मिल गया ।"

गया मे सतो का पुर्नमिलन —

विनोवा-वर्णी सम्मिलन का एक सुयोग पुन श्रावण कृष्णा १० वि. स २०१० (४ अगस्त १९५३) को गया मे मिला । प्रात काल ५ वजे ही सन्त विनोवा भावे पूज्य श्री वर्णी जी के विश्राति-स्थल पर पधारे । वर्णी जी से १५ मिनट तक भेंट-वार्ता के अनन्तर विनोवा जी ने परम सतोष व्यक्त किया । उन्होने कहा कि यहाँ आने पर जब पता चला कि आप यहाँ चातुर्मास के निमित्त ठहरे है, तब मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि ललितपुर के बाद पुन भेट का यह अच्छा सुयोग है, इससे आपसे भेट का लाभ लेना चाहिये । विनोवा जी के व्यक्तित्व के सबध मे वर्णी जी ने लिखा है कि विनोवा जी वहुत ही शान्त स्वभाव के है । आपका भाव अत्यन्त निर्मल है । सभी प्राणी सुख के पात्र है तथा कोई दुख का अनुभव न करे यह मैत्री भावना आप मे पाई जाती है । 'दु खानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री" यही तो मैत्री का लक्षण है । देहातो मे जनता के गरीब लोग खेती-योग्य भूमि से रहित न रहे इस भावना से प्रेरित होकर आप परिकर के साथ भ्रमण करते हैं और सम्पन्न मनुष्यो से भूमि माँगकर गरीबो के लिये वितरण करते है । उत्तम कार्य है । यदि जनता मे ऐसी उदारता आ जावे कि हम आवश्यकता से अधिक भूमि के स्वामी न बने तथा वह अतिरिक्त भूमि भूमिहीनो को दे देवे तो देश का कल्याण अनायास ही हो जावे ।

इसी प्रकार विनोवा जी इसके एक साल पूर्व भी काशी विद्यापीठ वाराणसी मे दिनाक ३१ जुलाई १९५२ को पूज्य वर्णी जी के व्यक्तित्व और विचारधारा के प्रभाव को व्यक्त कर चुके थे । "वर्णी वाणी" द्वितीयभाग की प्रस्तावना मे उन्होने लिखा था—"वर्णी जी के सद्वचनो का सग्रह करने वाली इस किताब की प्रस्तावना के तौर पर दो शब्द मैं लिखू, ऐसी माँग की गई है । वर्णी जी एक निष्काम जनसेवक है और उनके विचार सुलझे हुये हैं । सर्व धर्मों को वे समान दृष्टि से देखते है और लोगो की सेवा मे ही सवका पर्यवसान समझते है । ऐसे अनुभवी के विचारो का परिशीलन जनता को जितना होगा, कल्याणदायी होगा ।"

इसके वाद ७९ वी वर्णी-जयन्ती-समारोह सप्ताह के उद्घाटन के समय भी वाराणसी मे ही दिनाक ३ सितम्बर १९५२ को श्री स्याद्वाद दि० जैन सस्कृत विद्यालय मे प्रात ६ वजे पधार-

कर "वर्णी जी और जैनधर्म" के संबंध मे विचार व्यक्त किये थे जिनसे वर्णी जी के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा व्यक्त होती है (दृष्टव्य 'वर्णी-वाणी' द्वितीय-भाग, पृष्ठ ७ से ९) ।

ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि दि० ४ अगस्त १९५३ को वर्णी जी के चातुर्मास के समय गया मे वर्णी जी से विनोवा जी की द्वितीय भेंट हुई थी । इस भेंट के कुछ ही दिन बाद वहाँ के टाउन हाल मे आयोजित विनोवा-जयन्ती-उत्सव मे दि० ११-९-१९५३ को वर्णी जी ने विनोवा और उनके भूमिदान के सबंध मे बडा ही प्राभाविक प्रवचन दिया था जिससे सन्त विनोवा के प्रति वर्णी जी की अगाध श्रद्धा व्यक्त होती है (दृष्टव्य 'वर्णी-वाणी' तृतीय-भाग, पृष्ठ २३६ से २४३) ।

कहने का तात्पर्य यह है कि सन्त वर्णी और सन्त विनोवा भावे दोनो ही सन्तो का कार्य-क्षेत्र अलग अलग है परन्तु उनकी विचारधारा का जो समन्वय एव एक दूसरे के प्रति अगाध श्रद्धा का भाव है वह वस्तुत. सन्त-स्वभावी-मैत्री का अपूर्व उदाहरण है । मूर्तिमान आदर्श है । सन्त वर्णी जी अब ससार मे नही है, परन्तु सन्त विनोवा के मन मे उनके प्रति अगाध श्रद्धा के भाव अमर है ।

उस मातृत्व को प्रणाम

—कुमारी मंजुला जैन, बी. ए. बी. एड., सतना

पूज्य वर्णी जी के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिये ये पक्तिया प्रस्तुत कर रही हूँ । हम यह देखते हैं कि एक अजैन कुल मे जन्म लेकर तथा अत्यन्त गरीबी की, साधनहीन जिन्दगी बिताकर और जगह-जगह ठुकराये जाकर भी पूज्य वर्णीजी ने अपने जीवन को इतना ऊँचा उठाया, कि वे स्वय तो महान् हो ही गये, साथ ही लाखो स्त्री पुरुषो के जीवन को उन्होने कल्याण के मार्ग पर लगा दिया । जब हम उनके जीवन की इन महान उपलब्धियो की ओर देखते हैं तो हमे यह विश्वास हो जाता है कि यदि उतनी निष्ठा के साथ और उतने परिश्रम के साथ जीवन का सस्कार किया जाय तो हम और आप भी अपने जीवन को ऊँचा उठा सकते है । ज्ञान के लिये या शिक्षा के लिये जितनी प्यास वर्णी जी के मन मे थी उतनी प्यास किसी विद्यार्थी के मन मे जागृत हो जायेगी तो वह ज्ञान का अच्छा भण्डार अर्जन कर सकेगा । पूज्य वर्णी जी ने समाज का जो उपकार किया उसके लिये समाज दीर्घकाल तक उनका गुणगान करेगा । हमे तो उनके इस उपकार को श्रद्धा के साथ स्मरण करना है, जो उन्होने हमारी नारी-समाज के लिये किया है । अशिक्षा के जिस अंधकार से और मूर्खतापूर्ण कुरीतियो के जिस गहरे गर्त से वे महिला-समाज को निकाल कर यहाँ तक पहुँचाने मे समर्थ हुये वह सचमुच एक वन्दनीय प्रयास है । वर्णी जी ने बडे जोरो से समाज के ठेकेदारो की आँख मे अगुली डालकर उन्हे यह बताया कि नारी भी पुरुष के समान-मानव समाज का ही अग है । नारी मे भी अपना उत्कर्ष करने की

क्षमता है और ससार के मार्ग की तरह मोक्ष के मार्ग मे भी नारी पुरुष की बराबरी से चल सकती है। यह बात यथार्थ है कि कम से कम बुन्देलखण्ड और मध्यभारत के पिछडे हुये घरो मे से नारी को बाहर निकाल लाने का श्रेय, ज्ञान-अर्जन और धर्म-साधन की सुविधाये दिलाने का श्रेय पूज्य वर्णी जी को ही है।

जब हम पूज्य वर्णी जी के उपदेशो की ओर दृष्टि करते है तो उनका समूचा जीवन हमे उपदेशो से भरा हुआ दिखाई देता है। किताबो मे लिखकर उन्होने जो उपदेश दिये हैं उनसे कई गुना ज्यादा उपदेश वर्णी जी ने अपने जीवन के द्वारा हमारे सामने साक्षात् रूप से रखे। उन्होने माता चिरोजाबाई के प्रति जो विनय और सेवाभाव व्यक्त किया वैसी विनय और वैसा सेवाभाव यदि हमारे जीवन मे थोडा सा भी आ जाये तो हमारा कल्याण हो सकता है। वर्णी जी के स्वभाव मे जितनी सरलता और सादगी थी उसको थोडे रूप मे भी हम अपना सके तो समाज मे हमारी प्रतिष्ठा बन सकती है। वर्णी जी जैसे मृदुभाषी थे, हमेशा जिस तरह दूसरे के कल्याण के लिये चिन्तन किया करते थे और उनकी वाणी मे जो मिठास था, उसका एक शताश भी जिसे मिल जायेगा वह अपने परिवार मे बडा प्रिय सदस्य बनकर रहेगा। पूज्य वर्णी जी महराज का आत्मसयम तो महान था। अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ पर यदि वैसा ही नियन्त्रण लगाने का अभ्यास हम कर सके तो उसी घडी से हमारे जीवन का कल्याण शुरू हो जायेगा। हम उनके गुणो का स्मरण करे और अपने जीवन मे उन्हे उतारने का प्रयत्न करे तो उनकी जन्म शताब्दी मनाना सार्थक हो सकता है।

वर्णी जी के महान जीवन को बनाने मे माता चिरौजाबाई का अलौकिक त्याग, आदर्श ममता शामिल है, जिसे हमे स्मरण रखना चाहिये। हमे बताया गया है कि चिरौजाबाई एक निसतान विधवा थी। जब विद्या अध्ययन के लिये भटकते हुये बालक के रूप मे वर्णी जी उनके गॉव मे गये तो उन्हे देखते ही चिरौजाबाई का मातृत्व उमड पडा और उन्होने अपना सारा जीवन और लाखो रुपये की सम्पत्ति पूज्य वर्णी जी के ऊपर न्योछावर कर दी। हमे इस बात के लिये गौरव करना चाहिये कि एक नारी के त्याग ने, एक माता की ममता ने, एक अनजाने बालक को "गणेशप्रसाद वर्णी" बना दिया। यदि वर्णी जी के जीवन की महानताओ को अपने जीवन मे उतारना हमे कठिन लगे तो भी माता चिरोजाबाई के सद्गुणो को और उनकी ममता को, उनकी निस्वार्थ त्याग-भावना को अपना कर हम अपने नारी-जीवन को सफल तो कर ही सकते है। इन्ही शब्दो के साथ मैं उन दोनो महान आत्माओ के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करती हूँ।

सग सर्वथा अच्छा नही। अन्तरङ्ग से हम स्वय निर्मल नही, अत. अपने को दोषी न समझ, अन्य को दोषी समझते है।

—गणेश वर्णी

युग-पुरुष वर्णी जी

—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

पूज्य वर्णी जी जन्म से परम्परया वैष्णव-कुल मे उत्पन्न हुए, शिक्षा का प्रारंभ भी ब्राह्मण गुरु के निकट वैष्णव पाठशाला मे हुआ, माता और विवाहोपरात पत्नी तथा अन्य नाते-रिश्तेदार भी वैष्णव थे, जाति असाटी वैश्य थी, जिसका शायद एक भी सदस्य जैनी नही था। उन सबका सतत विरोध रहा, यहाँ तक कि जाति से बहिष्कृत भी होना पडा। किन्तु पूर्व जन्म के कुछ संस्कार थे, अथवा बाल्यावस्था से ही चेतना अपेक्षाकृत प्रबुद्ध, जिज्ञासु, सत्यान्वेषी और गुणग्राही थी, जैनधर्म मे उनकी आस्था उत्तरोत्तर दृढ से दृढतम होती गई। मूल में तो अपने पिता से णमोकार मन्त्र के प्रति एक अबोध श्रद्धा विरासत मे मिली थी। पिता हीरालाल जी को भी किसी सयोग से महामन्त्र मे एक प्रकार की अटल श्रद्धा हो गई थी। सन् १८७४ मे वर्णी जी का जन्म उत्तरप्रदेश के झासी जिले के परगना मडावरा मे स्थित हँसेरा ग्राम मे हुआ था। छह वर्ष पश्चात् परिवार मडावरा मे आकर बस गया—वही घर के सामने जिन-मंदिर था, अतएव जैनो और जैन-धर्म का ससर्ग मिलता गया। दस वर्ष की अवस्था मे रात्रि-भोजन का त्याग कर दिया, पन्द्रह के होते होते वर्नाक्यूलर मिडिल-परीक्षा पास कर ली, अठारह की आयु मे विवाह हुआ, किन्तु पितामह, पिता और बडे भाई की अकस्मात् मृत्यु ने गृहस्थी का सारा भार इनके दुर्बल कन्धो पर पटक दिया और तभी से जीवन-निर्वाह के लिए स्कूल मास्टरी करनी पडी।

आगामी लगभग दस-बारह वर्ष का समय बडे सघर्ष, द्विविधा और आकुलता का था। इसी काल मे पत्नी की मृत्यु के साथ दाम्पत्य-जीवन से जो नाममात्र का सबध था वह, तथा परिवार के अन्य सदस्यो के साथ भी जो कुछ सम्बन्ध था, प्राय समाप्त हो गया। सिमरा की धर्म-प्रेमी विधवा सिंघैन चिरौंजाबाई का समागम मिला जिसने अपना धर्म-पुत्र अंगीकार करके इनका पूर्ण सरक्षण और अभिभावकत्व अपने ऊपर ले लिया। जीवन-निर्वाह के लिये मास्टरी आदि कुछ करने की आवश्यकता नही रही। जैन-धर्म पर आस्था दृढ हो चुकी थी और उसके शास्त्रीय ज्ञान की पिपासा भडक चुकी थी। अध्ययन और उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ऐसी उत्कट भूख थी कि आगामी लगभग दस वर्ष बम्बई, आगरा, मथुरा, खुर्जा, जयपुर, हरिपुर, कलकत्ता, बनारस आदि विभिन्न स्थानो मे उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए भटके। एक स्थान मे जमकर कुछ समय तक रहना शायद स्वभाव मे नहीं था या नियति मे नही था। तीर्थ-यात्राएँ भी की। किन्तु इस भटकन के भी कई सुफल हुए। अध्ययन चलता रहा और (१९१२ ई० मे) न्यायाचार्य परीक्षा मे उत्तीर्णता-प्राप्ति के साथ औपचारिक रूप मे वह समाप्त हुआ। उसी अवधि मे गुरुवर्य प० पन्नालाल बाकलीवाल, गुरु गोपालदास बरैया, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद, प० दीपचद्र वर्णी, बाबा भागीरथ वर्णी प्रभृति उस काल के प्रमुख विद्वानो एव समाज-सेवियो के साक्षात् सुखद सम्पर्क मे आये। विभिन्न स्थानो के श्रीमानो एव सामाजिक कार्यकर्त्ताओ के परिचय मे आये। समाज की रूढियो, कुरीतियो और पिछडेपन का विशेषकर अपनी जन्मभूमि बुन्देलखण्ड

प्रदेश की सामान्य अशिक्षा एव अवनत अवस्था का तथा अनेक स्थानो की स्थानीय समस्याओ का ज्ञान हुआ। उनके समाधान की, समाज-सुधार और समाज-सेवा की इच्छा बलवती हुई। इसी अवधि मे स्वय अपनी शिक्षा के लिए स्थान-स्थान की धूल छानने मे जैन-शिक्षा के साधनो, श्रेष्ठ विद्यालयो आदि के अभाव की भी प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। परिणामस्वरूप, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी की चमत्कारिक स्थापना और सागर विद्यालय की नीव डालने मे उसी अवधि मे वह स्वय ही अग्रणी रहे। उसी अवधि के अन्त के लगभग, प्राय चालीस वर्ष की आयु मे, जबकि प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो रहा था, उन्होने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। अब वह प. गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य के नाम से समाज मे प्रसिद्ध हुए।

आगामी ८-१० वर्ष उन्होने बुन्देलखण्ड मे शिक्षा-प्रचार और पाठशालाओ की स्थापना का अभियान उठाया। सागर-विद्यालय के लिये पुष्कल चन्दा एकत्र किया। द्रोणगिरि आदि उस प्रदेश के विभिन्न स्थानो मे दर्जनो पाठशालाएँ स्थापित की। उस प्रदेश के शिक्षाभिलाषी युवको को छात्रवृत्तियाँ आदि दिलाकर वाराणसी आदि के विद्यालयो मे भेजा। बुन्देलखड मे जहाँ एक भी जैन पडित नही था, वर्णी जी की इस कृपा के फलस्वरूप आज सैकडो विद्वान सुलभ है। उस प्रदेश की सामाजिक कुरीतियो के निवारण का भी वेगवान अभियान चलाया। सन् १९३१-३२ मे चिरौजाबाई जी का निधन हो जाने से उनके सारे सासारिक-वैयक्तिक बधन समाप्त हो गये। अब सारी समाज उनका अपना परिवार बन गया। वह पूर्ण गृह-त्यागी, प्राय अपरिगृही, निस्पृह परिव्राजक बन गये। राष्ट्रीय भावनाओ से भी प्रभावित हुए। देश के अन्य प्रदेशो, खतौली, मेरठ, आदि को भी अस्थायी कार्य-क्षेत्र बनाया। दस्सा-पूजाधिकार जैसे तत्प्रदेशीय सुधारो का भी पक्ष लिया, किन्तु स्याद्वाद विद्यालय, सागर विद्यालय तथा स्वस्थापित पाठशालाओ आदि का सदैव प्राथमिक ध्यान और हितकामना रही। हस्तिनापुर का जैन गुरुकुल और खतौली का कुन्दकुन्द कालिज उन्ही की प्रेरणा के सुफल है। बाबा भागीरथ और प० दीपचन्द जी के साथ मिलकर इस वर्णीत्रय का खतौली जैनकालिज स्थापनाका अभियान भी जैन इतिहासमे प्रसिद्ध हो गया।

सन् १९४५ के लगभग, प्राय ७० वर्ष की आयु मे पूज्य वर्णी जी ने क्षुल्लक-पद-धारण किया। लगभग दस वर्ष उसी रूप मे लोकोपकारार्थ विचरण करके १९५३ मे वह ईसरी मे जहाँ उन्होने बहुत पहले उदासीन आश्रम स्थापित करा लिया था, पधारे। वही १९६१ मे ८७ वर्ष की आयु मे दिवगत हुए। वही उनका स्मारक भी बना, सागर विद्यालय मे भी वर्णी-स्मारक-भवन बना जिसमे उनकी मूर्त्ति भी स्थापित हुई। पचहत्तर वर्ष की आयु पूरी करने पर उनका हीरक-जयन्ति-महोत्सव भी मनाया गया था। उनके अभिनन्दनार्थ 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' भी उत्तम रूप मे प्रकाशित किया गया था। उनकी लघु आत्मकथा (जीवन यात्रा) भी प्रकाशित हो चुकी है और 'वर्णी वाणी' के नाम से उनके प्रवचनो, उपदेशो आदि के तथा उनके पत्रो के कई सकलन भी प्रकाशित हो चुके है। इतिहास के एक विद्यार्थी के नाते हमे यह बात बहुत खटकी कि उस युगपुरुष का कालक्रमिक जीवनवृत्त गूथना बडा कठिन लगा। इतना निकट और सम-सामयिक होने पर भी उनके सबध मे प्रकाशित उपर्युक्त सामग्री सर्वथा अपर्याप्त रही। उनके शिष्यो, परम भक्तो और उपकृतो ने उनके काव्यमय गुणगान तो बहुत किये, किन्तु उनके इतिवृत्त को शृखलाबद्ध करने की ओर ध्यान कम दिया। लगभग सन १९०० से १९४५ तक का उनका

जीवन, जो सर्वाधिक घटनापूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था, जिसमे उनके समाज-सेवा-कार्य, उनके कर्मठ जीवन की लोक के लिए सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धियाँ निष्पन्न हुई, उसका कोई व्यवस्थित विवरण प्राप्त नही है। साठ-पैसठ वर्ष के लम्बे लोकसेवी एव लोक-सग्रही जीवन के जो संस्मरण भी प्रकाश मे आये है, गिने चुने ही है। सभव है कि इस कमी का कारण हमारे समाज की सामान्यतया और हमारे पडित जनो की विशेषतया इतिहास विद्या के प्रति अरुचि और उपेक्षा हो।

स्वय हमे तो पूज्य वर्णी जी के दर्शनो का लाभ चार-पाँच बार ही मिला है। सन् १९२७-२८ मे जब आचार्य शान्तिसागर जी का मुनिसघ मेरठ आया था तो वर्णी जी भी मेरठ मे धर्मशाला मे ठहरे थे। हम स्कूल मे पढते थे, किन्तु बाबा भागीरथ जी तथा ब्र० शीतलप्रसाद जी का स्नेह हमे बाल्यकाल से ही प्राप्त था, अत. वर्णी जी के नाम से हम परिचित थे। उनके दर्शनो के लिए गये।

सन् १९४० मे हम श्री सम्मेदशिखर की यात्रा को गये। तो वहाँ ईसरी मे वर्णी जी के दर्शन हुए। प्रवचन सुना। थोडा वार्तालाप भी हुआ। बाबा भागीरथ जी भी वहाँ थे–वृद्ध, अशक्त और रुग्ण थे। कुछ अस्थिर-चित्त भी हो चले थे। हमे पहचान तो लिया। उस समय देखा कि वर्णी जी बाबा जी की सार सम्हाल, उन्हे सम्बोधना कितने वात्सल्य के साथ करते थे। वह उन्हे गुरुतुल्य, अग्रज तथा जीवन-सहयोगी मानते थे। उन्होने वही बाबा जी का निधन समाधिपूर्वक कराया।

उसी समय के लगभग मेरठ के आसपास पूज्य वर्णी जी के कतिपय परम भक्तो का दल तैयार हुआ। जिसमे जगाधरी के भगत सुमेरचन्द्र, सहारनपुर के रतनचन्द्र मुख्तार और नेमिचन्द्र वकील, मुजफ्फरनगर के ब्र० मुख्त्यारसिह और मित्रसेन मुन्सरिम, शाहपुर के शीतलप्रसाद, सलावा के हुकुमचन्द्र, खतौली के त्रिलोकचन्द्र, मेरठ के ब्र० ऋषमदास आदि प्रमुख थे। सौभाग्य से हमे भी ये सब सज्जन अपने ही दल का सदस्य मानते थे। जब कभी सब का मिलन भी होता था। स्वाध्याय और तत्त्वचर्चा का जोर बढा। प्राय प्रत्येक पर्युषण यह लोग ईसरी जाकर महाराज के सानिध्य मे बिताते थे। हमारे लखनऊ आ जाने के कारण इस दल के साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध शिथिल हो गया और कई बार उनके साथ ईसरी जाने का सुयोग होने पर भी दुर्भाग्य से उसका लाभ न उठा सके।

हस्तिनापुर मे गुरुकुल की स्थापना का श्रेय भी वर्णी जी महाराज को ही है। कुछ समय मेरठ व हस्तिनापुर मे रहकर तथा उस प्रदेश मे भ्रमण करके उन्होने गुरुकुल की सहायता के लिए भी जनता को सफल प्रेरणा दी। ऐसे ही एक अवसर पर मेरठ बोर्डिंग हाउस मे महाराज ठहरे थे। यात्राश्रम से शिथिल थे। हम निकट बैठे उनके पैर दबा रहे थे। हमे उकसा-उकसा कर बहुत कुछ पूछते रहे। हम इतिहास के विद्यार्थी थे, युवकोचित उत्साह से अपनी जानकारी उगलने लगे। वह स्नेहपूर्वक हमे उत्साहित करते रहे। बीच-बीच मे कहते जाते 'वाह भइया, तुम्हे तो बड़ी जानकारी है। यह सब तो हम भी नही जानते। और बताओ।' बाद मे इस घटना को

याद कर करके अपनी वाचालता पर लज्जित भी हुए और उस महात्मा की सरलता, सहज वात्सल्य और अज्ञ युवको को प्रोत्साहन एव प्रेरणा देने की कला पर मुग्ध भी हुए।

सभवतया उसी प्रसग मे हमने एक लेख लिखा था 'वर्णी युग', जिसकी एक कच्ची प्रति १२ अगस्त-१९४९ की तिथियुक्त, पुराने कागजो मे मिली। स्मरण नही कि वह लेख कही छपा था या नही—शायद नही छपा था। उस लेख का अतिम एव मुख्य अश निम्नोक्त था—

"स्व. आचार्य शान्तिसागर महाराज के उत्तरीय भारत मे आगमन के साथ जो एक प्रकार का मुनियुग आविर्भूत हुआ था, लगभग पन्द्रह वर्षों के भीतर ही उसका अवसान सा हो गया। मुनि-भक्ति का प्रबल उद्रेक भी ज्वार भाटा मे परिवर्तित हो गया और मुनि-विहार भी इस प्रदेश मे अतिविरल रह गया। ऐसे समय मे एक चिर-परिचित विभूति की ओर सबकी दृष्टि उठी। यह महात्मा, महात्मा-नाम धारण किये बिना ही पचीसो वर्ष से महात्मा था। स्वय को त्यागी न कहते हुए भी सच्चा त्यागी था। समाज की अतिशय पूजा-भक्ति से स्वय को बचाता हुआ भी समाज के कल्याण एव उद्धार मे सतत उद्यमवान् रहता आया था। वह शास्त्र का पारगामी, प्रकाड विद्वान, अध्यात्मज्ञानी और आत्मध्यानी था। निरभिमानी, सरल परिणामी और निस्पृह भी था। तथापि समाज के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए यथाशक्य प्रयास मे सदैव तत्पर। वह इस शताब्दी मे उदित होकर इसी के अनुरूप प्रगतिगामी बना रहा। रूढिवादिता से प्राय शून्य। धार्मिकता और सामाजिकता, वैयक्तिक सदाचार और राष्ट्रीय भावना, उदारता और नम्रता, प्रज्ञा और सरल निरभिमानता का उसमे कुछ ऐसा अद्भुत सामञ्जस्य हुआ कि वह त्यागीवर्ग मे भी माननीय हुआ और गृहस्थो का भक्तिभाजन भी। पडितो का श्रद्धेय बना तो बाबुओ द्वारा भी पूज्य हुआ। उसने शिक्षित, अशिक्षित, आबाल वृद्ध, स्त्री पुरुष, जैनो को ही नही अनेक अजैनो को भी आकृष्ट एव प्रभावित किया। ग्राम-ग्राम मे विचरण करके जनता की धार्मिक भावना को जागृत किया। समाज के सभी वर्ग उसका नेतृत्व सहर्ष स्वीकार कर रहे थे। अनेक विषयो मे मतभेद और विचार वैभिन्न्य होते हुए भी, सभी के हृदय मे एक ही बात थी कि इनके व्यक्तित्त्व का सुयोग पाकर धर्म की प्रभावना, सस्कृति का अभ्युत्थान और समाज का उत्कर्ष अवश्य होगा।

ऐसा ज्ञात हुआ था कि पूज्य वर्णी जी ने बहुत कुछ ऊहापोह के पश्चात् क्षुल्लक पद धारण किया है। उनके ऐसा करने से उनके स्वय के आत्म-साधन मे क्या कुछ सुविधा या विशेषता-वृद्धि हुई है, यह तो वही जानें, किन्तु इस प्रान्त मे, इस काल के दिगम्बर जैन-समाज मे वह अपने वर्तमान-रूप मे युगप्रधान सन्त और गुरु के पद पर सहज आसीन हो गये। उनके माध्यम से धर्म, सस्कृति और समाज का उपरोक्त हितसाधन अवश्य किया जा सकता है।

इन सब बातो के बावजूद हमे ऐसा लगता है कि उत्तर भारत की दि० जैन समाज के इतिहास मे वर्तमान युग श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी के नाम से 'वर्णीयुग' के रूप मे अमर होगा। यह समाज का दुर्भाग्य होगा यदि वह इस सन्त के आदर्श का स्वर्ण अवसर पाकर भी धार्मिक, सास्कृतिक एव सामाजिक, तीनो क्षेत्रो मे समयानुकूल यथेष्ट प्रगति करने मे असमर्थ रहता है।"

अब से पच्चीस वर्ष पूर्व लिखे उपर्युक्त उद्‌गारो की वर्तमान मे इतनी सार्थकता तो है ही, कि वे पूज्य वर्णी जी के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण परिणति के सबध मे एक समकालीन प्रतिक्रिया प्रतिबिम्बित करते हैं। उक्त घटना के तीन चार वर्ष उपरान्त ही वह ईसरी जाकर वही के हो रहे। वस्तुत. तब तक जो कुछ उन्हे करना था उससे प्रायः कृतकृत्य हो गये थे। ८० वर्ष के लगभग आयु हो चुकी थी। शेष सात-आठ वर्ष उन्होने शान्ति से आत्म-साधन मे ही व्यतीत किये।

उन युगपुरुष सन्त-शिरोमणि वर्णी जी की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य मे उनकी पावन स्मृति मे हम अपनी विनीत श्रद्धाजलि समर्पित करते हैं।

✲

पूज्य वर्णी जी के कुछ प्रेरक संस्मरण

श्री भैयालाल सराफ एडवोकेट, सागर

श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के रूप मे मुझे पहले परिचय, जब मै सागर मे विद्यार्थी था, श्रीयुत नन्हूराम जी कडया के द्वारा ही हुआ था, जिनके प्रेमात्म व्यवहार द्वारा जैन-धर्म-प्रेम का बीजारोपण हुआ। जिसका कुछ वर्णन मैने "मेरे जैनधर्म प्रेम की कथा" मे लिखा है।

श्री कडया जी ने मेरी तारीफ कर दी कि यह अच्छा विद्यार्थी है। वर्णी जी ने कहा खूब मन लगा कर पढना। कभी कभी उनकी धर्ममाता श्रीमती चिरौंजाबाई के यहाँ भी उनका दर्शन हो जाता था।

शुभ्र वस्त्र धोती कुरता एक उपरना वा सिर मे खूब आवले का तेल। दो छोटी छोटी जिज्ञासु आखो से झाकता हुआ पवित्र निर्मल हृदय। मै फिर जबलपुर कालेज के शिक्षण को चला गया। बाद मे अलाहाबाद सस्कृत वा कानून के अध्ययन को चला गया, जहाँ ही श्री चम्पतराय जी बैरिस्टर तथा श्री ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी से परिचय जैन होस्टल मे हो जाया करता था। इस लम्बे काल मे वर्णी जी का दर्शन नही हो पाया। इसलिये जब पहला अवसर मुझे जैन-धर्म पर बोलने का कदाचित् १९२६ मे परवार सभा के अधिवेशन के बाद आया, तो ब्रह्मचारी जी के वार वार कहने पर भी मुझे कठिनता से जैन-धर्म पर बोलने का अवसर मिला। ब्रह्मचारी जी से खूब परिचय हो गया था वे कोई न कोई पुस्तक कही न कही से जैन-धर्म-सम्बन्धी भिजवा दिया करते थे। पढने का चाव था खूब पढता था। जब कभी वे मिल जाते तो गुत्थियो का सुलझाव भी उनसे कर लेता था। सभाध्यक्ष वर्णी जी ने कहा क्या बोलोगे। उनका प्रश्न बिलकुल उचित था क्योकि कोई भी अजैन उन दिनो न मालूम क्या ऊल जलूल जैन-धर्म के सबध मे बोल दे। उन दिनो जैन-धर्म के प्रति आत्मीयता की भावना गैर जैन समाज मे पनप नही पाई थी। मेरे मित्र स्व० डा० हीरालाल जैन को भी दिवा-भोजन के लिये होस्टल मे मेरे साथ जाना पडता था, तब भी भोजन-पडित उलहना देता था कि जैनी को क्यो ले आये बाबू ? तुम्हे तो सवेरे खाने को

पूरा मिलता नही । तुम मागते नही वा परोसने वाले से रोटी साग झपटकर छुडाते नही । तुम्हारे ऊपर मुझे बहुत दया आती है । तो मै कह देता था ये भी हमारे भाई ही हैं । यदि तुम्हे आपत्ति है तो मै भी दिवाभोजन को अकेला नही आऊगा ।

वर्णी जी ने ब्रह्मचारी जी के अत्यन्त आग्रह पर मुझे बोलने का समय दिया । वह जैन-समाज से परिचित कराने का प्रथम प्रयास था । दूसरे दिन कुछ अजैन विद्वान आये जो उस सभा मे थे क्योकि वह सार्वजनिक सभा थी वा कहने लगे क्या अपने सनातन-धर्म मे कुछ भी नही हे । मैंने कहा बहुत है । तब फिर आपने कहा क्यो नही । पर मुझे तो जैनधर्म के सबध मे बोलना था वहाँ अपने धर्म के सबध मे क्या बोलता । जैन गृहस्थ वा विद्वान भी मिले कहा आपको जैनधर्म के बाबद अच्छी स्पष्ट निपुणता हे । मैंने कहा मै तो अभी भी विद्यार्थी ही हूँ और पारिभाषिक शब्दो के घटाटोप मे न उलझ कर समझना वा आत्मसात् करना पडता है तब कुछ कह सकता है । यही मेरे कुछ कह सकने का रहस्य है इसमे विशेष कुछ नही । वकालत मैंने एक वर्ष पूर्व ही प्रारभ कर दी थी । इसके बाद तो मुझमे वगैर कोई विशेष ज्ञान के लोग समझने लगे मैं बहुत जानता हूँ, सिलसिले से जानता हूँ । इसलिये अन्य धर्मों के सबध मे भी विचार व्यक्त करने का अवसर आने लगा । यह वर्णी जी की मुझ पर ब्रह्मचारी जी के आग्रह द्वारा कष्टार्जित कृपा थी ।

सागर के उदासीन आश्रम तथा चौधरन बाई के जैन मदिर मे जाते आते दर्शन हो जाता था पैर छूते ही आर्शीर्वाद । अच्छे हो ? क्या लिख रहे हो ? और क्या कर रहे हो ? यह उनके नैर्सगिक कृपा-प्रश्न रहते थे ।

बहुत दिन से सोच रहा था मदिर मे जाने का तथा वर्णी जी का प्रवचन समयसार पर सुनने का बहुत से स्वय सेवक बधुओ ने भी आग्रह किया कि वर्णी जी का प्रवचन बहुत अच्छा होता है । वगैर समय का ध्यान किए पहुँच गया पैर धोकर दूर ही मदिर मे बैठ गया । वर्णी जी की पैनी दृष्टि ने देख लिया । कहा—'यहाँ आइये' । मैंने कहा महराज देरी से आया इसलिये यहाँ ही बैठने का मुझे अधिकार हे । तब तो उनकी कृपा का वर्षण हुआ । नही यहाँ ले आओ । विवश था, निकट आ गया । ५ मिनट बाद ही प्रवचन का अन्त होने को था बोलने लगे भइया आज वकील साहब आये है ये बडे श्रद्धालु हैं कुछ और समय बोलूगा इनके कारण । मुझे बहुत सताप हुआ कि मेरे कारण वर्णी जी को कष्ट हुआ वा सारी श्रद्धालु समाज को भी ।

एक मुकदमा सत्तर्क सुधा तरगिणी जैन पाठशाला से मेरे एक पक्षकार का चला । मैंने उससे कह दिया आप गवाहो की तलाश मे मत पडो केवल वर्णी जी को ही साक्ष्य मे बुला लो । समन निकला । वर्णी जो को धर्म-सकट । उन्होने कह दिया मै तो जैसी बात है वैसी कह दूगा । मुकदमा कही जावे । मैंने पक्षकार से पहले ही निश्चय करा लिया था कि वर्णी जी के निर्णय को शिरोधार्य करना होगा । वर्णी जी गवाही मे नही गये । सही निर्णय हो गया मकान हमारे पक्षकार को मिल गया । २-३ हजार रुपया पाठशाला को दान मे दे देने को मैंने भी उन्हे बाध्य किया यद्यपि वर्णी जी ने कुछ नही कहा ।

सागर मे पर्याप्त समय वे रहे । इससे सागर की भूमि से उन्हे कुछ अधिक लगाव था । उनका अतिम समय जान लोग उनसे मिलने जाते थे । मैंने भी विचार किया कुछ लोग रुके भी

मेरे साथ जाने को। न जा पाया, पर मैने उन्हें एक लंबा पत्र लिखा। मुशी जी से कहा नकल कर दो। उन्होने नकल कर दी क्योकि मेरा लेखन त्वरा के कारण बहुत खराब है। मुशी जी ने कहा मै उसकी एक नकल अपने पास रख लू ? बहुत अच्छा लगता है। मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। आज मुशी जी नही मेरा हस्तलिखित पत्र प्राप्त नही। वर्णी जी के २ पत्र आये थे वे भी नही मिल रहे, मेरे जैनी मुशी श्री हरप्रसाद जी का भी देहावसान हो गया। दो बाते पूज्य वर्णी जी ने लिखी थी। हर दिन कुछ पैसा नियमित रूप से आमदनी मे से निकाल लेना चाहिये वा जहाँ जब जिसे देना हो दे देना, तथा हर दिन आत्मध्यान कुछ समय करना चाहिये। पहली बात के लिये मैने उनसे क्षमा मागी व लिखा कि अच्छे कार्य के लिए कभी कभी पैसा दे देता हूँ, इस प्रकार से अपरिग्रह-वृत्ति का कुछ पोषण कर रहा हूँ। पर रोज रोज कुछ निकालने के आप के आदेश का अक्षरश पालन नही कर पा रहा हूँ कृपया क्षमा करेंगे। आत्मध्यान को अवश्य कुछ समय निकाल लेता हूँ।

जो लोग ईसरी से आते थे, वे कहते थे, चलने फिरने मे उन्हे कष्ट होता है, पर कष्ट का कभी व्यक्तीकरण नही होता। मेरे सबध मे कई लोगो से पूछा करते है व कहा करते थे, वकील इस प्रकार का बहुमुखी सेवाव्रती होना चाहिए। मै प्रयत्नशील हूँ कि उनके वचनो योग्य अपने को बना पाऊँ। क्योकि अपनी दुर्बलताओ को मै अच्छी तरह जानता हूँ।

हर व्यक्ति यही मानता था कि उसके प्रति उनका अत्यन्त अधिक स्नेह है। पूज्य जी के पत्रो को मैने देखा। कैसा अच्छा लेखन, जमा हुआ। थोडे समय बाद ही उनकी इहलीला समाप्ति का कोई उससे आभास नही होता था।

ऐसे थे वे कृपादृष्टि करने वाले महामानव। जो है नही, पर उनकी अमिट छाप आज भी प्रेरणा-स्रोत बनी हुई है। उनके चरणो मे नमन।

सन्त-समागम के कुछ क्षण

—श्री शारदाप्रसाद
सस्थापक रामवन आश्रम, सतना

प्रातःकाल मै अपने पुराने कच्चे कार्यालय मे काम कर रहा था। श्री बाबा सुखदेव-दास जी ने आकर कहा "मत्री जी" चक्रकुटी के पास बहुत से आदमी आए है और मालूम नही क्या कर रहे है। मैने कहा आप देखिए कौन है क्या कर रहे है। फिर कुछ विचार कर मैं भी उनके साथ हो लिया। वहाँ पहुँचने पर मैंने देखा कि सतना के अनेक परिचित जैन बन्धु वहाँ आए है, साथ मे कुछ महिलाएँ भी है। एक छोटी चाँदनी तान ली गयी है और उसके नीचे अनेक चूल्हे प्रज्वलित किए गए है। पूछने पर मालूम हुआ कि परम पूज्य श्री वर्णी जी आ

रहे है, उनका दोपहर का आहार यहाँ होगा। कल वे माधौगढ मे थे। यह मंडली व्यवस्था करने के लिये सवारियो पर आ गयी है, वे पैदल आ रहे है। मैंने पूछा कोई वर्तन सामान आवश्यक हो तो मै दूँ, उत्तर मिला हम सब कुछ साथ लाए हैं। मै वहाँ से वापस आ गया।

कुछ देर बाद बाबा सुखदेव जी ने आकर कहा कि मालूम होता है कि महात्मा जी आ गये है। यह सुनकर तुरत मै वहाँ पहुँचा, प्रणाम करके बैठ गया। वे भूमि पर बैठे हुए थे। मैने कहा कि "महाराज" यहा तो आपको कष्ट होगा, यह समीप की कुटिया मै खुलवा देता हूँ, आप इसमे ही आराम करें। उन्होने स्वीकार करने की कृपा की। कुछ देर उनके पास बैठकर मै फिर वापस आ गया।

लगभग दो बजे कार्यालय से मैंने देखा कि पूज्य श्री वर्णी जी श्री हनुमान मदिर जा रहे है। उठकर तुरत मै वहा पहुँचा और उनके साथ हो लिया। श्री रामवन मदिर उन्हे दिखलाया और भी जो स्थान थे वे दिखलाए और उनके साथ ही चक्रकुटी मे आ गया। वहाँ वे लगभग आधा घटे बैठे। कुछ साधारण बाते हुईं। रामवन से वे बहुत प्रसन्न हुए थे यह उन्होने कहा। मैंने उनसे आशीर्वाद की प्रार्थना की। इस समय तो सतना से और भी जैन बन्धु आ गए थे। लगभग ३ बजे से उन्होने आगे के पडाव के लिए प्रस्थान कर दिया। इतने ही साक्षात् का अवसर मुझे इस जीवन मे पूज्य श्री वर्णी जी से प्राप्त हुआ।

प्रभु की असीम कृपा से मुझे अनेक हिन्दू सिद्ध-सन्तो के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मऊगज के हाफिज अजमदशाह ऐसे उच्चकोटि के मुसलमान फकीर से भी मेरा घनिष्ठ सबध रहा है। मै सिद्ध सत उन्हे मानता हूँ जिनका भगवान से सबध स्थापित हो गया। चमत्कार दिखलाने वालो को तो मैं बहुत ओछी दृष्टि से देखता हूँ। इसे मै अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि मुझे पूज्य श्री वर्णी जी के दर्शन प्राप्त हुए। इतने थोडे समय मे ही मै समझ सका था मै एक बहुत उच्चकोटि महात्मा के समीप हूँ।

रामवन मे जैन साहित्य सग्रह प्रारम्भ होने पर मैने उस सबध मे पूज्य श्री वर्णी जी से कुछ पत्रव्यवहार भी किया। उन्होने बराबर पत्रोत्तर भेजने की कृपा की। मै गद्गद् हो जाता हूँ यह विचार कर कि इतने ऊँचे और विरक्त महात्मा शरीर से अशक्त रहते हुए भी पत्रो के उत्तर देते थे। जबकि आज के नवयुवक सद् गृहस्थो के सबध मे मेरा कटु अनुभव है कि सौ पत्र लिखने पर उत्तर मे पाँच सात ही पत्र प्राप्त होते है।

परम पूज्य श्री वर्णी जी ने अपने शरीर का त्याग निश्चित किया और वे चले गए। यह तो एक दिन होना ही था। मेरा जैनी सतो से विशेष परिचय नही है पर साधारण अनुभव से कहता हूँ कि उनके स्थान की पूर्ति सहज नही होगी। मै करबद्ध हो और नतमस्तक हो हृदय से उन्हे अपनी सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

✲

उस महायात्रा की दो स्मृतियाँ

—डा० नरेन्द्र विद्यार्थी
पूर्व विधायक, छतरपुर, म. प्र.

शरीर का क्या ? आखिर इसे कल भस्म ही तो होना है !

अगस्त, १९६१। उन दिनो मै अपने निवास छतरपुर से ३२ मील दूर, बडा मलहरा के जनता बहुउद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के प्राचार्य के पद पर कार्य कर रहा था। एक पोस्ट कार्ड मिला—"वर्णी जी अस्वस्थ्य है, अन्तिम दर्शन है, तुरन्त आइये।" भागा गया, देखा तो उनको अतीव वेदना थी, परन्तु खेद या विषाद सूचक रेखा चिह्न भी दृष्टिगोचर न थे। अन्त समय भी सावधानी इतनी कि चर्या मे शास्त्रीय मर्यादा के परिपालन का सदा ध्यान था। फिर भी अपने चञ्चल स्वभाव के कारण उनको लक्ष्य कर सम्यग्दृष्टि के सत्स्वरूप पर अपने भाई साहब (प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरा वाला) से चर्चा प्रारभ की। सुनते-सुनते वर्णी जी हमारे अभिप्राय को समझ गये और उन्होने पास मे बुला कर कान के पास से कहा—"भैया ! हमई मिले सम्यग्दृष्टि की परीक्षा करने ?" हम लोग उनकी सतर्कता से आश्चर्यचकित रह गये। पास मे पडी चौकी पर विराजमान शास्त्रो को देखा, पता चला कि समाधिमरण-विषयिक ग्रथो का स्वाध्याय वे ६ माह से कर रहे थे। इसी का प्रतीक विषम वेदना मे भी उनकी यह दृढता थी। अपनी स्वाभाविक नादानी के अवशिष्ट परिचयस्वरूप मैंने फिर पूछा—"महाराज ! आप पर जब भी सकट आया बाबा भागीरथ जी वर्णी आपको दर्शन देकर (स्वप्न मे) धैर्य बँधाते रहे है, ऐसा अपनी जीवनगाथा मे आपने लिखा है। हम भी आपके वैसे ही भक्त है जैसे आप उनके। अत. यदि हम पर भी सकट आया तो क्या इसी प्रकार आप हमारी भी सहायता करेगे।" सुनकर उन्होने उत्तर दिया—"भैया ! यह सब मोह का विश्वास है, अपना किया ही सहायक होता है।" उनके कष्ट को देखकर मैने एक प्रश्न और पूछा—"महाराज ! क्या यह तीव्र वेदना अनुभव होती है।" दृढता के साथ उन्होने उत्तर दिया—"जब उपयोग उस ओर हो ! यह तो अन्त समय है, जीवन से एक-एक अमूल्य क्षण का उपयोग सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान मे लगाना श्रेयस्कर है। **शरीर का क्या ! आखिर इसे कल भस्म ही तो होना है !**" उनके इस अन्तिम वाक्य से मुझे बड़ा धक्का लगा कि अब तो इन्होने स्वय ही निकट भविष्य मे अपने अन्त समय की सूचना दे दी है, परिस्थितिया भी इसी का आभास करा रही थी, मोह के आवेग ने मुझे प्रभावित किया और मै चकराते-चकराते उनके कमरे से बाहर आकर मूर्च्छित-सा हो गया। वर्णी जी को किसी ने खबर दे दी, लोगो ने बताया कि उन्होने कहा था—"भैया ! मोह के प्रभाव मे और क्या होगा ? 'अरे ! एक दिन जाना तो सभी को है हमारी क्या गिनती ?' उनको तो देखो—

"कहाँ गये चक्री जिन जीता भरत खण्ड सारा,
कहाँ गये वे राम लक्ष्मण जिन रावण मारा।"

उनकी वाणी रुद्ध होने लगी तब उपस्थित जन समुदाय की कण्ठ-ध्वनि ने इसे और आगे बढा दिया —

"कमला चलत न जाय पेड़ मरघट तक परिवारा,
अपने-अपने सुख के साथी, पिता-पुत्र अरु दारा ।"

बारह भावनाओ के चिन्तवन का प्रवाह सामयिक एव स्वाभाविक होने से वातावरण को बहुत गम्भीर बनाये जा रहा था । जब मै सचेत हुआ तब बाहर तक भक्तो के एक समवेत स्वर मे सुनाई पड रहा था—

"जलपय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न भिन्न नहि भेला ।
त्यो प्रकट जुदे धन-धामा, क्यो ह्वो इक मिल सुत-रामा ।।"

उनका वाक्य फिर एक बार कानो मे गूज उठा—**"शरीर का क्या ? आखिर इसे कल भस्म ही तो होना है ।"** जब तक वहा रहा यह वाक्य जाने-अनजाने मस्तिष्क मे टकराता रहा । दूसरे दिन जब प्रात ४ बजे जाकर चरणस्पर्श किये तो वे तो मेरे नाम अलिखित वारण्ट जारी ही किये बैठे थे—"भैया ! अब हम तो ठीक है, तुम सायकाल ५ बजे की गाडी से चले जाना, सस्था का नुकसान होता होगा ?" आदेश पालन हेतु सायकाल स्टेशन तक गये परन्तु बहाना बना कर लौट आये । जिसे वर्णी जी आसानी से समझ गये । मैने भी स्पष्ट कर दिया कि क्या करे ? बहाना बनाने के लिये भी तो अब केवल एक यही जगह शेष है । जहा मोह और ममता है, अपने सकटो के निवारण और शकाओ के समाधान का सहारा है । वे कुछ न बोले और दो दिन बाद मैने जब उन्हे शारीरिक सकट से कुछ मुक्त समझा तब आज्ञा लेकर, चरणस्पर्श कर स्टेशन की ओर चला आया । जब तक आँखो से ओझल नही हो गया तब तक वे मुझे ऐसे देखते रहे जैसे कोई वृद्ध पिता अपने बच्चे को बस्ता देकर स्कूल भेजने के बाद दरवाजे पर खड़े-खडे सन्देह की निगाह से देखता रहता है कि कही लौट न आये ? ममता और निर्ममता, मोह और निर्मोह के सघर्ष का यह एक उदाहरण था ।

•

तपःपूत-भस्मपुञ्ज !
शत शत वन्दन ! शत शत प्रणाम !!

ठीक एक माह पश्चात्

४ सितम्बर १९६१, एक तार छतरपुर के पते पर आया । मेरी सास श्रीमती कस्तूरीबाई बालाघाट जो उन दिनो उस समय मेरे घर पर थी, ने तुरन्त बडामलहरा जाने वाली बस से मेरे पास भिजा दिया । रात्रि मे १० बजे थे, तार मे पढा—"वर्णी जी समाधिस्थ, शीघ्र आओ ।" तार श्री नीरज जी ने उदासीन आश्रम ईसरी (जहाँ वर्णी जी विराजमान थे) के अधिष्ठाता की नजर बचाकर जिस किसी तरह दे पाया था । दूसरे दिन ५ बजे सायकाल के पूर्व सतना पहुँचने पर भी ट्रेन नही मिलती थी इसीलिये रात्रि मे नही गये । स्थानीय समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियो को सूचना दी । चर्चा की और सो गये । ठीक ४ बजे प्रात स्वप्न आया कि वर्णी जी आज

मध्यरात्रि मे स्वर्गीय हो गये और हम लोग उनके आसपास बैठे रो रहे है। पूज्य पं. कैलाशचंद्र जी सिद्धान्तशास्त्री धार्मिक गाथाओ का पाठ कर रहे है और श्री नीरज जी उनके दाह सस्कार का प्रबन्ध। प० कैलाशचन्द जी प्रतिदिन पाठ सुनाते है और नीरज जी वहाँ है, यह मालूम था ही, वही स्वप्न मे दिखाई पड गया। वर्णी जी का वाक्य स्वप्न मे तार मे लिखी पक्तियो का भावी भावार्थ को साकार सूचित करने लगा। "शरीर का क्या ? आखिर इसे कल भस्म ही तो होना है।" प्रातः स्थानीय समाज को अस्पष्ट भाषा मे स्वप्न सूचित किया तो हमारे बडे भाई श्री हरप्रसाद जी ने कहा— 'तुम्हारे मन की लगी बात है' वही स्वप्न मे दिखाई पड गई। तुम जाओ, दर्शन मिलेंगे।" बडे भाई थे अत मैने उन्हें अपने आचार्य निवास के आँगन मे ले जाकर दिखाया कि देखो—"कल यह बेला का पेड़ हरा भरा था, फूलो से लदा था और आज कुम्हलाया है, फूल झर गये है।" वे बोले "इससे क्या मतलब ?" मैने कहा—"भैया! हमारा बेतार का तार यही है। एक माह पूर्व जब वर्णी जी ईसरी मे ज्यादा अस्वस्थ थे तब यह बेला पीला पडने लगा था, जब कुछ स्वस्थ हुये तब पुनः प्रकृतिस्थ-हरा भरा हो उठा था। पत्र बाद मे मिलते थे और इस पेड़ से सूचना पहले मिल जाया करती थी। बडे भाई के नाते वे हमको समझाकर जाने की तैयारी करने का आदेश दे गये। सतना पहुँचने पर पता चला कि आकाशवाणी से सूचना प्रसारित हो गई कि बिहार प्रान्त के ईसरी बाजार नामक ग्राम के दि० जैन शान्ति निकेतन नामक स्थान पर भारत के आध्यात्मिक सत पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी का आज अर्धरात्रि मे स्वर्गवास हो गया। चारो तरफ खबर बिजली की तरह फैली और भक्त समाज की भीड उमड पडी है। समाचार सुनकर हाथ पैर ठंडे पड गये। सोचा दाह-संस्कार तो प्रातः ही हो चुका होगा। क्योकि जैनधर्म प्रतिपादित मान्यता के अनुसार शव को जितनी जल्दी हो अग्नि-समर्पित करना आवश्यक माना गया है। फिर भी चिता के तप.पूत-भस्म-पुञ्ज को प्रणाम करने का, भस्म-प्रवाह या अस्थि-विसर्जन का कार्य तो अब भी शेष है। साहस को बटोरा, अनेको ने अब ईसरी बाजार जाना व्यर्थ बताया, तब भी चले और ६ सितम्बर को प्रातः ११ बजे ईसरी बाजार ग्राम के पारसनाथ स्टेशन पहुँचे। जिस स्टेशन पर पहुँचने पर हर्ष और उल्लास का अनुभव होता था, उसकी-प्लेटफार्म की भूमि खिसकती सी, सरकती सी प्रतीत हो रही थी जैसे कह रहा हो—अब हमे व्यर्थ रोदने क्यो चले आये ? तुम्हारा 'पारस' तो चला गया, जिसके बरद स्पर्श से तुम सब सोना बनते आ रहे थे। दूर से दिखाई पडने वाली तीर्थराज सम्मेदाचल की चोटी—'पारसनाथ टौक' सङ्केत कर रही थी–'यह वह पवित्र भूमि है जहाँ भव्यात्मा वर्णी सन्त के निर्वाण से कलिकाल मे भी यह भूमि 'निर्वाणभूमि' के नाम से पुनः सार्थक हुई है। कवियो की स्पष्ट भाषा मे व्यावहारिकता यह थी—

> **"सूर्य अस्त हो गया यकायक, चन्दा छिपा गगन में।**
> **संसारी जन विलख पड़े, धार्मिक वियोग पा क्षण में॥**
>
> **वर्णी सचमुच ही तरणी थे, थे युग के भाग्य-विधाता।**
> **सम्मेदाचल सिसक रहा है, रोता नहीं अघाता॥**

(प्रकाश)

× × × ×

बाढ़ आँसुओं की आई है, बाँध धैर्य का टूट चुका।
अहमिन्द्रो का भाग्य जगा है, किन्तु हमारा फूट चुका ।।
मर्त्यलोक मे धर्म-राज्य के, झण्डे अपने आप झुके।
स्वर्गलोक में वर्णी अभिनन्दन के, झण्डे फहर चुके ।।
मर्त्यलोक में धर्म-पिता की, देह चिता पर जलती है।
स्वर्गलोक मे अमर आत्मा, वर्णी जी की पलती है ।।
मर्त्यलोक मे हाहाकारो, की छाई घनघोर घटा।
स्वर्गलोक मे छिटक रही है, वर्णी जी की दिव्य छटा ।।

(पुष्पेन्दु)

— और पूर्व कवि की भाषा मे मैंने वास्तविकता को समझा—

"माँ सरस्वति ! तुमने अपना, बरद पुत्र खोया है।
चीख रहा है गगन, सहस्रों नयनो से रोया है।
ज्ञान-दीप का प्रबल प्रकाशक, स्वर्ग सिधार गया है।
शायद सुरगुरु बनने का, पाया अधिकार नया है।"

(प्रकाश)

स्टेशन का पुल पार करने के पूर्व भाई साहब (प्रो० खुशालचन्द जी गोरावाला) भी मिल गये उसी ट्रेन से वे भी उतरे थे। दुखद स्थिति मे दोनो भाइयो का मिलन भी एक घटना थी, एक दूसरे को सहारा के रूप मे। उदासीन आश्रम पहुँचे, वर्णी जी की कुटिया की स्वाभाविक रौनक भी क्षीण लग रही थी जैसे आत्मा-विहीन शरीर की। वहाँ के आध्यात्मिक ज्ञान-तडाग का राजहस उड चुका था। जिसकी मधुरवाणी को सुनने के लिये प्रात. ४ बजे के पूर्व से ही भक्त मानस प्रतीक्षा किया करते थे। वह समयसारीय ज्ञानसूर्य भी अस्त हो गया था जिसकी किरणो के प्रकाश-पुन्ज से भव्यो के हृदय-कमल प्रफुल्लित हो जाया करते थे। एक कमरे मे दोनो भाइयो ने सामान छोडा और चिता की बन्दना करने चल पडे। चन्दन चर्चित चिता बुझ चुकी थी, उसकी राख के किनारे एक काला कुत्ता बैठा आँसू ढाल रहा था। पुराणो की कथाओ ने—'सुलझे पशु उपदेश सुन, सुलझे क्यो न पुमान। नाहर ते भये बीर जिन, गज पारस भगवान।" सिह का महावीर स्वामी होना और हाथी का भगवान पार्श्वनाथ के रूप मे अवतरित होने की घटनाओ के उदाहरणो को जगा दिया।' वर्णी जी के प्रवचन के समय यह काला कुत्ता हर दिन फर्श के किनारे, मनुष्यो से कुछ दूर हटकर बैठा सुना करता था, ऐसा लोगो ने बताया। ऐसा लगा जैसे वह अपने उपदेष्टा सद्गुरु की भस्म-विभूति की रक्षा के लिये पहरा दे रहा हो। हटाने पर भी नही हटा, हम लोगो ने उसकी मनसा समझ प्रशंसा की और बैठा रहने दिया। अस्थि-चयन और भस्म-सचयन का कार्य हमने भाई सा० के साथ उनके निर्देशानुसार किया। अस्थि-सचयन के समय भाई सा० बोले—"नरेन्द्र ! हजारो बार समयसार पढने वाले दाँतो की बत्तीसी देखो किसको मिलती है।" मैने कहा— "भाई सा० ! इकट्ठी बत्ती मिली तो मुझे मिलेगी, अलग-अलग दाँत मिले तो सबसे पहला मुझे मिलेगा।" भाई सा० ने कहा —"यह अन्याय कैसे होगा, बडा तो मैं हूँ।' मैने कहा—"हजारो बार समयसार पढने वाली दाँत-बत्ती ने जो सार (निचोड़) उगला, वर्णी जी की उस पवित्रवाणी का सर्वाधिक हिस्सा

मुझे मिला है, आप से मेरा छोटा होना इसमे बाधक नही है।" भाई सा० बोले—"यह तो सच है।" ठीक इसी समय दाहिने ओर की दाढ मुझे मिली, तदन्तर लगातार ५ दाँत भी मुझे ही मिले। भाई सा० को बाद मे मिलना शुरू हुये। दोनो भाइयो के बीच यह निमित्तमात्र की बात थी। अस्थियाँ लोहे जैसी वजनदार थीं, बजाने पर खनकती थी। ब्रह्मचर्य के प्रबल प्रताप को सहज सूचित करने वाली अस्थियो को भावुकता से मस्तक से लगाया, प्रणाम किया और संचय प्रारम्भ कर दिया। अस्थियाँ अलग और भस्म अलग करके हम लोगो ने एक टीन भर भस्म और समस्त अस्थियाँ साथ रखी। शेष भस्म वहाँ की एक नदी मे जो त्यागी जनो ने बताई थी, बैलगाडी मे भरकर हाथ से ढकेलते हुये ले गये। भस्म विसर्जन के उपरान्त उसी दिन सायकाल हम लोग बनारस के लिये प्रस्थित हो गये।

बनारस मे वर्णी जी के अनन्य भक्त पूज्य गुरुदेव पं० मुकुन्द शास्त्री जी खिस्ते के निर्देशानुसार कि वर्णी जी का जन्म हिन्दू परिवार (वैश्य) मे हुआ था अत. भस्म प्रवाह गगा मे भी होना चाहिये, दो वेदज्ञ ब्राह्मण विद्वानो द्वारा वेदोच्चारण के साथ, णमोकार मन्त्र के मगल घोष और 'वर्णी जी की जय' के नारे के साथ प्रवाहमती गगा की गोद मे एक अस्थि-कलश और भस्म-कलश समर्पित कर दिया। नाव खेने वाले मल्लाहो ने पतवार छोड प्रणाम किया। एक वृद्ध मल्लाह ने कहा—'बाबा! मैने बहुतो को गगा पार किया तुम मेरी गंगा (जीवन गंगा) को पार करा देना। मल्लाह स्याद्वाद विद्यालय के पास ही रहते थे, वर्णी बाबा के भक्त थे।

बडामलहरा पहुँचने पर अस्थि और भस्म के कलशो के दर्शन करने के लिये लोग आचार्य निवास मे आते रहे। एक अस्थि और भस्म कलश श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय सागर के प्रबन्धक प० खेमचन्द जी सागर ले गये। सागर मे जैन-समाज-भूषण, धर्म परायण, वर्णी भक्त, सेठ भगवानदास जी ने गाजे बाजे के साथ अगवानी की और समाज के भक्तगण, विद्यालय के अध्यापक और छात्रो ने भस्म-प्रवाह का कार्यक्रम सम्पन्न किया।

एक अस्थि और भस्म कलश ३० सितम्बर १९६१ को द्रोण प्रान्तीय नवयुवक सेवा संघ द्रोणगिरि के नेतृत्व मे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि द्वारा सचालित जनता उच्चतर माध्यमिक विद्यालय बडामलहरा के अध्यापको, छात्रो एव प्रमुख नागरिको के साथ अत्यन्त समारोहपूर्वक सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि जो वर्णी जी का अत्यन्त प्रिय एवं लघु सम्मेदशिखर है, पहुँचा। पूज्य वर्णी जी द्वारा संस्थापित श्री गुरुदत्त दि० जैन संस्कृत विद्यालय द्रोणगिरि के प्रधानाध्यापक पूज्य गुरुदेव पं० गोरेलाल जी शास्त्री ने छात्रो एव ग्रामीण जनता के साथ कलश की अगवानी दो फर्लांग दूर से की। समारोहपूर्वक ग्राम मे ले गये और यहाँ उस धर्मशाला के सामने, जहाँ पूज्य वर्णी जी अपने प्रवास मे रहा करते थे, एक विशाल जन सभा मे अस्थि-कलश को सभी के दर्शनार्थ रखा गया जिसमे पूज्य वर्णी जी के प्रति उपस्थित जन-समूह ने अपनी श्रद्धाँजलियाँ अर्पित की। इसके तुरन्त बाद ही समारोह के साथ अस्थि-कलश को चन्द्रभागा (काठिन) नदी के उस घाट पर ले गये जहाँ पूज्य वर्णीजी नहाया करते थे और वहाँ वर्णीजी की जयघोष के साथ ही अस्थिकलश विसर्जित किया गया। इस अवसर पर पूज्य वर्णी जी की श्रद्धालु प्रान्तीय जनता भी पर्याप्त सख्या मे उपस्थित थी।

उस तप.-पूत-भस्म-पुञ्ज को शत-शत वन्दन, शत-शत प्रणाम।

❋

"इसकी इच्छा मत करना"

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, एम. ए., वाराणसी

शुक्रवार-श्रावण शुक्ला ७, वी. नि २४८७ (१८-८-६१) प्रात. काल जगल जाते समय मान्यवर भैया (प० जगमोहनलाल शास्त्री) और भाई (प० कैलाशचन्द्र शास्त्री) ने कहा "तुम्हारा कहना ठीक है। पूज्य वर्णी जी समाधि-मरण यमरूप से ले चुके है। वर्षा मे भक्तो को यात्रादि का कष्ट न हो। और उनकी अन्तर्मुखता मे क्षणिक व्यवधान न हो, इसलिए ही वे तुमसे कह देते हैं मरण सन्निकट नही। आज पार्श्व-प्रभु का निर्वाण दिवस भी है। सयोग से हम निर्वाण भूमि और गुरु के चरणो मे है। अतएव उनसे पूछ लेवे कि हमे क्या, क्या आज्ञा है। जगल से लौटकर मैं हाथ धो ही रहा था कि गुरुवर के परमसेवक महावीर ने आवाज दी 'युवराज ? महाराज बुला रहे हैं।'

मै पूज्यवर के पास जा कर बैठ गया। रोग-क्लिष्ट, तपःपूत एव सतत जागरूक श्री १०५ श्री वर्णी जी ने अपने क्षीण स्वर मे कहा 'पिछी कहाँ है ?' मैंने पिछी उठा कर उनके हाथ के पास कर दी और उनका सकेत पाकर कान को मुख के निकट किया। उन्होने कहा "इसकी इच्छा मत करना" मैं आश्चर्य चकित रह गया। मुझे एकान्त मे पूज्य श्री के पास जाता देख कर श्री मनोहर वर्णी और प० समगौरया भी पहुँच गये थे। मुझसे उक्त वाक्य सुनकर वोले तुम्हे ठीक से नही सुन पडा। महाराज ने कहा होगा 'इसकी रक्षा तुम करना'। यह सुनकर मेरा आश्चर्य, आकुलता मे परिणत हो गया क्योकि मुझे भाव-त्याग बिना द्रव्य-त्याग मे विश्वास ही नही है। फलत मेरे मुख से अनायास ही निकला तब यह निर्देश छोटे वर्णी जी के लिए हो सकता है। वे इसके धारक हैं।

पूज्य श्री ने तुरन्त सकेत किया और कान को निकट करते ही कहा "इसकी इच्छा नही करोगे तो रक्षा-अरक्षा का प्रश्न ही नही उठेगा।" इसके बाद बरुआसागर की क्षुल्लक दीक्षा से लेकर पूज्यवर के राजगिरि प्रयाण यात्रा के प्रथम चरण मधुवन तक रुग्ण-शकट मे जाना और गिरिराज की अन्तिम यात्रा तक की समस्त घटनाए एक, एक कर मानस पटल पर घूम गयी। परम विरक्त, मूर्धन्य विवेकी एव स्वैराचार-विरोधी गुरुवर द्वारा समय-समय पर कहे गये विविध अनुभूतिसिक्त वाक्य "हम सब नट है। साधारण सत्कार्य का दुगुना लाभ (मान और पुण्य) चाहते है। 'हम ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देह दाह'। टोडरमल जी, भागचन्द्र जी, दौलतराम जी क्या कम विरक्त थे ? स्वपाकी ब्रह्मचारी ही हमारे पहिले थे। और वे ही समयज्ञ त्यागी थे। द्रव्य-भाव के समान काल-क्षेत्र भी समर्थ है।" इत्यादि की याद मे, मैं डूब गया। गुरुवर ने पुनः सकेत किया, तब मैने कहा मै अपनी अक्षमता जानता हूँ 'पिछी' आदर्श अवश्य है किन्तु इस पर्याय क्या इस क्षेत्र और कालचक्र मे मेरी उपादेय नही है। हम

पं० जगन्मोहनलाल, कैलाशचन्द्र और ये पार्श्वप्रभु के निर्वाण दिवस पर आज आपसे अपने आजीवन-करणीयो को जानना चाहते है, ताकि गुरु का आदेश मानकर उसे करते हुए अपना-अपना जीवन समाप्त करे। तुम तीनो "जो कर रहे हो उसे ही करते जाओ। अब और कुछ नही बताना है। कल्याणमस्तु।"

आज तेरह वर्ष बाद सोचता हूँ मेरु के समान दृढ, उत्तुग और जगदाधार पूज्यवर वर्णी जी को, तथा विगत वर्षो मे घटी धार्मिक-सामाजिक छोटी बडी घटनाओं को। अपने अकिञ्चित्कर तन और मन की ओर देख कर वर्तमान मे पिछी-कमण्डलु के प्रति दृढ माध्यस्थ्य धारण किया है। क्योकि मै केवल 'नाग्न्य' परीषह को भी दुष्कर मानता हूँ, तब इसके सफल आचरको की चर्चा या आलोचना का अधिकारी कैसे हो सकता हूँ ? वे मेरे लिये सूर्य-चन्द्रमा के समान है। मै उन तक नही पहुँच सकता। किन्तु गुरुवर वर्णी का वह स्वरूप जो कटनी के मुनि-चतुर्मास की चर्चा सुनने से लेकर भादपदकृष्णा ११ वी नि. २४८७ (५-९-६१) तक मेरे सामने रहा, वह भरत-मार्ग का जीवित एव आचरित निदर्शन होने के कारण उनको इस जीवन के सुपरिचित महत्तम व्यक्तित्वो मे सर्वोपरि बनाता है।

दौलतराम जी कृत छहढाला की छठी ढाल पढता जाता हूँ और कहता हूँ कि बाहुबली-मार्गी होने के लिए आपको आश्रम का छोडना, अहार खड़े, अल्प, निजपाणि मे करना, मुनि साथ मे वा एक विचरे, आदि कतिपय द्रव्य आचरण ही तो करते थे। तब आपने मेरे ऐसे लघुतम अविरत से पिछी रखवा कर "इसकी इच्छा मत करना" क्यो कहा ? क्या काय-काल कृत अशक्ति के कारण कटनी के मुनि चतुर्मास-प्रकरण की स्मृति आपको ताजी हो गयी थी ? और अपने परम आराध्य समन्तभद्र स्वामी के गुरु-लक्षण के 'निरारम्भोऽ परिग्रह.' का अपालन इतना खटकने लगा था कि अपनी विषयाशा वशातीतता ·· ज्ञान-ध्यान तपोरक्तता न गण्य लगने लगी थी ? यह सत्य है कि पैरो की अशक्तता के कारण आपको एक कुर्सी पर दूसरे ले जाते थे किन्तु इस बाह्य परिग्रह के कारण आपकी क्षुल्लकता दूषित कैसे हो गयी ? और आपने अपने को पिछी का अधिकारी नही माना ? आपका जीवन 'अभद्र भी समन्त भद्र हो जाता है, (भवत्यभद्रोऽपि-समन्तभद्र·) का आचरित निदर्शन था। स्याद्वाद महाविद्यालय की सफल स्वर्ण-जयन्ती के बाद मधुवन में महाव्रतियो ने आपके विरुद्ध जिस उद्दण्ड वातावरण की सृष्टि, तब की थी जब आप गिरिराज की वन्दना कर रहे थे। और हम लोग भी उद्दण्डता की ओर मनसा झुक गये थे। किन्तु आप पहाड से उतर कर तेरहपंथी कोठी के मन्दिर द्वार के चबूतरे पर उस उत्तेजित भीड़ मे ऐसे आ बैठे थे जैसे वह सभा आपके ही लिये बैठी थी। इतना ही नही आपके दो-चार वाक्य बोलते ही 'वर्णीजी की जय' से प्रागण गूज उठा था। और हम अपनी उत्तेजना पर पछताते भोजनशाला मे चले गये थे। आपकी अन्तरंग-अपरिग्रहिता की चरम सीमा की अनेक गाथाएं याद आ रही है। इसीलिए वह अन्तिम निर्देश मेरे लिये आज भी समस्या है।

सोचता हूँ आपने **देश-काल का विचार करके यदि यह सामान्य-विधि की थी** तो भी मुझसे क्यो कहा ? क्योकि मै 'न तीन मे न तेरा मे' हूँ। न मै सुनाना चाहता हूँ और न कोई सुनना ही चाहता है। 'कालः कलिर्वा, कलुषाशयो वा। श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा। त्वच्छासनै-

काधिपतित्व-लक्ष्मी प्रभुत्व-शक्तेरपवाद हेतुः ।।' का एकच्छत्र है। यदि कतिपय विचारक कुछ मर्यादाओं की ओर ध्यान दिलाते हैं तो 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहित मुखम्' हो जाता है। पिछी की इच्छा दिनो दिन वढ़ रही है। भगवान वीर की निर्वाण रजतशती के साथ यद्यपि आपकी जन्मशती का पडना ऐसा सयोग है जिसकी ओर सव का ध्यान जाना ही चाहिये था। किन्तु हमारे ऐसे दुर्वल लोगो के कारण वह असभव हो रहा है। क्योकि हम वर्णी-जीवन का विचार और आचार भूलकर मौखिक श्रद्धाज्ञापन या पार्थिव स्मारको को ही अपना लक्ष्य बना वैठे हैं। उनके आदर्शों पर जीवन बिताने वाले त्यागियो-विद्वानो की ओर देखते नही है। वर्णी जी द्वारा चलाया गया पाठशाला-विद्यालय-चक्र भी विरूपित हो रहा है। परिणाम यह है कि शिष्य-मुण्डन या वालदीक्षा की पद्धतियो के समान पिछी-ग्रहण-प्रवृत्ति निरवाध रूप से बढ रही है। क्या समाज (हम) इस कोलाहल-प्रदर्शन और आत्म-विज्ञापन के युग मे एक क्षण को रुकेगा ? और सोचेगा कि स्वयंभू, कर्मठ, दृढ, विनम्र, दयालु, अन्तरग, महाव्रती (जैसा कि श्री १०८ नमिसागर महाराज कहते थे), समयसारलीन और स्याद्वादमूर्ति श्री १०५ गणेश वर्णी ने पिछी हाथ मे रख कर "इसकी इच्छा मत करना।" क्यो कहा था ? तभी विवेकी, परम-विरक्त और समयसारी की जन्मशती क्या उनके जीवन का सन्देश मुखरित हो उठेगा। समझ मे आ जायेगा कि क्यो उन्होने अन्त समय केशलुच का सकेत करके वस्त्र को उतारा था। "कीजे शक्तिसमान, शक्ति बिना श्रद्धा धरे" की विशुद्धि मिलेगी। और तभी

'गुरु-भक्ति सती मुक्त्यै
क्षुद्रं किं वा न साधयेत्'

द्वारा भगवान वीर की निर्वाणरजतशती तथा वर्णी-जन्मशती मे चार चाँद लग जाय जो।
"परमगुरु वरसे ज्ञान-झरी।"

ऊपरी चमक दमक से आभ्यन्तर की शुद्धि नही होती। आत्मद्रव्य की सफलता इसी मे है कि अपनी परिणति को पर मे न फँसावे। पर अपना होता ही नही और न हो सकता है। ससार मे आज तक ऐसा कोई प्रयोग न वन सका जो पर को अपना बना सके और आपको पर बना सके।

—गणेश वर्णी

वर्णी जी का क्षणिक-व्यामोह

डा० हरीन्द्रभूषण जैन,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

घटना उन दिनो की है जब मै स्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय, वाराणसी मे अध्ययन कर रहा था। सन्-सवत् ठीक से याद नही है। हाँ, तब वर्णी जी की धर्ममाता श्रीमती चिरोजा बाई जी का देवलोक हो चुका था।

सागर के श्री गणेश दिग० जैन महाविद्यालय मे श्रीमती चिरोजा बाई जी का एक बहुत सुन्दर चित्र है। उस चित्र मे बाई जी एक हाथ मे शास्त्र का पन्ना लिए हुए स्वाध्याय कर रही हैं। वह चित्र मुझे बहुत प्रिय लगा और मैंने उसकी एक प्रतिलिपि सीस-पेंसिल से ड्राइंग पेपर पर बना कर अपने पास रख ली थी। वाराणसी से मै न्यायतीर्थ की परीक्षा देने कलकत्ता गया। उस समय वर्णी जी महाराज ईसरी मे विराजमान थे। मैने सोचा कि ईसरी उतर कर श्री वर्णी जी के दर्शन कर लिए जाँय।

कलकत्ता प्रस्थान करते समय मैने श्रीमती चिरोजा बाई जी के चित्र की प्रतिलिपि अपने साथ रख ली। ईसरी पहुँचकर मैंने श्री वर्णी जी के दर्शन किए और उन्हे वह बाई जी का चित्र दिखाया। वर्णी जी क्षणमात्र उस चित्र को अपलक देखते रहे और बाई जी का स्मरण कर भाव-विभोर होकर बोले "भैया! तुमने यह बहुत अच्छा चित्र बनाया है, तुम इसे मुझे दे दो तो बाई जी की स्मृति मेरे पास सुरक्षित बनी रहेगी।" यह सुनकर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। जिस मनोकामना से वह चित्र मैने वर्णी जी को दिखाया था वह पूरी हो गयी। मैने वह चित्र उन्हे समर्पित कर दिया। उन्होने बहुत से फल और मेवा मगाकर मुझे दिए और कहा—'इन्हे कलकत्ता लेते जाओ।'

मै ईसरी से कलकत्ता चल दिया। परीक्षा देकर मै कलकत्ता से लौटा और पुनः ईसरी उतरा। ज्योंही मै वर्णी जी के दर्शनार्थ उनके समक्ष उपस्थित हुआ, वे बोले—"भैया! तुम अच्छे आ गए। मै तुम्हारी बाट ही देख रहा था। लो अब यह बाई जी का अपना चित्र वापस ले लो। इस चित्र के मेरे पास रहने से बाई जी के प्रति मेरा ममत्व सदा जागृत रहेगा।" और ऐसा कहकर उन्होने वह चित्र मुझे वापस दे दिया।

जब कभी श्री वर्णी जी का प्रसङ्ग आता है तो उनका बाई जी के प्रति यह क्षणिक-व्यामोह तथा तत्क्षण मोहनिवृत्ति स्मरण आ जाती है और उस महात्मा के प्रति श्रद्धा एवं आदर से मस्तक झुक जाता है।

*

वे शान्ति-विधाता पूज्य-चरण

—अमरचन्द जैन

एम० काम०, कटनी

सवत २००६, होली के दो दिन पहले की बात है। उन दिनो मैं आजीविका के निमित्त सतना मे रहता था। पूज्य वर्णी जी अपने सघसहित वहाँ पधारे थे। संघ के कुछ सदस्य सतना से खजुराहो जाते समय एक जीप दुर्घटना मे घायल हो गये थे। यह घटना वर्णी जी के सतना आगमन के एक दिन पूर्व घट चुकी थी। महाराज इस घटना से बहुत खिन्न थे। मदिर के पास पुरानी धर्मशाला के एक कमरे मे उन्हे ठहराया गया था। उस दिन शाम से ही ज्वर था। अकस्मात् रात को दो बजे भाई नीरज ने जगाकर मुझे बताया कि बाबा जी का ज्वर बढ गया है। तत्काल हम लोग उनके डेरे पर पहुँच गये ज्वर १०३-१०४ से कम नही था। वे अपना एक चादर ओढे थर-थर काँप रहे थे। उनकी विकलता देखकर हम लोग घबरा गये और जब उन्होने किताब की ओर इशारा करके "समाधि-मरण" सुनाने के लिये आदेश दिया तब तो हम दोनो का धीरज छूट गया। हमारे गले से बोल नही परन्तु आँखो से आसू निकलते थे। बाबा जी ने यह दशा देखकर हम लोगो को धीरज बँधाया और जैसे-तैसे नीरज ने पाठ प्रारम्भ किया। एक घण्टे मे ज्वर शान्त हुआ किन्तु नीद उन्हे नही आयी।

दूसरे ही दिन उनके ठहरने का स्थान परिवर्तित करके शहर के बाहर एक स्वच्छ कोठरी मे व्यवस्था की गयी और फिर छ दिन तक दिन और रात उनकी चरण सेवा करने का अनायास अवसर मिला।

प्रात साढे तीन बजे वे समयसार का अध्ययन प्रारम्भ कर देते थे। यह दो घण्टे चलता था। इस एकान्त स्वाध्याय के बीच जब भी हम लोग पहुँचते बाबा जी सरल भाषा मे हमे गूढ समयसार समझाते चलते थे। मुझे शास्त्र का अभ्यास और सिद्धान्त का ज्ञान नही है परन्तु समयसार की तुलना मै हमेशा सितार से किया करता हूँ। मुझे लगता है कि जैसे सितार के तार छूना सबके लिये सभव होने पर भी उस मे से लय-ताल सम्बद्ध कर्णप्रिय और शास्त्रानुकूल स्वर लहरी का निष्पादन करना बिरले ही कलाकार जानते हैं, उसी प्रकार समयसार के पन्ने तो कोई भी पलट सकता है परन्तु उसकी तह मे बैठकर द्रव्य-स्वरूप का अनन्तधर्मी ज्ञान प्राप्त करके आत्मा के अनादि, अनन्त, चिरन्तन और अक्षुण्ण ऐश्वर्य को शब्दो की सीमा मे बाधकर हम आत्मानुभूति के रस से सराबोर करके अल्पज्ञो को भी उस रस का प्रसाद वितरण करना बिरले ही कलाकारो का काम है।

पूज्य वर्णी जी समयसार की कला के सर्वोपरि कलाकार थे। उनकी वाणी से नि.सृत समयसार की व्याख्या ने एक दीर्घकाल तक समाज को प्रज्ञा और शान्ति प्रदान की है। आज

हम देखते है कि जिस प्रकार अनाड़ी अँगुलियो के स्पर्श से सितार के तार स्वर लहरी की जगह कोलाहल का ही विस्तार करते है उसी प्रकार जिनागम के प्रारम्भिक ज्ञान से शून्य साधक, समयसार को निमित्त बनाकर अपनी अटपटी व्याख्या के माध्यम से समाज मे प्रज्ञा की जगह कदाग्रह और शान्ति की जगह भ्रान्ति वितरण करते फिर रहे है। यह हमारी विशेषता है कि हमने वीतरागता प्रदान करने वाली जिनवाणी को राग द्वेष के पोषण का निमित्त बना लिया है। कई लोग तो शास्त्र से शस्त्र का काम लेने मे भी हिचकिचाते नही है। ऐसे दूषित वातावरण मे हम प्रशममूर्ति पूज्य वर्णी जी की विचार और स्वाध्याय पद्धति का आदर्श बना सके तो समयसार की थोडी बहुत सुरभि हमारे जीवन मे भी आ सकती है।

पूज्य वर्णी जी छोटे-छोटे भक्त को भी बहुत स्नेह देते थे। उन्होने पहले ही दिन के प्रवचन मे मेरा उल्लेख करते हुए समाज को बताया कि मेरे पूज्य पितामह (पूज्य पं. जगन्मोहन-लाल जी के पिता) बाबा गोकुलदास से उन्होने कुण्डलपुर मे सातवी प्रतिमा के व्रत धारण किये थे। मुझे देखकर प्राय: वे बाबा गोकुलदास का स्मरण कर लिया करते थे। इस स्मरण मे जो विनय, जो कृतज्ञता भरी होती थी वह अन्यत्र प्राय देखने को नही मिलती।

सतना से विहार करने के बाद अन्त समय तक पूज्य वर्णी जी की कृपा मुझ पर रही। मुझे उनके जीवन से और उनके शब्दो से बडा साहस, बडी दृढता और बडी प्रेरणा मिलती रही। भाई नीरज को लिखे गये पत्रो से प्राय· पूज्य बाबा जी मुझे आशीर्वाद देने की कृपा करते थे। सतना से प्रस्थान के एक सप्ताह बाद उन्होने हम दोनो को यह पत्र लिखा —

ऐसे दयानिधान गुरु के चरणो मे शत-शत प्रणाम।

श्रीयुत महाशय नीरज और अमरचन्द,

कल्याण-भाजन हो

हम आनन्द से है। आप सानन्द होंगे। हमारी सम्मति तो यह है जो दृढ़-तम रीति से स्वाध्याय किया जावे। जगत् उद्धार के विकल्प न किये जावे। कल्याण का पथ इससे कठिन नही जो हम दुर्बल है, और न परिस्थितिया ही उसकी बाधक है। किन्तु हमे वह वस्तु ही रुचिकर नही। आप उसके पात्र है। अत. दुर्बल पद व्यवहार त्यागो। मनुष्य को कुछ भी दुर्लभ नही। श्री अमरचन्द चिरजीवी रहे, अमर हो यही हमारी भावना है। चिरजीवी से मेरा तात्पर्य ससार-बन्धन से मुक्त हो। सरलता अमर पथ की जननी है।

आपका शुभचिन्तक—
गणेश वर्णी

*

अमृतपुत्र वर्णी जी

—डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

अध्यक्ष— पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय

वैदिक दर्शन मे "अमृतपुत्र" उसे कहते है "जो परम पिता परमात्मा के चरण-चिह्नो पर चले।" पूज्य वर्णी जी को इस दृष्टि से हम "अमृतपुत्र" कह सकते है। वे जैन-धर्म के कट्टर अनुयायी थे। उनके रग-रग मे तीर्थंकरो के उपदेश समाये हुए थे। उपदेश की मधुरिम शैली और हर विषय का सरल से सरल भाषा मे गम्भीर विवेचन उनकी विशेषता थी। अनेक सघर्षों के ज्वारभाटे आये, फिर भी वर्णी जी पर्वत के समान अडिग रहे। इसका कारण उन्ही के शब्दो मे था-"जैनधर्म का विचार पूर्वक ग्रहण।"

जैन-धर्म किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नही, वह तो प्राणिमात्र का धर्म है। परन्तु परम्पराओ व अभिरुढियो का आश्रय लेकर आज वह अवश्य एक वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व करता दिखाई देने लगा है। अन्य धर्मावलम्बियो को अब इसमे पूर्णत स्थान नही मिलता। हरिजन-मन्दिर-प्रवेश के समय समाज मे इसी प्रश्न को लेकर दो मत हो गये थे। पूज्य वर्णी जी ने स्पष्ट रूप से हरिजन मदिर प्रवेश के पक्ष मे आवाज देकर जैनधर्म की प्रसुप्त आत्मा को जागृत किया था।

पू वर्णी जी सही अर्थ मे मानव थे। उन्होने मानवता का सिंचन अपने जीवन के प्रारम्भिक अध्याय से ही प्रारभ कर दिया था। दीन और दरिद्रो को उन्होने अपने तन के कपडे भी दे डाले। ऐसे समय उनकी वह घटना स्मृति-पटल पर आये बिना नही रुकती जबकि उन्होने एक दरिद्र व्यक्ति को सभी कपडे रास्ते मे ही दे दिये और स्वय लगोटी मात्र पहने रात मे घर पर आये।

उनकी परोपकार की भावना ने आज समाज को एक नई दिशा दिखाई। जहाँ तत्त्वार्थसूत्र का मात्र पाठ करने वाले उद्‌भट विद्वान समझे जाते थे आज उसी बुन्देलखण्ड की वसुन्धरा पर सर्वाधिक विद्वान और पण्डित दिखाई दे रहे है। अनेक शिक्षण सस्थाओ को स्थापित कर समाज का उन्होने अकथनीय उपकार किया है, इसमे कोई सन्देह नही।

'समाज कितना रूढिग्रस्त था' इसका दर्शन "मेरी जीवन-गाथा" मे किया जा सकता है। जगह-जगह जाकर बाबा जी ने लोगो को समझाया-बुझाया और अनेक व्यक्तियो को जीवनदान दिया, धर्मदान दिया। वर्षों से समाज से बहिष्कृत परिवारो को जैनधर्म अपनाने मे पर्याप्त प्रयत्न किया। उस समय की समाज महात्मा जी की बात कैसे मान लेती थी, कुछ आश्चर्य-सा होता है। पर आश्चर्य की बात नही, यह तो उनके जीवन की साधना और तपस्या का प्रभाव था।

महात्मा वर्णी जी के व्यक्तित्व के अनेक रूप हमारे सामने उपस्थित हुए है। वे साहित्यकार और राष्ट्रभक्त भी उतने ही थे जितने दार्शनिक और नैतिक। पर उनकी चिन्तन-शैली का जो पक्ष प्रवचनो के रूप मे उमडकर आता है वह है उनका आध्यात्मिक-विचार-मन्थन। इसे नैतिक विचारधारा भी कहा जा सकता है।

'मेरी जीवन गाथा' की सरस शैली आपको एक कुशल साहित्यकार सिद्ध करती है। राष्ट्र-भक्ति का दर्शन आजाद हिन्द फौज की रक्षार्थ किये गये सहयोग मे दिखाई देता है। साथ ही डॉ. राजेन्द्रप्रसाद और श्री विनोवा भावे से साक्षात्कार होने पर उनके बीच हुई बातचीत का भी पता लगता है।

इस प्रकार हम देखते है कि पूज्य वर्णी का व्यक्तित्व पर्वताधिराज से भी अधिक उच्च, महासागर से भी अधिक गम्भीर, वसुधा से भी अधिक क्षमाशील, सहिष्णु, उदार और निरभिमानी, पुण्यतोया मन्दाकिनी से भी अधिक निर्मल और पावन था। उनके हृदय मे भीष्म सी दृढता, भीष्म सा पराक्रम और मस्तिष्क मे मानवदर्शन का कोष था। उनके इस व्यक्तित्व के समक्ष जो आता था, आकर्षित हुए बिना नही रहता था। सचमुच मे वे मिट्टी से उत्पन्न एक 'हीरा' थे, जिसके प्रकाश मे सारे पदार्थ प्रकाशित हो जाते है, एक 'अमृतपुत्र' थे जिनकी मधुर और सरल तथा ओजस्वी और प्रभावक वाणी मे मानवमात्र का कल्याण भरा रहता था। ऐसी विभूति युगो-युगो तक अमर रहेगी और उसका सन्देश जन-जीवन को समुन्नत बनाने मे कारणभूत सिद्ध होगा।

☆

मुमुक्षु-शिरोमणि : गणेश वर्णी

—नीरज जैन

सिद्धान्त ग्रन्थो के स्वाध्याय की परम्परा ने गृहस्थो के बीच, पिछले पचास साठ वर्षो मे ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है। सोनगढ की परिपाटी से इस परम्परा को विशेष बल मिला है, और आज छोटे बडे अनेक स्थानो पर मुमुक्षु-मण्डलो की स्थापना तथा सचालन हो रहा है।

समयसार के अध्ययन मनन की इस योजना के उद्भव और विकास को यदि देखा जाय तो पूज्य वर्णी जी उसके प्रथम स्वप्न-द्रष्टा के रूप मे विराजमान दिखाई देते है। जब सोनगढ मे श्री कान्ह जी स्वामी और उनके कतिपय साथियो ने सर्व-प्रथम समयसार के अध्ययन का अध्यवसाय किया, उसके बहुत पूर्व ही पूज्य वर्णी जी समयसार के अच्छे अध्येता, चिंतक, मर्मज्ञ-विद्वान के रूप मे प्रसिद्ध हो चुके थे। इतना ही नही सोनगढ की इस मण्डली ने अपने अध्ययन मे पूज्य वर्णी जी की सहायता और मार्गदर्शन भी प्राप्त किया था।

इन तथ्यो का उद्घाटन सर्वप्रथम सन् १९६८ मे वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी द्वारा प्रकाशित "वर्णी अध्यात्म पत्रावली" की भूमिका मे इस प्रकार किया गया था :—

प्रात स्मरणीय पूज्य सत श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज जैनदर्शन के अनुपम ज्ञाता थे। समयसार तो उनकी साँसो मे बस गया था। उसकी अमृतचन्द्रचार्यकृत गद्य-टीका तक उन्हे कण्ठस्थ हो गई थी। अपनी युवावस्था मे ही उन्हे समयसार पर अधिकार हो गया था। इसी कारण उनके पत्रो मे वस्तुस्वरूप के निर्णय का आभास, निमित्त-उपादान का समन्वय और तत्त्वार्थ-श्रद्धान की प्रेरणा तथा राग, द्वेष, मोह छोडने का उपदेश पग-पग पर पाया जाता है। उनके ऐसे प्रेरणाप्रद पत्रो के प्रथम-प्रकाशन की यह कहानी अट्टाईस वर्ष पुरानी है।

उन दिनो गृहीत-मिथ्यात्व का प्रत्यक्ष-मार्ग छोडकर श्री कानजी स्वामी ने अपनी मण्डली मे दिगम्वर जैन साहित्य का पठन-पाठन प्रारम्भ ही किया था। अनेक ग्रन्थो मे और विशेषकर समयसार मे अर्थ की गुत्थियाँ उनके सामने आती थी और वे शकाएँ सोनगढ की स्वाध्याय-मण्डली के कतिपय सदस्यो द्वारा अपने कलकत्ते के मित्रो को लिखी जाती थी। कलकत्ते से पत्रो द्वारा ऐसे प्रश्न पूज्य वर्णी जी के पास भेजे जाते थे और उनके समाधान कराकर उन्हे कलकत्ते से सोनगढ भेज दिया जाता था।

पूज्य वर्णीजी इसके अतिरिक्त अपने प्राय प्रत्येक पत्र मे उपदेशामृत की दो-चार बूँदो का समावेश तो कर ही दिया करते थे। उनके ऐसे पत्रो की उपयोगिता देखते हुये कलकत्ते के जिज्ञासु-मण्डल (२७ पोलोक स्ट्रीट) ने विक्रम सं. १९९७ वीर सं २४६६ मे "आध्यात्मिक पत्रावलि" नाम से इन पत्रो का संकलन प्रकाशित किया। समाधि-मरण को प्रोत्साहित करने वाले उनके कुछ और पत्रो को भी समाधि-मरण पत्र-पुञ्ज नाम से इसी सकलन मे जोड़ लिया गया।

कलकत्ता निवासी श्रीमान् बाबू खेमचन्द मूलशंकरजी ने इस प्रकाशन के लिये ब्र० श्री छोटेलालजी और श्री लाला त्रिलोकचन्द जी के पास संगृहीत पत्र भी प्राप्त कर लिये। सागर मे वर्णी जी के परमभक्त श्रीमान् सिघई कुन्दनलाल जी के पास उस समय वर्णी जी के पत्रो का जो सग्रह था उसे प्राप्त करने की भी कोशिश की गई, परन्तु उस समय उसमे सफलता नही मिली।

बाद मे दो वर्ष उपरान्त पत्रो का यह संकलन श्रीमान् सिघई जी ने स्वय प्रकाशित करके वितरित कराया था। उसकी प्रस्तावना मे श्री प० मूलचन्द जी ने यह उल्लेख इन शब्दो मे किया था :—

"अत मे हम कलकत्ता निवासी श्रीमान् बाबू खेमचन्द जी मूलशकर जी से क्षमा-प्रार्थी है जो हम उनकी माँग पूरी नही कर सके। हमारे श्रीमान् सिघई जी महोदय ने ही पत्र निकलवाने की कृपा की, इसी से हम भेजने मे असमर्थ हो गये।"

कलकत्ते से प्रकाशित होकर "अध्यात्मिक पत्रावलि" की प्रतियाँ सोनगढ पहुँचते ही वहाँ उनकी बडी प्रतिष्ठा हुई। "पूज्य वर्णी जी सम्यग्दष्टि महापुरुष है और उनके वचनो मे

आगम का रस छलकता है", इस कथन के साथ सोनगढ़ के शास्त्र-भण्डार में आध्यात्मिक-पत्रावलि की प्रति स्थापित की गई। विशिष्ट ज्ञानाभ्यासी जिज्ञासुओ को इसके निरन्तर स्वाध्याय की प्रेरणा के साथ सैकडो प्रतियो का वितरण स्वय श्री कानजीस्वामी ने स्वहस्त से किया। इतना ही नही, वरन्, सोनगढके प्रकाशनो मे उस समय सद्ग्रन्थो की जो सूची प्रकाशित होती थी इस आध्यात्मिक-पत्रावलि का समावेश किया गया था।

पूज्य वर्णी जी के ये छोटे-छोटे पत्र अपने भीतर बडी-बडी बातें सँजोये हुये है। जिस स्पष्टता, सरलता, सूक्ष्मता और सक्षेप से आगम की बडी-बडी गुत्थियाँ इन पत्रो मे सुलझाई गई है उस विशेषता के साथ ग्रन्थो मे उनका ढूँढना आसान नही। यही कारण है कि पत्रो से अनेक लोग अपना कल्याण करने मे समर्थ हुए है और हो रहे है।

पूज्य वर्णी जी की सिद्धान्त-स्नाता लेखिनी मे ही यह शक्ति थी कि वडे आसान शब्दो मे, बडी सरलता से वे पूछने वाले की जिज्ञासा का समाधान कर देते थे। इसी "वर्णी-अध्यात्म-पत्रावलि" के पृष्ठो मे से कुछ उद्धरण देकर मै यहा वर्णी जी महाराज की लेखिनी की उस गहराई का परिचय प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिसके द्वारा वे गागर मे सागर भरकर मुमुक्षु जनो के सम्मुख रख देते थे।

श्रीयुक्त महाशय,

दर्शन-विशुद्धि।

पत्र आया, समाचार जाने।

आपने जो आस्राव्य और आस्रावक के विषय मे प्रश्न किया उसका उत्तर इस प्रकार है।

आत्मा और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्य शुद्ध है। जीव और पुद्गल ही दो द्रव्य है, जिनमे विभावशक्ति है। इन दोनो मे ही अनादि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध द्वारा विकार्य्य और विकारक भाव हुआ करते है। जिस काल मे मोहादि-कर्म के उदय मे रागादिरूप परिणमता है, उस काल मे स्वय विकार्य हो जाता है, और इसके रागादिक परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल मोहादि कर्मरूप परिणमता है, अत. उसका विकारक भी है। इसका यह आशय है, **जीव के परिणाम को निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप होते है, और पुद्गलकर्म का निमित्त पाकर जीव स्वयं रागादिरूप परिणम जाता है।** अत आत्मा आस्रव होने योग्य भी है और आस्रव का करने वाला भी है। इसी तरह जब आत्मा मे रागादि नही होते उस काल मे आत्मा स्वय सम्वार्य्य और सवर का करने वाला भी है। अर्थात् आत्मा के रागादि निमित्त को पाकर जो पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप होते थे अब रागादि के बिना स्वय तद्रूप नही होते, अत सवारक भी है।

अत मेरी सम्मति तो यह है जो अनेक पुस्तकों का अध्ययन न कर केवल स्वात्मविषयिक ज्ञान की आवश्यकता है और सिर्फ ज्ञान ही न हो किन्तु उसके अन्दर मोहादिभाव न हो। ज्ञानमात्र कल्याणमार्ग का साधक नही। किन्तु रागद्वेष की कलमषता से शून्य ज्ञान मोक्षमार्ग का साधन क्या, स्वय मोक्षमार्ग है। जो विष मारक है, वही क्षिप शुद्ध होने से आयु का पोषक है। अत चलते, बैठते, सोते, जागते, खाते, पीते, यद्वा तद्वा अवस्था होते जो मनुष्य अपनी प्रवृत्ति को कलकित नही करता वही जीव कल्याणमार्ग का पात्र है।

—पृष्ठ ७३-७४

इसी तरह का एक और पत्र देखिये—

श्रीयुत महोदय खेमचन्दजी तथा श्री मूलशकर बाबूजी

योग्य दर्शन-विशुद्धि।

पत्र आपका आया, समाचार जाना। आप जानते है आत्मा का स्वभाव देखना-जानना है। और वह देखना-जानना हर अवस्था मे रहता है। हाँ, तरतम भाव से रहता है। परन्तु ज्ञान का अभाव नही होता, यही आत्मा के अस्तित्व का द्योतक है। यही एक ऐसा गुण है जो ससार के सब व्यवहारो का परिचय करता है। इस गुण मे न सुख देने की शक्ति है, न दुःख देने की शक्ति है। केवल इस गुण का काम जानना है। जब आत्मा मे ज्ञानावरण का सम्बन्ध रहता है और उसकी क्षयोपशम अवस्था मे ज्ञान का हीनाधिक रूप से विकास होता है और जितना ज्ञानावरण का उदय रहता है, वह ज्ञान गुण का विकास नही होने देता। इस प्रकार इस ज्ञान की अवस्था रहती है, तथा दर्शनावरण, अन्तराय कर्म का भी इसी तरह सबध है। दर्शनावरण की ज्ञानावरण के सदृश ही व्यवस्था है। अन्तराय कर्म भी इसी तरह का है। किन्तु इन तीन घातियो के सदृश आत्मा मे एक मोहनीय कर्म है, जिसका प्रभाव इन सर्व से विलक्षण और अनुपम है। उसके दो भेद है। एक का नाम दर्शनमोहनीय, और दूसरे का नाम चारित्रमोहनीय है। यह दर्शन-शक्ति और चारित्रशक्ति के विकास का प्रतिबध नही करता, किन्तु कामला रोग की तरह श्वेत शख को पीत शख दिखाने की तरह विपरीत श्रद्धान द्वारा शरीरादिक मे आत्मत्व कल्पना को करा के आत्मा को अनन्त ससार का पात्र बना देता है।

—पृष्ठ ७५-७६

इन्ही महाशय के एक अन्य पत्र के उत्तर मे पूज्य वर्णी जी ने लिखा है—

महाशय

दर्शन विशुद्धि ।

पत्र आया, समाचार जाने ।

सम्यग्दृष्टि के दर्शनमोह के अभाव से, स्वपर-भेद-ज्ञान हो गया है । इसी से अभिप्राय मे उसके राग से राग नही और द्वेष से द्वेष नही है । किन्तु चारित्र-मोह का उदय होने से राग भी होता है और द्वेष भी होता है, हाँ तथा जो उसे अबन्ध कहा, उसका तात्पर्य अनन्तानुबधी कषाय और मिथ्यात्व के द्वारा जो अनन्त ससार का भाजन था, वह मिट गया । तथा जो मिच्छत्तहुड इत्यादि ४१ प्रकृतियो का बध होता था वह चला गया । सर्वथा बध का भी अभाव नही और न सर्वथा इच्छा का अभाव है । इसकी चर्चा समयसार मे स्पष्ट है । विशेष वहाँ से जानना । निर्जरा अधिकार मे अच्छी तरह से इसका विवेचन है ।

—पृष्ठ ७६

बाबा जी अभिप्राय की निर्मलता को सदैव साधक की अनिवार्य पात्रता माना करते थे । उन्होने एक अन्य पत्र मे लिखा—

एक बार यदि आपको दो दिन का अवकाश मिले तब समक्ष मे सर्व निर्णय होगा ।

तत्त्व-चर्चा ही कल्याण का पथ है । परन्तु साथ-साथ आभ्यन्तर की निर्मलता होना चाहिये । हम लोग बाह्य निमित्तों की सुन्दरता पर मुग्ध हो जाते है, और जो कल्याण का वास्तविक मार्ग है, उसका स्पर्श भी नही करते, निमित्त-कारणो में बलबत्ता नही, और न होगी । केवल हमारी कल्पना इतनी प्रबल उस विषय में अनादिकाल से चली आ रही है,' जो अपने स्वरूप की यथार्थता को राहु की तरह ग्रास किये है । एक बार भी यदि उसका स्वाद आ जावे तब यह आत्मा अनत ससार का पात्र नही हो सकता । हमने बाजार से कुछ दिन को वस्तु लेना छोड़ दिया है । अत आपके पत्र ही के ऊपर उत्तर लिख दिया ।

सर्व आगम और सकल परमात्मा की दिव्य वाणी मे यही आया है जो पर की सगति छोड़ आत्मा की सगति करो, यही कल्याण का पथ है ।

न्याय व्याकरण के अध्ययन से रहित बहुत से विद्वान (?) अध भरे घडे की तरह, अपना अधूरा ज्ञान यत्र-तत्र छलकाते हुए अपनी कषाय का पोषण करते है और दम्भ मे आकर दूसरे

को अज्ञानी और मिथ्या-दृष्टि की उपाधि देने मे ही अपनी सर्वज्ञता की सफलता मानते है। ऐसे लोगो के लिए पूज्य वर्णी जी ने जो सकेत चालीस वर्ष पूर्व दे दिये थे वे इस प्रकार है—

श्रीयुत माननीय महाशय बाबू खेमचन्द्र जी

योग्य दर्शन विशुद्धि।

पत्र आया, समाचार जाने। यहाँ पर प० देवकीनन्दन जी की पञ्चाध्यायी वाली टीका नही है।

आप पदार्थो के ज्ञान के अर्थ यदि कुछ न्याय ग्रंथो का अवसर पाके अभ्यास कर लें, तब बहुत ही लाभदायक होगा।

ससाररूपी वन मे भ्रमते हुए जीव ने वास्तविक मार्ग का अनुसरण नही किया, इसी से इसकी यह अवस्था हो रही है। कोई मार्ग की प्राप्ति कठिन नही। केवल दुराग्रह के त्यागने की आवश्यकता है। पहले तो इस शरीर से ही इसका ममत्व छूटना कठिन है। ऊपरी दृष्टि से इसे छोडकर भी जीव सुखी नही होता। **बहुत से धर्म के ऊपरी अंश को जानकर संप्रदाय के आवेग मे संसार को मिथ्या-दृष्टि समझने मे ही अपनी प्रभुता समझते हैं।** कल्याणमार्ग का पोषक यह सप्रदाय-प्रेम नही। कल्याणमार्ग का कारण तो सम्यग्ज्ञानपूर्वक कषायो का निग्रह है। कपायो की प्रवृत्ति उसी के रुक सकती है जिसके अतरग मूर्च्छा के अर्थ बाह्य परिग्रह नही। श्री कुन्दकुन्द महाराज का कहना है कि बाह्य प्राणो के वियोग होने पर बध हो अथवा न भी हो, नियम नही। यदि प्रमादयोग है, तो बध है। प्रमादयोग के न होने पर बध नही। किन्तु बाह्य उपाधि के सद्भाव मे नियम से बध है। क्योंकि उसका स्वत्व ही अतरग मूर्च्छा से रहता है। अत यदि कल्याण की ओर लक्ष्य है तब इस कषायशत्रु के निपात के अर्थ अपने परिणामो के अनुरूप इसी ओर लक्ष्य देने की आवश्यकता है। यदि वर्तमान मे त्याग न हो सके तब कम-से-कम उदासीन भाव तो होना ही चाहिये। यह उदासीन भाव ही कालान्तर मे वीतराग भाव का उत्पादक हो जावेगा। यह जो विकल्प आत्मा मे होते है उन्हे औदयिक भाव जान 'अनात्मीय ही है,' ऐसा दृढ निश्चय रहना ही स्वरूप-प्राप्ति का मुख्य उपाय है। जैसे उष्ण जल उष्णता के अभाव मे ही तो शीत जल होगा, इसी तरह इन औदयिक भावो की असत्ता मे ही तो आत्मिक गुणो का वास्तविक विकास होगा।

आजकल मनुष्य दुनिया की समालोचना करता है, परन्तु अपनी समालोचना का ध्यान नही, जब तक अपने परिणामो पर दृष्टि नही, कुछ नही।

जो भाई साहब (मूलशकर भाई) यहाँ आते है उनसे धर्मस्नेह कहना। बहुत भव्य प्रकृति के है।

—पृष्ठ ८२-८३

वर्णी जी एक ओर जहा स्पष्ट और दो टूक बात कहने के आदी थे, वही दूसरी ओर व्यर्थ के गल्पवाद से वे सदा दूर रहा करते थे। व्यर्थ की ऊहापोह मे समय गँवाना उन्होने कभी पसन्द नही किया। एक पत्र मे उनकी यह प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट झलक आई :—

श्रीयुत महाशय,

दर्शन विशुद्धि।

पत्र आया, समाचार जाने।

हमारे पास इतना समय नही, जो इतने लम्बे प्रश्नो के उत्तर देने मे लगावे, यह तो सम्मुख चर्चा के द्वारा शीघ्र ही हल हो जाते हैं। तत्त्व की मननता का मुख्य प्रयोजन कलुषता का अभाव है। आप जहाँ तक बने, **पंचास्तिकाय तथा अष्टपाहुड, प्रवचनसार का अवकाश पाकर स्वाध्याय करना**। अवश्य स्वीय श्रेयोमार्ग सफलीभूत होगे।

—पृष्ठ ८४.

जिज्ञासु और मुमुक्षु सदा वर्णी जी के स्नेह भाजन रहे। उनको सही मार्गदर्शन और उपयोगी परामर्श प्रदान करने के लिये बाबा जी सदा तत्पर रहते थे :—

श्रीयुत महाशय खेमचन्द जी,

दर्शन विशुद्धि।

पत्र आया, समाचार जाने। भाई साहब! सकोच की कोई बात नही। आप धर्मात्मा जीव है। परन्तु अधिक परिग्रह ही तो पाप की जड है। जितना ग्रह किया जावे उतना ही दुःखजनक है। निष्परिग्रही होना ही मोक्षमार्ग है। जिनके आभ्यन्तर मूर्च्छा गई वही तो मुनि है—मोक्षमार्गी है। **इस काल में स्वांग रह गया—वचन-की पटुता तथा पांडित्यकला मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्ग तो राग-द्वेष की निवृत्ति है।** जो भाई आना चाहते है, आवे, मै ५ अप्रेल तक ईसरी ही रहूँगा। आप गाढ रीति से स्वाध्याय करिए। कल्याण का पथ भेदज्ञान है। अत जहाँ तक बने, उस पर दृष्टि दीजिए और भक्ष्य पदार्थ भोजन मे आवे, इसकी

चेष्टा करिए । जब कभी आप मिलेंगे, विशेष बात कहूँगा-अपने छोटे भाई से दर्शन विशुद्धि तथा अपनी मडली से यथायोग्य ।

—पृष्ठ ८५-८६

आगम की मर्यादा का पूज्य वर्णी जी को बहुमान था। वे सदैव एक जिज्ञासु की तरह उसका मनन और एक निष्ठावान श्रद्धालु की तरह आगम के वचनो पर अटल श्रद्धान रखते थे। सिद्धान्त ग्रन्थो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करके भी वे कभी अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभ मे नही पडे। दूसरो को भी उन्होने सदा ऐसा ही परामर्श दिया। "पत्रावली" के अन्तिम पत्र की ये पंक्तियाँ उनकी गम्भीर प्रकृति और निरहकारी स्वभाव को प्रकट करती है —

पत्र आया, समाचार जाने। आजकल गर्मी का प्रकोप है—उपयोग की निर्मलता का बाधक है। अत कुछ दिन बाद प्रश्नो के उत्तर लिखने की चेष्टा करूँगा। **भाई खेमचन्द्र जी, मै कुछ जानता नही। केवल मुझे श्रद्धा है। अतः जहाँ तक बने, मुझे इस विषय में न पाड़िये। श्री जयचन्द जी साहब जो लिख गए उससे अच्छा लिखने वाला अब नही हैं।** आपकी समाज मे समयसार के रोचक है। मेरा ऐसा अभिप्राय है जो समयसार सर्व अनुयोगो की विधि मिलाता है। उसकी हरेक गाथा मे अपूर्व रस भरा है। जो मर्मी हो सो जाने। मेरा सर्व मण्डली से धर्मप्रेम कहना, और कहना शान्ति का मार्ग न तो स्थान मे है, और न शास्त्रो मे है, न ऐसा नियम है जो अमुक शास्त्र से ही शान्ति मिलेगी। शान्ति का मूल मार्ग मूर्च्छा के अभाव मे है।

आपका शुभचितक—
गणेशप्रसाद वर्णी

—पृष्ठ ८६.

उस प्रातः स्मरणीय, गुरुणा गुरु, मुमुक्षु शिरोमणि को शतश प्रणाम।

जिन्हे आत्म-कल्याण करने की इच्छा है वे तत्त्वज्ञान की वृद्धि की चेष्टा करते है जिनकी उस ओर रुचि नही वे अपने को तत्त्वज्ञान के सम्पादन मे क्यो लगावेगे ?

—गणेश वर्णी

भविष्य-द्रष्टा परम गुरु

—भागचन्द्र इटौरया, दमोह

पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी बुन्देलखण्ड की अनुपम निधि थे। जैन सस्कृति के इतिहास मे पिछले पाँच सात सौ वर्ष मे ऐसा कोई पुरुष नही हुआ जिसने समाज के उपकार के लिये इतना परिश्रम किया हो, इतनी सफलता पायी हो और अपने पीछे उपकृत शिष्यो तथा भक्तो का इतना बडा समुदाय छोडा हो।

जब से मुझे उनका पहली बार दर्शन हुआ तब से आज तक मेरे मन मे उनके प्रति अटूट श्रद्धा और अनन्त भक्ति रही। वे भी मुझे अपना कृपापात्र बनाये रहे। कुछ अपनी लगन से और कुछ मित्रो की प्रेरणा से थोडे थोडे समय के पश्चात् उनके दर्शन का योग भी लगता रहा। एक बात मुझे हमेशा अखरती और पीडा देती रही कि पचास वर्ष तक जिस महापुरुष ने समाज की सेवा की, उसकी वृद्धावस्था मे, जब उसे सेवा की आवश्यकता हुई तब हम मे से कोई उस महापुरुष की सेवा न कर सके। उनके जीवन के अन्तिम आठ वर्ष बिहार प्रदेश मे सम्मेदशिखर के पास भगवान् पार्श्वनाथ की सिद्धभूमि का दर्शन करते उन्होने बिताये। पार्श्व प्रभु के पादमूल मे निर्मलतापूर्वक अपना अन्तिम समय बिताने की उनकी इच्छा, या सकल्प ऐसा दृढ रहा कि बुन्देलखण्ड की लाखो आखो से बहने वाली अनुरोध और ममता की धारा भी उन्हे रोक नही पायी। भगवान् पारसनाथ की सिद्धभूमि का दर्शन, ईसरी के आश्रम की छत से, अन्तिम दिनो तक वे निरन्तर करते रहे।

मै यह स्वीकार करता हूँ कि बुन्देलखण्ड की तरह बिहार प्रान्त मे भी वर्णी जी के भक्तो की संख्या कम नही थी। संभवत. वहाँ उनके भक्तो की शक्ति और सामर्थ्य भी विशेष था। यह भी निश्चित है कि आश्रम मे उनकी सेवा-सुश्रूषा पुष्कलता से हुई होगी। भक्ति, उत्साह, लगन, सम्मान और साधन सब कुछ उनके चरणो मे सदैव नतमस्तक रहते थे। ईसरी मे भी यह सब कुछ उनके पास रहा ही होगा, किन्तु वहाँ कोई न्यूनता यदि थी तो यह थी कि उनका बुन्देलखण्ड वहाँ नही था। शायद यह बुन्देलखण्ड के भाग्य मे नही था कि वह अपने लाडले को अन्तिम दिनो मे भी स्नेह और सेवा जुटा पाता।

भाई नीरज जी बिना नागा हर वर्ष उनके जन्मदिन पर उनका चरण छूने पहुँचते थे। हमने नीरज जी से एक अलिखित अनुबन्ध कर लिया था कि वे हमे कार्यक्रम सूचित करेंगे और हम सतना स्टेशन पर उन्हे मिल जायेंगे। ऐसा अनेक वर्षो तक हुआ। जाते और लौटते समय हावड़ा मेल मे प्राय. पूरी रात गुरु के गुणानुवाद मे हम लोग बिता देते थे। उनकी अनुकम्पा के उदाहरण, कृपा की कहानियाँ और प्रेरणा के प्रसंग धीरे-धीरे इतने जुड़ गये थे हम लोगो के पास कि वह खजाना कभी खाली नही होना था।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व जब पूज्य श्री वर्णी जी का दमोह मे आगमन हुआ था, तब एक दिन उनके प्रातः भ्रमण के समय अचानक मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य मिला और उन्होने

मेरी दिनचर्या की जानकारी चाही। बातो ही बातो मे दान की भी चर्चा हुई। मैंने उन्हे जानकारी दी कि कुछ वर्षो से मेरे पिता जी ने एक पुण्य की पेटी मे प्रतिदिन एक पैसा दान करने का नियम लिया था। चूकि पूज्य पिता जी उस समय श्री महावीर जी मे रहने लगे थे और मैने उनके जाने के बाद एक आना प्रतिदिन दान करने का नियम बना लिया था। मेरी इस प्रवृत्ति पर, प्रात:काल की पावन वेला मे, उनके हृदय से निकला हुआ आशीर्वाद मेरे जीवन को आज तक सार्थक बना रहा है।

उन स्वर्णिम क्षणो को भी मैं कभी नही भुला सकता जब श्रीमान् साहु जी को श्रावक शिरोमणि के पदवी दान समारोह के अवसर पर बाबा जी ने अनेको विद्वानो के रहते मध्यप्रान्त की ओर से मुझे अनुमोदन का अवसर प्रदान किया था। बाबा जी की सेवा करने का भी अवसर कई बार मिला। उनके घुटनो मे पीडा रहती थी। जब भी मैं पहुँचता था तो वे मुझे तुरन्त प्रसन्न हृदय से स्थान देते थे व कुशलक्षेम भी पूछ लेते थे। एक बार जब मैंने विदाई के अवसर पर आशीर्वाद मागा तब भाई नीरज जी के सामने जिस प्रसन्न मुद्रा मे आशीर्वाद दिया था वह आज भी मेरे हृदय मे अकित हैं।

जब भी हम उनके दर्शन करते, हमारे मन मे अद्भुत शान्ति का अनुभव होता। एक बार जब विद्यालय की स्वर्ण जयन्ती का महोत्सव मधुवन मे मनाया गया तब पूज्य बाबा जी भी वहाँ पधारे थे। उन्होने पारसनाथ टोक की वन्दना उस अवसर पर बडे श्रद्धापूर्वक और बडे भक्ति भाव से की थी। जिन लोगो को उस यात्रा मे बाबा जी के साथ रहने का सौभाग्य मिला, वे ही उस वन्दना की गरिमा आक सकते है।

उत्सव के बाद बाबा जी डोली पर मधुवन से ईसरी लौटे। मै और भाई नीरज उनके साथ चल रहे थे। मैंने एक जगह प्रसग निकाल कर निवेदन किया कि यदि आप बुन्देलखण्ड लौटने की कृपा करे तो यात्रा की सारी व्यवस्था हम लोग स्वत करके आपको अपने साथ धीरे-धीरे ले जावेगे और इसमे हम अपना सौभाग्य मानेगे। उनका उत्तर सीधा और सक्षिप्त था- "भैया। शरीर की स्थिति ऐसी हो गयी। ई लाश खो ढो के का कर हो।"

पूज्य महाराज के क्रान्तिकारी विचारो मे हमारे लिये जो सन्देश या आदेश भरा हुआ था उसका अर्थ समझने के लिये वास्तव मे हम, न उनके जीवनकाल मे तैयार थे, न आज ही। हरिजन मदिर प्रवेश की उनकी घोषणा किसी कोरी भावुकता की अनुगूँज नही थी। उस ललकार के पीछे जैन सस्कृति के गौरवमय अतीत का आकलन, वर्तमान का हित और भविष्यत् के कल्याण की कामना निहित थी। शिक्षा-प्रचार का उनका जीवन सकल्प अपने आप मे एक ऐसी मशाल था जिसका प्रकाश सदा सर्वदा हमे मिलता रहेगा।

आज पूज्य वर्णी जी की जन्म शताब्दी मनाते समय, उन सभी लोगो को, जो अपने आपको वर्णी जी का भक्त या अनुयायी सिद्ध करना चाहते है, अन्तरग से विचार करना चाहिये कि यदि वर्णी जी सचमुच हमारी श्रद्धा के केन्द्र थे तो उनके जीवनादर्शों को आकार देने के लिये और उनकी आज्ञाओ का पालन करने के लिये हमने क्या किया और आगे हम क्या करने जा रहे है? हमे इस प्रश्न का भी उत्तर अपने भीतर खोजना होगा कि इस दिशा मे हमे जो कुछ भी करना चाहिये था और हम नही कर पाये है। वह क्यो नही कर पाये है?

✲

बाबा जी के कुछ संस्मरण

ले० नन्दलाल सरावगी, कलकत्ता

मेरी पहली भेंट पूज्य वर्णी जी महाराज से नीमियाघाट मे ब्रह्मचारी अवस्था मे हुयी थी। लगभग चालीस वर्ष पहले की बात है। जब वे अपने हाथो मे ही भोजन बना कर खाते थे। फिर तो उनके प्रति भक्ति के कारण अनेको दफे जाते-आते रहते थे। लगभग चौतीस वर्ष पहले जब आप पावापुरी से राजगृह आये तब वहाँ पर आपने विपुलाचल पर्वत पर सीढियाँ बनाने के लिये एक सभा का आयोजन किया। उसमे आपके सभापतित्व मे यह तय हुआ कि विपुलाचल पर्वत पर पक्की सीढियाँ यात्रियो की सुविधा के लिये बनायी जाये। उस वक्त तुरन्त बीस सेठो ने एक-एक हजार रुपये देकर २० हजार रुपये एकत्र किये तथा श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी ने दो हजार रुपये नगद तथा आठ सौ बस्ते सीमेन्ट के दिये, और उसी वक्त सीढियो का कार्य आरम्भ हो गया तथा छह महीनो मे बनकर तैयार हो गयी। सन् १९४५ मे आसोज बदी चौथ के दिन आपकी जयन्ती मनायी गयी। उस समय मै पण्डित युगलकिशोर जी मुख्यार के साथ ग्वालियर गया था। उस समय आप अन्तिम समय सम्मेदाचल के निकट भगवान पार्श्वनाथ के पादमूल मे रहकर ही शेष जीवन विताने के लिये ईसरी आश्रम मे रहने लगे।

उसके बाद मध्यप्रान्त के भाई लोग उनको ले जाने के लिये आया करते थे। उस समय बाबा जी स्व० ब्रह्मचारी प्यारेलालजी भगत को तार देकर बुलाते और उनका निर्णय जाने-आने के लिये मान्य होता था। उस वक्त मै बराबर हर महीने मे दस-बीस दिन तक इनकी सेवा मे रहता था। इससे मुझे बहुत ही आनन्द व सन्तोष होता था। मेरे जीवन मे बाबा जी को मेरी भक्ति का पात्र समझता था। उनके सम्पर्क मे आने से मुझे स्वाध्याय करने की आदत पडी, वह अभी तक चल रही है। उनके पास हम चार-पाँच भाई लोग बैठते थे, उस समय उनसे बड़ी-अच्छी-अच्छी शिक्षाये मिलती थी। बाबा जी के दर्शनार्थ बाहर से अनेक लोग आते थे। सबका यही ध्येय रहता था कि बाबा जी के मुख से कुछ प्रवचन सुनकर शिक्षा ग्रहण करे। उनसे साक्षात् करने श्वेताम्बर, मन्दिर-मार्गी साधु, तेरापन्थी, बाईस टोला, मुँहपट्टी वाले साधु भी आते थे और इनसे मिलकर बहुत ही प्रभावित होते थे। पूज्य कानजी स्वामी जी उनके पास दो बार आये और बहुत ही प्रसन्न तथा प्रभावित हुए। श्री तुलसी जी महाराज अपने पाँच सौ शिष्यो के साथ आपके पास आये। उनके साथ संस्कृत के एक विद्वान कवि थे। उन्होने बाबा जी की प्रशसा मे तथा तुलसी के मिलन के सम्बन्ध मे एक बडी कविता उसी समय बना कर सबको सुनायी।

स्व० श्री छोटेलाल जी ने भारत के राष्ट्रपति स्व० श्री राजेन्द्रप्रसाद जी को (सर्वोदय सम्मेलन के समय) पूज्य वर्णी जी महाराज से मुलाकात करने के लिये प्रेरणा दी थी। उस समय राष्ट्रपति ने अपने मिलिटरी सेक्रेटरी को वर्णी जी तथा ईसरी ब्रह्मचर्याश्रम का नाम लिखा दिया था। जब राष्ट्रपति जी ट्रेन से ईसरी स्टेशन पर अपने सैलुन गाडी मे आराम कर रहे थे, उस

समय उनको दमा उठा हुआ था। उनको जब याद आया कि यहाँ पर बडे साधु जी के दर्शन करने है तब आपने अपने सैक्रेट्री को वर्णी जी के पास भेजा कि मेरे दमा उठ रहा है, आप को कष्ट न हो तो आप स्टेशन पर मोटर द्वारा आ जायें मै आपके दर्शन का इच्छुक हूँ। बाबा जी ने सैक्रेट्री से कहा कि हम गाडी पर नही बैठते हैं, इसलिये हम पैदल ही आपके साथ चलते है। उस समय स्व० लाला राजकृष्ण जी दिल्ली वाले भी साथ मे गये। बाबा जी से एक घन्टे तक राष्ट्रपति जी धर्मचर्चा सुनते रहे, और बहुत ही प्रभावित हुये। (बाबा जी जब स्टेशन पर पहुँचे तब राष्ट्रपति जूते खोलकर गाडी से नीचे उतरे और बाबा जी का चरणस्पर्श कर उनको अन्दर ले जाकर काठ की कुर्सी पर बैठाया था।) अन्त मे बाबा जी ने उनसे कहा कि यह बिहार-भूमि बीस तीर्थंकरो की पद-धूलि से पवित्र है इसलिये आप यहाँ से मद्यपान बिल्कुल उठवा देवें। राष्ट्रपति ने कहा—महाराज मैं इसको उठाने की भरसक कोशिश करूँगा पर कुछ समय लगेगा। (जिस दिन बाबा जी का निधन रेडियो द्वारा सारे भारतवर्ष मे प्रसारित किया जा रहा था उस समय राष्ट्रपति ने भी कहा था कि इन बडे महात्मा जी को मै अच्छी तरह जानता था और उनसे प्रभावित भी था।

पूज्य बाबा जी मे सरलता कूट-कूटकर भरी हुयी थी। आपके सामने कोई भी झूठ बोलने की हिम्मत नही करता था। रायबहादुर हरकचन्द जी जैन राँची वाले जो इस आश्रम के अध्यक्ष है बराबर बाबा जी की देखरेख करते रहते थे। आश्रम मे इनका एक चौका बाहर से आने वाले श्रावको के लिये बराबर चलता था। आप बाबा जी का पूरा ख्याल रखते थे।

बाबा जी गरीबो की सहायता तथा उनको अष्टमी चतुर्दशी के दिन अन्न बँटवाते थे। श्रीमान साहू शान्तिप्रसाद जी का परिवार हमेशा आपकी सेवार्थ आता था। गरीबो के लिये पाँच हजार रुपये के कपडे भिजवा दिये थे। बाबा जी की सेवा मे जैन-समाज के बडे बडे चोटी के पण्डितो का आगमन प्रत्येक सप्ताह मे होता रहता था। जब जो पण्डित आ जाता, बाबा जी उसे शास्त्र बाँचने के लिये बैठा देते थे। विद्वानो को देखकर बाबा जी प्रसन्न हुआ करते थे। एक बार बाबा जी गीरिडीह गये हुए थे। उस समय मैं और साहू जी दोनो साथ मे कलकत्ता से गये। वहाँ पर किसी पण्डित ने कहा कि सागर विद्यालय मे घाटा बहुत चल रहा है। साहू जी ने बाबा जी से पूछा आप बोले जितना मैं दे दूँ। उस समय बाबाजी ने कहा आपकी इच्छा आवे सो दीजिये। तब एक ब्रह्मचारी ने कहा कि वर्ष मे पाँच हजार रुपये का घाटा रहता है। साहू जी ने उसी समय कहा कि पाँच हजार रु० वार्षिक मैं भेजता रहूँगा, सो अभी तक बराबर जाता है। फिर साहू जी ने दूसरे दिन पण्डित स्व० बशीधर जी को अपने पास रखने के लिये आग्रह किया। पण्डित जी ने उत्तर दिया कि अब नौकरी किसी की नही करूँगा। तब साहू जी ने उनको बाबा जी की सेवा मे रहने के लिये राजी किया तब से पण्डित जी बाबा जी के पास रहने लगे।

बाबा जी के निधन के तीन वर्ष पहले जब वैद्य जी ने इनको आहार के समय अमलतास बहुत ज्यादा मात्रा मे दिला दिया, तो दो घन्टे बाद बाबा जी को बहुत पतले दस्त होने लगे और फिर वे बेहोश हो गये। तब महावीर नौकर जो उनकी सँम्भाल करता था, मेरे पास आया और कहा बाबा जी बेहोश हो रहे है। मैने उसी वक्त वहाँ जाकर इनका उपचार करना शुरू किया तब उनको पाँच बजे शाम को कुछ होश आया। उन्होने बहुत ही धीमे स्वर मे पूछा सामायिक का

समय हो गया ? मैंने कहा बाबा जी आप कमजोर है, बैठ तो सकेंगे नही, आप सोये-सोये ही करें। मै नमोकार मंत्र पढने लगा, वे सुनते गये । थोड़ी देर बाद उनको कुछ होश आया तब उन्होंने मुझसे कहा तुम हमारी देखरेख कब तक करते रहोगे ? मैंने उत्तर दिया महाराज ! जब तक आप है और मै हूँ तब तक आपका ख्याल बराबर रखूँगा तथा आपकी सेवा मे रहूँगा ।

जब स्याद्-वाद विद्यालय की स्वर्ण जयन्ती मधुवन मे मनायी गयी थी आप ही के समय मे उसके अध्यक्ष साहू जी चुने गये थे । उस समय भारतवर्ष के सारे प्रान्तो से बड़े-बड़े पण्डित तथा सेठ लोग पधारे थे । विद्यालय को एक लाख रुपये की सहायता मिली । बाबा जी ने श्री स्याद्-वाद विद्यालय काशी की नींव डाली और उससे बडे-बड़े दिग्गज विद्वान निकले । आपने जगह-जगह सैकडो विद्यालय खुलवाये । आप श्रावको को स्वाध्याय तथा दर्शन तथा पर्व के दिनो मे ब्रह्मचर्य का व्रत दिलाते । श्रावक बड़ी खुशी से ग्रहण करते और पालते थे । बाबा जी बराबर कहते थे कि जैन समाज मे शिक्षा के अभाव को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये, तब जैनधर्म चल सकेगा । जैनधर्म के मर्मज्ञ विद्वानो से ही धर्म चलता रहेगा । बाबा जी के परिश्रम से ही आज जैनसमाज मे हजारो विद्वान दिख रहे है ।

बाबा जी के निधन के दो महीने पहले ही से बाबा जी ने त्याग करना शुरू कर दिया था । आप सिर्फ आहार के समय पाँच तोला गर्म जल लेते थे । जब एक महीना हो गया तब बाबा जी को वैद्यो ने कहा अब आपका समय निकट आ गया है । उनकी अन्तरात्मा से जवाब मिला कि अभी तो समय आया नही है । फिर वही तार चलता रहा । सब बडे-बडे पण्डित तथा सेठ लोग तथा अजैन लोगो का ताँता उनके दर्शनार्थ आता रहता था ।

अंतिम दिन स्व० प० बशीधर जी ने हाथ जोड कर बाबा जी से प्रार्थना की—"महाराज अब महाव्रत लेने का समय आ गया है ।" बाबा जी हँसे और बड़ी खुशी से महाव्रत अगीकार किया ।

बस फिर उसी समय से बाबा जी के दर्शनार्थ दिन भर लोगो का ताँता बँधा रहा। रात के १ बजकर २० मिनट पर बाबा जी का णमोकार मन्त्र पढ कर निधन हुआ । फिर रात भर उनके पास णमोकार मन्त्र के जाप होते रहे । सुबह उनको एक विमान कुर्सी का बना कर उसमे बैठाया गया । आपका विमान बाजार से घूमकर आश्रम मे लाया गया । वहाँ पर उनकी उल्टी पूजा पं० शिखरचन्द जी ने मेरे द्वारा करायी । फिर पूरे चन्दन तथा सर्व औषधियो, नारियल, घी, कपूर से उनका दाह कर्म किया गया । उस दिन ट्रेन से, मोटरो से, बसो से हजारो की सख्या मे जैन तथा उनके अन्यमती भक्त लोग आये । अब उसी स्थान पर जहाँ कि दाहकर्म किया गया था एक बडा मकराने पत्थर का स्तूप उनकी स्मृति मे बनाया गया है ।

अन्त मे मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ ।

☆

तेजस्वी आत्मा वर्णी जी

ले० गुलाबचन्द्र पांडया, भोपाल

न्यायाचार्य—१०८ पूज्य गणेशप्रसाद वर्णी जी महाराज हमारी समाज हमारे देश की ही क्या बल्कि वह तो विश्वविभूति थे। वो प्राणीमात्र के कल्याण की बात सोचते थे। उनकी जीवनगाथा से सिद्ध होता है कि वह कितने दयालु, सरलहृदयी और सच्ची आत्मा थे। उनकी वाणी का प्रभाव अद्वितीय था। धार्मिक, धनिक और निर्धन सब पर उनकी समान दृष्टि थी। अनेक कोट्याधीश उनके चरणो मे नतमस्तक होकर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते थे, परन्तु वर्णी जी महाराज ने कभी किसी को आदेश नही दिया। अपने प्रवचन मे जिस किसी भी सस्था की आवश्यकता पर रचमात्र भी आप इशारा करते दातागण अपनी अत प्रेरणा से बिना किसी दबाव के पूर्ति कर देते थे। यही कारण है वर्णी जी के काल मे अनेक सस्थाओ-विद्यालयो-कालेज आदि की स्थापना हुई। बडी-बडी प्रतिष्ठाये हुई, जिन कार्यों को समाज करोडो रुपये व्यय करके भी नही कर सकती थी, वर्णी जी महाराज ने समाज के हित के लिए अपने प्रभाव से बडी सरलता से कर दिखाये। अजैन कुल मे जन्म लेने पर भी उन्होने उच्चकोटि का जैन जीवन व्यतीत किया। वह चारित्र के धनी श्रावकोत्तम रहे। क्रमश प्रतिमाओ को धारण करते हुए वह ब्रह्मचारी-क्षुल्लक आदि के व्रतो का पालन करते हुए उन्होने मुनि पद धारण किया। इसमे कोई शका नही उनकी पवित्र आत्मा यथासम्य विदेहक्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करेगी। वर्णी जी महाराज का उपकार जैनसमाज पर इतना है कि जैनसमाज उनके ऋण से कभी उऋण नही हो सकती।

सर्व धर्म सम्मेलन

पूज्य वर्णी जी महाराज का चातुर्मास मुरार (ग्वालियर) मे हुआ था। मुरार के सेठ दीनानाथ जी ने सिद्धचक्रविधान बडे आयोजन के साथ किया—भोपाल नगर से मै एव मामा जी हुकुमचन्द जी तथा सेठ जवाहरलाल जी के साथ ग्वालियर गये। इससे पूर्व वर्णी जी महाराज के प्रति पढा तो बहुत था। परन्तु दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त नही हो पाया था। रेल मे रास्ते भर वर्णी जी के विषय मे ही विचार धारा बनती रही। उनकी अनेक प्रकार की मूर्ति हृदय पटल पर आती रही—इतना विशाल व्यक्तित्व वाला मानव जिसकी प्रशसा चारो दिशाओ मे व्याप्त हो। विद्वत् समाज ही क्या जन-जन जिनके प्रति अगाध श्रद्धा-आदर भाव रखता हो। ज्यो-ज्यो ग्वालियर निकट आता जाता मन मे प्रफुल्लना बढती जाती थी। प्रात जब दर्शनो को गये वर्णी जी शास्त्र प्रवचन कर रहे थे। तभी वायुयान से सेठ बैजनाथ जी सरावगी कलकत्ते से आये। और भी अनेक स्थानो के जैन बन्धु आते जा रहे थे। महाराज ने पूछा कहो भैया कहाँ से आये हो। मैने विनम्र हो उत्तर दिया महाराज भोपाल से आये है। भोपाल का नाम सुनते ही वह प्रसन्न हो उठे और कहने लगे हमने भोपाल नगर स्थित नेमिनाथ दि० जैन मदिर भिरनो की बडी प्रशसा सुनी है। वहाँ व्रती आश्रम भी है। मैंने कहा—जी हा महाराज उस विशाल मदिर मे भूगर्भ से प्राप्त हुई भ० नेमिनाथ स्वामी की श्याम वर्ण पाषाण-पद्मासन हीरे के पालिश वाली

चमकदार साङ्गोपाग संवत १२६४ के लेख वाली महामनोज्ञ अतिशयवान मूर्ति विराजमान है। रात्रि को पू० वर्णी जी महाराज की अध्यक्षता मे सर्वधर्म-सम्मेलन हुआ। वह दृश्य मेरे हृदय पटल पर अभी तक अकित है। बहुत अच्छा सफल और शानदार यह सम्मेलन हुआ था। हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि ने वेद-उपनिषद रामायण आदि की चौपाइयो से सिद्ध किया कि—दया धर्म का मूल है। पाप मूल अभिमान। तुलसी दया न छोडिये, जब लग घट मे प्राण। अहिंसा दया ही धर्म है। ईसाई धर्म के प्रतिनिधि ने कहा—हजरत ईसा मसीह दया के अवतार थे। दयाधर्म की खातिर वह स्वय फासी पर लटक गये। उनका उपदेश है—कोई एक गाल पर चाटा मारे अपना दूसरा गाल उसके आगे कर दो। इस्लाम धर्म के प्रतिनिधि ने कहा—विस्मिल्ला उर रहमान उर रहीम—ईश्वर दयालु है। कृपालु है। दया का पालन करो॥ सिख धर्म के प्रतिनिधि ने कहा—सत श्री अकाल—गुरुनानक ने कहा है—जीव-जीव सब एक है—हिरनी मुरगी गाय, आँख देख नर खात है ते नर नर्कहि जाय॥ अत मे जैन प्रतिनिधि के रूप मे प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने बडे ही विद्वतापूर्ण ढग से अनेक ग्रथो की गाथा मे—श्लोक-सूत्र सुनाते हुए सिद्ध किया कि जैन धर्म तीर्थंकरो की परम्परा वाला अहिंसाधर्म है। इसके पालन से ही मनुष्य अष्ट कर्मो को नष्ट कर परमात्मा पद प्राप्त कर सकता है। इसलिए सर्वोत्कृष्ट धर्म जैन है। इस प्रकार सब ही धर्म वालो ने अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता बतलाई। अत मे पूज्य वर्णी जी महाराज ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए अनेक ग्रथो तथा सब ही धर्म वालो के धर्म ग्रथो की सूक्तियो को ऐसे रखा मानो उनके सामने कोई पुस्तक रखी हो और वह उसे धारावाहिक रूप से पढ रहे हो। वर्णी जी ने सब धर्मो के सारभूत सिद्धात स्पष्ट करते हुए बतलाया ससार मे सबसे बडा धर्म मानवधर्म है।

विदाई समारोह

वर्णी जी का विदाई समारोह भी दर्शनीय था। उस दिन प्रात: से ही लश्कर-ग्वालियर-मुरार तीनो शहरो के जैन-अजैन बन्धु एव आसपास के ग्रामो के बन्धु भी हजारो की सख्या मे वर्णी जी को भावभीनी विदाई देने हेतु एकत्रित हुए थे। बाल वृद्ध माताओ बहिनो की आँखो मे आँसू थे। कोई नही चाहता था कि वर्णी जी यहाँ से विहार करे, क्योकि सबको उनके चातुर्मास से अपूर्व धर्मलाभ प्राप्त हुआ था। ऐतिहासिक ग्वालियर दुर्ग के अदर एव बाहर के विशाल जिनबिबो के जीर्णोद्धार के लिए भी कुछ काम हुआ था। तत्कालीन मध्यभारत राज्य के राजस्वमन्त्री श्री श्यामलाल जी पाडवीय ने इस विदाई समारोह मे कहा था कि मेरी प्रकृति ऐसी है कि मै किसी की प्रशसा नही करता हूँ, परन्तु वर्णी जी महाराज से मै बहुत प्रभावित हूँ। इनसे हमारे क्षेत्र के सब भाइयो को अपूर्व धर्मलाभ हुआ है। मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। हम सब अनिच्छापूर्वक वर्णी जी को विदा दे रहे है। अत मे वर्णी जी ने बताया भैया—**मोह की महिमा अपरंपार है—इसी के कारण हम आज संसार-भ्रमण कर रहे है। राग-द्वेष-मोह को छोड़ने मे ही हमारा कल्याण है॥** इस प्रकार वर्णी जी का जीवन एक खुली किताब की तरह स्पष्ट है—इसमे न छलछिद्र है, न मोह है, न द्वेष है, न राग है–न लोभ है।

ऐसी पवित्र आत्मा को मेरे शतश प्रणाम।

✲

अतीत के वे अविस्मरणीय क्षण

श्री कपूरचन्द वरैया, एम. ए., लश्कर

पू० वर्णी जी भारत के एक महान आध्यात्मिक सत थे। उन्होने जीवन पर्यंत जैन समाज की सेवा की, जहाँ तक वन सका जैनधर्म के उपदेशो को धारण करने का पूर्णरूपेण यत्न किया, यहाँ तक कि अन्त मे दिगम्बर वेप मे प्राणोत्सर्ग कर एक आदर्श उपस्थित कर दिया। विद्वत्ता के साथ चारित्र का ऐसा मणिकाञ्चन सयोग बहुत कम देखने को मिला। सरलता की तो वे साक्षात् प्रतिकृति थे, लेकिन साथ ही कहाँ, किसमे, क्या काम लेना चाहिये इसके लिये परम चतुर थे।

शिक्षा के क्षेत्र मे उन्होने जो अद्वितीय कार्य कर दिखाया वह उनकी मौन साधना का ज्वलंत उदाहरण है। उनका समस्त जीवन चमत्कारी घटनाओ से ओत-प्रोत है। मै उनके कई वर्षो तक निकट सम्पर्क मे रहा हूँ। जव वे क्षुल्लक अवस्था मे समस्त त्यागीवृदो के साथ ग्वालियर आये तब उनके एक ही प्रवचन ने मेरा मन आकर्पित कर लिया। उस समय मैं स्थानीय कॉलेज मे एक बी ए का छात्र था। पण्डितो की घिसी-पिटी शैली मन्दिरो मे तरुण युवको को आकर्षित नही कर पाती थी। वर्णी जी 'समयसार' ग्रन्थ को सामने रखकर जिस समय प्रवचन करते थे, उस समय हृदय आनन्द से परिप्लुत हो जाता था। उसके प्रत्येक सिद्धान्त को अपनी तर्कसगत शैली मे उदाहरणो व दृष्टातो द्वारा श्रोताओ के हृदय मे इस प्रकार उतारते थे मानो वे अमृत के घूट पी रहे हो। ऐसा लगता था कि जैनधर्म के ये अनमोल रत्न एक साथ सहेज कर रख लिये जॉय। उनका मुरार (ग्वालियर) मे चातुर्मास करने का निश्चय तो उस समय मेरे लिये वास्तव मे एक वरदान ही सिद्ध हुआ। सभवत यह सन् १६४८ की बात है। मन मे वेहद खुशी हुई। मै उनके प्रवचनो मे नित्यप्रति जाने लगा और बडे उत्साह के साथ उनकी अमृतमयी वाणी का पान करता रहा।

कुछ समय के पश्चात् ख्याल आया कि ऐसे सुन्दर मधुर प्रवचन यदि एक ही साथ एक जगह सकलित हो जाय तो इससे न केवल वर्तमान मे ही श्रोताओ की अपूर्व तुष्टि हो वरन् भविष्य मे भी उनसे यथेष्ट लाभ मिलता रहे। इस विचार के साथ ही मैंने उन्हे एक-एक करके नोट करना शुरू कर दिया। कालान्तर मे वे प्रवचन इतने अधिक मात्रा मे सकलित हो गये कि उन्हे पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित करने का भाव जाग उठा। फलत 'सुख की एक झलक' का जन्म हुआ। इसके पश्चात् तो उनके प्रवचनो की ऐसी धुन लगी कि जहाँ-जहाँ भी वर्णी जी के चौमासे होते थे, वहाँ-वहाँ मै अनायास ही उनके पास पहुँचता रहा। इस तरह प्रत्येक चौमासे के प्रवचन सकलित करके मैं उन्हे समाज के सामने भागो की शृखला मे रखता रहा। पुस्तक के १५ भाग प्रकाशित हो गये। काश ! वर्णी जी कुछ वर्ष और जीवित होते तो शायद ये भागो की परिपाटी भी अनवरत चलती रहती। जनता ने उन्हे पर्याप्त पसन्द किया। मैं भी प्रसन्न था कि

जीवन मे मैने कुछ नही किया तो इतना अवश्य किया कि ऐसे महापुरुष की वाणी का संकलन मेरे निमित्त से हो गया ।

उनका आहार; हमारे द्वार

पूज्य वर्णी जी लश्कर की तेरापथी धर्मशाला मे समस्त त्यागी-मण्डल के साथ विराजे हुये थे । उनके आहार का प्रबन्ध धर्मशाला के अतिरिक्त शहर के अन्य भागो मे भी था । लोग बड़े भक्तिभाव से चौका लगा रहे थे । एक दिन मेरा मन भी उन्हे आहार देने का हो गया । मैं अपने परिवार के साथ धर्मशाला मे पहुँच गया और किसी तरह एक जगह उनके लिये चौके का प्रबध कर लिया ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गुरु गोपालदास जी की पुत्रवधू जो रिश्ते मे मेरी बुआ लगती थी, उनका मोरेना से अचानक आना हो गया । वह त्यागी और तपस्वियो की बडी भक्तिन थी । उसने भी प्रेरणा दी कि एक दिन के लिये चौका लगालो तो घर का समस्त दारिद्रय दूर हो जायगा । परिवार वालो ने बात मान ली और चौका भी उक्त स्थान पर प्रासुक विधि से लगा । अब प्रश्न था कि वर्णी जी का आगमन कैसे हो ? सब चाहते थे कि महाराज हमारे यहाँ ही आये । ऐसी हालत मे उनका हमारे यहाँ आहार होना कठिन बात थी । मन कुछ इस प्रकार बैठ गया था कि यदि आज आहार नहीं हुआ तो दूसरे दिन चौका लगना प्राय मुश्किल है ।

ठीक समय पर वर्णी जी धर्मशाला से आहार के वास्ते उठे और सीधे शहर की तरफ चल दिये । अब तो मन धक् करके रह गया । सौभाग्य की बात थी कि धर्मशाला के बाहर यकायक हमारी बुआ हाथ मे कलश लेकर पडगाहन निमित्त सामने आ गईं । अब क्या था ? पूर्ण विधि से पडगाहने के बाद वर्णी जी पुन धर्मशाला की ओर लौट पडे । यह देखकर मेरे नेत्र सजल हो गये । उनका विधिवत् आहार हुआ । यही नही, बहुत से त्यागी ब्रह्मचारी भी उस दिन आहार लेकर हमारे चौके को पवित्र कर गये । दूसरे दिन मुरार के लिये उनका प्रस्थान हो गया ।

उनकी स्मरण-शक्ति

वर्णी जी स्थायी तौर पर 'ईसरी' मे विराज चुके थे । मै उनके पास प्रतिवर्ष पहुँचता था । इन दिनो ला० राजकृष्ण जी, देहली की ओर से 'समयसार' ग्रन्थ छपकर वहाँ आया था । ग्रन्थ का सुन्दर गेटअप और छपाई देखकर मेरा मन भी उस ओर आर्कपित हुआ और एक प्रति लेने के भाव जाग उठे । मैने ब्र० सोहनलाल जी से पूछा, कि यह ग्रन्थ कैसे मिल सकता है ? मुझे भी एक प्रति चाहिये । वह बोले—मिल तो जायगी, लेकिन एक शर्त के साथ यह ग्रन्थ उन्ही को आधी कीमत मे मिल सकेगा जिन्हे वर्णी जी सिफारिश कर देगे, वैसे इसकी कीमत १५) है । मैने कहा, बहुत ठीक ।

दूसरे दिन मै उनके कमरे मे पहुँच गया और प्रार्थना की, बाबा जी ! समयसार की एक प्रति चाहिये । वह बोले, ले लो भइया ! ब्रह्मचारी की ओर इगित कर दिया कि इन्हे एक प्रति दे देना । मैने तत्काल ७।।) देकर वह प्रति ले ली ।

मैने उस समयसार को लश्कर के कुछ मन्दिरों के व्यवस्थापकों को दिखाया। उन्हें भी वह प्रति पसन्द आई। एक बोला, आप हर साल ईसरी जाते ही है, एक प्रति वहाँ से यहाँ के मन्दिर जी के लिए भी ले आना, जो कीमत होगी हम दे देगे।

दूसरे वर्ष मेरा पुन ईसरी जाना हुआ। मन मे सोचा, समयसार की एक प्रति बाबा जी से और माँग ले, ७।।) मे मिल जायगी, उन्हे कौन याद रही होगी कि पहले भी मैने अपने लिये इसकी एक प्रति ले रखी है। पूरे दाम मे बेच दूगा।

मौका पाते ही एक दिन कह ही बैठा कि बाबा जी ' समयसार की एक प्रति चाहिये। आप की आज्ञा हो तो ले ले। वह तुरन्त बोल उठे, 'भइया ! तुम एक कापी ले तो गये थे।' अब तो मै बगले झाँकने लगा। कुछ देर बाद साहस बटोरकर कहने लगा, लश्कर के एक मदिर जी के लिये चाहिये। वह बात ताड गये और मुस्करा कर बोले, 'अच्छा ! ब्रह्मचारी जी से कहकर एक प्रति और ले लो।'

दूसरी प्रति भी मुझे ७।।) मे मिल गई। वह मैने व्यवस्थापक महोदय को इतनी ही कीमत मे दे भी दी। लेकिन मन पश्चाताप से भर गया। सोचने लगा कि मैने ऐसा मायाचारी बर्ताव उनसे क्यो कर किया ? लेकिन साथ ही उनकी स्मरणशक्ति की भी प्रशसा किये बिना न रहा गया कि इस वृद्धावस्था मे एक वर्ष गुजर जाने के बावजूद भी उन्हे इतना याद रहा कि उक्त ग्रन्थ की एक प्रति मुझे पहले ही मिल चुकी है।

आज वर्णी जी हमारे बीच नही है। केवल उनकी स्मृति शेष भर रह गई है। इस शताब्दी महोत्सव के शुभ अवसर पर मेरी उनको शतश श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

वाचमर्थोऽनुधावति

श्री पं. अमृतलाल जी शास्त्री—वाराणसी

मुझे पूज्य वर्णी जी के दर्शन प्रथमत बरुआसागर मे स्व० सेठ मूलचन्द्रजी सर्राफ के यहाँ हुए थे। आप अत्यन्त मधुरभाषी थे। बिना किसी भेदभाव के वे छोटे-बडे सभी व्यक्तियो से बात करते थे। मै अपने साथियो के साथ पूज्य वर्णी जी के पास गया था। हम सभी तीसरी कक्षा के विद्यार्थी थे। हम सभी से वर्णी जी ने बात की, और कुछ शब्द लिखवाये। देखने के बाद उन्होने मेरे शब्दो को सही बतलाया और यह कहा कि तुम सस्कृत पढो। सागर की पाठशाला मे चले जाओ। सागर जाने की लालसा मेरे मन मे उठी, पर कुछ कारणो से वहाँ जा न सका। स्कूल मे ही पाँचवी कक्षा तक पढता रहा, पर 'सस्कृत पढो'—इस वर्णिवाक्य को भुला न सका। फलत सस्कृत पढना शुरू किया।

संस्कृत पढते समय एक बार मुझे रुपयों की आवश्यकता पडी। पूज्य वर्णी जी को ईसरी के पते पर पत्र लिखा। वहाँ से आपने तुरन्त उत्तर दिया—बाबू पन्नालालजी चौधरी से प्रतिमास सवा रु० ले लिया करना। साथ ही यह भी लिखा कि 'अब तुम्हे रु० की कमी नही पडेगी। चौधरी जी को, जो उस समय स्याद्वाद विद्यालय के सुपरिन्टेन्डेन्ट थे, आपने लिखा कि मेरे जमा रु० के ब्याज मे से दो वर्षो तक अमृतलाल को सवा रु० मासिक छात्रवृत्ति देते रहना। ठीक दो वर्षों के पश्चात् कृष्णाबाई जी को जो सम्प्रति महावीरजीमे है, गोम्मटसार जीवकाण्ड पढने के लिये भेजा। उनके द्वारा दिये गये पत्र के आधार पर मैने पढाना शुरू कर दिया और कृष्णाबाई जी ने भी प्रतिमास दस रुपये देना प्रारम्भ कर दिया। मेरी आर्थिक कठिनाई समाप्त हो गई और अध्ययन भी चलता रहा। बाद मे तो मै अध्यापन मे लग गया। पूज्य वर्णी जी का वाक्य 'अब तुम्हे रुपयो की कमी नही पडेगी' मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ। सच तो यह है कि महान् पुरुष जैसा कहते है, वैसा ही होता है। 'वाचमर्थोऽनुधावति'।

लरका और बंदर एक जात के होत है—

शिखर जी जाते समय पूज्य वर्णी जी एक-दो दिन काशी मे रुके थे। जब वे जाने लगे तो स्याद्वाद विद्यालय के सभी छात्र उन्हे पहुँचाने के लिये बहुत दूर तक उनके साथ गये। रास्ते मे एक आदमी अपने सिर पर अमरूदो से भरा टोकरा रख कर चला आ रहा था। वर्णी जी ने उस से पूछा—पूरे अमरूद कितने मे दोगे? उसने कहा पाँच रुपये मे। साथ मे पैदल चलने वाले ब्रह्मचारी श्री नाथूराम जी कुछ कम कराने का यत्न करने लगे। पर वर्णी जी ने कहा—बेचारा गरीब है। जो कह कहा है, ठीक है। पाँच रुपया दिलवा दिये और टोकरे के सारे अमरूद छात्रो मे वितरण करवा दिये। सभी छात्र वही खाने लगे, तो एक ब्रह्मचारी जी बोले—जे कैसे लरका है, चडी पनैया खान लगे। तब पूज्य वर्णी जी बोले—'भैया, लरका और बँदरा एक जात के होत है।'

✲

ज्ञानमूर्ति वर्णी जी

—पं० कन्छेदीलाल जैन, शहडोल

जिन दिनो मै सागर विद्यालय मे पढता था, उन दिनो पूज्य वर्णी जी भी कभी-कभी सागर उदासीन आश्रम मे रहते थे। प्रशम एव ज्ञानमूर्ति वर्णी जी के नाम से किसी सस्था की स्थापना या उनके वास्तविक गुणो की चर्चा का प्रसग जब उनके सामने किया जाता था तो वे हमेशा यही कहते थे कि मेरा नाम सस्था के नाम के साथ न जोडो। वे अपनी प्रशसा से दूर रहना चाहते थे।

मेरी इच्छा हुई कि पूज्य वर्णी जी का एक चित्र अपने पास रखूँ। किसी विद्वान के निर्देश से ऐसा चित्र लिया था जिसमे वर्णीत्रय थे।

वर्णित्रय मे स्व० दीपचन्द जी वर्णी को श्रद्धा की मूर्ति कहा जाता था। अंग्रेजी के विद्वान् की जैनधर्म के तत्त्वो के प्रति प्रगाढ निष्ठा देखकर लोगो ने यह नाम रखा था। पूज्य गणेश वर्णी को ज्ञान की मूर्ति कहा जाता था। पूज्य वर्णी जी ने नव्य-न्याय जैसे कठिन विषय मे आचार्य की उपाधि तो प्राप्त की ही थी, साथ मे सभी जैन-शास्त्रो का आलोडन किया था। वे जहाँ कही भी जाते थे, धार्मिक शिक्षाहेतु पाठशाला या विद्यालयो की स्थापना की प्रेरणा देते थे। विद्वानो एव पाठशाला के छात्रो के प्रति उनका वात्सल्य अवर्णनीय था।

स्व० वावा भागीरथ जी वर्णी को चारित्र की मूर्ति कहा जाता था क्योकि वे छने जल की मर्यादा का ध्यान स्याही के प्रयोग तक मे किया करते थे।

जैनदर्शन मे मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को माना गया है इसे हम त्रिवेणी भी कह सकते हैं। ज्ञान को तीनो के मध्य मे रखा गया है। ज्ञान एक ओर श्रद्धा को जगाने और श्रद्धा पर स्थिर रहने मे सहायक होता है वहाँ चारित्र को भी उज्ज्वल रखने की प्रेरणा करता है। ज्ञान के विना चारित्र ढोग वन सकता है और श्रद्धा विचलित हो सकती है। अथवा अन्ध विश्वास या रूढि मे बदल सकता है। इसलिए जिस प्रकार मुक्तिमार्ग मे ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसी प्रकार समाज मे ज्ञानप्रसार करने वाले ज्ञानमूर्ति पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूज्य वर्णी जी द्वारा सस्थापित सागर एव वनारस के विद्यालयो के कारण मुझ जैसे अकिचन कितने ही लोगो ने आत्मोपकारक-विद्याप्राप्ति का सुयोग पाया।

एक प्रवचन मे वर्णी जी ने धार्मिक सस्थाओ से निकले हुए स्नातको को उद्‌वोधन दिया था कि जव तुम अर्थार्जन करने लगो तो अपनी कमाई मे से प्रतिरुपया एक पैसा पारमार्थिक सस्थाओ के लिए दान मे निकालते जाना। स्नातको के लिए इस उद्‌वोधन को कार्यरूप मे परिणत करने पर विचार करना चाहिए।

१५ अगस्त ४७ को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दिन सागर के किले मे प्रात: दो मिनट के समय मे वर्णी जी ने कहा था कि एक और एक मिलकर दो होते है परन्तु उनमे भिन्नता न हो तो १ और १ मिलकर ११ (ग्यारह) होते है। इसी प्रकार देश और समाज के लोग सगठित हैं तो समाज या देश को सगठन शक्ति के कारण कोई क्षति नही पहुँचा सकेगा। सक्षेप मे हृदय को छूने वाली बात कहना उनका विशेष गुण था।

पूज्य वर्णी जी ने विद्या प्राप्त कर, विद्याप्रसार कर आत्मकल्याण भी किया परन्तु उस विद्या का सुयोग पाकर उसका उपयोग किस प्रकार कर रहे है अपने आप मे एक विचारणीय प्रश्न उठाकर उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

*

उन सन्त को प्रणाम

—पं० बालचन्द जैन, शास्त्री, नवापारा-राजिम

परम पूज्य श्रद्धेय वर्णी जी महाराज के उपकारो से सारा जैन समाज ही उपकृत नही है वरन् कहना चाहिये कि सारा प्राणिमात्र उपकृत है। जिन्होने कि जबलपुर मे अपने चादर की छत्रछाया मे उन सैनिको को भी सरक्षण दिया था जिनके बल पर कि समूचे राष्ट्र की परतन्त्रता की बेडियाँ काटे जाने का प्रयत्न चल रहा था। पूज्य वर्णी जी ने समस्त जैन समाज को एक छत्र के नीचे लाने का भारी प्रयत्न किया, उस समय समाज मे व्याप्त रूढियो को दूर किया और बहिष्कृत लोगो को जिनमदिर-पूजनादि के द्वार खुलवा दिये। पूज्य वर्णी जी की ही देन है कि उन बहिष्कृत जैन भाइयो को उस प्राचीन बुन्देलखण्ड मे भी आज समानता का व्यवहार किया जाने लगा है। स्वर्ग-स्थित उनकी आत्मा आज भी जन-कल्याण के लिये आतुर हो रही होगी। उस महान सत के पुनीत चरणो मे श्रद्धासुमन चढाकर श्रद्धाजलि समर्पित करता हूं।

एक लोकोत्तर पुरुष वर्णी जी

स० सिं० धन्यकुमार जैन, कटनी

श्री पूज्य वर्णी जी एक लोकोत्तर पुरुष थे। उनकी कुछ ऐसी विलक्षणताएँ थी, जो सामान्य जनो, विद्वानो व त्यागियो मे नही पाई जाती।

वे स्वय बुद्ध थे—जैनधर्म की उपलब्धि स्वयं के पुरुषार्थ से उन्होने की थी। इस पुरुषार्थ मे उनके जन्मान्तर के सस्कार ही कारण हो सकते है। उनकी श्रद्धा जैनधर्म पर इतनी गाढ थी कि जीवन की कठिन से कठिन परीक्षा मे भी वह शिथिल नही हुई, प्रत्युत बढती ही गई। उनका अध्ययन काल बडी कठिनाई से व्यतीत हुआ। उस समय विद्याध्ययन के कोई स्रोत जैनसमाज मे नही थे। कोई विद्यालय नहो था। कोई छात्रो से सहानुभूति रखने वाला उदार दातार नही था और न कोई छात्रवृत्तिफण्ड ही था। ऐसी कठिन अवस्था मे, अपनी कच्ची उमर मे जैनेतर अध्यापको के पास-स्वगृहत्याग-साधन विहीन-एकाकी परदेश गमन तथा अर्थाभाव मे अध्ययन करना कितना कठिन था इसकी कल्पना से ही रोगटे खड़े होते है।

जैनधर्म के साथ विरोधी भावना रखने वाले पडितो के पास अध्ययन करने वाले—तथा स्वय अजैन कुल मे—उनके सस्कारो मे ही पले हुए—श्री वर्णी गणेशप्रसाद जी ने किस प्रकार विद्या प्राप्त की, अपनी जैनधर्म की श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रहे तथा उसे दृढतर बनाते रहे, यह

एक आश्चर्यजनक तथ्य उनके लोकोत्तर पुरुषत्व का प्रबल प्रमाण है। आगे चलकर वे केवल क्रिया-काण्डी त्यागी तथा व्याख्यानपटु पडित नही बने। वे अध्यात्म के गहरे अध्येता, धर्म के मर्म का पालन करने वाले, दृढसकल्पी विद्वान तथा सच्चे त्यागी बने।

अपने अध्ययन कार्य को वे जीवन भर चलाते रहे। वे सहस्रो विद्यार्थियो के गुरु होकर भी जीवन भर विद्यार्थी रहे। अध्ययन उनसे अन्त तक नही छूटा। प्रात काल तीन बजे वे शय्या त्याग देते थे। समयसार का अध्ययन उनके जीवन का व्रत हो गया था। श्रोताओ को भी वही सुनाते थे। जब कोई विद्वान या श्रोता कभी भिन्न विषय पर उनसे चर्चा-वार्ता करने का प्रयत्न करे या प्रश्न करे तो सब कुछ जानते समझते हुए भी वे एक कथा कह देते थे, कथा इस प्रकार थी—

"एक रँगरेज था, जो लोगो की पगडी रँगा करता था। उसे केवल एक रँग मे पगडी रँगना आता था। वह था—"मधई का रँग" अनेक व्यक्ति पगडी लाते और उसे विविध रँगो मे रँगने का रँगरेज से आग्रह करते। तब वह कहता था कि आप कुछ भी कहो, पर पगडी पर "मधई का रँग" जितना अच्छा लगता है वह दूसरा रँग नही लगता। वह इसलिए कहता था कि उसे उस एक रँग मे रँगना ही पसन्द था, अन्य नही।

भैय्या! मुझे भी एक ही बात आती हे वह है अध्यात्म। मुझे वही पसन्द है, जो मेरी दशा उसी रँगरेज जैसी है। आप तो मेरे पास अध्यात्म की ही बात सुनो।"

यह था उनका अध्यात्म के प्रति रसिक भाव।

अपनी प्रौढावस्था मे—जैन समाज मे सर्वत्र उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक उन्होने विहार कर जैनसमाज का गुरुत्व प्राप्त किया। लोगो मे धर्म के प्रति स्थिर श्रद्धा उत्पन्न की। सम्यक्त्व की महती प्रभावना की। समाज के बालको को धार्मिक सस्कार व शिक्षा प्राप्त हो उसके लिए—काशी-सागर-कटनी-द्रोणगिरि-पपौरा-बरुआसागर साढूमल-देहली-सहारनपुर आदि नाना स्थानो मे सस्कृत व धर्म शिक्षा के विद्यालय व छात्रालय स्थापित किए। समाज मे किसी भी अपराध के द्वारा पीडित व्यक्ति को सुमार्ग पर लगाने तथा क्षमादान करने के लिए उनकी आत्मा मे बडी तडप थी।

वे चित्त के अत्यन्त दयालु थे। दुखी को देखकर वे किसी भी कीमत पर किसी भी त्याग पर उसका दु ख दूर करना चाहते थे। स्वय कष्ट उठाकर भी अपने सीमित वस्त्रो को गरीब के लिए तत्काल दान दे देने का प्रसङ्ग उनके जीवन मे अनेक बार आया है। उनकी जीवन-गाथा ऐसी घटनाओ से भरी पडी है। जब उन्होने स्वय भूखे रहकर भूखो को अन्न, स्वय निर्धन होकर दूसरो को अपने पास का धन, स्वय निर्वस्त्र होकर अपने वस्त्र देकर दुखी जीवो के दु ख तत्काल दूर किये है।

वे अपराधी के प्रति सद्भावना-क्षमा रखते हुए भी अपराध के प्रति कठोर रुख रखते हैं।

उनकी व्रत-साधना के प्रति कठोरता तथा पीडितो-पतितो के प्रति अत्यन्त सहानुभूति--दोनो परस्पर विरोधी जैसी दीखने वाली बातो का सगम--महाकवि भवभूति कवि के शब्दो मे कि—

"वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणाम् चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ।।"

उनकी लोकोत्तर प्रवृत्ति का ही परिचायक था ।

पूज्य वर्णी जी किस पर कृपालु नही है, यह नही जाना जा सकता था । किस परिवार के प्रति उनकी घनिष्ठता नही थी, यह भी नही कहा जा सकता था । हर व्यक्ति और प्रत्येक परिवार आज भी मानता है कि उनकी सबसे ज्यादा कृपा व स्नेह हम पर ही थी । ऐसे लोकोत्तर पुरुष हमारी दृष्टि मे ही नही, अनेको की दृष्टि मे भी केवल वे ही थे । इसी कृपा-पूर्ण शृखला मे मैं और मेरा परिवार भी था । कटनी उनका एक प्रिय स्थान था । वे अपनी अध्ययनावस्था मे भी सागर से बनारस या बनारस से सागर जाते समय जकशन के कारण कटनी ठहरते थे । मेरे परिवार के साथ उनका सबध यही से स्थापित हुआ था ।

स्व० पूज्य ब्र० गोकुलदास जी से उनका गुरुत्व तथा उनके सुपुत्र प० जगन्मोहनलाल जी जैन शास्त्री से उनका शिष्यत्व का नाता था । साथ ही वे दोनो हमारे परिवार के अविभाज्य अंग थे और आज भी है । इस कारण भी वर्णी जी का मेरे परिवार के साथ धार्मिक सबंध संस्थापित था । कटनी मे सस्कृत विद्यालय व छात्रावास उनकी ही प्रेरणा के फल है, जो पचासो वर्षो से अक्षुण्ण रूप से चले आते है । मेरे परिवार द्वारा शिक्षा खाते मे ही विशिष्ट दान उनकी ही प्रेरणा का फल है ।

मेरी स्वर्गीया माता जी उनकी अनन्य भक्त थी । जब वे सप्तम प्रतिमाधारी थे, अपने हाथ से स्वय पाक करते थे । उस समय माता जी ने साग्रह उनसे कहा "हमारा भाव है कि आप आजीवन हमारा निमत्रण स्वीकार करे ।" वर्णी जी ने कहा, "मुझे मजूर -है मै तो स्वय पाकी हूँ । जब अन्यत्र भोजन को न जाऊँगा तब तुम्हारा अन्न ही भोजन मे पका लूगा । तुम १००) रु० मात्र भेज दिया करो ।"

वर्णी जी को माता जी उनकी स्वीकृति के अनुसार १००) भेज देती थी । पर जब उन्होने रुपया पैसा रखने का त्याग किया तो पत्र लिखकर रुपया भेजने का निषेध कर दिया । वह पत्र अन्यत्र प्रकाशित है । मैने सागर–ईसरी–जबलपुर–सतना–सहारनपुर–दिल्ली आदि स्थानो पर जाकर उनका पुण्य दर्शन किया, उपदेश पाया और जीवन कृतार्थ किया । उनके जीवन की सम्पूर्ण घटनाएँ उनके लोकोत्तर जीवन की परिचायक हैं ।

मै उनकी इस शती पर अपनी समग्र आन्तरिक पवित्र भावना से अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ तथा ऐसी भावना है जो भव-भव मे ऐसी सत्संगति प्राप्त हो ।

✲

वर्णी जी ! तुम्हें शत शत वन्दन, शत शत प्रणाम

—महेन्द्रकुमार मानव
एम० ए०, साहित्य-रत्न, विधायक, छतरपुर (म प्र)

पूज्य श्री वर्णीजी एक बार छतरपुर पधारे थे, सन् मुझे स्मरण नही है। उनके साथ थोडा सा सामान और ४-५ व्यक्ति थे। सामान मे किसमिस, काजू, भोजन की सामग्री और एक छोटा-सा विस्तर आदि थे। आज यह भी स्मरण नही है कि वे कितने दिन छतरपुर रहे थे ? मुझे स्मरण आता है कि प्रात वे तेल की मालिस कराया करते थे। छतरपुर की जैन समाज मे उस समय फूट थी। वर्णी जी सबको 'भैया' कह कर पुकारते थे। उनसे मिलकर सभी को आत्मीयता का बोध होता था। मनुष्य के मन मे जैसी भावना हो वह शब्दो मे प्रकट हो ही जाती है। उनके 'भैया' शब्द मे बन्धुत्व का भाव प्रकट होता था और वे सचमुच मे साधर्मीजनो को सगे भाई का स्नेह देते थे। वर्णी जी बुन्देलखण्ड के थे और पूरे बुन्देलखण्डी थे। उसके बाद वर्णी जी के दर्शन करने का मुझे कई बार सौभाग्य मिला, द्रोणगिरि और सागर मे। और जब-जब मे उनसे मिला उन्होने मुझे बडा प्यार दिया। विरोध करना तो वे किसी का जानते ही नही थे। वर्णी जी ने छतरपुर मे रहकर समाज की फूट को मिटाने का प्रयत्न किया, जिसमे वे सफल हुए। विद्यालय खोलने पर भी जोर दिया। काशी मे स्याद्वाद विद्यालय खुलवाकर उन्होने अमर कीर्ति तो अर्जित की ही है लेकिन बुन्देलखण्ड मे समाज की अवनति का मूल कारण वे अशिक्षा ही मानते थे और इसीलिये जहा भी वे जाते थे वहा पर विद्यालय खोलने पर जोर देते थे। आज बुन्देलखण्ड मे जो स्थान-स्थान पर जैन विद्यालय चल रहे है वे उन्ही की देन हे। यह भी उन्ही की देन है कि एक समय जहाँ की समाज मे अशिक्षा का जोर था आज वहाँ की (बुन्देलखण्ड) समाज मे से ही अनेकानेक विद्वद्-रत्नो की उत्पत्ति हुई।

सन् १६४२ मे जब मैं जबलपुर जेल मे था तब मेरे साथ जेल मे जबलपुर का एक जैन नवयुवक रूपचन्द्र भी था। जब वर्णी जी जबलपुर मे थे उस समय की एक घटना है। जबलपुर समाज के कुछ लोग रूपचन्द्र की कुछ शिकायत वर्णी जी से कर रहे थे कि उसका आचरण खराब है। वह खान-पान से गिर गया है। अभक्ष्य भक्षण करता हे। अडा मास खाता है इत्यादि। उसी समय रूपचन्द्र वर्णी जी से मिलने गया था, वह दरवाजे के बाहर खडा था। अन्दर लोग उसके बारे मे बाते कर रहे थे। वर्णी जी ने उन आलोचको को जवाब दिया कि वह समाज का लडका है। आज वह कितना ही पतित हो गया हो लेकिन एक दिन उसे पश्चात्ताप होगा और वह सुधर जावेगा। जैन-धर्म के जो सस्कार उसके मन पर पडे है वे बचपन से पडे है अत. एक न एक दिन प्रभावशील सिद्ध होगे। हमे अपनी हिम्मत नही हारना चाहिये। जहाँ से रूपचन्द्र ने ये शब्द सुने, उसने अन्दर जाकर वर्णी जी के चरणो मे अपना सिर रख दिया और कहा कि मै ही वह रूपचन्द्र हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से कभी अभक्ष्य भक्षण न करूंगा। मनुष्य मे वर्णी जी की बडी

उत्कट आस्था थी। उनका विश्वास था कि मनुष्य चाहे कितना ही बह जाय, कितना ही कुमार्गी बन जाय, वह लौट सकता है, सुधर सकता है। दूसरे उनकी आस्था थी कि कुल-धर्म के लिये कुल जाति की श्रेष्ठता आवश्यक नही है। जिन्हे हम नीच जाति का कहते है उनमे भी धर्म हो सकता है। मेरी-जीवन-गाथा मे उन्होने उल्लेख किया है कि मछुवाहे की लड़की जिसका पिता मछली मारता था, मरती हुई मछलियो की विकलता को देख कर उसका मन द्रवित हो उठा था। और उसने अपने पिता को मछली मारने से रोका था। वर्णी जी समन्वय-वादी थे। उन्होने ऐसे मन्दिर की कल्पना की थी कि जिसमे सभी धर्मो के पैगम्बरो की मूर्तिया सगृहीत हो और उन्होने ऐसे स्वाध्याय भवन की कल्पना की थी जिसमे सभी धर्मों के ग्रन्थ हो। जैनधर्म के कट्टर मर्मी होते हुए भी उनमे छुआछूत की भावना छू तक नही गई थी। वर्णी जी ने सचमुच मातृहृदय पाया था, वे वात्सल्य से भर उठते थे जब कभी किसी साधर्मीजन को देखते थे। मै सोचता हूँ कि मनुष्य उचाइयाँ कैसे प्राप्त करता है ? तो उत्तर मिलता है कि हृदय की गहराइयो मे जाकर। और इसीलिये वर्णी जी हम सबसे ऊँचे थे।

उनके प्रति मेरा शत-शत बन्दन, शत-शत प्रणाम।

मेरी डायरी के पृष्ठों पर पूज्य वर्णी जी

ले० पं० भैया शास्त्री "कौछल्ल"
काव्यतीर्थ आयुर्वेदाचार्य टी. टी. रोड, शिवपुरी (म. प्र)

सन १९४८ की बात है जब मैं शासकीय सर्विस मे था सुना कि पूज्य वर्णी जी सौनागिरि मे विराजमान है। अवकाश लेकर गिरिराज के दर्शनो के साथ साथ भारत के वीतराग महान् संत के दर्शनो को चल दिया। शैलराज की वन्दना कर पूज्य वर्णी जी के चरणकमल स्पर्श किए। वर्णी जी बोले भैया ! इस समय कहा से आये हो, मैने उत्तर दिया महाराज ! अब मै शासकीय चिकित्सक के रूप मे शिवपुरी मे कार्यरत हूँ। आपका आना सुना तो दर्शनार्थ चला आया। पास मे बैठे सिद्धातशास्त्री प० फूलचन्द जी से कहा भैया ! इन्हे ग्रन्थऊ कराइयेगा। मैने कहा महाराज जी मै ग्रन्थऊ कर चुका हूँ। अब तो चाहता हूँ आपका पवित्र उपदेश और चाहता हूँ अपनी सन्देश डायरी मे आपका सन्देश। यह सुनकर प० जी की ओर सकेत करते हुए कहा कि तुम इन्हे सन्देश लिख दो। प० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री महोदय ने डायरी लेकर सन्देश लिखना आरभ कर दिया लिखा कि "जीवन की साधना सेवा, त्याग, आत्मशुद्धि है जिसने इस त्रयी को अपनाया है उसी का जीवन सफल है"। निकट बैठे न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमार जी ने डायरी हाथो मे ले ली और दूसरे पृष्ठ पर उन्होने लिखा—"नेता चुनने मे बुद्धिमानी करो इसमे जल्दबाजी और भावुकता घातक होती है। जीवन का लक्ष्य है मानवता के विकास के लिए अपनी समर्थतम विचार-सन्तति अर्पण करना।"

विद्वानो ने डायरी के दो पृष्ठ लिख दिए, वर्णी जी बोले भैया कहो अब और कुछ कमी रही क्या ? मै उत्तर नही दे पाया कि सिद्धातशास्त्री जी ने मेरी डायरी वर्णी जी के हाथ मे दे दी, महाराज जी आप भी कुछ लिख दीजियेगा। शास्त्री जी ने कहा, ये चाहते हैं आपका पवित्र सन्देश। हम लोगो ने तो आपकी आज्ञा का पालन कर दिया। वर्णी जी मुस्कराये और पेन्सल निकाल कर लिखना आरभ कर दिया :—

"मनुष्य उसे कहते है जो पराई आशा न करे, हमने आज तक पराई अपेक्षा की, इसी से ससार यातनाओ के पात्र हो रहे है, यदि ससार को कल्याण करने की इच्छा है तब सबं से पहिले अपनी प्रवृत्ति को पवित्र बनाने का प्रयत्न करो।"

सोनागिर — आ० शु०
२३-४-४८ — **गणेश वर्णी**

यह था पूज्य वर्णी जी का पावन सन्देश जो वास्तव मे मानव जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला है।

वस्तुत मानवता की कसौटी है उसका वह दैनिक जीवन जिसमे पराई आशा न की जावे, कर्तव्य और उद्देश्य को समझने के लिये आत्म-निर्भर होना महान पुरुषो का चरम लक्ष्य होना चाहिए।

यदि आप अपने को श्रेष्ठ पुरुषो मे गिनना चाहते हो तो वर्णी जी के उपदेशानुसार अपनी प्रवृत्तियो को पवित्र बनाओ और ये प्रवृत्तिया तभी पवित्र बन सकती है जब कि पराई-आशा न की जावे।

एक सन्तुलित मस्तिष्क वाले मानव को आत्म-सम्मान ही नही, आत्म-कल्याण के लिए परपदार्थों का मोह छोड कर अपने ही मे लीन होना होता है। तभी वह अपना और पराया कल्याण कर सकता है।

भौतिकवाद की चकाचौध मे फँसे प्राणियो को ज्ञानदान देकर जिनका पावन उपदेश कल्प-काल तक मुमुक्षु प्राणियो को पथ-प्रदर्शन करता रहेगा। ऐसे अज्ञानाधकार को दूर करने वाले गणेशकीर्ति महाराज के श्रीचरणो मे इस शताब्दी समारोह के पुण्य अवसर पर मेरी अनन्त श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

✲

दूसरे की नही किन्तु अपनी ही तारतम्यावस्था को देखकर विरक्त होना चाहिये। परमार्थ से तत्त्वज्ञान बिना विरक्तता होना अतिदुर्लभ है।

—गणेश वर्णी

श्रद्धाञ्जलि

—स० सि० पं० रतनचन्द्र जैन शास्त्री
वामौरकला म० प्र०

समाज जागरण के अग्रदूत, त्यागमूर्ति, परम आध्यात्मिक सत, पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य महोदय को वर्णी शताब्दी की पुण्य वेला पर मेरी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि सादर समर्पित है।

संस्मरण

—शाह हजारीलाल रामप्रसाद जैन,
जुमेराती बाजार, भोपाल

पूज्य वर्णी जी का समागम हमको श्री सोनागिर जी मे हुआ। उनकी सरलता अपूर्व थी। उनके आहारदान का सुयोग प्राप्त हुआ। उसके बाद श्री नैनागिर जी रथोत्सव मे मिले। साथ मे शौच को गए। रास्ते मे चने के खेत मे एक बुढिया ठड से सिकुड रही थी। आपने अपना खेस उसको उढा दिया। मैने कहा बाबाजी आपको ठड लगेगी। बाबाजी कहते है कि हमारा पुण्य होगा तो मिल जायगा। डेरा मे नहाने के बाद ही दिल्ली वाले सेठ राजकृष्ण जी प्रेमचन्द जी खेस लाते है और बाबाजी को उढा देते है। आप ईसरी मे थे, मै वहाँ पहुँचा। ८ बजे रात्रि को फाटक बद था। मैने फाटक पर आवाज दी तो भीतर से वर्णी जी कहते है कि फाटक खोल दो। भोपाल से हजारीलाल आया है। अत. पूज्य श्री की सरलता दया विद्वत्ता की क्या प्रशसा करूँ। मैं तो उनके चरणो से श्रद्धापूर्वक श्रद्धाजलि सदा ही अर्पण करता आया हूँ। सागर मे भी श्रद्धापूर्वक वर्णी भवन मे उनकी स्टेच्यू का अनावरण करने का सौभाग्य मिला था। अतः अब भी दो पुष्प श्रद्धा के अर्पण करता हूँ।

पर द्रव्य मेरा स्व नही, मै उसका स्वामी नही नही पर द्रव्य ही पर द्रव्य का स्व है और उसका स्वामी है। यही कारण है कि ज्ञानी पर द्रव्य को ग्रहण नहीं करता।

—गणेश वर्णी

सन्त-हृदय नवनीत समाना

—पन्नालाल जैन

सतना सीमेन्ट वर्क्स, सतना

"एक बार मुझे डालमियानगर जाने का अवसर आया तो भाई नीरज जी ने प्रेरणा दी कि यदि एक दिन का समय निकाल सको तो ईसरी जाकर पूज्य बाबाजी के दर्शन अवश्य कर आना। उनकी वृद्धावस्था है, स्वास्थ्य ठीक नही रहता, पता नही फिर दर्शन हो, न हो।

डालमियानगर पहुँचकर एक दिन उचित अवसर निकालकर पारसनाथ का टिकिट लेकर गाडी मे बैठ गया और ईसरी पहुँचा। क्षेत्र की बस मधुवन जाने के लिये स्टैंड पर तैयार थी, किन्तु मुझे तो बस मे बैठने से पूर्व पूज्य बाबाजी के चरणो मे धोक देना थी। लोगो से आश्रम का पता पूछता दौडता हुआ उदासीन आश्रम पहुँचा। श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शनोपरात पूज्य बाबाजी के चरणो मे धोक दी। आहार के बाद पूज्य मनोहरलाल जी वर्णी के साथ धूप मे बैठे हुये वे कुछ चर्चा कर रहे थे। बैठने पर पूज्य बाबा जी ने पूछा, भैया कहाँ से आये हो ? जवाब दिया, महाराज सतना से। फिर प्रश्न हुआ, सतना मे क्या करते हो ? मैने कहा, नौकरी। इतनी जानकारी के बाद बहुत सक्षेप मे, सतना के एव सागर के अनेक महानुभावो के हाल-चाल पूँछ लिये।

श्री मनोहरलाल जी वर्णी ने प्रश्न किया, ऊपर पहाड की वदना को जाओगे ? मैने कहा, सिर्फ मधुवन तक जाऊँगा और नीचे की वदना करके सायकाल वापस डालमियानगर चला जाऊँगा। मुझ से अधिक तीव्र भावना श्री सम्मेदशिखर जी के दर्शनो की, मेरी धर्मपत्नी की है। इसलिए मै पर्वत पर जाकर वदना नही करूँगा, कारण कि घर पहुँचने पर, यह जानकारी होने पर कि मैं श्री सम्मेदशिखर जी के दर्शन अकेले कर आया, उसे बहुत अधिक विषाद होगा। इस पर श्री मनोहरलाल जी वर्णी ने तो कहा कि अरे भैया, इस दुनिया मे कौन किसका है ? समय का ठिकाना नही। तुम्हे वदना कर आना चाहिये। किन्तु पूज्य बाबा जी ने मेरी ओर इशारा करके कहा, नही भैया। ठीक कहते हो। जाओ मधुवन के ही दर्शन करो। भगवान पार्श्वनाथ चाहेगे तो जल्द ही सपरिवार उनके दर्शन करोगे। हर्ष के मारे मुझे रोमाच हो आया। बाबा जी के चरणो मे नमस्कार कर मै स्टेशन पर वापस आकर बस से मधुवन चला गया। सायकाल लौटने पर फिर उनके चरणो मे नमस्कार कर डालमियानगर वापस आ गया।

वर्णीजी का आशीर्वाद इतना सत्य हुआ अगले कि सात-आठ महीने मे ही भाई नीरज के साथ सपरिवार ईसरी मे, उनके सामने मनाई जाने वाली जयन्ती महोत्सव मे, सपरिवार ईसरी पहुँचा।

उसी अवसर पर कई मित्रो एव साधर्मी जनो के साथ अतिशय सुखकारी वदना के पुण्यलाभ के साथ जयन्ती महोत्सव का लाभ लिया। उसके उपरान्त तो उनके अंतिम दिनो मे भी कुछ समय उनकी चरण-सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ। वर्णी जी एक महान सत थे। उनके दर्शन से चित्त मे शाति और कोमलता प्राप्त होती थी। उनके चरणो मे शत-शत प्रणाम।

जिसे कभी नहीं भुलाया जा सकता

—कमलकुमार जैन, द्रोणगिरि (म प्र.)

सन् १९५३ मे, शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य बना कर मैं और श्री रतनचन्द्र जी बरायठा, जैन हायर सेकेण्डरी स्कूल ईसरी मे अध्ययन हेतु पहुँचे। ईसरी की जलवायु मेरे अनुकूल सिद्ध नही हुई। साथ ही अकेलापन के कारण अच्छा भी नही लगा। उस समय पूज्य वर्णी जी का चातुर्मास गया जी मे हो रहा था। वर्णी जी के दर्शनो के लिये गया जी चला आया। वर्णी जी का सहज स्नेह तो मुझे पूर्व मे ही प्राप्त था। अक्सर द्रोणगिरि प्रवास मे पूज्य वर्णी जी मेरे यहा ही ठहरते थे।

मेरे पूज्य पिता श्री प० गोरेलाल जी का तथा हम लोगो का सारा समय ही वर्णी जी के साथ निकलता था। वर्णी जी की स्मरण शक्ति तो अद्भुत थी ही, जैसे ही उनके पास पहुँचा, देखते ही आश्चर्य से बोले—"ए कमल, तुम यहा कैसे आये ? पिता जी का स्वस्थ्य कैसा है ? विद्यालय कैसा चल रही है ? प्रान्त मे सभी ठीक है। यह वर्णी जी की स्वाभाविक बात थी। मै उनके पास पहुँचा, चरणस्पर्श कर धन्य माना। सभी समाचार कहते हुये आने का उद्देश्य (ईसरी मे शिक्षा का) बताया।

भोजन उपरान्त पूज्य वर्णी जी के सानिध्य मे पहुँचा। बहुत समय बैठा। चर्चाये हुईं। अन्त मे आपने मुझे आदेश दिया कि इधर के पढने का चक्कर छोड द्रोणगिरि जाओ और अपने पिताजी से सस्कृत प्रथमा का अध्ययन कर पास करो बाद मे बनारस चले जाना, जहा कुछ बनोगे।

उन्होने पिता जी को पत्र लिखा, साथ ही श्री रतनचन्द जी से कहा कि इसे सावधानी से ले जाना। श्री नाथूराम जी से कह कर रास्ते का प्रबन्ध किया और स्टेशन तक पहुँचाने भेजा, यह थी उनकी आत्मीयता।

घर आया पिता जी को पत्र दिया और सस्कृत के अध्ययन मे लग गया। पूज्य वर्णी जी ने पत्र द्वारा आशीर्वाद और प्रेरणा दी, पिता जी ने परिश्रम किया, मैने सस्कृत प्रथमा पास की। परीक्षाफल आते ही पूज्य वर्णी जी को पत्र लिखा और आदेश पालन की सूचना दी। पत्र का उत्तर आया "परीक्षा पास हुये सो मेहनत का फल मिला, अब बनारस जाकर अध्ययन करो।"

कभी सोचा भी नही था कि शिक्षा-नगरी एव स्याद्वाद महाविद्यालय मे कभी अध्ययन करूँगा। वर्णी जी के पत्र का सबल बनारस ले गया। तत्कालीन गृह-प्रबन्धक पदमचन्द्र जी ने छात्रो से स्वीकृति-पत्र मागा। मेरे पास तो स्वीकृति-पत्र था ही नही। मैं घबडाया और डरते-डरते पूज्य वर्णी जी का पत्र दिया। शाम को गृह-प्रबन्धक जी के साथ अधिष्ठाता जी के यहाँ गया। वर्णी जी का पत्र देखा, गृह-प्रबन्धक जी से कहा, क्या चाहते हो ? यह तो बाबा जी की स्वीकृति है। जो अधिकारियो से भी महत्त्वपूर्ण है। इन्हे प्रवेश दो और एक बात का ध्यान रखना—इसे वर्णी जी ने भरती किया है, इससे इसका ध्यान भी रखना। मुझे प्रवेश मिला, सभी सुविधायें प्राप्त हुईं। ६ वर्ष तक मैंने वहाँ अध्ययन किया। अध्ययन काल मे दो-चार बार पूज्य वर्णी के दर्शनार्थ ईशरी गया। उनकी प्रेरणा से मैं कुछ बना और आज उन्ही की कृपा से स्वतत्र आजीविका के साथ ही सामाजिक कार्य मे लगा हूँ।

सन् १९६१ मे पूज्य वर्णी जी की इच्छा से और उनके अमूल्य आशीर्वाद से द्रोण प्रान्त मे जागृति बनाये रखने हेतु द्रोण-प्रान्तीय नवयुवक-सेवा-सघ की स्थापना की जो निरन्तर १४ वर्ष से समाज की सेवा कर रहा है।

मुझ जैसे सहस्रो का जीवननिर्माण पूज्य वर्णी जी ने किया है। बुन्देलखण्ड मे शिक्षा का प्रचार प्रसार तो उनकी ही देन है जिसे समाज कभी नही भूल सकेगी 'नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' के अनुसार उनकी जन्मशती के अवसर पर मैं पूज्य वर्णी जी के अनन्य उपकारो से उपकृत होता हुआ अपनी शतश श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

रेखा चित्र—"मेरे वर्णी"

लेखक : रतनचन्द्र 'अभय' मुँगावली

जैन जागरण के अग्रदूत पूज्य वर्णी जी।
बीसवी सदी के युग मे
बुन्देलखण्ड की देन—— अजैन वर्णी।
जैन समाज के मुकुट बनकर विदा हो गए।
जैन इतिहास मे नया मोड आया।
बुन्देलखण्ड मे तुम देवता की तरह पुजे ।।

यह थी वर्णी की प्रतिमा। जो युग सदेश दे गई। वर्णी जी। तुम स्वय इतिहास बन गये। युग-प्रवर्तक बने धर्माधिकारी बने। यशस्वी लेखक बने। विद्रोही नेता बने, श्रमण-सस्कृति के प्रतीक बने, विश्व-शान्ति के मसीहा और नारी-क्रान्ति के बकील बने। तुम्हारा व्यक्तित्व हिमालय के समान सीना तानकर आज दुनिया मे खडा है।

तुम्हारा दुबला पतला शरीर, श्यामरंग, जादू भरी वाणी मे करुणा बिखरी, चेहरे को कपट की नजर भी न छू पाई, सरलता के सागर, शब्दो मे मिठास। चादर ओढे, नगे पाव, लँगोटी लगाये, सन्त विनोबा जैसे गॉव-गॉव और शहर-शहर मे पदयात्रा करते हुए तुमने सत्य अहिंसा की मशाल को जलाया। जैन अजैन जनता ने तुम्हारा अभिनदन किया। जनता की बुन्देली बोलकर तुम भैया एव भारतीय जनमानस के वर्णी बन गये।

वर्णी। तुम राष्ट्रीय जागरण के प्रहरी बने। तुम्हारी घोषणा थी। 'जिनकी रक्षा के लिए ४० करोड मानव प्रयत्नशील है। उन्हे कोई शक्ति फॉसी के तख्ते पर चढा नही सकती। आप विश्वास रखिये मेरा अन्त.करण कहता है कि आजादहिन्द-सैनिको का बाल भी बॉका नही हो सकता। तुम वे ही वर्णी हो, जिसने आजादहिद की रक्षा के लिये अपनी चादर फैला दी थी। सन्त होकर तुमने वतन की मोहब्बत का नया कदम उठाया।

वर्णी। तुमने बुन्देलखण्ड के कोने-कोने मे शिक्षा आदोलन का श्रीगणेश किया। तुमने स्याद्वाद विद्यालय की नीव डाली, जिस प्रकार गॉधी ने सेवा ग्राम आश्रम को, सर सैय्यद ने अलीगढ विश्व विद्यालय को और पूज्य मदनमोहन मालवीय ने काशी विश्वविद्यालय को जन्म दिया।

तुम विद्वानो के कल्पवृक्ष बने, तुम श्रमणसस्कृति के प्रवर्तक बने। तुम सस्कृत-विद्यालयो, गुरुकुलो, उदासीन आश्रमो के जन्मदाता बने। कई शिक्षालयो के तुम सस्थापक रहे। ये विद्यालय तुम्हारी कीर्ति प्रतिष्ठा के जीवित स्मारक है।

वर्णी। तुम ज्ञान के आकार हो, कथाकार और मानव-समाज की रचना करने वाले कलाकार हो। तुमने अपनी कलम से 'जीवन-गाथा' लिखी तुम्हारे उपदेशो का सुन्दर सकलन है। 'समय-सार' के तुम पारखी हो। आध्यात्मिक कसौटी पर तुम्हारी 'सुख की झलक' खरी उतरी। आलोचक जैसी पैनी नजर से तत्त्वार्थसूत्र का वैज्ञानिक विवेचन तुमने रचा। तुमने विद्वानो को राष्ट्र की जिन्दा यादगारे माना। वर्णी जी तुमने स्वय लिखा था—विद्वान हमारे प्राण है। ज्ञानियो के सम्मान के बिना स्वर्ग व्यर्थ है। इसीलिये सरस्वती के लाडले उपासको ने तुम्हे सहर्ष अभिनदन ग्रन्थ भेट किया।

वर्णी। तुम विश्व के मसीहा हो, जहॉ इन्सानियत बारुद के एक कण पर बैठी है। जहॉ एटम उद्जन बम्बो के विस्फोटो मे शान्ति खोजी जा रही है। तुम जैनधर्म के महा उसूल, अपरिग्रहवाद के पोषक बनकर विश्व के शान्तिदूत बने, अमन का महामत्र समर्पित करने आये।

वर्णी। तुम समाज के विद्रोही नेता थे। नारी-क्रान्ति के प्रतीक थे, बाल-विवाह तुमने होने नही दिये। अनमेल विवाह के तुम आलोचक बने। वृद्ध-विवाह के तुम विरोधी बने। 'दहेज-प्रथा बन्द करो' की आवाज लगाई। नारी को आत्म-निर्भर बनाने के लिए शिक्षा की नीव गढी। वर्णी तुम जवानो के पथप्रदर्शक थे, तुम जैन अहिसक सन्त थे। जैनसमाज अजैन-समाज के बीच की कडी थे। तुम्हारी घोषणा थी—"वास्तव मे धर्म किसी वर्ग या जाति का नही है।

तुम जैन समाज के सूरज, चन्दा बनकर आये। तुमने सिद्ध कर दिया। "मन्दिरो तक ही धर्म को सीमित रखने वाले जैनो क्या समझे कि जैनधर्म कितना महान है।" तुमने समाज को चुनौती दी—"जैनधर्म किसी के बराबर नही। किसी की बपौती नही, किसी की जागीर नही। तुम जैन शलाकापुरुष थे। तुमने धर्म का सदेश दिया"—"धर्म तो सब मानवो का है। वास्तव मे जिसने आत्मा के भावो पर विजय पा ली वही जैनी हे।" तुम जैनजागरण के वर्णी बनकर आये और भारतीय हृदयपटल पर गणेश बनकर ओझल हो गए। विध्या रोया, धसान रोई। नर्मदा, चबल, यमुना की लहरो ने वर्णी के सदेश फैलाये। तुम बुन्देलखण्ड के अतीत की बेजोड कहानी बन गये। शान्तिनिकेतन से विदा होकर देवत्व को सनाथ करने स्वर्ग के अतिथि बन गये। तुम्हे कोटि कोटि प्रणाम।

✲

वर्णी बाबा से मेरा परोक्ष साक्षात्कार

श्री हेमचन्द्र जैन 'हेम' (बी. ई.) हेवी इलेक्ट्रिकल्स, भोपाल

मेरे प्रारभिक अध्ययन एव शिक्षा की नीव डालने वाला अनुपम विद्यालय मोराजी, सागर रहा है, जिसमे मुझे सन् १९५७-५८ मे कक्षा ५ से विद्या अर्जित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रारभिक अवस्था मे मै श्री वर्णीजी के जीवन एव दर्शन से अनभिज्ञ था, उनके दर्शनलाभ का सौभाग्य मुझे प्राप्त नही हो सका। श्री. सि कुन्दनलाल जी के यहाँ श्री वर्णी जी के सद्गुणो, सुकृत्यो आदि की चर्चा हुआ करती थी जिसका लाभ मुझे प्राप्त हुआ।

आज क्या है ? वर्णीजी की जयती! वर्णी बाबा की जय। प्रात ४ बजे आवाज गूँजी। निद्रा भग हो गई और मै श्री वर्णीजी की जयती मे शामिल होने के लिये, श्वेत एव उज्ज्वल परिधान धारण कर मोराजी पहुँचा। मुख्य द्वार पर एकत्रित छात्रो की पक्ति मे मै भी शामिल हो गया। समस्त छात्रो का जुलूस शहर मे प्रभात फेरी के लिये प्रस्थान किया, एव मार्ग मे पूज्य वर्णीजी के गुणगान होते रहे। अत मे जुलूस मोराजी वापिस लौटा तथा मिष्ठान्न-वितरण के बाद जुलूस का विसर्जन हो गया। तदनन्तर मोराजी के विशाल प्रागण मे आमसभा का कार्यक्रम रखा गया। जिसकी अध्यक्षता श्रीमान् प दयाचन्द्रजी 'सिद्धान्त शास्त्री' ने की। अनेक विद्वानो एव छात्रो ने वर्णीजी के जीवन से सबधित झाकियो का दिग्दर्शन कराया। इस समय मेरे मन मे जिज्ञासा का आविर्भाव हुआ। यहाँ मुझे प्रकाशपुज दृष्टिगोचर हुआ और वर्णीजी के बारे मे मै सोचने लगा। इसी सोच मे मुझे भोजन करने का ध्यान नही रहा। मेरे बडे भाई साहब, जो इसी विद्यालय मे अध्ययन कर रहे थे, मुझे खोजते हुये आये और मुझ पर काफी क्रोधित हुये। उनका पहला प्रश्न यही था कि तुमने अभी तक भोजन क्यो नही किया? मैंने ढाढस करके उनसे कहा कि मेरे मन मे बार-बार यही प्रश्न आ रहा है कि श्री वर्णीजी ने सुप्त-समाज को नवचेतना प्रदान की, महान ज्ञानदान दिया तथा कई स्थानो मे अपने अथक

परिश्रम से विद्यालयो का निर्माण करवाकर शिक्षा के क्षेत्र मे प्रगति की। उनके द्वारा इस प्रकार का कार्य किसप्रकार किया जा सका ?

प्रत्युत्तर स्वरूप मुझे भाई साहब ने "मेरी-जीवन-गाथा" पढने के लिये दी। जिसको पढकर आत्मविभोर हो गया और सारस्वरूप निम्न आदर्श ढूढ पाया।

(१) वर्णीजी अजैन थे। जैन बन गये। जैनाजैनो को भी जैन बना गये तथा वे समय की बहुमूल्यता दर्श गये।

(२) वे समय के सदुपयोग से 'समय (शुद्धात्मा=समयसार) की प्राप्ति होना बतला गये।

(३) वे कठिनाइयो से जूझना सिखला गये।

(४) वे स्वकीय स्वतत्रता का पाठ सिखा गये।

(५) वे मान, अभिमान, स्वाभिमान एव मद का अन्तर समझा गये तथा सच्चा स्वाभिमानी बनने की शिक्षा दे गये।

(६) वे पापी से नही बल्कि पाप से घृणा करना सिखला गये।

(७) तथ्य को समझने के लिये एवं अनुभव करने के लिये इस मनुष्ययोनि का सदुपयोग होना चाहिये।

मेरा दुर्भाग्य ही समझिये। होनहार बलवान होती है। मै पूज्य वर्णीजी के दर्शन नही कर सका। प्रत्यक्ष साक्षात्कार का लोभ बना ही रहा। मेरी अभिलाषा अधूरी ही रही। उनकी १०० वी जन्म शताब्दी मनाई जा रही है। मै अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि परम श्रद्धेय पूज्य वर्णी जी बाबा के कमलचरणो मे अर्पित करता हूँ।

✲

आत्मा मे कल्याण शक्तिरूप से विद्यमान है, परन्तु हमने उसे औपाधिक भावो द्वारा ढक रक्खा है। यदि ये नही तो उसके विकास होने मे विलम्ब न हो।

—गणेश वर्णी

वे करुणा निधि सन्त

—श्री अमृतलाल परवार
सिंघई प्रेस, जबलपुर

अपने प्रवास के बीच वे जबलपुर पधारे थे और प्रतिदिन सारी समाज उनके उपदेश से लाभान्वित हो रही थी। अपनी व्यस्तताओ के कारण हम लोग उनकी सेवा मे नही पहुँच पाते थे। यह उनकी महानता थी कि वे जहाँ भी होते थे पूरी समाज पर उनकी दृष्टि रहती थी। पूज्य पिता जी से उनका पुराना परिचय भी था। एक दिन किसी ने यह बात उनकी दृष्टि मे ला दी कि "सारी समाज आती है परन्तु अमृतलाल आपके प्रवचन मे नही आते।" पता नही क्यो सुनते ही उन्होने आज्ञा दी कि यदि वे नही आते तो हम उनके यहाँ चलेंगे।

दूसरे ही दिन बिना किसी सूचना के एकाएक हमने उनके पावन चरण अपनी देहरी पर थमथमाते देखे। हम लोग यह अनचीता सुयोग पाकर अवाक् रह गये और दूसरे ही क्षण हमारा सारा कुटुम्ब उनके चरणो पर लोट गया। वे थोडी देर बैठे। धर्म की ओर रुचि रखने की प्रेरणा मीठे शब्दो मे उन्होने हमे दी और हमे अपनी सज्जनता और अपनी निरभिमानता से अपना सेवक बना लिया।

इसी बीच चि० राजेन्द्र अपना केमरा निकाल लाया और उनका एक फोटो लेने की अभिलाषा उसने जाहिर की। पूज्य बाबा जी सहर्ष तैयार हो गये और बडी सरलता से बोले—'बताओ कहाँ बैठ जाये ?"

पूज्य वर्णी जी की सरलता और सहजता का सही दर्शन उस छोटी सी घटना मे हो जाता है। उनका वह अनुग्रहपूर्ण आगमन हमारे लिये बडा भारी सौभाग्य था। आज जब श्री नीरज जी उनकी जन्म-शताब्दी पर प्रकाशनार्थ "स्मृति ग्रन्थ" की पाण्डुलिपि लेकर हमारे पास आये तब हमे यह भी अपना सौभाग्य लगा कि उन परम हितैषी गुरुवर की स्मृति मे सैकडो श्रद्धाञ्जलियो के बीच एक सुमन समर्पित करने का अवसर हमे भी अनायास मिल गया। उनकी पुण्यस्मृति को शत-शत प्रणाम।

अबोध बालक एक पैसा का खिलौना टूटने पर रो उठता है पर घर मे आग लगने पर नही। इससे यही तो सिद्ध होता है कि बालक खिलौना को अपना मानता है और घर को बाप का।

—गणेश वर्णी

काव्य-कुसुमाञ्जलि

उनके अक्षर—उनकी बात

शिक्षा के प्रचार-प्रसार मे तथा शिक्षार्थियो की सुविधा-व्यवस्था मे पूज्य वर्णीजी की सदैव बडी दिलचस्पी रहती थी। समाज की अथवा व्यक्ति की उदारता का मूल्याकन शिक्षा-सस्थाओ के विकास के आधार पर ही वे किया करते थे। सवत् २०११ मे द्रोणगिरि (छतरपुर) के गजरथ महोत्सव के समाचार पाने पर उन्होने लिखा था—

श्रीयुत महाशय कवि नीरजजी योग्य कल्याणभाजन हो
पत्र आया समाचार जाने—आप लोगों को धन्य
वाद है जो कार्य सफल हुवा—किन्तु पाठशाला
की स्थिरता नहीं हुई यदि १ लाख रुपया भी ऐसे
समारोह मे हो जाता तब कुछ कठिन न था
परन्तु इस ओर किसी का लक्ष्य नहीं स्वयं
मलैया २००००) देते तब पांच रुपया अनायास
हो जाता अस्तु जो हुआ वही बहुत है
१०० छात्र का प्रबन्ध भी नहीं हुवा तब क्या
कहें—विशेष लिखने को जी नहीं चाहता
ऐसा सुअवसर बार बार न मिलेगा—

चैत्रवदि २ आ. शु. चि.
सं २०११ गणेश वर्णी

अपरे सरसि प्राप्तस्तीवने दावपावकचितो पिचन्द्रत
गत्पमर्पयसि वारि वारिद कीर्तिरस्तु गुण विस्तागता
यही दशा हमारी है—

श्रीमद्वर्णिगणेशाष्टकम्

रचयिता स्व० श्री ठाकुरदास जैन, शास्त्री, बी. ए. टीकमगढ़ (म. प्र.)

[यह सुन्दर रचना आश्विन कृष्णा ४, १५ सितम्बर १९५४ को ईसरी (श्रीसम्मेदशिखर जी) मे पूज्य वर्णी जी की ८२ वी जयन्ती के सुअवसर पर रचयिता द्वारा स्वय उपस्थित होकर पढी गई थी। श्री ठाकुरदास जी महेन्द्र हाई स्कूल टीकमगढ (वि०प्र०) के रिटायर्ड हेडमास्टर एव वीर दि० जैन विद्यालय श्री अतिशय क्षेत्र पपौरा जी के अधिष्ठाता थे। आप समाज के परखे हुए सेवक एव विद्वान् थे। —सम्पादक]

अस्ति स्वस्ति समस्त-वर्णि-तिलकः श्रीक्षुल्लकेष्वग्रणी.,
श्रीमत्पार्श्वजिनाङ्घ्रिवार्ज-मधुप. कारुण्य-पुण्याशय ।
सख्यातीत-जिनेश-निर्वृति-मही-सम्मेदशैल श्रित ,
जीयादिन्दु-समानकीर्त्तिरमलः श्रीमद्गणेशश्चिरम् ।। १ ।।

जो कल्याणभाजन समस्त वर्णियो मे तिलक और श्री क्षुल्लको मे शिरोमणि रूप से शोभायमान हो रहे है, जो बाह्याभ्यन्तर श्री सम्पन्न भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के चरणो के भक्त है, जिनका अन्त.करण कारुण्य से पवित्र हो चुका है, जिन्होने अगणित तीर्थंकरो की निर्वाणभूमि श्री सम्मेदशिखर जी का आश्रय लिया है और जिनकी कीर्त्ति चन्द्रमा के समान लोक को धवलित करती है, ऐसे निर्मलचित्त श्रीमान् गणेशप्रसाद जी वर्णी चिरकाल तक जीवित रहे।

स्याद्वादामृत-वार्धि-वर्द्धन-विधुर्वात्सल्य-रत्नाकरः
पुण्यश्लोक-महर्षि-वाङ्मय-सुधा-पानेन तृप्ति गत. ।
आत्मख्याति-रहस्य-वित्सु धवलां प्राप्तः प्रतिष्ठा पराम्,
जीयान्निर्मलकीर्त्तिरात्मनिरत श्रीमद्गणेशश्चिरम् ।। २ ।।

जो स्याद्वादरूपी अमृतसिन्धु की वृद्धि करने के लिए चन्द्रमा के समान है, जो वात्सल्यरूपी रत्नो के सागर है, जो पुण्यश्लोक महर्षियो के द्वारा प्रणीत शास्त्रो के मथन से प्राप्त हुए अमृत के सेवन से उत्तम तृप्ति को प्राप्त कर चुके है, जिन्हे आत्मख्याति के रहस्य के विद्वानो मे उच्च और समुज्ज्वल प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है, आत्मा मे ही रमण करने वाले और निर्मल कीर्ति सम्पन्न वे श्रीमान् गणेशप्रसाद जी वर्णी चिरकाल तक जीवित रहे।

हसज्ञान-मरालिकासमशमाश्लेष-प्रभूताद्भुताऽऽ-
नन्द. क्रीडति मानसेऽतिविशदे यस्यानिश सर्वशः ।

प्रज्ञापारमित समस्त-गुणिभि सम्मानितो भक्तित:,
ज्ञान-ध्यान-तप -प्रभाव-महितो जीयाद्गणेशश्चिरम् ।। ३ ।।

जिनके अतीव विशद मानस मे हस— ज्ञान और मरालिका— शान्ति के आलिङ्गन से उत्पन्न हुआ आनन्द सदैव सब ओर से क्रीडा करता रहता है। जो प्रज्ञा मे पारङ्गत हो चुके हैं। समस्त गुणिजन जिनका भक्तिपूर्वक सम्मान करते है। जो अपने ज्ञान, ध्यान और तप के प्रभाव से पूजित हैं, ऐसे श्री गणेशवर्णी चिरकाल तक जीवित रहे।

निज-महिम-रतो य सर्वसत्वानुकम्पी,
मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्ण ।
दुरित-तिमिर-मूलोच्छेदकारी महात्मा,
स जयति बुध-सेव्यो वर्णिवर्य्यो गणेश ।। ४ ।।

जो आत्म-महिमा मे ही रमण करने वाले है। सभी प्राणियो के प्रति जिनकी अनुकम्पा रहती है जिनके मन, वचन और काय मे पवित्र अमृत भरा हुआ है। जो पापान्धकार के मूलोच्छेदी महात्मा है। विद्वानो द्वारा पूज्य वे वर्णिवर्य्य श्री गणेश विजयी रहे।

विलसित हृदि सूरि. कुन्दकुन्दोऽपि यस्य,
अमृतशशिमहर्षेस्तत्त्वदर्शी च विज्ञ ।
शम-दम-मणिमाला यस्य कण्ठे विभाति,
चिरतरमतिजीयाच्-श्रीगणेश: स वर्णी ।। ५ ।।

जिनके हृदय मे भगवान कुन्दकुन्द स्वामी की वाणी सदा विलास करती रहती है। जो महर्षि अमृतचन्द्र सूरि के तत्त्वदर्शी विशेषज्ञ है। जिनके कण्ठ मे शम और दम रूप मणियो की माला सदा सुशोभित रहती है। वे श्रीमान् गणेशप्रसाद जी वर्णी दीर्घकाल तक जीवित रहे।

चिन्तामणिर्मणिगणेष्विव तत्त्ववित्सु, तत्त्वेषु जीव इव जिष्णुरिवामरेषु ।
वृक्षेषु कल्पविटपीव शशी ग्रहेषु, श्रीमानसौ विजयते सतत गणेश ।। ६ ।।

तत्त्वज्ञानियो मे जिनका वही स्थान है जो मणियो, तत्त्वो, देवो, वृक्षो और ग्रहो मे क्रमश चिन्तामणि, जीवतत्त्व, जिनेन्द्रदेव, कल्पवृक्ष और चन्द्रमा का है। वे श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी सदै उत्कर्ष प्राप्त करते रहे।

विशालकीर्तिर्वरवृत्तमूर्तिर्लब्ध-प्रतिष्ठ-प्रतिभा-गरिष्ठ ।
महामतिर्दिव्यवच प्रमोदी, जीयाच्चिर वर्णिवरो गणेश' ।। ७ ।।

जिसका सुयश विस्तृत हो चुका है, निर्मल चरित्र जिनकी मूर्ति है, जो गौरव के कार

स्थायी एवं सम्माननीय उच्च पद प्राप्त कर चुके है, जिनकी बुद्धि का वैभव अतीव गुरु है, जो महामति है और जो महर्षियो की दिव्यवाणी मे आनन्द लेते रहते है। वे वर्णिकुलतिलक श्री गणेशप्रसाद जी चिरकाल तक जीवित रहे।

स्रवति निजमुखेन्दोर्य सुधायाः प्रवाहं, अनुपम-शममूर्तिर्भावशुद्धयैकसर्गः।
प्रकटित-जिनमार्गो ध्वस्त-मोहान्धकार, चिरतरमुपकृत्यै सोऽस्तु वर्णी गणेश ॥८॥

जो अपने श्रीमुखचन्द्र से अमृत-प्रवाह की वर्षा करते रहते है। जिनकी मुद्रा से अनुपम शान्ति की आभा निकलती है। जो मन शुद्धि मे सदा एकाग्रचित्त रहते हैं। जिन्होने रागद्वेष-मोहादि कषाय और इन्द्रियो के विषयो पर विजय प्राप्त कर लेने मे आत्मा का कल्याण बताया है। जिनके द्वारा मोहान्धकार का विध्वंस होता जा रहा है वे श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी दीर्घकाल तक लोकोपकार करते रहे।

श्रीगणेशाष्टक पुण्य, तज्जयन्तीमहोत्सवे।
द्वयाशीतितमे ह्येतत्, कृत विज्ञ-मनोहरम् ॥

इस श्रीगणेशाष्टक की रचना मैंने उनकी ८२ वी जयन्ती के महोत्सव पर स्वान्तःसुखाय की है। यह विद्वानो को रुचिकर हो।

ते वन्द्यपादा वरवर्णिदेवाः

सागरीय पन्नालालो जैनः साहित्याचार्यः

चञ्चच्चन्द्रिकचन्द्रचारुचरिता आचान्तचिन्ताचया-
श्चेतश्चिन्तितचिन्त्यचक्रनिचया सच्चित्तचित्राचरा.।
उच्चाचारविचारचारचतुराः, सत्कीर्तिसाराञ्चिता-
स्ते जीवन्तु चिर गणेशचरणा. श्रीचुञ्चुवृन्दार्चिता ॥ १ ॥

जयति विजितपापो ध्वस्तमोहारितापो,
विदितनिखिलभूतः शान्तिपीयूषपूतः।
अपगतनिजतन्द्र. सौम्यताधारचन्द्रः,
प्रहतबुधविषादः श्रीगणेशप्रसादः ॥ २ ॥

तिमिरततिविलुप्तालोकजाले समन्तात्,
प्रवरमतिविनिन्द्ये वन्द्य ! बुन्देलखण्डे ।
विहितविविधयत्नो ध्वान्तविध्वसने त्वं,
रविरिव गुरुनाथ ! द्योतसे द्योतमान ॥ ३ ॥

विरम विरम सिन्धो ! कौस्तुभोच्छेदशोका-
ज्जहिहि जहिहि चेतश्चञ्चलत्व चिरेण ।
स हि विमलमयूखालोकविद्योतिताश.
पुनरपि ननु यात-स्तावकीन समीपम् ॥ ४ ॥

जयति जगति धन्या सा चिरोजाभिधेया,
विविधविबुधवन्द्या धर्ममाता त्वदीया ।
निखिलनिगमविद्या भास्वर या भवन्तं,
सकल जनहितायोद्वर्धयामास शान्तम् ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

उद्यद्दिव्यदिनेशदीधितिचयप्राग्भारभाभासुरा.
दृप्यत्कामकलापलायनपराः सच्छान्तिकान्त्याकराः ।
सन्तोषामृतपानदिग्धवपुषः कारुण्यधाराधराः,
श्रीमन्तो गुणिनो जयन्तु जयिन , श्रीवर्णिपादाश्चिरम् ॥ ६ ॥

वसन्ततिलकम्

जीयादजेयमहिमा गरिमा गुणाना,
स्याद्वादसिन्धुरमित शमित समन्तात् ।
विद्याविलाससहितो महितो मरुद्भि-
र्वर्णीन्द्रवर्णितगुण प्रगुणो गणेश ॥ ७ ॥

मार्गेऽनुभूय विपुलातुल-दु.खराशि,
यानादृते विबुधवन्द्य ! समागतो यत् ।
तेन स्फुटा भवति भव्यकृपा त्वदीया,
भक्तेषु सागरनिवासिजनेषु नूनम् ॥ ८ ॥

विद्यानवद्य ! भवतो महतो विधाना-
देवात्र जागृतिततिं वयमाप्तवन्तः ।
दृष्ट्वा भवन्त - मिह मञ्जुलमूर्तिमग्रे,
मोदं महान्तमघनाशनमद्य याम· ।। ९ ।।

हे पूज्य ! हे गुणगुरो ! तव पाणिपद्मा-
दादाय जन्म विमल वरबोधवृक्षः ।
विद्वद्विहङ्गगणसेवित-रम्यशाखो-
विद्यालयोऽय-मभितो भवतो विभाति ।। १० ।।

शार्दूलविक्रीडितम्

शास्त्राम्भोधिवगाहनोत्थितलसत्सद्बोधभानूद्भव-
द्दिव्यालोकविलोकितावनितलाः सत्कीर्तिकेलीकलाः ।
पापातापहरा महागुणधरा· कारुण्यपूराकरा
जीयासु र्जगतीतले गुरुवराः श्रीमद्गणेशाश्चिरम् ।। ११ ।।

न्यायाचार्य ! गुणाम्बुधे शुभविधे ! स्याद्वादवारा निधे !
क· शेषो रसनासहस्रसुयुतः श्रीमद्यशोवर्णने ।
दृष्ट्वा केवल-मत्र मञ्जुलविभ त्वत्पादपद्मद्वयं,
पूजामो वयमद्य भक्तिनिभृताभ्रश्यद्गिरो भावुका· ।। १२ ।।

इन्द्रवज्रा

पीयूपनिष्पन्दनिभा यदीया
वाणी बुधाना हृदय धिनोति ।
दीर्घायुषः सन्तुतरा महान्त-
स्ते वन्द्यपादा वरवर्णिनाथाः ।। १३ ।।

✲

जिन्हे ससार तत्त्व से पृथक् होने की अभिलाषा है, उन्हें हृदय की दुर्वलता को समूल नष्ट कर देना चाहिये ।

—गणेश वर्णी

श्री गणेशाष्टकम्

गोपीलाल अमर एम. ए
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ल

यदीया वाग्धारा सुमनुज-मन शीतल-करा,
समा भावा यस्याऽहितकरजने वा हितकरे ।
सुवर्णे काचे वा मृतजनघटे वा सुभवने,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। १ ।।

जिने देवे शास्त्रे गुरुवर-गणे दर्शनमय,
यदीयो ज्ञानार्को विहित-जगदालोक-किरण ।
यदीय चारित्र निरतिचरित मौढ्यरहित,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। २ ।।

समस्त-न्यायाद्यागम-परिचितोऽखण्डमहिमा,
सुधासिक्तै शब्दैरवनितल-विस्तारित-यशा ।
सदा तेजोदीप्तो जिन-वृष-पताकाश्रयतर,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ३ ।।

सदा सेवा-भावात् प्रथम-गुरुणा तुष्ट-मनसा,
परित्यक्त धूम्र-ग्रहणमनिश यस्य कथनात् ।
कुमारावस्थाया परम-जिनधर्मे कृत-मति,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ४ ।।

गते बाल्ये पाणिग्रहणमभवद् सस्य सुधिय,
पितुर्मृत्युक्लेश कठिनमगमद् यस्तदनु च ।
सुख प्रापन्मात्रा निगम-सिमरेत्यत्र हितया,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ५ ।।

महामेघाधारी विमल-हृदय. सज्जन-सख,
विमोही वित्रास स्वपर-हितकारी गुणनिधि ।
तपश्चर्याद्वारा विजित-निजकर्मारिनिकर,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ६ ।।

समाकृष्टा वित्ताधिप-मृगगणा येन मधुरै.,
सुवीणा-शब्दाभैर्हित-सदुपदेशै र्भ्रमहरैः ।
समाधत्ता भ्रान्ता भव-भय-वने कष्टविपुले,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ७ ।।

तपोमूर्ति-र्वर्णी सुकृत हृदयः पूज्य-चरण.,
शमाऽहिंसादीनामनितर-समाराधन-पर. ।
महान्न्यायाचार्यो गुण-गण-समृद्धो गुरु-गुरु.,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ८ ।।

अमर-कविना स्तोत्र, श्रीगणेशाष्टकं कृतम् ।
कल्याणं सदा लभते, यः पठति श्रृणोति च ।।

※

वर्णि-सूर्यः

पं० अमृतलाल शास्त्री, साहित्याचार्य, जैनदर्शनाचार्य
वाराणसेय सस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी

व्याप्तः सर्वत्र भूमौ, शशधरधवल., शम्भुहासापहासी
कीर्तिस्तोमो यदीय, जनयति नितरा, क्षीरपाथोधिशङ्काम् ।
यस्मिन्सम्मग्नकाया अमरपतिगजो दिग्गजाश्चन्द्रतारा
जाताः सर्वाङ्गशुभ्रा', स जयति सतत श्री गणेशप्रसादः ।।१।।

× × ×

अशिक्षाराक्षसीश्लिष्टा, दृष्टां रूढिपिशाचिनीम् ।
द्रुत यो द्रावयामास, वर्णिसूर्यः स वन्द्यते ।। १ ।।

अज्ञान - निबिडध्वान्ते, रूढिगर्तेऽतिभीषणे ।
उन्मार्गे पतता दिष्टचा, वर्णि-सूर्योदयोऽभवत् ।। २ ।।

दृष्टमार्गास्ततो भक्त्या, बभूवुस्ते तदुन्मुखाः ।
चिन्ताभारं परित्यज्य, प्रापुर्मोदमनन्तकम् ।। ३ ।।

सद्बोध-किरणावल्या, विद्वन्नभसि भासुरः ।
पराधृष्योऽ-भवत्तूर्या, तेजसाति-महीयसा ।। ४ ।।

प्राच्यादिदिग्विभागेषु, स्थिता लोका. सदाशया ।
तस्यानुकूलता प्राप्ता, स्वत एवातिभक्तित ॥ ५ ॥

विशोष्याशासरिन्नीर, धृत्वा सन्तोपसज्जलम् ।
पार्श्वनाथा-चलचैत्य, मग्न सन्यासवारिधौ ॥ ६ ॥

तस्मिन्नदृश्यता याते, चक्रवाका इवार्दिताः ।
श्रावका श्राविका विज्ञाश्छात्राश्चान्येऽपि मानवा ॥ ७ ॥

तेजसानलकल्पेषु विबुधेषु विलोक्यते ।
इदानीमपि यत्ते- जस्तत्तदीय न सशय ॥ ८ ॥

तदभावेऽपि तत्तेज, समाश्रित्य तमश्छिद ।
ज्ञानदीपा. प्रकाशन्ते, समाजे बहुसख्यका ॥ ९ ॥

तेषु प्रकाशमानेषु तभ्यामपि न तत्तम ।
स्वीय स्थान पुन प्राप्तु शक्नुयात्तत्र कुत्रचित् ॥ १० ॥

गत्यन्तर गतोऽप्यद्य हृदिस्थो नो विराजते ।
तस्मै श्रद्धाञ्जलिर्भक्त्या, श्रद्धेयाय समर्प्यते ॥ ११ ॥

—अमृतलालो जैनः

※

वर्णिनेऽस्तु नमो नमः ।

लें० अमृतलाल जैनदर्शनाचार्य, साहित्याचार्य वाराणसी

(१)

दिव यातोऽपि योऽस्माक, पुरो भाति स्फुरन्निव ।
गुरूणा गुरवे तस्मै, वर्णिनेऽस्तु नमो नम. ॥

(२)

बहिरन्त समानाय, सारासार - विवेकिने ।
नमोऽस्तु वर्णि-वर्याय, श्री गणेशाय भक्तित ॥

(३)

क्षात्राणा कल्पवृक्षाय, बुधाना कामधेनवे ।
सस्थाना च सदा चिन्ता-मणये वर्णिने नम ॥

※

वर्णि गाथा

रचयिता—कमलकुमार जैन, कलकत्ता

समस्यापूर्तिमालक्ष्य लक्ष्यते लक्ष्यभेदतः।
निर्व्याजया मनोवृत्त्या भक्तिभावसमेतया।
श्री गणेशप्रसादस्य वर्णिन क्षुल्लकस्य वै।
त्यागमूर्तेर्विशेषेण गुणौघो गुणलब्धये॥

(१)

यदीयभाषाः परमाः प्रसन्नाः, विवादशून्या अपवादमौन्या।
धन्या वदान्या वरपुण्यपण्याः जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः॥

(२)

यद्ब्रह्मचर्यं ह्यकलङ्कभाव व्यनक्ति साक्षादमृतत्वमात्रम्।
आध्यात्मिक मानसिकञ्च तेजः, जीव्याचिरं वर्णिगणेश एषः॥

(३)

सर्वेषु सत्वेषु यदीयमैत्र्यं, प्रमोदभावेन सहैव वर्तते।
विद्वत्सु विश्वेष्वितरेषु माध्य, जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः॥

(४)

विभावभावा. परिहेय-कक्षां, गता रता आत्मिक-भाव-सिन्धौ।
स्वभावभावा विमला यदीया जीयाच्चिर वर्णिगणेश एषः॥

(५)

यदीयवाचा रचना ह्यवाच्या, माधुर्यगाम्भीर्यविवेच्यरम्या।
साम्यार्थवैशेष्यविबोधगम्या, जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः॥

(६)

एकोऽपि भावो न विरोधभाव भावेषु भिन्नेषु कदापि धत्ते।
अतो ह्यसीह त्वमजातशत्रु, जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एष॥

(७)

बाह्येषु भावेषु जलजवद्यो, निर्लेपभाव हि जले विधत्ते।
यस्मै तु मोक्षो भवते भवात्स्यात्, जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः॥

(८)

भूतेषु कल्याणकृते यदीय योगत्रय कर्मकर पर वै।
निरन्तर साधुसमाधितन्त्र जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः॥

(९)

यथाहि वातेन गतागतेन, समस्तलोक स्थिरता समेति ।
यदीयपुण्येन तथैव विद्वान्, जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एष ।।

(१०)

यन्मूर्तिमालोक्य जना अशान्ता , प्रयान्ति शान्ति परमाममेयाम् ।
इत्थ त्वमेवासि सुशान्तमूर्ति , जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एप. ।।

(११)

यथा विहायो निजमध्यभागे, स्वत स्वरूपाद्विविधानि पञ्च ।
द्रव्याणि धृत्वाप्यविकारवत्तत् जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एप ।।

(१२)

त्वञ्चापि तद्वद्विमलोऽसि शश्वत् धृत्वापि कर्माणि जडान्यनादे ।
द्रव्यस्वभावो वर एप एव जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एष ।।

(१३)

अध्यात्मविद्या—परिशीलनेन स्वात्मा ह्यनात्मत्वमनादिकालं ।
विहाय बोधत्वमधात्त्वदीयो जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः ।।

(१४)

स्वात्मोपलब्ध्यैव यदीय आत्मा परात्मलब्ध्यै यतते हि शश्वत् ।
स्वभाव एवैष मत सुदृष्टेर्जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एष ।।

(१५)

यदीयसघे बहवो हि सन्त. सदात्मसिद्ध्यै प्रयता विभान्त: ।
स्वान्त· प्रवृत्यैव निरुद्धबाह्या जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः ।।

(१६)

अध्यात्मचर्चाभिरवाप्तबोधा. समाप्तरोषाश्च निरस्ततोषा ।
प्रक्षिप्तमोहा नितरा विमोहा जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः ।।

(१७)

स्याद्वादविद्याविदितस्वरूप. समस्त—सत्वाहित-हारिवाक्य. ।
भैयेति सम्बोधन—तत्परो यो जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः ।।

(१८)

आद्यादिभेदेन विभिद्यमाना ज्ञाता हि चत्वार इमेऽनुयोगा ।
येनात्मबुद्ध्या विमला अपारा जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः ।।

(१९)

न्यायादिविद्या-विदितात्मतत्त्व', समस्ततत्त्वप्रतिबोधनात्मा ।
शुद्धैकरूपोऽप्यविनाशिरूप जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एष ।।

(२०)

प्रत्येकवस्तुप्रतिबोधनाय, स्याद्वादमार्गो निरवद्यमार्ग ।
निरूप्यते येन विशेषतोऽत्र, जीव्याच्चिर वर्णिगणेश एषः ।।

समर्पणम्

पूर्वं विहितान् विविधान्,
ध्यायन् ध्यायन् तवोपकारानिह ।
नतमस्तकोऽहमधुना,
समर्पये वर्णिविंशतिकाम् ।। १ ।।

साहित्यधर्म-शास्त्री,
व्याकरणन्यायकाव्यतीर्थश्च,
विद्याधनोपजीवी,
नित्य धर्मोपजीवी च ।। २ ।।

नाम्ना कमलकुमारः,
श्रीमच्चरणार-विन्दवन्दारुः ।
चारुश्चरित्र-चित्रान्,
श्राव श्राव गुणग्रामान् ।। ३ ।।
कलिकातायां वासोः,

वासो भाषा त्वदीयगुणकस्य
राशा निर्मल-वृत्तेः,
साक्षान्मोक्षस्य मार्गो मे ।। ४ ।।

समर्पयिता
कमलकुमारो जैन, गोइल्ल,
व्याकरण न्याय, काव्यतीर्थ,
साहित्य धर्म शास्त्री,
न. ४ थियेटर रोड, कलकत्ता ।

✲

जो आत्मा पर से ही अपना कल्याण और अकल्याण मानता है वह पराधीनता को स्वय अंगीकार करता है ।

—गणेश वर्णी

गणेशस्तुतिः

श्री मूलचन्द्र शास्त्री श्री महावीर जी

(१)

तारुण्ये जयिना स्मर विजयिना जित्वाथ भोगार्हके,
दध्रे येन महौजसाऽतितरसा शीलोऽपवर्गप्रदः ।
अम्बादासगुरो निपीय नितरा तर्काख्यविद्यां सुधा,
जातो यो विदुषामुपास्य इह वै स्वाचार कृत्येपटुः ।।

(२)

गङ्गोत्तुङ्गतरङ्ग-सङ्गि-सलिल-प्रान्तस्थितो विश्रुतः,
श्रीस्याद्वाद-पदाङ्कितो भुवि जनै र्मान्योऽस्ति विद्यालयः ।
सोऽनेनैव महोदयेन महता यात्नेन सस्थापितः,
ब्रूतेऽसौ सतत विनास्य वचन कीर्ति परा साम्प्रतम् ।।

(३)

धन्या सा जननी पितापि सुकृती गेह च तत्पावन,
धन्या सा घटिका रसापि महती मान्यो हसेरोऽपि स ।
धर्म्माबापि बभूव मान्यमहिता बाई चिरोजाभिधा,
धन्य सोऽपि गुरु र्यदस्य हृदये विद्यानिधि न्यक्षिपत् ।।

(४)

ध्यानेनामृतवर्षिणा श्रवणयोराकर्षिणा मानवान्,
यत्र क्वापि विवाद-वैर-कलहाः शान्ति चिरस्था गताः ।
विश्वस्ता जनता कृता च सुखिता प्रोत्साह युक्तामुना,
पुष्पामोद इव प्रयान्ति पुरतः, स्वाभाविकाः सद्गुणा. ।।

(५)

यथा सुवर्ण पुटपाकयोगाद्विनिर्मल सल्लभते प्रतिष्ठाम् ।
तथैव विद्याप्तिकृते प्रसह्य कष्टान्यनेकानि विचक्षणेषु ।।

]

(६)

अवाप्यनेनापि विचक्षणेन निरन्तरोत्साहवता सतातः ।
सम्यक् प्रतिष्ठा विदुषां बभूव, सहायकोऽसौ गुणिनायकश्च ॥

(७)

व्यथां स्वकीया च तृणाय मत्वा परस्य पीडाहरणे विदग्धः ।
जनो जनैः स्याद् यदि पूज्य एव, किमत्र चित्र न सतामरोहि ॥

(८)

सद्भिः समाराधित एष पन्थाः, सुसेवितोऽनेन महोदयेन ।
अतो नरत्वेऽपि स्वसात्प्रवृत्या देवायित सत्त्वहितैषिणा वै ॥

(९)

सम्यग्दर्शन-शुद्धबोधचरण सधारयन्नादरात्,
स्वस्थानोचितसद्गुणैश्च विविधैराकर्षयन् मानवान् ।
वैराग्योद्भवकारकैर्हितवहैर्नित्य वचोभिः श्रितः
स श्रीमान् गुरुवर्य आर्यमहितो नोऽव्याद् गणेशो मुनिः ॥

(१०)

चिरोंजाधर्मपुत्रोऽय भूयात्स्वभवनाशकः ।
दाता बोधस्य त्राता च दुःखिना पतता नृणाम् ॥

✲

आत्मा अनादिकाल से पर के साथ सम्बन्ध कर रहा है और उनके उदयकाल मे नाना विकार भावो का कर्त्ता बनता है । यही कारण है कि अपने ऊपर इसका अधिकार नही ।

—गणेश वर्णी

वर्णि वन्दना

रचयिता—श्री मूलचन्द्र शास्त्री श्री महावीर जी,

(१)

विद्वद्वरेण्य ! वदतांवर ! विश्वबन्धो !
सिन्धो ! गुणस्य गुणिनाथ ! विनाथभर्त: ! ।
आसाटिजातिवरनन्दन ! वन्दनीय !
चूडामणे ! व्रतिजनस्य बुधावतंस ! ॥

(२)

हे भद्रताभार विनम्रगात्र !
अध्यात्मसाराञ्चित-चित्तवृत्ते ! ।
विद्यार्थिना प्राण ! परार्थकर्तः !
शरण्य ! साधो ! वरबोधदात ॥

(३)

ज्ञानार्जने लब्धविशिष्टकृच्छ्र !
विशालदृष्टे ! गुणिवृन्दवन्द्य ! ।
बुन्देलभूमेस्तरणे ! मनस्विन् !
नित्य जगज्जीव हिताभिलाषिन् ! ॥

(४)

कषायवृत्या परिवर्जितात्मन् !
सरस्वतीमन्दिर रत्नदीप ! ।
श्री जैन-धर्माभि-वशात्प्रबुद्ध !
सत्कृत्य सर्वैः समुपास्यमान ! ॥

(५)

प्रातः सदा संस्मरणीयपाद !
कीर्त्या महत्या भुवि वर्धमान ! ।
सद्दर्शनज्ञानपवित्रवृत्त !
प्रशस्य सद्भाववश प्रपूज्य ! ॥

(६)

अजातशत्रो ! परदारबन्धो !
परार्थससाधनबद्धकक्ष ! ।
सूक्त च बालादपि सजिघृक्षो !
ऋज्व्या प्रकृत्या परिशोभमान ! ॥

(७)

सद्धर्मसदेशक ! हे प्रबुद्ध
गणेश ! पूज्योऽसि गुणैरमीभिः ।
विराजसे त्व जनतालवाले
तुभ्य नमो भव्य ! दिवगताय ॥

(८)

सद्वर्णिने ऽन्ते च दिगम्बराय
विद्वरेण्याय महोदयाय ।
नमो गणेशाय गुणै र्युताय
सदैक-रूपाय मनोऽङ्गवाण्याम् ॥

(९)

काश्या यदाह गुरुवर्यपार्श्वे
पपाठ तत्रैव तवाङ्घ्रिसेवाम् ।
चकार पश्चान्नहि योग ईदृग्
लब्धो मया हन्त कथञ्चनापि ॥

(१०)

नमोऽस्तु तुभ्य सतत त्रियोग—
शुद्धया त्रिकाल मम भक्तकस्य ।
मन्येऽमराणां द्युसदा सभाया
सबोधनायेव दिवंगतोऽसि ॥

(११)

हे सद्गुरो ! विश्वजनीनवृत्ते ! गुणानशेषानसमर्थ एव ।
वक्तु त्वदीयान् मम कामनेय, पुनस्त्वमेह्यत्र जिनोपवृत्यै ॥

✲

शब्द-प्रसून

डा० नरेन्द्र 'विद्यार्थी', छतरपुर (म. प्र.

(१)

य: शास्त्रार्णवपारगो विमलधीर्य सश्रिता सौम्यता ।
येनालम्भि यश· शशाङ्कधवल, यस्मै व्रत रोचते ॥
यस्मात् दूरतर गता प्रमदता, यस्य प्रभावो महान् ।
यस्मिन् सन्ति दयादय स जयति, श्रीमान् गणेश सुधी ॥

(२)

निकन्दो विद्याना, सकलनिलयो धर्मतपसाम्,
निधि कल्याणाना, गुणगणचय पूज्यचरण ।
यतिस्थान वाचा, कविवरगणानां श्रमहर:,
गुरु-वर्णी पूज्यो, भवतु भवता नित्यसुखद· ॥

✲

परिणामो मे शाति उत्पादक जो कार्य हो वह श्लाध्य हैं । जिस कार्य के करने मे शाति न हो, वह श्लाध्य कोटि मे नही आता । जिस कार्य के अनन्तर शाति आ जावे, अभिमान-कर्तृत्व का लेश न हो, वही महनीय कार्य है । पञ्चेन्द्रिय विषय सेवन से उत्तरकाल मे तृष्णारोग की शाति नही होती । अत: उन विषयों के सेवन को कोई भी श्लाध्य मानने को प्रस्तुत नही होता । प्राय विषयसेवन को प्रत्येक व्यक्ति दु ख का कारण मानता है । यद्यपि विषय दु:ख के जनक नही, क्योकि वे तो पद्‌गलद्रव्य के गुण है । अत न दु ख उत्पादक है और न सुख के जनक ही है । रागादि परिणाम ही दु.ख के जनक है । क्योकि जिस समय रागादि परिणाम होते है उस समय आत्मा मे स्वास्थ्य नही रहता । जब तक रागादि की निवृत्ति न हो आत्मा पराधीन रहता है । जिस समय उसके रागादि परिणाम ध्वस्त हो जाता है उसी समय आत्मा मे व्यग्रता मिट जाती है । व्यग्रता के अभाव मे आत्मा स्वयमेय सुख, शाति का अनुभव करने लगता है ।

वर्णी वाणी, ३/६६

पार्श्वनाथ टोक की अन्तिम वन्दना। साथ मे है श्री गणेश विद्यालय सागर के मन्त्री श्री नाथूराम गोदरे और दूसरी ओर श्री नीरज जैन ।
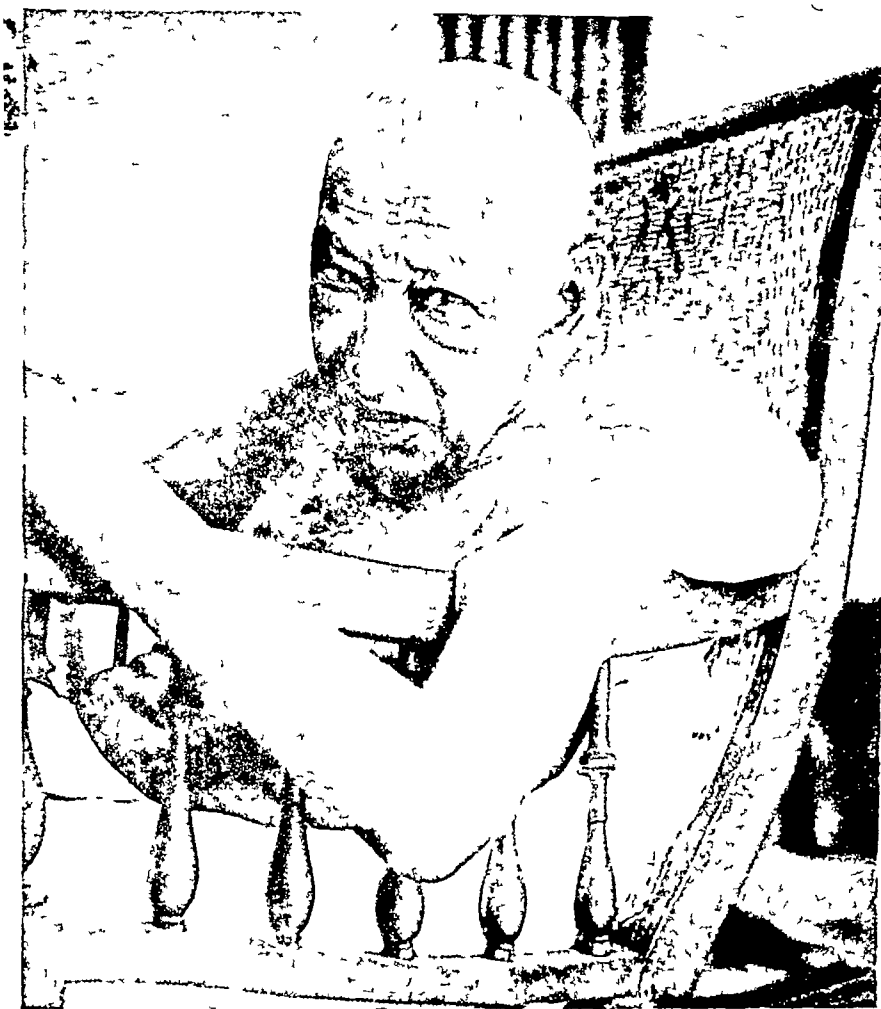
एक चादर मे वॅधा है विश्व का विश्वास
—स्व० हरिप्रसाद हरि—

आहार के बाद : उपदेश
श्रोता है श्रावक शिरोमणि साहू शान्तिप्रसाद और रमारानी जैन

(पूज्य बाबाजी का साक्षात् चित्र प्रस्तुत करने वाली एक सुन्दर रचना)

एक चादर में बँधा है विश्व का विश्वास

—स्व० हरिप्रसाद 'हरि'

पीत पट में ही बँधे से,
हड्डियों में प्राण;
और वाणी मे बिधे से
वेदना के बाण।
विनत पलकें—कल्पनाओं—
के समेटे बिन्दु,
वक्ष ! या प्रत्यक्ष ही,
सिमटा हुवा सा—सिन्धु।
हास्य रोदन बस रहा—
है आज कितने पास,
एक चादर में बँधा है,
विश्व का विश्वास।

पूज्य वर्णीजी के प्रति

—स्व० धन्यकुमार जैन 'सुधेश', नागौद, म. प्र.

तुम जगजीवन के गेय रहो
जग रहे तुम्हारा गीतकार ।

अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवाद के चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है, अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

हे तीर्थंकर के आत्म-त्याग, हे 'गणधर' के शुचि आत्मगान ।
हे 'बाहुबली' के आत्मतेज, हे 'भारतभू' के आत्मध्यान ।।
हे 'श्रेणिक' के नव आत्मबोध, हे कुन्दकुन्द के आत्मधर्म ।
हे 'महाधवल' के आत्मज्ञान, हे 'समयसार' के आत्ममर्म ।।
तुम सी विभूति को पाकर ही, है आत्मवाद को अहकार ।
अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवाद के चमत्कार ।।
अध्यात्म विशारद ! तुमको है, अध्यात्म जगत का नमस्कार !

हे 'वीतराग' के धर्मचक्र ! हे मुनि 'समन्त' के धर्मध्यान ।
'चामुण्डराय' के धर्मभाव, हे 'नेमिचन्द्र' के धर्मज्ञान ।।
हे 'वारिषेण' के धर्मयोग, हे 'विष्णुसाधु' के धर्मप्रेम ।
हे 'चन्द्रगुप्त' के धर्मलाभ; हे 'खारवेल' के धर्मक्षेम ।
दी बहा तुम्ही ने यहा पुन., इस पुण्य धरा पर धर्मधार ।।
अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवादके चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है, अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

तुम वीतरागताके प्रतीक, है तुम्हे एक से शूल फूल ।
कवि कहे कहा तक ? तुम सोने-मिट्टी का अन्तर चुके भूल ।।
तुम लीन आत्म-हित चिन्तन मे, काया का तुमको नही ध्यान ।
तन्मयता मे तुम बने स्वय, अब अपने ध्याता, ध्येय, ध्यान ।।
हे निर्विकार मन निर्विकार, वच और कर्म भी निर्विकार ।

अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवाद के चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

शिक्षाप्रचार के हेतु भ्रमण ही, रहा तुम्हारा चिर विलास ।
क्षण भर भी आश्रय पा न सका, अज्ञान तुम्हारे आसपास ।।
अतएव तुम्हारी ऋणी जैन, जन-मन-गण की प्रत्येक श्वास ।
निजरूप निरख तव वाणी मे, जिनवाणी का मुख भी सहास ।।
माता की गरिमा को विलोक, झंकृत कवियो के हृदय तार ।
अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवाद के चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

श्रद्धासे गद्गद कण्ठ हुवा, तुमसे लघु कवि क्या कहे सन्त ।
बस यही चाहता तुम्हें कुशल, देखे हर आगामी वसन्त ।।
युगपति ! गणेश ! युग के मस्तक, पर रहे तुम्हारा वरद-हस्त ।
युगचक्र तुम्हारे इगित पर, चलने मे ही हो चिरभ्यस्त ।।
तुम सदा जगतके गेय रहो, जग रहे तुम्हारा गीतकार ।
अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवादके चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

वर्णी जी महाराज के कर कमलों में

सादर समर्पित

हे आत्मतत्त्व के तेजपुँज, मानवता के हे परम देश ।
श्रमदम शम सुमनो के निकुँज, गुरु वर्ण पूज्य वर्णी गणेश । १ ।

पाकर चरणों का शुभाशीष, जगने पाया नूतन विकास ।
तुम चले वाछने को जगमे स्याद्वाद धर्म का सत्प्रकाश । २ ।

हीरा उजयारी की कुटिया, के दीपक बनकर के आये ।
आलोकित करके दिगदिगन्त, सूरज से बन करके छाये । ३ ।

तुमने अलसाए प्राणों मे, चेतना मंत्र सा फूंक दिया।
तमसावृत जीवन मदिर को, तुमने पावन आलोक दिया। ४।

हे तप. पूत ! हे शान्तिमूर्ति ! कारुण्य - सिन्धु के हे उभार।
कल्याणमार्ग के अथक पथिक, तुम आत्मगुणो के हो अगार। ५।

तुम शिशु सा सरल हृदय लेकर, मा सा स्नेह वितरते हो।
परहित कातर हे पुण्यमूर्ति, सबका हितचिन्तन करते हो। ६।

ले सस्थाओ की दीपशिखा, तुमने जगको जगमगा दिया।
जो कभी नही मिट सकता वह, ऐसा पावन आलोक दिया। ७।

फूलो का हृदय लिए तुम हे, शूलो के पथ पर चलते हो।
होकर के ही नि सग सदा, गुणनिधि से जीवन भरते हो। ८।

समझे हम तुम मानव विराट, हो आत्मतेज के पुज अहो।
ओ साधक ज्ञापक बनकर तुम, चितमे आनन्द समीहक हो। ९।

कल्याणमार्ग के परिचायक, शाश्वत निधियो के हे अगार।
भौतिक जग के प्रति उदासीन, जीवन समरसता के उभार। १०।

ओ पूज्य तपोनिधि चरणों मे, श्रद्धा से शीश झुकाते है।
तव सौम्यमूर्ति की आभा मे, हम अपने पन को पाते है। ११।

—अध्यापक एवं छात्र समुदाय
जनता हायर सेकेन्डरी स्कूल
बड़ा मलहरा (छतरपुर) म. प्र.

✲

स्नेह ही बन्धन का जनक है। यदि ससार मे नही फँसना है तो परका सम्पर्क त्यागना ही भद्र है।

—गणेश वर्णी

तुम्हारा ही वह पौरुष धन्य ?

—श्री हुकमचन्द्र बुखारिया, ललितपुर (उ. प्र.)

सम्प्रति युग के हे एक श्रेष्ठतम
पुरुष वृद्ध !
मुट्ठी भर दुर्बल हाडों के हे स्तूप !!
जियो तुम अविचल जब तक
दूर क्षितिज पर तप्त दिवाकर,
शीतल शशि, नक्षत्र अनेकानेक—
प्रकाशित है जगमग-जगमग !
माना—
अब तक इतिहास
वहन करता आया है भार-
अनेकों का—
लघु या कि महान,-
-भले सुख्यात या कि बदनाम,
स्वार्थमय या कि परम निष्काम,
विकृत अति या कि पूर्ण अभिराम !
गहन गम्भीर वही इतिहास
किन्तु अब शनैः शनैः भयभीत
हुआ जाता यह सोच-विचार—
कि निकटागत मे तुम जब प्राप्त
उसे होओगे ही अनिवार्य,
सभालेगा तब कैसे भार
तुम्हारा वह ? हे गहन महान् !
अनेकों शिशु भोले सुकुमार,
अशिक्षित बने भूमिके भार,-
डोलते थे जीवनके अर्थ,
किन्तु असफल होते थे व्यर्थ !
तुम्हारा मानव करुणा-स्रोत—
सुकोमल—ममता ओत-प्रोत—
न सह पाया यह त्रास महान,
महामनु—वशज का अपमान—
हो उठा आहत-सा कटि-बद्ध,
प्रतिज्ञा-बद्ध, बज्र-संकल्प,
विश्व-कल्याण-भावना साथ !
तुम्हारा ही वह पौरुष धन्य !
तुम्हारा ही वह साहस धन्य !!

× ×

कि स्थापित करा दिए सर्वत्र
बड़े-छोटे अनेक वे स्थान—
जहा विद्या करती है हास,-
सस्कृति करती समुद विलास;
जहा की पावन रज मे लोट
दुधमुँहे शिशु भोले नादान
शनैः बनते सविवेक जवान;
और यौवन—मय नारी—प्राण—
तरुण पाकर विद्या का दान
सहज ही बन जाते विद्वान्,
सीख जाते सस्कृति का ज्ञान—
कि कैसे लायी जा सकती
कठिन सूनी घड़ियो मे भी,
मनोहर मन्द मन्द मुस्कान !
किया जा सकता है कैसे
सुखी जीवनका शुभ आह्वान !!
और लाया जा सकता है
अर्द्धनिशि मे भी स्वर्ण-विहान !!!

संत की चादर

—नीरज जैन, सतना

पूज्य बाबाजी के करुणा-प्लावित हृदय की मनोरम झांकी प्रस्तुत करने वाली एक प्रासगिक रचना ।)

१९४६ में आजादहिन्द सेना के बंदियों पर लाल किले मे ऐतिहासिक मुकदमा चल रहा था । उसमे द्रव्य की सहायता के लिए जबलपुर मे एक विशाल आमसभा हो रही है । एक सज्जन प्रारम्भिक वक्तव्य दे रहे है—

—"सेनानी बोस ने लेकर आजाद हिन्द—
सेना, ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध छेडा था,
दिल्ली का लाल किला लक्ष्य था, उन्होने अभी—
बर्मा, मलाया और सिगापूर जीते थे ।
किन्तु दुर्भाग्य का उदय था सब स्वप्न रहा,
कौन टाल सकता है होनी अनहोनी को ?
—पशुता के बल पर ही विजयी ब्रिटेन हुआ,
टूट गया उस दिन सितारा भाग्य भारत का ।
अवसर पाते ही बोस अदृश्य हुए—
किन्तु वह प्रतिज्ञा अभी भी उन्हे चुभती थी—
'दिल्ली का लाल किला अब भी परतन्त्र है' ।
—और वे सैनिक जो राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर—
प्राणार्पण करने चले थे, आज बदी हैं,
—उस ही किले मे—यह कैसी भाग्य-लीला है ?

× × ×

चाहते है शासक—मिटादे नाम उनका औ'
फिर भी निर्दोष रहे—आज, इसी बूते पर
न्याय का नाटक भी हाय किया जाता है ।
किन्तु देश देगा सहयोग यदि पूरा तो
शीघ्र यह नाटक सुखान्त आप देखेंगे ।
जयहिन्द ! मेरा निवेदन समाप्त हुआ—
बैठने के पहिले कहूगा बस इतना ही—
"आप शान्त बैठे हमारे आयोजन मे
पूज्यपाद वर्णीजी चार शब्द बोलेगे ।"
"वर्णीजी चार शब्द बोलेगे" सुनते ही
समीपस्थ श्रोता ने समोद कहा, धीरे से—
" 'गणेश' से होगा श्री गणेश जिस उत्सव का—
उसकी सफलता मे सदेह—अनावश्यक है" ।

× × ×

और तब मच पर दिखाई दिया उस ही क्षण—
आत्म-बल-सयत, था एक सत बूढा सा ।
यद्यपि वह सत था 'निस्पृह' औ' 'निर्विकार',
भौतिक-बन्धनो से मुक्त, किन्तु उस त्यागी के—
पावन पुनीत चरणो पर न्योछावर थी—
इन्द्र की भी सपदा औ' वैभव कुबेर का
—किसी भाति वीरों के प्राणो की रक्षा हो—

यह थी पुकार समुपस्थित श्रोताओ की,
शान्ति एव रक्षा का सुन्दर सदेश लिए—
वर था महात्मा का सम्मिलित उसी मे—
'भारत के वीर निर्दोष बच जावेगे ।'
वृद्ध दृढ स्वर मे बोला—'वन्धु निश्चित ही
न्याय के लिए भी इन्हे द्रव्य आवश्यक है ।
यथाशक्ति द्रव्य सहयोग आप देगे ही—
मेरी यह चादर प्रदत्त इन्हे सादर है' ।

× × ×

सुनते ही जन-सागर श्रद्धा से उमड़ा सा
भरने लगा मुक्त हृदय झोलिया स्वदेश की,
और तब सहस्रो स्वर मिल कर पुकार उठे—
"गुरुवर गणेश पूज्य वर्णी की जय हो"
"पूज्य वर्णी की जय हो" ।

× × ×

सहसा एक श्रोता सशक, और धीरे से—
बोला—"यह साधु है विचित्र किसी ने भी क्या
पाकर वरदान कभी मामले भी जीते है ?
और यह खद्दर की चद्दर जो दी है यहाँ
क्या उन वदियो के ओढने के काम आवेगी ?"
सविनय सुनते ही स्वयसेवक एक बोल उठा—
सच है वन्धु ! साधु सचमुच विचित्र है,
सत्य औ' अहिसा का जो है आराधक, भला
वह भी किसी कारण कभी क्या झूठ बोलेगा ?
और यह चादर, है चादर उस योद्धा की,
जिसने मद, लोभ, मोह, काम, क्रोध, जीते है ।
जानते नही हो एक सयमी की चादर पै'
एक साथ सपदा त्रिलोक की निछावर है ।
बंदी क्या ? उसे तो ओढ सकता है सारा जग
पाप से बचाने की उसमे सामर्थ्य है ।'
सुनकर यह श्रोता ने लज्जित हो-हाथ जोड—
श्रद्धायुक्त मस्तक झुकाया साधु चरणों मे ।
तब तक तो भक्तो मे होड़ लग चुकी थी, वे—
तत्पर थे अपना सर्वस्व भेट देने को;
चाहते थे बदले मे लेकर उस चादर को—
पुनीत-पाद-पद्मो मे चढाना गुरुदेव के ।

× × ×

सुर भी लगाते यदि होड़ उस चादर के—
पाने को, तो भी यह विधि का विधान है ।
अपना सर्वस्व भी लुटाकर उसे पाने मे—
रहते असमर्थ, क्योकि मानव नही, देव थे—
और यह अवसर मिला था हम मानवो को ।

× × ×

शीघ्र ही सहर्ष सवाद सुना सबने यह
'सैनिक स्वतन्त्र हुए जयहिन्द सेना के'
निवलों की पुकार भावनाए आत्म त्यागी की—
सिद्ध हो गया कि, साकार सत्य होती है ।

जाओ सुपन्थ के पथिक

—नीरज जैन, सतना

(फरवरी १९५३ मे पूज्य बाबाजी के ईसरी गमन करते समय सतना मे पठित)

(१)

जब मानव मूर्छित हुवा, चल गया,
जटिल अविद्या का टोना।
तुम ज्ञान - सूर्य बन उगे,
प्रकाशित हुवा देश का हर कोना ।।

कोई तो नगर नही छोडा,
जिसमें न एक विद्यालय हो।
कर रहे सहस्रों ज्ञान - लाभ,
कहते "श्री वर्णी की जय हो।"

(२)

जब अहकार वश मानव ने,
मानव को दर से दुतकारा।
समता के शान्त प्रचारक का,
तब तुमने जीवन - व्रत धारा ।।

पथ मे कितनी बाधा आईं,
भ्रम मे हमने क्या नही कहा ?
दृढ़ सकल्पी ! तुम मौन बढे,
क्या नही सुना, क्या नही सहा ?

(३)

हम मोह लोभ मे लीन हुवे,
तुम लखकर करुणा से कापे।
पथ बतलाने हित ग्राम-ग्राम,
तुमने इन चरणों से नापे ।।

नप गई डगर, नप गए नगर,
नप गया देश का छोर-छोर।
पड गए जहा ये पुण्य-चरण,
हो उठी धरा भी सुख-विभोर ।।

(४)

समता की धारा बह निकली,
उठ गए जिधर ये सबल-चरण।
मानव मानव का भेद मिटा,
अशरण को भी मिल गई शरण ।।

अब पारस प्रभु के चरणो मे,
तुम करने काल व्यतीत चले।
ममता की धारा मोड़ चले,
औ' मोह-मल्ल को जीत चले ।।

(५)

भव - भय - हर्ता मगल - कर्त्ता,
पारस जिनेश की जय बोलो।
औ' पतितोद्धारक, परम शान्त,
'वर्णी गणेश' की जय बोलो ।।

जाओ सुपन्थ के पथिक,
सुगमता-सहित लक्ष्य हो प्राप्त तुम्हें।
हो शूल, धूल या शीत, धाम की,
बाधा तनिक न व्याप्त तुम्हे।

(६)

तुम सुख - पूर्वक दर्शन पाओ,
पारस - प्रभु शरण - सहाई का।
हर समय तुम्हारे साथ रहे,
वरदान 'चिरोजा बाई' का ।।

पारस - प्रभु का दर्शन पाकर,
बाबाजी फिर दर्शन देना।
हम आँखे बिछा रखेगे प्रभु
हीतल को शीतल कर देना ।।

(७)

तुम बढो, उमड़ती आखो मे,
आँसू की धारा मत देखो।
देखो प्रकाश की ओर, मोह का,
यह अधियारा मत देखो ।।

जब तुम ही माने नही,
मानता कैसे यह मन अज्ञानी।
जब रमता जोगी ही न रुका,
क्या रुकता आँखो का पानी ।।

(८)

तुम कही रहो बस शान्ति-सहित,
बुन्देल खण्ड के लाल जियो।
हो साल हजार महीनो का,
औ, तुम ऐसे सौ साल जियो ।।

किसकी पुण्य जयन्ती ?

—नीरज जैन, सतना

(१९६६ में पूज्य बाबाजी की वर्षगांठ पर पठित)

आज धरा क्यों पुलकित सी है, स्वच्छ निरभ्र गगन है;
और हर्ष से उत्फुल्लित-प्रमुदित जन-जन का मन है।
किसे देखने दिनकर का रथ, नभ मे आन रुका है ?
कौन रत्न 'सागर' का, 'गिरि' की सीमा पर चमका है ?
हर हिलोर सागर की, किसके लिए अधीर हुई है ?
लहर-लहर मे परि-चित्रित, किसकी तस्वीर हुई है ?
जैन-जगत मे फहर रही है, किसकी यश-वैजती ?
हम सब मिलकर मना रहैं, किसकी पुण्य-जयन्ती ?
कौन मनस्वी है वह जो, रागादिक से रीता है ?
कौन तपस्वी है वह जो, समता अमृत पीता है ?
वह तुम हो ! जिसने पहिले, अपना अतर झाँका है,
और अभागे मानव का भी, सही मूल्य आँका है।
भेद-भाव के तूफानो मे, हमने तुम्हे पुकारा,
मिथ्यातम के अगम सिधु मे, तुम बन गए किनारा।
चिर अज्ञान-निशा में लाए, तुम-शुभ-ज्ञान सबेरा,
वह तुम हो, जिसने वन्ध्या को, 'माता' कह कर टेरा।
वह तुम हो, जिसको जननी से, अधिक धर्म माँ भाई,
तुमको पाकर अमर हो गई, धन्य 'चिरौजा बाई'।
ममता, समता, क्षमता, की, शुचि धाराओं के सगम,
तुम्ही कर सके महावीर की, वाणी को हृदयंगम।
तुमने कहा कि जीव-मात्र को, धर्मामृत पीने दो,
गूँज उठा तब महावीर का, 'जियो और जीने दो।'
मानवता की थाती के, ओ' सबल सचेतन प्रहरी,
तुम्हे हुई अनुभूति विश्व-बन्धुत्व तत्त्व की गहरी।

यही कामना है युग-युग तक,
'जन हिताय' तुम डोलो।
युग युग तक जन-जन के मन मे,
समता का रस घोलो।।

✲

शाश्वत सहज प्रकाश है

—नीरज जैन, सतना

(वर्णी–जयन्ती १९५९ को पठित) दि० २५-८-५९

सन्त तुम्हारा जीवन मानवता का चरम विकास है,
लौ कम्पित है, किन्तु अकम्पित शाश्वत सहज प्रकाश है।

तनका ताप तुम्हारे मन को छूने में असमर्थ है,
और वेदनी के दल की सारी बरजोरी ब्यर्थ है,
जहा निराकुलता का सीमा - हीन सिन्धु लहरा रहा,
वहा तुच्छ तन की पीडा के वेदन का क्या अर्थ है।

तीन दोष विश्रृखल बाहर जितनी बाधा दे रहे,
भीतर उतना ही रत्नत्रय का निर्दोष विकास है।

देह दीप–दुर्दान्त–दोषमाला से हुवा मलीन है,
जर्जर–जीवन–ज्योति–जरा के आघातो से क्षीण है,
यह नरभव के आयुनिषेको का जो पारावार था—
निमिष प्रति निमिप खिरता जाता, पल पल होता हीन है।

काया का कारागृह जितना दुर्बल और अशक्त है,
उतना ही दृढ सुदृढ तुम्हारे अन्तर का आवास है।

इन्द्रिय शिथिल रहे पर जागृत पूर्ण चेतना (ज्ञान) है,
काया हो निस्तेज, आत्मा वैसा ही बलवान है।
नश्वर यह व्यवहार, ब्याधि, पीड़ा, उपचार समस्त है—
ओ प्रबुद्ध विज्ञानी ! स्व–पर विवेक तुम्हे हर आन है।

'ॐ नम· सिद्धेभ्य है' आने वाली हर स्वास मे—
भीतर अंतर्मुखी चेतना का अद्‌भुत विन्यास है।

✲

आशंका भरी एक चिट्ठी नरेन्द्र विद्यार्थी के नाम

—नीरज जैन, सतना

(अवसान पूर्व जन्म-जयन्ती पर १९६० मे ईसरी से लिखा एक पत्र)

बन्धु !
गत वर्षो की भाँति
पर्युषण के जाते ही,
हम प्रस्थित हो गये, और फिर—
परम पूज्य बाबा की
जन्म-जयन्ती के अवसर पर
उस कुटिया मे जाकर,
माथा टेका,
जिसमे विगत पाँच वर्षो से
पूज्य चरण विश्राम पा रहे ।

× × ×

धूम-धाम से सब भक्तो ने,
अपनी श्रद्धाजलि अर्पित कर,
अपने को कृतकृत्य बनाया ।
बड़े-बड़े पद-रज पाकर ही
अपनी लघुता प्रकट कर सके ।

× × ×

अब यह अनुभव हुवा,
पूज्यवर बाबा जी का—
अन्तरग का स्वास्थ्य,
(और अस्वास्थ्य देह का)
दिन प्रति दिन बढ़ता जाता है ।
किन्तु आत्म आनन्द निरन्तर
ध्यान धरा पर प्रवहमान है ।
वैसे नश्वर तन—
अविनश्वर आत्म तत्त्व का
थोड़े दिन का मीत
बन्धु अब दिखलाता है ।
आगे जो भवितव्य,
किन्तु यह अहम प्रश्न है—
बाबा जी के बिना समूचे ही समाज मे
घनीभूततम छा जाएगा ।
और भयाकुल होता है मन,
कि उलझन भरी राह में तब फिर
पथ-प्रदर्शिका किरण प्यार की
कौन सहज ही चमकाएगा ।

× × ×

नही सोच पाता फिर आगे,
नही जानता फिर क्या होगा ?
किन्तु अमिट होनी के आगे,
अपनी कुछ औकात कहाँ है ?
चलो कामना करे
पूज्य श्री के चरणो की
छाया युग युग तक
हम सबको और प्राप्त हो ।

बच्चों के वर्णी जी

—डा० नरेन्द्र विद्यार्थी, छतरपुर (म प्र)

था अशोक भोला सा बालक, करता फिरे किलोल।
कौतुक-वश पहुँचा प्रदर्शनी, देखा चित्र अमोल।।

परम-तपस्वी, साधु-सन्त-जन, के थे चित्र अनेक।
आकर्षक था वर्णी जी का, केवल चित्र सुनेक।।

पहुँचा निज माता के सन्मुख, लेकर के वह चित्र।
माता मेरी जल्द बता दे—"किसका है यह चित्र ?

काका जैसा ओढे चादर, लगते जैसे सन्त।
बाबा जैसी लाठी टेकं, बैठे लगे महन्त।।

भाई जैसी पोथी पढते, बनते बूढे छात्र।
जिन्हे न खेद शोक चिंता है, एक लेश भी मात्र।।

कभी-कभी जो बाते करते, हँसते हैं ज्यो बाल।
मन प्रसन्न हो या नाराजी, कभी न पलटे चाल।।

कौन अलौकिक महा-पुरुष का, है यह सुन्दर चित्र।
माता मेरी जल्द बता दे, परिचय-पूर्ण-पवित्र।"

मॉ का उत्तर :—

चिरजीव तू भाग्यवान है, सफल परिश्रम आज।
परम-तपस्वी, गुरुवर हैं यह, राजर्षि सिरताज।।

ज्ञान-कल्पतरु की छाया सम, विद्या-केन्द्र अनेक।
सस्थापित कर जैन-जगत मे, किए अनेक-सुनेक।।

समय-समय पर जिनकी वाणी, बालक-वृद्ध-जवान।
जागृत करती और सिखाती, मानव की पहचान।।

यही चिरौंजा मॉ के सुत है, भारत-माँ के लाल।
दीन-दु.खी-जन इनको पाकर, उन्नत करते माल।।

विज्ञ-शिरोमणि विद्वानो मे कहलाते विबुधेश।
बेटा! प्यारे! इनको कहती दुनिया वर्णि-गणेश!!

गणेश मन भाया था ।

—श्री सुमेरचन्द्र 'कौशल' एडवोकेट (सिवनी)

समय को धारण कर,
लिया ब्रह्मचर्य व्रत
कर्मशत्रु का विनाश,
चित्त मे समाया था ।
काम क्रोध मोह लोभ
आदि आठ जीतूं कब ।
यही एक सोच, सोच,
मन, अकुलाया था ।
कीर्ति का न भूखा था,
लोलुपी न यश का था ।
यद्यपि सत् कर्म का ही,
बीडा उठाया था ।

न्याय का आचार्य और,
विद्या भंडार परम ।
भारत के ओर छोर,
जिसका यश छाया था ।
जैनधर्म जाति लाज,
वर्णी जी के थी हाथ ।
जानता है सब समाज,
काम जो कराया था ।
गणपति, गौरीसुत,
गिरिजा को पूत नहीं ।
सत्य यही "कौशल",
गणेश मन भाया था ।

*

ओ, महासंत वर्णी महान

—प्रेमचन्द्र जैन विद्यार्थी दमोह (म. प्र)

बुंदेलखण्ड की धरिणी पर,
वर्णी जी का अवतार हुआ ।
पदरज को छू गौतमलिय मा,
मानवता का उद्धार हुआ ।
क्षणभंगुर जीवन से जिनको,
किंचित् अभिमान नहीं आया ।
जिनके चरणों में शीश झुका,
झुक गई विश्व-व्यापी माया ।

जिनके आदर्शों पर चलकर,
मानव को पथ-निर्वाण मिला ।
जिनके आशीषों से, पीड़ित—
शोषित जन को कल्याण मिला ।
दानी, ज्ञानी ओ महामन,
भव-सागर को नौका समान ।
शत शत प्रणाम, ओ वीतराग,
ओ ! महासंत वर्णी महान ।

*

मेरे वर्णी मेरे महान

—श्री ज्ञानचद्र जैन 'आलोक' डालमियानगर,

(वर्णी जयन्ती १९५९ पर पठित)

भारत - भू के भूषण - स्वरूप,
गौरव गुण—गरिमा से गरिष्ठ।
जनहित की सफल साधनाये,
एकान्तलीन, तुम हो बशिष्ठ ॥ १ ॥

× ×

तुम कर्मवीर, कृतिमान स्वय,
कर्ता, कारक, कारण महान।
तव दिव्य दृष्टि मे दिखता है,
परभिन्न एक आत्मा महान ॥ २ ॥

× ×

तुम क्रोध रहित, करुणासागर,
हो तप शुद्ध, उन्नत विचार।
प्राचीन सभ्यता के प्रतीक,
हे अमर - ज्योति, हो मदनमार ॥ ३ ॥

× ×

तुम ज्ञान और गरिमागर्भित,
हो वृद्ध तपस्वी एक - निष्ठ।
स्थित हो जहाँ सुसस्थित थे,
आशा है तुममे सुप्रतिष्ठ ॥ ४ ॥

जैनो का गत छह दशको का
इतिहास तुम्हारी गाथा है।
जीवन दृष्टा, जीवन के कवि
जन जन स्वदेश का भ्राता है ॥ ५ ॥

× ×

चिन्तन तेरा वर्णी असीम,
अध्यातम - विषय के ऊपर है।
तेरे क्षण क्षण का सदुपयोग,
होता रहता इस भू पर है ॥ ६ ॥

× ×

न्यायाम्बुधि तेरा यशगौरव,
अम्बर से दिनकर आक रहा।
टकटकी लगा, करतूली ले,
तेरी ही प्रतिमा बना रहा ॥ ७ ॥

× ×

तुम जागरूक, ध्वनिवाहक हो,
हे मात चिरोजा के नन्दन।
शत शत जीओ इस भूतल पर,
कर रहा विश्व नत अभिनन्दन ॥ ८ ॥

चन्दा सूरज जब तक तब तक, गाएँ तेरा हम यशोगान,
मेरे वर्णी, मेरे महान !

मानवता के अमर प्राण

वैद्य श्री ज्ञानचद्र जैन "ज्ञानेन्द्र" ढाना, म. प्र.

तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर
मानवता के अमर प्राण ।

(१)

अज्ञान तिमिर की घोर घटा
जब उमड़ घुमड़ कर आई थी,
घर घर मे घुस कर जड़ता ने
जब जड़ मजबूत जमाई थी ।
तब खोले विद्यालय अनेक
गढ़ डाले अगणित ज्ञानवान,
लोहे को सोना बना दिया
ओ पारस मणि, ओ नर महान ।
कैसे कर पाये कोटि कण्ठ से
कोई कवि तब यशोगान,
तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर,
मानवता के अमर प्राण ।

(२)

त्यागी समाज की देख दशा
छाई चहुँ ओर निराशा थी,
यम, नियम, आहार विहारादिक की
प्रथक-प्रथक परिभाषा थी ।
तब स्वय सन्त बनकर तुमने
तीर्थङ्कर वाणी के स्वरूप,
आध्यात्मवाद व सत्य अहिसा
का वर्षाया मेह - रूप ।
ओ महामना ! ओ तपः पुञ्ज !
ओ निर्विकार ! ओ निरभिमान,
तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर,
मानवता के अमर प्राण ।

(३)

"भैया" इस नेह सिक्त स्वर में
जादू था, या थी सुधा धार,
कितने सद्ग्रथो का निचोड़
मधुरस मिठास का छिपा सार ।
आतसरस की वाणी वर्णित है
भवसागर मे तरणी सी,
इस लिये तुम्हे दुनियाँ वाले
कहते वर्णी जी ! वर्णी जी !
हे कोटि-तीर्थ, हे कोटि-धाम,
स्वीकार करो शत-शत प्रणाम,
तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर
मानवता के अमर प्राण ।

(४)

कितनों ने जीवन सफल किया
चरणों मे माथा टेक टेक,
इगित पर करके दान धन्य
हो गये अवनि पर नर अनेक ।
वह गली-गली बन गई पूज्य
डग-मग डग-मग पग पड़े जहाँ,
वह - भूमिखण्ड बन गया तीर्थ
रुक गये एक क्षण आप जहाँ ।
जर्जर तन और लँगोटी पर
न्यौछावर होते कोटि काम,
तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर
मानवता के अमर प्राण ।

चिरोंजा माँ के चरणों में !

वैद्य श्री ज्ञानचन्द जैन 'ज्ञानेन्द्र' ढाना, म प्र

तेरी स्तुति वन्दन को कोई
शब्द खोज नहि पाता हू।
हठकर फिर भी तेरे पवित्र
चरणो मे शीश झुकाता हू।
हर माताये जन्मती है
कूख से ही तो शिशु हमेश।
पर तुमने तो गोदी मे ही
जन्मा है सुत 'वर्णी गणेश'।
शोभित है कितने ही मानव
उसकी लघु एक निशानी से।
कितने विद्यालय, देवालय
गुजित है जिसकी वानी से।
काशी, वरुआ सागर, सागर मे
जगा गये जो ज्ञान ज्योति।
कि जबलपुर और ललितपुर मे
उस प्रखर रश्मि से है उद्योत।

पड़ गये जहाँ पग चर्चित है
वह गाँव और वह गली गली।
वह भूमि हो गई धन्य जहाँ
झलकी आतम-रस की वल्ली।
वर्णी जी की गौरव - गाथा मे
कितने 'पन्ना-लाल' जड़े।
जो आदर्शो सिद्धान्तों के
कितने कैलाश कर रुपे खडे।
जिनकी वाणी की वीणा से
कितने वंशीधर ध्वनि पाये।
कितने ही 'कुन्दन' से चमके
व कितने ही शोभा पाये।
कितने 'शान्ति प्रसाद' पाये
व सहजानन्द आनन्द धाम।
अर्पित है उन युग चरणो मे
शत शत वन्दन, शत शत प्रणाम।

हृदयोद्गार

—श्री राजकुमार शास्त्री, निवाई (जयपुर)

सरल सौम्य, सौजन्य सिन्धु साधक सर्वोत्तम।
सत् श्रद्धा के योग्य, सभी के हे परमोत्तम।
परमेष्ठी के भक्त, परम - पद के अभिलाषी।
शत शत वदन तुम्हे, लहो तुम पद अविनाशी।
हे प्रभो-क्षुल्लक गणेश स्वस्थ सतत शतायु हो।
वर्णी, लोक कल्याण हित जुग जुग जियें चिरायु हो।
श्रद्धा समेटे सब हृदय की 'राज' की कुसुमाजलि।
स्वीकार हो, तव पद कमल पर तुच्छ यह श्रद्धाजलि।

पूज्य वर्णी जी के प्रति

(ईसरी मे दिनांक ७-२-५८ को पठित)

—श्री निर्मल जैन, सतना

हे क्षमा दया की मूर्ति तुम्हें शत नमस्कार।
साकार सरलता के स्वरूप शत नमस्कार।
बुन्देलखण्ड के प्राण तुम्हे शत नमस्कार।
ओ मात चिरोजा के सचित अरमान तुम्हे शत नमस्कार।

तुमने हमको जो दिया प्रभो,
हम ऋणी रहेगे युग–युग तक।
गाते इस गौरव की गाथा,
हम नही थकेगे युग-युग तक।

पर अभी और भी कुछ हमको,
प्रभु इन चरणो से लेना है।
कैसे हम आगे बढ़े कहो,
यह बिन नायक की सेना है।

यदि एक बार फिर हो जाये,
उस ओर कृपा की कोर प्रभो।
तो बँध जाये बुदेलखड की,
टट रही यह डोर प्रभो।

तुम देखो तो बुदेलखड का,
जन-जन तुम्हे बुलाता है।
तुम तोड़ नही सकते उस,
धरती से जोड़ा जो नाता है।

तुम हेरो तो उठ जाये, तुरन्त ही,
कोटि-कोटि डग उसी ओर।
तुम टेरो तो उठ जाये, उसी क्षण,
कोटि-कोटि पग उसी ओर।

तुम भावो को यदि मूर्त,
रूप दो एक बार।
तो जाग उठे हर नगर,
गॉव का छोर — छोर।

पारस प्रभु का आशीर्वाद,
है सदा तुम्हारे साथ प्रभो।
बुंदेलखंड की बागडोर,
है सदा तुम्हारे हाथ प्रभो।

प्रभु एक बार बुंदेलखंड,
की भूमि पुनः पावन कर दो।
लाखों हृदयों को एक बार,
इस वाणी से शीतल कर दो।

✲

शत-शत अभिनन्दन

—हास्य कवि श्री हजारीलाल 'काका'

भाव प्रसून युगल चरणो मे श्रद्धा सहित समर्पण,
वर्णी जी को इस शताब्दी पर शत शत अभिनन्दन,

(१)

उन्निस सौ इकतिस अश्विन की चौथ रात अंधियारी,
हीरालाल पिता, माता पाई जिनने उजयारी,
श्री गणेशप्रसाद नाम से बीता जिनका जीवन
वर्णी जी का इस शताब्दी पर शत शत अभिनन्दन,

(२)

धन्य धरा हो गई हँसेरा की वर्णी को पाकर
अमर हुई माता उजयारी वर्णी सा सुत जाकर
धन्य हो गये पिता गोद मे ले हीरा सा नन्दन,
वर्णी जी का इस शताब्दी पर शत शत अभिनन्दन

(३)

भारत के कई विद्यालय गाते हे जिनकी गाथा,
जिनसे कई विद्वान निकल कर जिन्हे नवाते माथा
आज उन्ही त्यागी गुरुवर को हाथ जोडकर वदन,
वर्णी जी का इस शताब्दी पर शत शत अभिनन्दन,

✲

सौ सौ बार प्रणाम

—श्री शर्मनलाल जैन "सरस"

सदा अग्रसर रहे विश्व - हित, लिया न कभी विराम,
हे ! युग-पुरुष तुम्हे इस युग का, सौ सौ वार प्रणाम ।

(१)

अंगद जैसा बना तुम्हारा, जीवन का हर मोड़,
तुमने दूषित परिपाटी को, दिया क्षणो में तोड़,
सामाजिक जीवन का तुमने, किया नया उत्कर्ष,
श्वास श्वास पर लिखा तुम्हारा, इतिहासिक सघर्ष,
मानवता के लिए हमेशा लगे रहे अविराम,
हे युग-पुरुष तुम्हे इस युग का, सौ सौ वार प्रणाम ।

(२)

थे—तुम ऐसे सत, तुम्हारा वाक्य वाक्य था मत्र,
थे—तुम सत्य शिवम सुन्दर तम, मूर्तिमान जनतत्र,
तुम—अपने युग के गौतम थे, बापू की तस्वीर,
तुमने सदा पराए आँसू, समझी अपनी पीर,
तुमने बदल दिया था, युगका—कोलाहल कुहराम,
हे—युग-पुरुष तुम्हे इस युगका, सौ सौ वार प्रणाम ।

(३)

नही कर सका पूर्ति तुम्हारी, तुमसा बन कर अन्य,
हुई धरा बुदेलखड थी, तुम्हे जन्म दे धन्य,
तुमने जो विद्यालय खोले, दिया दिव्य आलोक,
उससे मुक्त न हो पायेगा, इस धरती का लोक,
युगो युगों युग याद करेगा, लेकर पावन नाम,
हे युग-पुरुष तुम्हे इस युगका सौ सौ वार प्रणाम ।

(४)

वर्णी तुमने जो छोड़ी है, आदर्शो की छाप,
आज समय ने उसे पुकारा, सच मुच अपने आप,
जहाँ कही हो मानवता के, प्यारे पहरे दार,
"सरस जैन" की इस अवसर पर लो श्रद्धा स्वीकार,
यही हमारे सुमन समपर्ण कर, करते प्रणाम,
हे युग-पुरुष तुम्हे इस युगका सो सौ वार प्रणाम ।

वर्णीजी की अमर कहानी

—श्री धरणेन्द्रकुमार जैन 'कुमुद' शास्त्री,

श्रद्धा से नत मस्तक तेरे चरणो मे गुरुदेव हमारा ।

(१)

देकर जन्म बुदेलखण्ड ने, भारी अपना मान बढाया,
धन्य चिरोजाबाई जिनने, गुरुवर तुम्हे सुयोग्य बनाया ।
सागर-सागर बना ज्ञान का, तुमसे पावन तीर्थ कहाया,
अहो भाग्य हे जैन जाति, तूने वर्णी-सा नेता पाया ।
आँक नही सकता कोई है, अगम ज्ञान भण्डार तुम्हारा ।
श्रद्धा से नतमस्तक तेरे, चरणो मे गुरुदेव हमारा ।

(२)

गाँव-गाँव घर-घर मे जाकर, तुमने योगी अलख जगाया,
लुप्त हुई आध्यात्मिकता का, फिर भारत मे स्रोत बहाया ।
वीरप्रभु के परम धर्म का, मर्म मानवो तक पहुँचाया,
और कुपथ से उन्हे हटा, दे सदुपदेश सन्मार्ग दिखाया ।
देव ! अलौकिक प्रतिभा से, सब भगा अविद्या का अँधियारा,
श्रद्धा से नत मस्तक तेरे चरणो मे गुरुदेव हमारा ।

(३)

गाँव गाव मे जाकर के तुमने प्रचार की मन में ठानी,
सघ सहित चल पडे साथ मे, त्यागी और अनेको दानी ।
दुनियाँ कहती चमत्कार मय, बाबा तेरी है मृदुवानी,
मोहित कर लेती है सब को तेरी अद्‌भुत आत्म कहानी ।
बनो जितेन्द्री और विवेकी, यही तुम्हारा सुन्दर नारा,
श्रद्धा से नत मस्तक तेरे, चरणो मे गुरुदेव हमारा ।

(४)

सयम सदाचार की तुमने, निर्मल धारा पुन: बहाई,
सुखद शान्ति दायक सुबोध की, अमल अखण्डित ज्योति जलाई ।
काम कषाय मोह निग्रह मे, तुमने पूर्ण सफलता पाई,
सत्य अहिसा की महानता, तुमने दुनियाँ को समझाई ।
भावी सन्तति याद करेगी, देख कलामय कार्य तुम्हारा,
श्रद्धा से नत मस्तक तेरे चरणो मे गुरुदेव हमारा ।

वर्णी जी के चरणों में

श्री धरणेन्द्रकुमार जैन शास्त्री 'कुमुद'

तुम्हे शतवन्दन सन्त महान् ।

अपने अथक यत्न के बल पर उन्नति की बाधाएँ सहकर,
बने विरोधी भी अनुयायी, आज तुम्हे पहिचान ।

(२)

तुम मानवता के निर्माता, आत्मतत्त्व के अनुपम ज्ञाता,
है अगाध पाण्डित्य तुम्हारा, तुम गुरुवर्य महान ।

(३)

तुमने ज्ञान प्रसार किया है, विद्वानो को जन्म दिया है,
कलह विवादो से सुदूर रह, किया आत्म कल्यान ।

(४)

रहा सदा यह ध्येय तुम्हारा, बने समाज विवेकी सारा,
क्रियाकाण्ड अरु कुरीतियाँ सब हो जाएँ निष्प्रान ।

(५)

जैनागम के बृद्ध पुजारी, है सेवाएँ अमूल्य तुम्हारी,
कहो उऋण कैसे हो सकते, कर किञ्चित सम्मान ।

(६)

फिरभी हम, सब प्रमुदित होकर, करते श्रद्धाजली सर्मपित,
करो इन्हें स्वीकार तपस्वी हो तुमसे उत्थान ।

वर्णी महान !

—श्री फूलचंद्र 'मधुर' सागर, म प्र.

वर्णी महान ! वर्णी महान !
युग युग तक श्रद्धा से, मानव गावेगा तेरा यशोगान
वर्णी महान ! वर्णी महान !!

तुमने युग धर्म सिखाया है,
जीवन का मर्म बताया है,
गुमराह युगो के मानव को,
फिर जीवन पथ दिखलाया है।
लघु मानव है कितना समर्थ, बतलाता तेरा स्वाभिमान
वर्णी महान वर्णी महान !!

कहता जग हम स्वच्छन्द नही,
टूटे जीवन के बन्ध नही,
इस पर बोले गुरुवर्य ! आप,
"मानव इतना निष्पन्द नही"
दो तोड विवशता के बन्धन, बन जाओ अब भी युगप्रधान।
वर्णी महान ! वर्णी महान !!

तुम जगा रहे हो निखिल विश्व,
लेकर के कर मे ज्ञान दीप,
वह ज्ञान कि जिससे मानव का,
अन्तस्तल है बिलकुल समीप,
युग युग तक अनुप्राणित होगा, पाकर जग तेरा ज्योति दान
वर्णी महान ! वर्णी महान !!

उज्वल यश-किरणो से तेरी,
हो रहा व्याप्त यह धरा धाम,
तू इस युग का योगी महान,
युग का तुझको शत शत प्रणाम,
श्रद्धा से नत हो उठे आज, चरणों मे तेरे, प्राण प्रान !
वर्णी महान ! वर्णी महान !!

✲

ओ जैन जाति के बादशाह !

—श्री जीवेन्द्रकुमार सिंघई, सागर.

(भक्ति-भाव से ओत प्रोत कवि की एक भावपूर्ण रचना)

ओ ! जैन जाति के बादशाह,
ओ ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।

तुम बढ़े साधना के पथ पर,
मानवता का अभिमान लिये ।
ओ सत्य अहिसा के राही,
जन जन के नव अरमान लिये ।।

ओ अडिग ! हिमाचल से प्रहरी,
हम सबकी कपकी तुम्हे पीर ।

ओ ! जैन जाति के बादशाह,
ओ, ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।।

काशी मे एक उभार उठा,
तब सागर में भी ज्वार उठा ।
ओ वर्णी देरे इगित पर,
सब मे शिक्षा का प्यार उठा ।।

क्यो कृष्ण भला चुप बैठ सके,
खिंच रहा सभा मे जहा चीर ।

ओ जैन जाति के बादशाह,
ओ, ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।।

युग पुरुष' अरे ओ 'युग दृष्टा',
'युग नायक' शत शत नमस्कार ।

तेरी गति मे युग की करवट,
स्वासों मे जन जन की पुकार ।।

युग युग तक तेरी कीर्ति अमर,
होगी ओ युग के सूत्रधार !
हे बोधि वृक्ष, हे योगीश्वर,
हे गगा जैसे विमल नीर ।।

ओ जैन जाति के बादशाह,
ओ, ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।।

लिप्सा की काली संध्या में,
मानव का दामन काला था ।
तब तू ही एक प्रकाश दीप,
फैलाता चला उजाला था ।

तूने मानव को पहिचाना,
मानव की पीड़ा पहिचानी ।
जीवन भर उसकी अजलि में,
अमृत का ही रस ढाला था ।।

फैला है तेरा तेज पुज,
प्राची तक तम का क्षितिज चीर ।।

ओ जैन जाति के बादशाह,
ओ, ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।।

★ अध्यात्मिक योगी ! ★

— श्री नेमिचन्द्र विनम्र, सा

(१)

हे पूज्यवर्य ! हे गुण-निधान !
हो गई धन्य यह बसुधरा ।
तुमने अपने विद्या रवि से,
अज्ञान-तिमिर को, दिया हटा ।।
'शिक्षा से ही मानव बढ़ते,
शिक्षा ही जीवन–दायक है ।
तुमने ही है यह सिखलाया,
शिक्षा विवेक उन्नायक है" ।।
बस एक अमिट यह चाह पाल,
तुम बने सदा से हो अकाम ।
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम ।।

(२)

तुम परम मधुर भाषण-कर्ता,
अतर–बाहर हृद से निर्मल ।
है वाणी शुचितम गगाजल,
गुञ्जित सुरभित जिसमे नभ-थल ।
हे क्षमा-देवि के चिर सुहाग ।
तुमको वरकर वह हुई अमर ।।
हृदतल मे सदा तुम्हारे तो ।
उमडा रहता करुणा-सागर ।।
अधरो पर शिशु मुस्कान धार,
कर्तव्य–निरत तुम अनविराम ।
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम ।।

(३)

"मेरे जिनवर का नाम राम,
हे सत ! तुम्हे सादर प्रणाम" ।
युग कवि की इस श्रद्धाजलि से,
श्रद्धा का सार्थक हुआ नाम ।।
निन्दा स्तुति दोनो ही से तो,
अपने को चिर निर्लिप्त रखा ।
कर्मो की कालिख हरने को,
तुमने तप को कर लिया सखा ।।
निज तपश्चरण से, हे ऋषिवर !
पा ही लोगे कैवल्य-धाम,
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम ।

(४)

वह पुण्य दिवस जब आश्रम मे
तुमसे ऋषि भावे स्वय मिले ।
वे भूमि-दान के अन्वेषक,
जिससे लिप्सा के मेरु हिले ।।
तुम आध्यात्मिक सुख के दाता,
कर रहे मलिन अन्तर पवित्र ।
वे भौतिक क्लेशो के नाशक,
कर रहे शुद्ध मानव - चरित्र ।।
तुम दोनो ही युग पुरुष मान्य,
ज्योतित करते भारत सुनाम ।
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम ।।

(५)

ब्यासीवे जन्म दिवस पर कवि;
भावो का अर्घ चढाता है।
छन्दो की छोटी सी माला,
पहिनाने हाथ बढ़ाता है।

कवि पर युग युग तक तना रहे,
इन वरद करो का वर–वितान।
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम।

☆

गुरु गणेश

श्री रवीन्द्र कुमार जैन

री! अरी लेखिनी तू लिख दे,
मेरे गुरु की गुरुता महान।
चित्रित कर दे वह सजग चित्र,
जिसमें उनकी प्रभुता महान ॥१॥

ओ! दृढ-प्रतिज्ञ ओ सन्यासी,
ओ! आर्ष-मार्ग के उन्नायक।
ओ! विश्व-हितैषी, लोकप्रिय,
ओ! आदि भारती के गायक ॥२॥

वात्सल्य-मूर्ति सच्चे साधक,
ओ! नाम-मात्र अशुक-धारी।
ओ! भूले युग के मान्य पुरुष,
जन-मन मे समता-सचारी ॥३॥

तुम नही परिस्थिति के वश में,
तुमने ही उसको किया दास।
अपमानों अत्याचारो मे,
पल कर तुमने पाया प्रकाश ॥४॥

सान्त्वना-पूर्ण तेरी वाणी,
मानव-मानस की परिचित की।
कुछ कह देती समझा देती,
सत्पथ दर्शाती परिमित सी ॥५॥

मानस-सानस कितना निर्मल,
है राग द्वेष का लेश नही।
तुम नि सकोची सत्य-प्रिय,
है छद्म तुम्हारा वेष नही ॥६॥

☆

शत शत वन्दन शत शत वन्दन

वैद्य श्री दामोदरदास जैन, घुवारा, छतरपुर

(१)

विद्यासागर गुण गुण आगर, नीतिज्ञ तपस्वी विपुल ज्ञान ।
कर्मठ आदर्श गुणी सुसन्त, आध्यात्मिक निधि के हे निधान ।।
हे प्राणवान गौरव-विशाल, क्षुल्लक गणेश वर्णी सु नाम ।
ऐसे महात्मा के पद मे, शत शत बन्दन शत शत प्रणाम ।।

(२)

हे धर्ममूर्ति राजर्षि व्रती, विद्याप्रेमी प्रकाण्ड–पण्डित ।
सत्शोधक तत्त्वसमीहक हे, उत्कृष्ट त्यागि शान्ति-मण्डित ।।
मानवता के आदर्शरूप, जीवन की निधियो के ललाम ।
शुभवक्ता हित उपदेशी को, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।

(३)

आध्यात्मिक सन्त सुज्ञान-सूर्य, बहु शत सस्था के निर्माता ।
निश्छलता के प्रतिरूप अरे, सर्वोदय के तुम हो ज्ञाता ।।
हे विद्वानो के हितचिन्तक, स्तम्भ अहिसा न्याय–धाम ।
विद्वेष-हारि तुम पूज्यपाद–शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।

(४)

आगम-बारिधि मथकर तुमने, पाया आत्मिक अमृत महान ।
बन गये अमर जगको तुमने, बॉटा अमरत्व अरे प्रकाम ।।
निर्माति ज्ञान गुरु-तुम गुण का-नहि अन्त कहा क्या किया काम ।
ज्वाज्वल्यमान जग के नेता, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।

✯

महासन्त श्री वर्णी जी

श्री ब्र० माणिकचंद्र जी चवरे, कारंजा [बरार]

वेद अग्नि से बचे जो थोड़े कही कही मिल जाते है।
पुरुप वेद से विरले उनमे वेद विजेता वर्णी है। १।

बालस्वभावी युवा विवेकी वृद्ध अनुभवी बाबा है।
बाहिर स्वर्णी भीतर शुक्ला-वर्ण हमारे वर्णी है २।

स्वय सचेती दृष्टि बदौलत बदला जीवन सारा है।
समयसार वह जीवन साथी जिनका ऐसे वर्णी है। ३।

चैतन्य रस से रचा पचा चितपिण्ड अखण्ड निराला है।
तोल-मोल से, धरम तुला से, वर्णी हस निराला है। ४।

छोड़ तन वर्णी महान पद पा गये

—श्री प्रकाश जैन, प्रभाकर, पटना

शिखर सम्मेद के सुहावने उस अक बीच,
लगता निशक हो मयक खुद आ गया ।
भक्त चातको का व्यूह जय जय बोलता था,
जिसने भी चाहा वही सुधा-बिन्दु पा गया ।
ज्ञानियो के ज्ञान की पिपासा तृप्त होती सदा,
मानियो का मान शीश सादर झुका गया ।
चन्द्रहीन गगन त्यो वर्णी विहीन उस,
आश्रम उदास मे अधेरा आह ! छा गया ।

कारे कजरारे, धूम - धवल - धुआरे - घन,
भर जाते जल से तो तुरत बरसते ।
पादपो की डाले, भर जाती है फलो से,
नत शशि हो सदैव तरु धरती परसते ।
उसी भाँति ज्ञान गरिमा औ, तप-तेज युक्त,
फिर भी सदैव नम्र होकर हरसते ।
वर्णी ! तुम्हारी तप-कृश छवि देखते जो,
उनके हृदय मे थे सावन सरसते ।

रात थी अधेरी, घनघोर घन छाए हुए,
चाद औं सितारे सब मुह सा छिपा गए ।
चपला तड़पती विकल वेदना को लिए,
अम्बर की आँख मे भी अश्रु बिन्दु छा गए ।
ईसरी के आश्रम मे व्यथित-से भक्त - गण,
धन्य भाग मानते थे दरस को आ गए ।
सिद्ध को नमन, मन वचन से किया और,
छोड़ तन वर्णी महान पद पा गए ।

दु.खी था समाज क्योकि उठ गया छाया छत्र,
वर्णी थे वर की विभूति इस कालके ।
राज के प्रमुख भी वियोग से विकल हुए,
थे वे चूकि शीश-फूल भारत के भाल के ।
विद्वत्-समाज भी अधीर हुआ, चूकि नही,
दरस मिलेगे, ज्ञान मानस मराल के ।
भारती दु खी क्योकि खाली हो गयी थी गोद,
सुनेगी कहाँ से बोल फिर उस लाल के ।

एक बार फिर आना होगा

श्री फूलचन्द्र पुष्पेन्दु, खुरई (म. प्र.)

बाढ़ आँसुओ की आई है, बाँध धैर्य का टूट चुका ।
अहमिन्द्रो का भाग्य जगा है, किन्तु हमारा फूट चुका ।

(१)

मर्त्यलोक मे धर्म-राज्य के, झडे अपने आप झुके ।
स्वर्गलोक मे वर्णी अभिनन्दन के, झडे फहर चुके ।।
मर्त्यलोक मे धर्म-पिता की, देह चिता पर जलती है ।
स्वर्गलोक मे अमर आत्मा-वर्णी जी की पलती है ।।
मर्त्यलोक मे हाहाकारो की, छाई घनघोर घटा ।
स्वर्गलोक मे छिटक रही है, वर्णी जी की दिव्य छटा ।।

(२)

किन्तु नही है स्वर्गलोक मे, मोक्षधाम सम्मेद शिखर ।
जैसा है वह मर्त्यलोक मे, उसकी पावन धरती पर ।
पार्श्वनाथ की चरण - वदना, कैसे वहाँ करेगे आप?
णमोकार की या सोऽहम् की, कैसे वहाँ करेगे जाप?
वहाँ नही बुदेलखड है, नही चिरोजाबाई जी ।
वहाँ नही विद्यालय कोई, होती नही पढाई भी ।।

(३)

वहाँ न 'भैया' बोला जाता, वहाँ नही मुनि हो सकते ।
बीज भव्यता का तुम हममे, नही वहाँ से बो सकते ।।
फिर कैसे अपने स्वभाव मे, सहजरूप से ठहरोगे ?
तो क्या सचमुच एक बार फिर, नरभव धारण कर लोगे ?
स्वर्गलोक से मिला न करता, मोक्षनगर का टिकट प्रभो ।
मर्त्यलोक का बुकिग खुला है, मोक्ष यहाँसे निकट प्रभो ।

✲

पूज्य वर्णी जी के निधन पर

—श्री निर्मल जैन, सतना [म, प्र.]

तुम गये कि जैसे मानवता का,
मदिर कलश - विहीन हो गया ।
तुम गये कि जैसे बुदेलखड का,
खड खड श्रीहीन हो गया ।
तुम गये कि जैसे समता का,
शब्दार्थ खो गया शब्दकोष से ।
तुम गये कि जैसे ममता की,
प्रतिमूर्ति लुप्त हो गई देश से ।

☆

द्वितीय खण्ड

व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व

उनके अक्षर—उनकी बात

उद्वेग या सक्लेश ही मनुष्य को दुखदायी होते हैं। ससार के समस्त कार्य समय पाकर ही सिद्ध होते है यह अमर सन्देश पूज्यवर्णी जी के एक पत्र मे इस प्रकार गुथित हुआ—

श्रीयुत चिरंजीवी नरेन्द्र जी योग्य कल्याणभाजन हो—
पत्र आया समाचार जाने—जो भव्य विचार वाला मनुष्य है
यह अन्त में सुखी ही होगा—अतः जहां तक बने चित्त में
उद्वेग न करना—समय पाकर कार्य होगा—
मैंने यहां पर पत्र न्यास कर लिया है और अब प्रायः पत्र
देना भी त्याग दिया है १ मास में १ बार ही पत्र देऊंगा
ही आप के विषय में मेरी धारणा है जो तुम्हारा
जीवन सुखमय बीतेगा——

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी
ईसरी बाजार
चैत्र सुदि १४
सं २०११ दि ६।४।५५

जो प्रश्न पूछे मैं भविष्य का कुछ
भी ज्ञान नहीं रखता

कौन से है वे प्रमुख गुण जिनकी सुरभि से यह मानव जीवन सुरभित हो सकता है ?—

मानव में स्वप्रशंसा और परकी निन्दा नहीं होना चाहिए
यथा योग्य सदाचार होना चाहिए—तथा मानवकर्त्तव्य पालन
के अर्थ आगमाभ्यास की परमावश्यकता है—दान करना श्रेष्ठ है
परन्तु अन्याय से अर्जित न हो।

गणेश वर्णी

वर्णी जी और उनकी उपलब्धियां

डा. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, सागर

जन्म वसुन्धरा—

बुन्देलखण्ड विन्ध्याचल का वह इला-खण्ड है—भूखण्ड है, जहाँ गुरुदत्तादि मुनियो की निर्वाणभूमि द्रोणगिरि, वरदत्तादि ऋषि-राजो की सिद्धि स्थली रेशन्दी गिरि, अन्तिम अननुबद्ध केवली श्रीधर स्वामी की मुक्तिभूमि कुण्डलपुर, नङ्ग अनङ्ग मुनिराजो की साधना भूमि सोनागिरि, अतिशय क्षेत्र पपौरा, अहार तथा भारतीय कला का अनुपम निकेतन खजुराहो विद्यमान है। इन क्षेत्र भूमियो मे निर्मित, उत्तङ्ग कलापूर्ण जिन-मन्दिर जैनधर्म की गरिमा को प्रकट कर रहे है। इसी बुन्देलखण्ड मे क्षत्रिय शिरोमणि महाराज छत्रसाल की शौर्य कथाएँ तथा आल्हा ऊदल आदि की गौरव गाथाएँ जन जन के मानस मे महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है। 'सौ दण्डी एक बुन्देलखण्डी' यह लोकोक्ति जहाँ बुन्देलखण्ड के निवासियो की शौर्य कथा को प्रकट करती है वहाँ सौ दण्डी—सन्यासियो के बराबर एक बुन्देलखण्डी की सयम साधना स्वत. होती है—इस अर्थ से उनकी धर्मपरायणता को भी सिद्ध करती है।

इसी बुन्देलखण्ड के ललितपुर जिला मे महरौनी तहसील के अन्तर्गत मदनपुर थाने से लगने वाला एक हँसेरा गाव है। यहा के वैष्णव धर्मावलम्बी असाटी वैश्य जाति मे श्री हीरालाल असाटी रहते थे। उनकी पत्नीका नाम उजियारी था। हीरालाल मध्यम स्थिति के व्यक्ति थे। सतोष से अपने परिवार का पालन करते थे। यद्यपि वे वैष्णव धर्मावलम्बी थे तथापि जैनधर्म के णमोकार मन्त्र की महिमा का स्वय अनुभव कर चुके थे इसलिये जैनधर्म की ओर उनका आकर्षण रहता था।

हीरालाल जी एक बार बैल पर सामान लादकर दूसरे गाव से अपने घर आ रहे थे। सध्या का कुछ-कुछ अन्धकार फैल रहा था। उसी समय उन्हे सामने से दहाडता हुआ एक भयकर सिंह दिखा। रक्षा का कुछ उपाय न देख उन्होने बैल का सामान नीचे गिराकर उसे स्वतन्त्र कर दिया और स्वय स्थिर आसन लगाकर णमोकार मन्त्र का जाप करने लगे। सिंह कुछ भी उपद्रव किये बिना उनके पास से ही आगे निकल गया। सिंह के चले जाने पर वे अपने घर आ गये। इस घटना से उनकी आन्तरिक श्रद्धा हो गयी कि जिस जिनधर्म के णमोकार मन्त्र ने आज मेरी रक्षा की है उसकी महिमा अवश्य ही लोकोत्तर है। उसकी शरण से ही जीवो का कल्याण हो सकता है।

ज्योति-पुञ्ज का उदय—

आश्विन कृष्णा ४ वि. स १९३१ के प्रात. काल श्री हीरालाल की धर्मपत्नी उजियारी की कुक्षि से एक बालक का जन्म हुआ जो आगे चलकर गणेशप्रसाद वर्णी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पुत्र जन्म की खुशियो से हीरालाल का द्वार गीत वादित्र की ध्वनि से गूज उठा। 'होनहार विरवान के होत चीकनेपात,' के अनुसार बालक गणेशप्रसाद के बाल्य-काल से ही कुछ ऐसे शुभ लक्षण प्रकट हुए थे जो उनकी भावी गरिमा को प्रकट करते थे। ज्योतिषी ने बताया कि पुत्र बड़ा भाग्यशाली होगा।

हँसेरा मे पढ़ाई के कोई साधन नही थे अतः हीरालाल छह वर्ष के बालक को लेकर मडावरा आ गये। यहाँ के स्कूल मे गणेशप्रसाद ने सात वर्ष की अवस्था मे प्रवेश किया और चौदह वर्ष की अवस्था मे मिडिल पास कर लिया।

मडावरा एक अच्छी वस्ती है। जन धन सम्पन्न कस्वा है। यहाँ ग्यारह शिखर वन्द जिन मन्दिर है। एक वैष्णव मन्दिर भी है। मन्दिरो की अधिक सख्या होने से यह

मन्दिरो का गांव कहलाता है। पूर्णिमा की चादनी रात मे मन्दिरो के शुभ्र शिखर निराली धवलिमा छोडते है। हीरालाल का मकान गोरावालो के मन्दिर के सामने है। मन्दिर का विशाल चबूतरा है, उस पर गर्मी की ऋतु मे शास्त्र प्रवचन होता था। बालक गणेश प्रसाद उस प्रवचन को बड़ी रुचि से सुनता था। पद्म-पुराण की कथा उसे रामायण की कथा से अधिक रुचिकर प्रतीत होती थी। जैन मन्दिर मे जब झाझ मँजीरो के साथ भगवान् का पूजन होता था तब गणेशप्रसाद अपने कौतूहल को नही रोक पाता था और शान्तभाव से मन्दिर मे जाकर पूजा का दृश्य देखा करता था। रात्रिभोजन और अनछने पानी से उसे घृणा हो गयी थी। पूर्वभव के सस्कार से बालक मे जैनकुल के लक्षण धीरे-धीरे स्वत प्रकट होते जाते थे।

विवेक का वैभव—

कुल-परम्परा से चली आ रही मिथ्या रुढियो मे वह विवेक से यथार्थता को खोजता था पर खोजने पर भी जब यथार्थता नही दिखती तब उन्हे छोडने मे उसे सकोच नही होता था। गणेश प्रसाद सायकाल शाला के वैष्णव मन्दिर मे जाता था। जब वह रामायण की कथा सुनता और जैन मन्दिर मे सुनी पद्म-पुराण की कथा की तुलना करता तब उसे लगने लगता था—उसका मन तर्क करने लगता था। खासकर मोक्ष गामी हनूमान् को वानर मानना उसे बिलकुल ही नही रुचता था। उसे पद्मपुराण के अनुसार वानर वश मे उत्पन्न हुआ मानना अधिक उपयुक्त लगता था। एक बार शाला के मन्दिर मे पेडो का प्रसाद बाटा गया परन्तु गणेश प्रसाद ने यह कहकर कि 'मैं रात्रि को नही खाता' प्रसाद नही लिया। एक बार गुरु जी ने बालक गणेश प्रसाद से हुक्का उठा लाने को कहा। तो गणेश प्रसाद हुक्का फोडकर आया और गुरु जी से कह दिया कि गुरु जी उससे बहुत दुर्गन्ध आती थी, इसलिये मैंने उसे फोड दिया। आप उसे क्यो पीते है ? गणेश प्रसाद की भावना को आदर देते हुए गुरु ने कहा—अच्छा अब हुक्का नही पिएगे। १२ वर्ष की अवस्था मे गणेशप्रसाद के यज्ञोपवीत का अवसर आया तब कुल-पुरोहित ने एक मन्त्र देते हुए कहा कि इसे किसी को बताना नही। गणेश प्रसाद ने कौतुहल-बुद्धि से तर्क करते हुए कहा कि गुरुजी आपने तो यह मन्त्र सैकडो शिष्यो को बतलाया होगा। फिर बतलाने से मुझे क्यो रोकते हैं ? बालक के तर्क से पुरोहित जी आग बबूला हो गये और माता को भी बहुत दु ख हुआ, परन्तु गणेश प्रसाद ने माता को दो टूक उत्तर दे दिया कि माजी मेरी इस क्रिया-काण्ड मे श्रद्धा नही है मैं तो जैनधर्म को ही कल्याण कारी धर्म मानता हूँ।

परिवार का दायित्व—

मड़ावरा मिडिल स्कूल तक ही पढाई का साधन था इसलिये १४ वर्ष के बाद इनका पढना बन्द हो गया। ४ वर्ष खेल-कूद मे गये। १८ वर्ष की अवस्था मे विवाह हो गया। गणेशप्रसाद के दो भाई और थे। एक का विवाह हो चुका था, दूसरा छोटा था। परन्तु दोनो का ही असमय मे देहान्त हो गया। विवाह के बाद पिता का भी स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास के पूर्व पिता ने गणेश प्रसाद से कहा—

"बेटा, ससार मे कोई किसी का नही, यह श्रद्धा दृढ रखना। मेरी एक बात और दृढ रीति से हृदयगम कर लेना। वह यह कि मैने णमोकार मन्त्र के स्मरण से अपने को बडी-बडी आपत्तियो से बचाया है। तुम निरन्तर इसका स्मरण रखना। जिस धर्म मे यह मन्त्र है उस धर्म की महिमा का वर्णन करना हमारे जैसे तुच्छ ज्ञानियो द्वारा होना असभव है। तुमको यदि ससारबन्धन से मुक्त होना इष्ट है तो इस धर्म मे दृढ श्रद्धान रखना और इसे जानने का प्रयत्न करना। बस हमारा यही कहना है।"

जिस दिन पिता ने यह उपदेश दिया था उस दिन ११० वर्ष की अवस्था वाले इनके दादा ने वैद्य से पूछा कि महाराज ! हमारा बेटा कब तक अच्छा होगा ? वैद्य महोदय ने कहा कि 'शीघ्र नीरोग हो जायगा'। यह सुन कर दादा ने कहा—मिथ्या क्यो कहते हो ? वह प्रात काल तक ही जीवित रहेगा ? दु ख इस बात का कि मेरी अपकीर्ति होगी—'बुड्ढा तो बैठा है पर लड़का मर गया।' इतना कहकर वे सो गये। जब प्रात काल उन्हे जगाने के लिये गणेश प्रसाद गये तब वे मृत

गये। उन्हे जलाकर लोग आये कि इधर पिता-हीरालाल का देहान्त हो गया। दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। खूब रोये, पर रोने से क्या होता? परिवार का सारा दायित्व अठारह वर्ष के गणेशप्रसाद पर आ पडा। पर वह घबराये नही। आजीविका के लिये मदनपुर गॉव मे मास्टरी करली। चार माह काम किया, फिर ट्रेनिंग लेने के लिये आगरा चले गये। वहाँ दो मास ही रह सके। फिर इन्दौर रियासत के शिक्षाविभाग में नौकरी कर ली। देहात मे रहना पडा अत. मन नही लगा और घर वापिस आ गये।

मार्गदर्शक कड़ोरेलाल भायजी—

द्विरागमन के बाद जब पत्नी घर आयी तो वह भी माता के बहकाये मे आ गयी। उसने भी कहा कि जैन-धर्म छोडकर कुल-धर्म मे आ जाओ। परन्तु गणेशप्रसाद अपनी श्रद्धा से विचलित नही हुए। माता का स्नेह और पत्नी का अनुराग उन्हे जैनधर्म की श्रद्धा से विचलित नही कर सका। इनके चचेरे भाई लक्ष्मण का विवाह था। उस समय ये अपनी जातिवालो के साथ पङ्क्तिभोजन मे शामिल नही हुए, इसलिये जाति वालो ने बहुत धमकाया कि हम तुम्हे जाति से बन्द कर देगें। इन्होने उसकी जरा भी चिन्ता नही की। कारी टोरन मे मास्टरी करते थे वहाँ से चलकर टीकमगढ आ गये। यहाँ श्रीराम मास्टर से परिचय बढा। उन्होने जतारा स्कूल का मास्टर बना लिया। जतारा मे मोतीलाल वर्णी और कड़ोरेलाल भायजी तथा स्वरूपचन्द्र जी बानपुरिया आदि से सम्पर्क बढ़ा। मोतीलाल वर्णी और गणेशप्रसाद नयी अवस्था के थे परन्तु कड़ोरेलाल भामजी अच्छे तत्त्व-ज्ञानी थे। वे बार-बार समझाया करते थे कि उतावली मत करो, जैनधर्म के मर्म को समझो तब चारित्र के मार्ग मे आगे बढ़ो। बातचीत के दौर में इन्होने भायजी को यह भी बता दिया कि मैने अपनी माँ और पत्नी को यह कह कर छोड दिया है कि जबतक जैनधर्म को धारण नही करोगी तब तक हम आपसे सम्बन्ध नही रक्खेगे। आपके हाथ का भोजन नही करेंगे। भायजी साहब ने समझाया—किसी का बलात् धर्मपरिवर्तन नही कराया जाता। जतारा के तालाब पर बैठकर इन सबके बीच चर्चा होती थी तो गणेशप्रसाद के मुख से यही एक प्रश्न निकलता था—भायजी साहब? वह मार्ग बताओ जिससे मैं संसारबन्धन से छूट जाऊँ।

धर्ममाता चिरोंजा बाईजी—

एक बार कड़ोरेलाल भायजी ने कहा कि सिमरा मे एक चिरोजा बाई रहती है। वे जैनधर्म का अच्छा ज्ञान रखती है उनके पास चला जाय। गणेशप्रसाद ने कहा कि बिना बुलाये कैसे जाया जाय? उन्होने कहा कि वहाँ एक क्षुल्लक रहते है। उनके दर्शन के लिये चला जाय वही बाईजी से मिलाप हो जायगा। निदान, गणेशप्रसाद अपनी गोष्ठी के साथ सिमरा पहुँचे। क्षुल्लक जी के दर्शन हुए। भायजी साहब ने गणेशप्रसाद से शास्त्र पढवाया। बाई जी ने शास्त्रश्रवण करने के बाद सबको भोजन के लिये घर पर आमन्त्रित किया। अपरिचित होने से गणेशप्रसाद भोजन मे शरमा रहे थे। यह देख बाई जी ने करोडेलाल भायजी से कहा कि यह बालक क्या मौन से भोजन करता है? इसे देख मुझे ऐसा लग रहा है जैसा जन्मान्तर से इसके साथ मेरा सम्बन्ध हो। भोजन के बाद भायजी ने और भी विशेष जानकारी देते हुए कहा कि यह मडावरा का रहने वाला है। वैष्णवधर्म के धारक असाटीकुल मे इसका जन्म हुआ है, परन्तु अब जैनधर्म का श्रद्धालु है। इसकी परिणति से ऐसा जान पडता है कि यह पूर्वभव मे जैनधर्मी था। किसी कारण इस भव मे अजैनकुल मे उत्पन्न हुआ है।

बाई जी ने कहा—बेटा! तुझे देख मेरे हृदय मे पुत्र का स्नेह उमड़ रहा है और मुझे लगता है कि 'तू मेरा जन्मान्तर का पुत्र है। मेरी सारी सम्पत्ति आज से तेरी रक्षा के लिये है। तू संकोच छोडकर आनन्द से रह। भायजी ने कहा—इसकी माँ और पत्नी भी है। बाई जी ने कहा—कुछ हानि नही है। उन्हे भी बुला लो। मै सबका पालन करूँगी। बाईजी ने यह भी कहा कि क्षुल्लक जी विशेष ज्ञानी नही है इसलिये यदि तुम्हे पढने की इच्छा है तो जयपुर चले जाओ। वहाँ तुम्हारी भावना पूरी होगी। व्यवस्था मैं कर दूँगी।

एक दिन शास्त्र सभा के बाद गणेश प्रसाद ने क्षुल्लक जी से कहा कि महाराज ? ऐसा उपाय बताओ जिससे संसार का वन्धन छूट जाय । क्षुल्लक जी ने कहा सब हो जायगा । हमारे साथ रहो और शास्त्र लिख कर आजीविका करो । गणेशप्रसाद को क्षुल्लक जी द्वारा बताया हुआ आजीविका का साधन पसन्द नही आया । उन्होने निर्भयता के साथ कह दिया — 'महाराज मैं आजीविका के लिये तो मास्टरी करता हूँ', आपके द्वारा बताया हुआ उपाय मुझे पसन्द नही है । आप तो वह मार्ग बताइये जिससे भव-भ्रमण का चक्कर छूट जाय ।

सिमरा से वापिस आते समय बाई जी ने कहा—बेटा ! चिन्ता नही करना, भाद्रमास मे यही आ जाना । गणेश प्रसाद बाई जी की आज्ञा शिरोधार्य कर जतारा चले गये और भाद्रमास मे सिमरा आ गये । इन्होने एक माह के लिये छहो रसो का त्याग कर दिया । बाई जी ने व्रत का पालन कराया और अन्त मे उपदेश दिया—तुम पहले ज्ञानार्जन करो, पश्चात् व्रतो को पालना । शीघ्रता मत करो, जैनधर्म ससार से पार करने की नौका है । इसे पाकर प्रमादी मत होना । कोई भी काम करो, समता से करो । जिस कार्य मे आकुलता हो उसे मत करो । गणेश प्रसाद ने बाई जी की आज्ञा स्वीकृत की और भाद्रमास बाद निवेदन किया कि मुझे जयपुर भेज दो ।

बाई जी ने सब सामान जुटा कर उनको जयपुर जाने की व्यवस्था कर दी । बाई जी को प्रणाम कर गणेश प्रसाद सोनागिरि के लिये चल पडे । वहा की वन्दना कर ग्वालियर पहुचे और चपाबाग की धर्मशाला मे ठहर गये ।

जयपुर की असफल यात्रा—

एक दिन धर्मशाला के कोठा मे सामान रख कर शौच से निर्वृत्त होने के लिये बाहर गये । लौटकर देखते है तब ताला खुला मिला । सब सामान चोरी चला गया । साथ मे जो छन्ना लोटा धोती और एक छाता ले गये थे वही शेष बचा । बिना साधन के जयपुर नही पहुच सके । छह आना मे छाता बेच कर दो दो पैसे के चना चबाते हुए घर वापिस आ गये । इस असफल यात्रा का समाचार उन्होने बाई जी से भी नही कहा । जतारा से तीन मील दूर मार्चा गाव मे स्वरूप चन्द्र जी वान[illegible]या के यहा रहने लगे । उनके साथ स्वाध्याय कर [illegible] तत्त्वज्ञान प्राप्त किया । किसी समय उन्ही वान पु[illegible] के साथ खुरई गये । उस समय श्रीमन्त सेठ मोहनल[illegible] जी के प्रभाव से खुरई का बडा महत्त्व था । अच्छे अ[illegible] ज्ञानी जीवो का वहा आगमन होता रहता था । उस व[illegible] वहा पन्नालाल जी न्यायदिवाकर आये हुए थे । उन[illegible] सारगर्भित प्रवचन सुन कर गणेशप्रसाद बहुत प्रसन्न हु[illegible]

बात का घाव—

एक दिन अवसर पाकर उन्होने पण्डित जी[illegible] अपना परिचय देकर कहा "आप मुझे ससार सा[illegible]ग पार होने का मार्ग बतलाइये, मैं वैष्णव कुल मे जन्म[illegible] परन्तु मेरी श्रद्धा जैन धर्म मे हो गयी है ।" पण्डित [illegible] कहा कि लोग जैनधर्म के तत्त्व को समझते तो हैं[illegible] सिर्फ भोजन के लोभ से जैनधर्म धारण करने की[illegible] करने लगते हैं । न्यायदिवाकर जी के यह वचन [illegible] प्रसाद के हृदय मे तीर से चुभ गये । उन्होने क[illegible] महानुभाव ! मैंने आप से कुछ धन की सहायत[illegible] मधुर भोजन की याचना तो की नही थी, सिर्फ [illegible] कल्याण का मार्ग पूछा था । आपने इतने कटुक श[illegible] कर मुझे निराश कर दिया । इसे मैं अपना [illegible] समझता हू । सौभाग्य होगा तो मैं भी कभी जैन[illegible] रहस्य को समझ सकूगा । खुरई मे दो तीन दिन र[illegible] गणेशप्रसाद मा के पास मडावरा पहुच गये । [illegible] समझा कि मेरा बेटा अब सुमार्ग पर आ गया है । [illegible] फिर से अपना वैष्णवधर्म धारण करने की प्रेरण[illegible] परन्तु चिकने घडे पर पानी के समान मा का मम[illegible] उपदेश गणेश प्रसाद के हृदय मे स्थान न पा सका[illegible] चलकर बमराना आ गये । बमराना मे श्री सेठ [illegible] चन्द्र जी से परिचय हुआ । उन्होने आदर से गणेश[illegible] को रक्खा और जब जाने लगे तब दस रुपये देक[illegible] किया । बमराना से मडावरा आये और पाच दिन [illegible] मा से अनुमति लिये बिना ही रोशन्दीगिरि तथा कु[illegible] की यात्रार्थ घर से निकल पडे । पैदल ही चलते [illegible] क्रम क्रम से अनेक गावो मे ठहरते हुए रोशन्दीगि[illegible]

पश्चात् कुण्डलपुर पहुंचे। घर पर कोई आकर्षण नही था। हृदय मे आत्म कल्याण की भावना सजग थी इसलिए तीर्थ-यात्रा की भावना से आगे बढते गये। जबलपुर तथा सिवनी के मार्ग से चलते चलते रामटेक पहुँच गये। भगवान् शान्तिनाथ की सौम्य मुद्रा के दर्शन कर मार्ग का सब श्रम भूल गये। रामटेक से अमरावती होते हुए मुक्तागिरि पहुँचे। प्राकृतिक सुषमा के भाण्डार मुक्तागिरि के दर्शन कर गणेशप्रसाद का हृदय पुलकित हो गया।

कर्मचक्र—

पैसे की कमी और पैदल भ्रमण से गणेशप्रसाद का शरीर क्षीण हो गया। खाज हो गयी और तिजारी नामक ज्वर आने लगा। मार्ग मे अनेक कष्ट भोगते हुए पैदल ही गज-पन्था पहुँच गये। वहाँ आरबी के एक सेठ के साथ गज-पन्था की वन्दना की तथा सेठ जी के यहाँ भोजन किया। सेठ जी ने व्रत-भाण्डार मे बहुत दान दिया पर गणेशप्रसाद के पास इकन्नी ही शेष रही थी वही उन्होने व्रत भाण्डार मे दे दी। इस इकन्नी के दान ने गणेशप्रसाद की दशा बदल दी।

बम्बई का वैभव—

आरबी वाले सेठ उन्हे अपने साथ बम्बई ले गये। बम्बई का वैभव देखकर गणेशप्रसाद आश्चर्य मे पड गये। सेठ जी उन्हे धर्मशाला मे ठहराकर तथा आठ आना पैसे देकर चले गये। मलिन वस्त्र पहिने हुए गणेश प्रसाद भूलेश्वर के मन्दिर मे शास्त्र-स्वाध्याय करने लगे। इतने मे खुरजा निवासी बाबा गुरुदयालदास की दृष्टि इन पर पड़ी। उन्होने सब परिचय पूछा और कहा कि कहाँ ठहरे हो ? गणेश प्रसाद ने धर्मशाला का स्थान बताया। थोड़ी देर बाद बाबा जी उज्वलवस्त्र और खाद्यसामग्री लेकर उनके पास पहुचे और बोले "दुःखी मत होना, हम तुम्हारी सब प्रकार की सहायता करेगे।" बाबा जी कुछ कापिया इन्हे दे गये और कह गये कि उन्हे बाजार मे फैरी द्वारा बेच आना। कापियो के बेचने से गणेश प्रसाद के पास इकतीस रुपये छह आने हो गये।

विद्याध्ययन का सुयोग—

उस समय बम्बई मे पन्नालाल जी बाकली वाल रहते थे। उनके पास गणेशप्रसाद रत्नकरण्ड श्रावकाचार पढने लगे। उन्ही के आदेशानुसार जीवाराम जी से कातन्त्रव्याकरण पढने लगे। भाद्र मास मे गणेशप्रसाद ने इन दोनो विषयो मे परीक्षा दी और पास होकर २५) पुरस्कार प्राप्त किया। उसी वर्ष दानवीर सेठ माणिक चन्द्र परीक्षालय खुला था। यह उसके प्रथम परीक्षार्थी थे। उस समय बम्बई मे गोपालदास जी वरैया भी रहते थे उन्होने भी गणेशप्रसाद का उत्साह बढाया। देहली के झवेरी लक्ष्मीचन्द्रजी ने कहा कि हम १०) मासिक देंगे, खूब अध्ययन करो। यह सब साधन बम्बई मे अनुकूल थे पर पानी अनुकूल न होने से गणेश प्रसाद पूना गये और वहाँ से केकडी गये। केकडी मे कुछ समय रहकर चिरकांक्षित जयपुर पहुच गये।

जयपुर मे ठोलियाजी की धर्मशाला मे ठहर गये। जमुना प्रसादजी काला ने सब व्यवस्था कर दी जिससे वीरेश्वर शास्त्री के पास कातन्त्रव्याकरण और चन्द्रप्रभ चरित पढने लगे। तत्वार्थ सूत्र और एक अध्याय सर्वार्थ सिद्धि भी पढ ली। पढने के बाद बम्बई परीक्षा मे बैठ गये। कातन्त्रव्याकरण का प्रश्न पत्र लिख रहे थे तब घर से पत्र आया उसमे पत्नी के देहान्त का समाचार लिखा था। गणेशप्रसाद ने मन ही मन विचार किया कि आज मैं बन्धन-मुक्त हो गया। जमुनालाल जी काला ने जब पत्र पढा तब सान्त्वना देते हुए कहा कि चिन्ता न करो हम दूसरी शादी कर देंगे। गणेशप्रसाद ने कहा कि अभी तो प्रश्न-पत्र लिख रहा हूँ फिर सब समाचार श्रवण कराऊँगा। परीक्षाबाद जमुनालाल जी को सब समाचार सुना दिया और बाई जी को भी पत्र लिख दिया कि आज मै बन्धन-मुक्त हो गया। अब निःशल्य भाव से अध्ययन करूँगा।

जयपुर से मथुरा—

परीक्षाफल निकलने पर प० गोपाल दास जी वरैया ने गणेश प्रसाद को पत्र लिखा कि मथुरा मे महासभा का विद्यालय खुला है चाहो तो यही अध्ययन करो। पत्र पाते ही वे मथुरा पहुच गये और प० बलदेव दास जी से सर्वार्थ सिद्धि पढने लगे। सौभाग्य से प. ठाकुरदास जी

की नियुक्ति मथुरा के विद्यालय मे हो गयी और उनके पास वे अच्छी तरह अध्ययन करने लगे। दो वर्ष तक मथुरा मे रहे, फिर वहाँ से खुरजा चले गये।

मथुरा से खुरजा—

खुरजा मे दो वर्ष रहकर बनारस की प्रथम परीक्षा और न्याय-मध्यमा का प्रथम खण्ड पास किया। इसी खुरजा से चलकर जेठमास की कडकती गर्मी मे आपने तीर्थराज सम्मेद शिखर जी की वन्दना की। वहाँ परिक्रमा मे मार्ग भूल जाने से जब प्यास की बाधा ने सताया तब एकाग्र चित्त से पार्श्वप्रभुका स्मरण किया जिसके प्रभाव से वन मे जल से लबालब भरा हुआ कुण्ड उन्हे मिला। उसका पानी पीकर पिपासा शान्त की। सम्मेदशिखरजी से लौट कर बाई जी के पास कुछ समय तक रहे और वहाँ से टीकमगढ मे रहने वाले महानैयायिक श्री दुलारझा के पास चले गये। उनके पास मुक्तावली तथा पञ्च-लक्षणावली आदि ग्रन्थो का अध्ययन किया। श्री दुलार झा यद्यपि न्यायशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे तथापि वलिप्रथा के समर्थक होने से इनका मन उनके पास नही रमा अत बाई जी के पास सिमरा वापिस चले गये।

कुछ समय बाद बाई जी से आज्ञा लेकर हरिपुर चले गये। यह इलाहाबाद से पूर्व भूसी से पन्द्रह मील पर हडिया तहसील मे है। वहाँ प० ठाकुरदास जी रहते थे, बडे ही सौम्य प्रकृति के विद्वान् थे। उनके पास तीन चार माह रहकर आपने प्रमेयकमलमार्तण्ड और सिद्धान्त कौमुदी का कुछ अश पढा। ठाकुरदास जी तथा उनकी पत्नी की इन पर अपूर्व कृपा थी। गणेशप्रसाद को वे पुत्रवत् घर पर ही भोजन कराते थे और इन्हे भोजन कराने के लिये स्वय पानी छानकर पीने लगे थे। रात्रि भोजन का त्याग कर दिन मे ही भोजन करने लगे थे। पॅ० ठाकुरदास जी के पास कुछ समय अध्ययन कर गणेशप्रसाद सस्कृत विद्या की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी चले गये। यह वि. सॅ १९६१ की बात है। विद्याध्ययन की टोह मे गणेशप्रसाद दस बारह बर्ष तक इधर उधर भटक लिये थे। इनकी अवस्था अब तीस वर्ष के लगभग हो गयी थी।

जैनत्व का अपमान—

उस समय वाराणसी के क्वीन्स कालेज मे न्याय मुख्य अध्यापक जीवनाथ मिश्र थे। एक दिन गणेशप्रस ने उनके घर जाकर तथा एक रुपया भेंट का चढा प्रार्थना की कि मुझे न्यायशास्त्र का अध्ययन करना है आपकी आज्ञा हो तो आपके बताये समय पर उपस्थि हो जाया करूँ। मिश्र जी ने गणेशप्रसाद से पूछा कौन ब्राह्मण हो? उत्तर मे जब उन्होने कहा कि ब्राह्मण नही जैन हूँ' तब शर्मा जी का क्रोध भडक उठ उन्होने रुपया फेंकते हुए कहा कि मैं जैनो को नही पढात बहुत कुछ अनुनय विनय करने पर भी जब उन क्रोधाग्नि शान्त नही हुई तब गणेशप्रसाद निराश हो मेदागिन लौट आये और कमरे मे बैठकर खूब रो उनके मुख से यही निकलता था कि जिस वाराणसी सुपार्श्व और पार्श्व इन दो तीर्थंकरो का जन्म हुआ जैनधर्म की दुन्दुभी बजी। उस वाराणसी मे जैनत्व इतना अपमान? यहाँ जैनधर्म की शिक्षा देने वाला भी आयतन नही।

स्याद्वाद विद्यालय की स्थापना—

रात्रि को स्वप्न मे गणेशप्रसाद से कोई कहता है तुम बाबा भागीरथ को बुलाओ। उनके सहयो तुम्हारा मनोरथ अवश्य ही सिद्ध हो जायगा। स्वप्न स्वप्न ही था, जागने पर कोई नही दिखा। प्रात होने पर वे स्नानादि से निवृत्त हो मन्दिर गये। फिर उधर घूमते हुए श्वेताम्बर विद्यालय मे पहुँचे। उ सचालक धर्मविजय सूरि को सब कथा सुनायी। सुन वे उन्हे उस विद्यालय के अध्यापक अम्बादास जी शा के पास ले गये। प्रथम साक्षात्कार मे ही शास्त्री ज गणेशप्रसाद की भावना को परख लिया और कहा हम यहाँ से एक घण्टा बाद घर चलेंगे तब हमारे चलना। गणेशप्रसाद एक घटा बाद शास्त्री जी के साथ घर पहुँचे। शास्त्री जी ने पढाने की स्वीकृति दी गणेशप्रसाद बडी प्रसन्नता से उनके पास अध्ययन लगे। इसी बीच उन्होने बाबा भागीरथ जी को पत्र बुला लिया। बाबाजी आगये परन्तु पैसे के बिना वि

लय कैसे खुले ? इस चिंता में दोनों व्यग्र थे। चर्चा करने पर कामा के रहने वाले झम्मनलाल ने गणेशप्रसाद को एक रुपया दिया। गणेशप्रसाद ने एक रुपये के ६४ पोष्ट कार्ड खरीद कर ६४ जगह पत्र लिखे। अनेक लोगों ने उनकी भावना को समझा और अच्छी सहायता के वचन दिये। फलस्वरूप श्रुतपञ्चमी (जेठ सुदी ५ वि. सं. १९६५) के शुभ मुहूर्त मे दानवीर सेठ माणिकचन्द्र जी के हाथ से मदैनीघाट पर स्थित मन्दिर के मकान मे स्याद्वाद-विद्यालय का उद्घाटन हो गया। गणेशप्रसाद की सलाह से अम्बादास जी शास्त्री तथा अन्य दो अध्यापक नियुक्त हो गये। धीरे-धीरे छात्र संख्या बढने लगी। गणेशप्रसाद स्वय ही विद्यालय के छात्र बन गये और बाबा भागीरथ जी की देख रेख मे विद्यालय का काम चलने लगा। बाबा जी बडी व्यवस्था और नि स्पृहता के साथ विद्यालय का संचालन करते थे। जैन समाज के विद्वानो मे अग्रगण्य स्व० पं० वंशीधर जी न्यायालंकार स्व० पं० देवकीनन्दन जी और स्व० पं० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य आदि महानुभाव उस विद्यालय के छात्र बने और धुरंधर विद्वान् बन कर निकले। स्याद्वाद विद्यालय आज जैन समाज का सर्वोपरि विद्यालय माना जाता है।

हिन्दू-विश्व-विद्यालय में जैन कोर्स की स्थापना—

कुछ समय बाद वाराणसी मे नररत्न महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के पुरुषार्थ से हिन्दू विश्वविद्यालय खुला। उसमे अनेक प्राच्यदर्शनो के ग्रन्थ कोर्स मे रखे गये। प० अम्बादास जी शास्त्री गणेशप्रसाद के हाथ जैनदर्शन के कितने ही ग्रन्थ लिवा कर पाठ्यक्रम निर्धारिणी सभा मे पहुँचे। उसकी अध्यक्षता स्व० मोतीलाल जी नेहरू कर रहे थे। शास्त्री जी के प्रयत्न से विश्व विद्यालय मे जैनदर्शन का पाठ्यक्रम निर्धारित कर किया गया और उसके अनुसार पढ़ाई तथा परीक्षा चालू हो गयी। इसी बीच धर्ममाता चिरोजाबाई के सिर मे शूल रोग हो गया जिसके कारण गणेशप्रसाद को उनके पास जाना पडा। बाई जी बरुवासागर आकर रहने लगी थी।

सागर में सत्तर्कसुधातरङ्गिणी पाठशाला की स्थापना—

एक बार विमानोत्सव मे सम्मिलित होने के लिये गणेशप्रसाद जी ललितपुर गये थे। सागर के भी कुछ सज्जन उस विमानोत्सव में सम्मिलित हुए थे। सागर के लोग आग्रह कर गणशप्रसाद जी को सागर ले आये और अपने यहाँ भी एक बडी पाठशाला खोलने की प्रार्थना करने लगे। फलस्वरूप समाज की उदारता से यहाँ *वीरनिर्वाणसवत २४३५ वि. सं १९६८ की अक्षय तृतीया* के शुभ मुहूर्त मे भी सत्तर्क सुधा तरङ्गिणी नाम की पाठशाला स्थापित हो गयी। तब से यह पाठशाला दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करती चली आ रही है। वही पाठशाला आज गणेश दिगम्बर जैन सस्कृत विद्यालय के नाम से समाज मे प्रख्यात है। हजारो गरीब छात्रो का इससे उपकार हुआ है। गणेशप्रसाद जी यहाँ स्थायी रूप से रहने लगे। धर्ममाता चिरोजाबाई जी भी यही रहने लगी। इनकी देख रेख मे समाज ने विद्यालय को अच्छी सहायता पहुँचायी।

निवृत्ति की ओर—

इसी सागर मे गणेशप्रसाद जी ने जो अब तक समाज मे बडे पण्डित जी के नाम से प्रख्यात हो चुके थे ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और कुण्डलपुर मे बाबा गोकुलदास जी (पं० जगमोहन लाल जी कटनी के पिता) के पास ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने से आप 'वर्णीजी' नाम से प्रसिद्ध हुए अब आपकी वेषभूषा परिवर्तित होकर एक धोती दुपट्टा के रूप मे रह गयी।

रूढ़ियों की राजधानी—बुन्देलखण्ड में—

उस समय बुन्देल खण्ड मे अनेक रूढियो का प्रचार था। जरा-जरा सी बात मे लोगो को जाति से च्युत कर दिया जाता था। बाद मे उनसे पक्की और कच्ची पगत लेकर ही उन्हे शुद्ध किया जाता है। इस प्रक्रिया से गरीब लोग बड़े संकट मे रहते थे। वर्णी जी ने अपने सहयोगियो के साथ जगह-जगह भ्रमण कर अनेक कुरूढियो का निवारण कराया और त्रस्त गरीब जनता का उद्धार

कराया। नैनागिरि, द्रोणगिरि, पपौरा तथा अहार आदि स्थानो पर शिक्षा सस्थाएँ खुलवाईं जिससे प्रान्त मे शिक्षा का अच्छा प्रचार हुआ। जहाँ सस्कृत की बडी पूजा और मूल तत्त्वार्थसूत्र वाच देने वाले भायजी भी दुर्लभ थे वहाँ आज सस्कृत के धुरन्धर विद्वान् तैयार हो गये।

चकौती में—

सवत् १९८४ मे वर्णी जी शान्तिलाल नैयायिक के साथ न्याय-शास्त्र का विशिष्ट अध्ययन करने के लिये दरभगा जिला मे स्थित चकौती गये और वहाँ सहदेव झा नैयायिक के पास सामान्यनिरुक्ति पढने लगे। वहाँ का वातावरण नव्यन्याय से तन्मय था। जहाँ देखो वहाँ अवच्छेदकावच्छेदेन की ध्वनि सुनायी पडती थी। वहाँ पढने की तो सुविधा थी परन्तु समस्त मैथिल ब्राह्मण मत्स्यभोजी थे। खास अवसर पर बकरा की वलि भी चढाते थे इसलिये वर्णी जी सदा उदास रहते थे। आहार की पर्याप्तता न होने से इनका शरीर भी दुर्बल पड गया। एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण ने इनसे दुर्वलता का कारण पूछा तव इन्होने कहा कि जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ लोग मत्स्य का मास पकाते है उसकी दुर्गन्ध से मुझे भोजन अच्छा नही लगता। वृद्ध ब्राह्मण ने गाव के लोगो को एकत्रित कर नियम करा दिया कि जब तक यह विद्याध्ययन के लिये अपने ग्राम मे रहते है तब तक कोई मत्स्य मास न पकावे न खावे और न किसी प्रकार का वलिदान ही चढावे। इस प्रकार वर्णी जी की भावना के अनुसार गाँव का वातावरण अहिंसा रूप मे परिवर्तित हो गया।

इसी चकौती मे एक द्रौपदी नामक ब्राह्मण की लडकी रहती थी। विधवा होने पर उसने घोर पाप किया परन्तु अन्त मे उसके हृदय मे पाप से इतनी अधिक ग्लानि हो गयी कि उसने सब के समक्ष अपने गुप्त पाप का उल्लेख किया तथा निराकुल हो पुरी की यात्रा के लिये गयी और वहाँ शकर जी को जल चढाती-चढाती परलोक को प्राप्त हो गयी।

चकौती मे रहते समय वर्णी जी की पीठ मे एक भयकर फोडा हो गया जिसके कारण आठ दिन तक बहुत कष्ट मे रहे। विहारी मुसहढ ने उस पर कोई जडी पीस कर लगायी जिससे बारह घण्टा नींद आयी और फोडा बैठ गया। वर्णी जी ने उसे दश रुपये का नोट देना चाहा परन्तु उसने लेने से मना कर दिया और अच्छा भाषण दे डाला। उपस्थित लोगो को ऐसा लगा कि नीच जाति मे भी उच्च विचारो का होना दुर्लभ नही है। चकौती से चलकर नवद्वीप गये परन्तु वहाँ भी सामिष भोजन की प्रचुरता देख कलकत्ता चले गये। वहाँ प० ठाकुरदास जी के साथ पहले ही परिचय था। उन्होने एक बगाली विद्वान् से परिचय करा दिया जिससे उनके पास न्यायशास्त्र का अध्ययन करने लगे। वर्णी जी के हृदय मे न्यायशास्त्र के प्रति गाढ अभिरुचि थी। यही कारण रहा कि वे उसकी गहराई तक पहुँचने के लिये निरन्तर परिभ्रमण करते रहे।

गुरु भक्त वर्णीजी—

वर्णीजी अत्यन्त गुरुभक्त थे। अम्बादास जी शास्त्री के पास जब उनकी अष्टसहस्री पूर्ण हुई तब उन्होने भक्ति से गद्‌गद होकर हीरा की एक अगूठी समर्पित कर दी। एक बार सवत् १९७२ मे वे शास्त्री जी को सागर भी लाये थे। मलैया प्यारेलाल किशोरीलाल जी के यहाँ मन्दिर की शिखर पर कलशारोहण का उत्सव था। उस उत्सव मे शास्त्री जी का सस्कृत मे भाषण कराया था और स्वय ने उसका हिन्दी भाव जनता को समझाया था। उसी समय सागर विद्यालय के लिये वीस हजार का ध्रौव्य फण्ड प्राप्त हुआ था। अम्बादास जी ही क्यो जिस-जिस के पास आपने अध्ययन किया उन सब की भक्ति मे कभी कमी नही की। विद्वान् मात्र के प्रति आपके हृदय मे अपार आदर था। जो विद्वान्, वर्णी जी के शिष्यानुशिष्य होते थे उनका भी उत्तम आदर करते थे और समाज मे उनकी प्रतिष्ठा बढे इसका सदा ध्यान रखते थे।

उदारमना वर्णीजी—

वर्णीजी की उदारता की क्या चर्चा की जाय, वे उदारता गुण के मानो अवतार ही थे। अपने लिये आयी हुई वस्तु को वे सदा दूसरो को बाट देते थे। एक बार वाराणसी से लंगडा आमो की टोकनी लेकर सागर आ रहे थे। सागर के करीव पडने वाली गनेशगज स्टेशन

पर उन्होने देखा कि कुछ गरीब लडके मुसाफिरों के द्वारा फेंकी हुई आम की गुठलियो को उठाकर चूस रहे है। उन्होने उन बालको को पक्तिबद्ध खडा कर साथ मे लाये हुए सब लगडा आम बाट दिये। सागर आने पर जब बाई जी ने पूछा—भैया ? बनारस से लगडा नही लाये ? वर्णी जी ने उत्तर दिया—बाई जी लाया तो था परन्तु गनेशगज स्टेशन पर गरीबो को बाट आया। बाई जी ने सतोष प्रकट करते हुए कहा कि अच्छा किया। उन्हे कब नसीब होने वाले थे।

दया के अवतार—

वर्णी जी दूसरे के दु ख को देख कर सिहर उठते थे—उनका रोमरोम अनुकम्पित हो जाता था। दु खी मनुष्य का दु ख दूर करने के लिये आप शीतकाल मे भी अपना श्वेत दूसरे को दे देते थे और स्वयं ठण्ड से कापते हुए घर आ जाते थे। एक बार बरायठा से सागर वापिस आते समय एक हरिजन महिला को पानी पिला कर लोटा उसे ही दे दिया तथा अपने शरीर पर धारण किया हुआ धोती दुपट्टा भी दे डाला और एक लंगोट पहिने संध्या के अन्धकार मे सागर वापिस आये। मनुष्य ही नही कुत्ता, बिल्ली तथा गधे आदि पशु तक आपकी दया के पात्र थे।

हृदय के पारखी—

वर्णीजी मे दूसरे का हृदय परखने की अद्भुत क्षमता थी। उद्दण्ड से उद्दण्ड लड़को के हृदय को वे परख लेते थे और उन्हे अपने साथ लाकर पढाते लिखाते थे। जैन समाज के ख्याति प्राप्त विद्वान स्व. पं. देवकी नन्दन जी बरूवा सागर के रहने वाले थे। बडे उद्दण्ड लडको मे से थे जब वे उन्हे वाराणसी ले जाने लगे तब बरुआ सागर के लोगो ने कहा कि इस उत्पाती को क्यो लिये जा रहे हो ? पर वर्णीजी ने कहा कि जिसे आप उत्पाती समझते है उसी की खुशामद करते हुए आप लोगो का मुख सूखेगा ? हुआ भी ऐसा ही।

वक्तृत्व कला के पारगामी—

वर्णीजी के वक्तृत्व मे अमृत झरता था। उनकी वाणी श्रवण करते समय श्रोता ऐसा अनुभव करने लगता था कि 'मुख चन्द्रते अमृत झरे'—मानो इनके मुख रूपी चन्द्रमा से अमृत ही झर रहा है। आगम के गहन विषयो को नाना दृष्टान्तो और उपकथाओ के द्वारा श्रोता के हृदय मे उतार देने मे आप सिद्धहस्त थे। न केवल धार्मिक विषय, अपितु राष्ट्रीय विषयो पर भी आपका वक्तृत्व अत्यन्त लोक-प्रिय होता था। हजारो की जनता मन्त्रमुग्ध की तरह आपकी वाणी का रसास्वादन करती थी। जिस जलसे, मेले अथवा सभा-सोसायटी मे वर्णीजी पहुँच जाते थे उसमे रौनक आ जाती थी। यदि आप हँसाने बैठे तो श्रोताओ को खूब हँसाते थे और रुलाने बैठे तो श्रोता आसू पोछते पोछते परेशान हो जाते थे। आपकी भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित खडी बोली थी। फिर जहाँ जैसा अवसर देखते थे वैसा भाषा को परिवर्तित कर लेते थे।

वर्णीजी का जीवन स्वय अनेक घटनाओ से भरा हुआ है। उन्ही घटनाओ को वे इस कला के साथ प्रस्तुत करते थे कि कभी श्रोता की घिग्घी बँध जाती थी और कभी हास्य से लोटपोट हो जाता था। बालक, वृद्ध, तरुण, स्त्री, पुरुष, सभी लोग उनकी कला से प्रभावित रहते थे। उनका प्रवचन सुनने के लिये नर नारियो की बहुत बड़ी सख्या पहले से ही जाकर आगे का स्थान घेर लेती थी। उनके परिचय का कोई विद्वान या श्रीमान् पीछे पहुँचने के कारण यदि सभा मे बैठने के लिये उचित स्थान नही पा सका और उस पर उनकी दृष्टि पड़ गयी तो उसे वे तत्काल आगे बुला लेते थे। कभी किसी की निन्दा उनके मुख से सुनने मे नही आयी। प्रशसा के द्वारा वे सामान्य व्यक्ति का प्रभाव भी जनता पर अच्छा जमा देते थे। कोई वक्ता यदि उनके सामने बोलता था तो उसके बोलने के बाद वे यही कहते थे—बहुत अच्छा कहा आपने। इसी प्रकार यदि किसी प्राथमिक लेखक का लेख या कविता पर उनकी दृष्टि पड़ती थी तो वे उसकी प्रशंसा करते हुए कहते थे—भैया बहुत अच्छा लिखा आपने। मैने देखा है कि सन् १९४४ मे उनके सागर आने पर जो कवि-सम्मेलन बुलाया था उसमे आप रात के दो बजे तक बैठे रहे। एक बार रेशन्दी गिरि के मेला में एक लड़की ने इस आशय की कविता सुनायी कि 'आज

का मानव पत्नी को तो सीता बनाना चाहता है पर स्वय रावण बनता जा रहा है।' कविता से प्रसन्न होकर आपने अपना खेस उतार कर उसे पुरस्कार मे दे दिया और रात-भर आप शीत की बाधा सहते रहे।

सफल लेखक—

पूज्यवर्णी जी ने अपनी स्वाभाविक भाषा मे बहुत कुछ लिखा है। उन्हें डायरी लिखने की कला प्राप्त थी। डायरी मे वे घटनाओ का उल्लेख तो करते ही थे साथ मे उससे निकलने वाले परिणाम को भी सुभाषित के रूप मे लिख देते थे। समाधि मरण मे स्थित व्यक्तियो के लिये जो उन्होने पत्र लिखे थे उनके कई सग्रह प्रकाशित हो चुके है। वे पत्र क्या है मानो आगम का सार उनमे समाया हुआ है। 'मेरी जीवन गाथा' नाम से जो उन्होने आत्म-कथा लिखी है उसकी लोक-प्रियता इसी से सिद्ध है कि उसकी अल्पकाल मे ही चार आवृत्तियां निकल चुकी है। उनकी डायरियो के सुभाषितो का सार लेकर भी डा नरेन्द्रजी ने वर्णीवाणी के ४ भाग प्रकाशित करा दिये हैं। श्री कपूरचन्द्रजी वरैया लश्कर ने उनके प्रवचनो का सार सक्षेप लेकर 'सुख की झलक' नाम से १५ भाग प्रकाशित किये है।

कुन्दकुन्द के समयसार पर जो उन्होने प्रवचनात्मक ढँग से टीका लिखी है। उसका प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमाला वराणसी से हो चुका है। वह समाज के स्वाध्याय प्रेमी जनता को अन्यन्त रुचिकर हुआ है और उसके फलस्वरूप उसकी पहली आवृत्ति अल्पकाल मे समाप्त हो गयी है। उसका द्वितीय सस्करण निकालने की तैयारी हो रही है। गद्य लिखने के साथ आपने कितने ही दोहो की भी रचना की है जो सुभाषित के रूप मे कितने ही जगह दीवालो पर अकित किये गये हैं। वर्णीस्मृतिभवन सागर की दीवालो पर ऐसे गद्य-पद्यात्मक अनेक उपदेश आयलपेंट से लिखाये गये हैं। श्लोक-वार्तिक की टीका लिखना भी उन्होने शुरू किया था पर वह पूरी नही हो सकी। उसके कुछ पत्र ही उनके कागजातो मे पाये गये थे। इस प्रकार हम उन्हे एक सफल लेखक के रूप मे पाते है।

गौरव संरक्षक—

वर्णीजी शिक्षा-सस्थाओ के सचालन के लिये यद्यपि समाज से दान की प्रेरणा करते थे तथापि वे प्रान्त के गौरव का अवश्य ध्यान रखते थे। उनकी अधिक भावना यही रहती थी कि जिस प्रान्त मे सस्था चल रही है उसी प्रान्त के लोग उस सस्था का सचालन करें। इसी मे उनका गौरव है। प्रान्त के बाहर के लोग यदि स्वेच्छा से देते थे तो उसे स्वीकार करते थे और किसी प्रकार उन्ही दाता के समक्ष उस प्रान्त के लोगो की शक्ति को भी वृद्धिगत करते थे। इसके लिये एक दृष्टान्त पर्याप्त है—

एक बार समाज के मान्य सरसेठ हुकम चन्द्रजी साहब वर्णीजी के दर्शनार्थ सागर पधारे। वर्णीजी के प्रवचन से प्रभावित होकर सेठ जी ने पच्चीस हजार का चेक उनके चरणो मे यह कहते हुए रख दिया कि आप जहाँ चाहे दे दें। दूसरे दिन के प्रवचन मे जब सेठजी विराजमान थे तब वर्णीजी ने सागर की समाज को सबोधते हुए कहा कि सेठजी के यह पच्चीस हजार रुपये यदि आप लोगो को अपनी सस्था—विद्यालय के लिये चाहिये हैं तो इसमे इतने ही आप लोग मिलाइये। अन्यथा मैं किसी दूसरी संस्था को दे दूँगा। क्योकि सेठजी ने इनका वितरण मेरी इच्छा पर निर्भर किया है। सागर की समाज ने आध घटे के अन्दर पच्चीस हजार का दान लिखा दिया। इससे सस्था को द्विगुणित लाभ हो गया और सागर समाज के गौरव की वृद्धि भी हुई।

लाखो का दान कराकर भी उन्होने कभी रुपये को हाथ नही लगाया। रुपयो का वसूल करना संरक्षण करना तथा उनका उपयोग करना यह व्यवस्थापको के ऊपर छोड देते थे। प्रान्त के बाहर की सस्थाओ का चन्दा यदि कही उनकी उपस्थिति मे होता था तो वे सागर के सिंघई कुन्दन लालजी का दान अवश्य लिखा देते थे और वर्णीजी की सूचना आने पर सिंघईजी उस रकम को भेज देते थे।

समदर्शी—

कषायवश कई नगरो अथवा ग्रामो मे फूट पड जाती है परन्तु वर्णी जी अपनी चतुराई से वर्षों से चला आया मनोमालिन्य अल्प समय मे ही दूर करा देते थे। वे बड़े

दूरदर्शी थे, प्रथम तो उनके सन्निधान मे लोग उत्तेजित होते ही नही थे। यदि अपवाद रूप मे कही उत्तेजना फैलती थी तो उसे ढील देकर इस तरह निपटा देते थे कि जिससे वातावरण अधिक दूषित नही हो पाता था। वे कहा करते थे कि उलझी हुई रस्सी को जोर से मत खीचो अन्यथा गाठ पड जाने से सुलझना कठिन हो जायगा।

विकट स्वाभिमानी—

एक बार वर्णीजी, सागर से द्रोणगिरि जा रहे थे। मोटर की आगे की सीट पर आपको बैठा दिया गया। परतु कुछ देर बाद सरकारी आफीसर के आने पर उन्हे वह सीट छोडकर पीछे बैठने के लिये बाध्य किया गया। वर्णीजी को यह बात सह्य नहा हुई और उन्होने सवारी मात्र का त्याग कर दिया। उनके मुख से यही वाक्य निकला कि परपदार्थ को अपनी इच्छानुकूल कौन परिणमा सकता है? वाहन का त्याग कर देने के कारण वे पैदल ही सागर से पार्श्वप्रभु के पादमूल मे गये और कुछ वर्षों बाद पैदल ही वापिस आये। ७०० मील की लम्बी पैदल यात्रा कितनी कष्टप्रद हो सकती है यह सहज ही समझा जा सकता है परन्तु वर्णीजी अपनी बात के धनी थे इसलिये उन्होने उसे पूर्ण रूप से निभाया।

सन् १९४४ मे जब ईसरी से सागर आये तब आपने दशम प्रतिमा के व्रत स्वतः लिये थे। उनके आने पर सागर मे हर्ष की एक लहर दौड पडी थी। कवि सम्मेलनो मे कविताएँ पढी जाती थी—'सागर मे आई एक लहर'। सागर के आसपास भ्रमण कर उन्होने जनता मे शिक्षा के प्रति अच्छा आकर्षण उत्पन्न किया था। फलस्वरूप कटनी, जबलपुर, तथा खुरई आदि मे अच्छा चदा हुआ था और उससे चालू संस्थाओ को अच्छा पोषण प्राप्त हुआ था। जबलपुर की मढिया जी का विकास तथा वहाँ वर्णि विद्यालय की स्थापना वर्णीजी के प्रभाव से ही संपन्न हुई थी।

सागर से पैदल ही बिहार कर वे बरुवा सागर गये थे। बरुवा सागर से वर्णीजी का बहुत बडा संपर्क रहा है। सागर आने के पहले चिरोजाबाई जी बरुवा सागर ही रहती थी। वहाँ के सिघई मूलचन्द्र जी बाई जी को अपनी बहिन मानकर बडे सम्मान के साथ रखते थे। बाई जी के कारण वर्णी जी का भी वहाँ आना जाना होता रहता था। 'मेरी जीवन गाथा' मे वर्णी जी ने बरुवा सागर मे घटित अनेक घटनाओ का अच्छा वर्णन किया है। वर्णी जी के प्रभाव से वहाँ जैन विद्यालय की स्थापना हुई थी। बाबू रामस्वरूप जी वर्णीजी के प्रमुख भक्तो मे थे।

सागर से पैदल ही भ्रमण करते हुए जब बरुवासागर पहुँचे तब वहाँ बडा उत्सव हुआ था। वही पर वर्णी जी ने जिनप्रतिमा के सामने फागुन सुदी ७ वीर निर्वाण २४७६ को क्षुल्लक दीक्षा ली थी। क्षुल्लक अवस्था मे ही आपका उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली मे बिहार हुआ था और लौटतेसमय फिरोजाबाद मे आपकी हरिक जयन्ती मनायी गयी थी।

हीरक जयन्ती—

जब वर्णी जी ईसरी से सागर पधारे थे तब उनकी हीरक जयन्ती मनाने का आयोजन निश्चित किया गया था। परंतु श्रीमान् साहु शान्तिप्रसाद जी के इस आग्रह से कि वर्णी जी जैसे संत पुरुष की हीरक जयन्ती किसी बड़े शहर मे बडे रूप से मनायी जाना चाहिये। सागर की जनता ने उनकी उचित संमति को आदर देते हुए अपने यहाँ हीरक जयन्ती का उत्सव स्थगित कर दिया। परन्तु भावना बलवती थी अत उसे समूल समाप्त नही किया जा सका। 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' तैयार करने की योजना बनी और ग्रन्थ के निर्माण मे शक्ति लगायी जाने लगी। श्री प० खुशालचन्द्र जी गोरावाला वाराणसी के संपादकत्व मे अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ और उसके समर्पण के लिये दानवीर सेठ छदामीलाल जी फिरोजाबाद ने अपने यहाँ एक बड़ा उत्सव किया। उसी समय वर्णी जी महाराज की हीरकजयन्ती मनायी गयी। काका कालेलकर के करकमलो द्वारा वर्णीजी को 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' समर्पित किया गया। फिरोजाबाद का वह मेला दर्शनीय मेला था। उस समय आचार्यवर्य सूरसागर जी महाराज भी ससंघ वहाँ पधारे थे। विशालव्रती सम्मेलन हुआ था और सेठ छदामीलाल जी ने विशाल मन्दिर का शिलान्यास

कराया था। आज फिरोजाबाद का वह मन्दिर भारतवर्ष का एक दर्शनीय मन्दिर माना जाता है।

सागर में पुनरागमन—

हीरक जयन्ती के आयोजन के वाद आप क्रमश विहार करते हुए पैदल ही पुन सागर पधारे। सागर के साथ उनका कुछ आत्मीय भाव था। यहाँ की सस्थाओ के विस्तार को देखकर उन्हे आन्तरिक हर्ष होता था। उनका चातुर्मास भी सागर मे ही हुआ। वैसे उनके प्रवचन प्रतिदिन हुआ करते थे परन्तु पर्युषणपर्व के प्रवचन जो कि यहाँ के चौधरन बाई के मन्दिर मे हुआ करते थे बड़े आकर्षक रहे। उन प्रवचनो को सुनने के लिये विशाल मन्दिर मे वडी भीड एकट्ठी होती थी। प्रवचन क्या थे मानो अमृत के झिरना थे। उन प्रवचनो का सार आगे दिया गया है।

एक दिन अचानक ही आपने घोषणा कर दी कि मै आज सम्मेद शिखर के लिये प्रस्थान करूँगा। सारी समाज मे यह समाचार बिजली की भाति फैल गया। जनता ने बहुत आग्रह किया परन्तु उन्होने अपना निश्चय नही बदला और शीतकाल की माहोट के होते हुए भी यहाँ से प्रस्थान कर दिया। मार्ग की व्यवस्था श्री चपालाल जी सेठी गया-वाले करते थे। सतना, रीवा, मिर्जापुर तथा बनारस आदि स्थानो मे विहार करते हुए गया पहुँचे। चातुर्मास का समय आ गया था इसलिये वही वर्षा योग किया। चार पाँच माह गया मे धर्मामृज की वर्षा हुई। वर्षा योग समाप्त होने पर चिरकाक्षित ईसरी पहुँच गये और अन्त अन्त तक उसी प्रान्त मे रहे। जब कभी गिरीडीह अथवा कोडरमा जाना हुआ।

स्याद्वाद विद्यालय बनारस और गणेश विद्यालय के स्वर्ण जयन्ती महोत्सव—

स्याद्वाद विद्यालय और गणेश विद्यालय आपके द्वारा सस्थापित शिक्षा सस्थाओ मे प्रमुख संस्थाएँ है। समाज मे काम करते हुए इन सस्थाओ का लम्बा समय बीत गया है। सस्थाओ के सचालको की इच्छा हुई इन सस्थाओ के स्वर्णजयन्ती उत्सव करने की। वर्णी जी ईसरी से अन्यत्र नही जा सकते थे इसलिये उत्सवो की आयोजना उन्ही के पादमूल मे सम्मेदशिखर जी मे की गई। सन् १९५६ मे स्याद्वाद विद्यालय का उत्सव हुआ। सन् १९५७ मे गणेश विद्यालय का उत्सव संपन्न हुआ। सागर विद्यालय के उत्सव के समय श्री कानजी स्वामी भी ससंघ सम्मेद शिखर जी पधारे थे। एक मञ्च पर पूज्यवर्णी जी और कान जी स्वामी को समासीन देख जनता हृदय मे प्रसन्नता का अनुभव कर रही थी। दोनो विद्यालयो को यथा-योग्य आर्थिक सहायता भी इस अवसर पर प्राप्त हुई।

ईसरी का विकास—

देखते देखते ईसरी का अत्यधिक विकास हुआ है। पूज्यवर्णी जी के विराजमान रहने से वह स्वयं एक तीर्थ वन गयी है और शिखर जी आने जाने वाले लोगो का वहाँ रुकना अनिवार्य जैसा हो गया है। वहाँ बीस पंथी और तेरा पंथी धर्मशालाओ के निर्माण के अतिरिक्त श्री पार्श्वनाथ उदासीनाश्रम का भी निर्माण हुआ है। उदासीन श्रावको के रहने के लिये विस्तृत भवनो की रचना हुई है। प्रवचन-मण्डप बनाये गये है और धर्माराधना के लिये उदासीना-श्रम के सामने ही एक विशाल मन्दिर बनवाया गया है। कुछ सहधर्मी वन्धुओ ने अपनी कोठिया भी वहाँ बनवाई है। श्री ब्र कृष्णाबाई ने एक महिला श्रम का निर्माण करा कर उसमे एक मन्दिर भी बनवाया है जिसमे पार्श्वनाथ भगवान् की विशाल प्रतिमा विराजमान करायी है।

अन्तिम साधना—

वर्णी जी सागर पहुँचकर जब दूसरी बार पैदल ही सम्मेद शिखर के लिये प्रस्थान करने लगे तब उनसे कहा—'बाबा जी! इस वृद्धावस्था मे इतनी लम्बी पैदल यात्रा कष्टदायक हो सकती है अत आप इसी प्रान्त मे द्रोणगिरि, नैनागिरि तथा कुण्डलपुर आदि क्षेत्रो मे से जहाँ रहना चाहे रहे। ७०० मील पैदल यात्रा न करे।' लोगो की प्रार्थना सुनकर उन्होने कहा भैया! हमारा सकल्प पार्श्व-प्रभु के पादमूल मे समाधि मरण करने का है। प्रथम तो

मुझे विश्वास है कि मै उनके पादमूल मे अच्छी तरह पहुँच जाऊँगा। फिर कदाचित् न पहुँच सका तो सकल्प तो वही का है। वर्णी जी का उत्तर सुनकर लोग चुप रह गये।

वृद्धावस्था धीरे-धीरे उनके शरीर पर आक्रमण करती गयी और उसके फलस्वरूप उनकी गमन शक्ति एकदम क्षीण हो गयी। चर्या के लिये जाना भी कठिन हो गया। अब तक आपकी अवस्था ८७ वर्ष तक पहुँच चुकी थी। सावन के माह मे उन्होने हृदय मे सल्लेखना का संकल्प कर लिया और आगमानुसार उसकी सारी व्यवस्था निश्चित कर ली। वे समझते थे कि सल्लेखना धारण करने का यदि प्रचार करता हूँ तो यहाँ जनता की अत्यधिक भीड इकट्ठी हो जायगी। इसी कारण उन्होने अपना यह नियम किसी के सामने प्रकट नही किया। किंतु जैसा उन्होने नियम ले रक्खा था उसी के अनुसार वे चलते रहे। जब उनके सन्यासकाल मे अन्न या उसके रस का काल निकल चुका तब उन्होने प्रमुख आत्मीय लोगो का आग्रह होने पर भी रस और पानी के सिवाय कुछ नही लिया। जब रस का भी काल निकल गया तब पानी के सिवाय कुछ नही लिया और अन्तिम १७ घटो मे तो स्वेच्छा से नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारक बन कर चतुराहार विसर्जन पूर्ण रूप से कर दिया। समताभाव से भाद्रपद कृष्णा ११ वीर नि० २४८७, वि. स २०१८ सन् १९६१ को रात्रि के एक बजकर २० मिनट पर इस नश्वर देह का परित्याग कर वे स्वर्गवासी हो गये। चारो ओर शोक की लहर व्याप्त हो गयी। सूचना पाते ही हजारो की भीड ईसरी मे एकत्रित हो गयी। उनके पार्थिव शरीर को एक विमान मे रख कर शवयात्रा निकाली गयी और वापिस आने पर उदासीना-श्रम के प्राङ्गण मे अतिम संस्कार किया गया। देखते देखते अग्नि की भीषण ज्वालाओ ने उनके पार्थिव शरीर को आत्मसात् कर लिया।

जगह-जगह शोक सभाए हुईं और समाचार पत्रो ने अपने श्रद्धांजलि विशेषाक निकाले। आज उनको दाह स्थान पर सगमर्मर का सुन्दर स्मारक बना हुआ है जो वहाँ पहुँचने वालो के हृदय मे पूज्य वर्णीजी की मधुर स्मृति उत्पन्न कर देता है और दर्शक एक लम्बी आह भर कर चुपके से अपने आँसू पोछ लेता है। उन्हे स्वर्गवासी हुए १३ वर्ष बीत चुके है। उनकी स्मृति धीरे-धीरे धूमिल होती जाती है परन्तु विद्वत्परिषद् के सदस्यो मे उनके शिष्य प्रशिष्यो की एक लम्बी शृखला है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी विद्वान् उनसे समुपकृत है अत विद्वत्परिषद् ने शिवपुरी मे सम्पन्न अपने रजतजयन्ती अधिवेशन मे यह निर्णय किया कि विक्रम सवत् २०३१ को उनका शताब्दी समारोह मनाया जाय। और इस प्रसङ्ग से हमारी विद्वत्परम्परा उनके गुणस्मरण द्वारा अपनी कृतज्ञता प्रकाशित कर सके।

वर्णीजी का कृतित्व—

वर्णी जी ने अपना समस्त जीवन परोपकार मे ही बिताया। उनकी मनोवृत्ति अत्यन्त नि.स्पृह थी। वे स्वय का कोई स्वार्थ नही रखते थे इसलिये उनकी वाणी का प्रभाव दिन दूना रात चौगुना बढता जाता था। जिससे जो कह दे वह उस कार्य को सम्पन्न करने मे अपना गौरव समझता था। वर्णी जी का विश्वास था कि सासारिक और पारमार्थिक उन्नति का साधन सम्यग्ज्ञान ही है इसीलिये वे सम्यग्ज्ञान के प्रचारार्थ अनेक शिक्षा सस्थाए स्थापित करते रहते थे। यहाँ कुछ स्थानो की सस्थाओ का उल्लेख किया जाता है जो वर्णी जी के द्वारा स्थापित अथवा वृद्धिगत हुई है—

(१) वाराणसी मे जेठ सुदी ५ वीर निर्वाण सवत् २४३२ को स्याद्वाद विद्यालय की स्थापना।
(२) सागर मे वैशाख सुदी ३ वीर निर्वाण २४३५ को सत्तर्कसुधा तरङ्गिणी दि. जैन पाठशाला की स्थापना, जो अब गणेश दि. जैन विद्यालय के नाम से प्रख्यात है।
(३) मडावरा मे विमानोत्सव के समय स्थानीय जैन पाठशाला की स्थापना।
(४) बरुवा सागर मे जैन विद्यालय की स्थापना तथा उसका सपोषण।
(५) द्रोणगिरि मे वैशाख वदी ७ वीर नि. सं. २४८५ को जैन विद्यालय की स्थापना।

(६) जबलपुर मे शिक्षा मन्दिर की स्थापना ।
(७) अहार क्षेत्र मे शान्ति नाथ द्वि. जैन विद्यालय की स्थापना ।
(८) शाहपुर (सागर) मे जैन विद्यालय की स्थापना ।
(९) खतौली मे कुन्द-कुन्द महाविद्यालय की स्थापना ।
(१०) जबलपुर मे दूसरी बार गुरुकुल की स्थापना ।
(११) कटनी मे कन्या विद्यालय का वृद्धीकरण ।
(१२) इटावा मे सस्कृत विद्यालय की स्थापना ।
(१३) ललितपुर मे वर्णी इन्टर कालेज की स्थापना ।

इनके सिवाय स्थानीय पाठशालाए अनेक स्थानो पर स्थापित कराई थी । अनेक तीर्थ क्षेत्रो पर विकास कार्य सम्पन्न कराये थे और अनेक नगरो मे आपसी वैमनस्य को दूर कर परस्पर सामजस्य स्थापित किया था । इस दृष्टि से इस युग मे पूज्य वर्णी जी का कृतित्व सर्वोपरि है ।

यह तो रहा परोपकार गत कृतित्व परन्तु जब उनके आत्मोपकार गत कृतित्व की ओर दृष्टि जाती है तब लगता है कि इनके समान कृतित्व किसी दूसरे का नही है । अजैन कुल मे उत्पन्न होकर जैनधर्म धारण करना उसका पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त करना और साधारण सद्-गृहस्थ की भूमिका से लेकर मुनिपद तक की भूमि को प्राप्त करना साधारण बात नहीं है ।

इनकी सरल–शान्त मुद्रा, स्नेहभरी दृष्टि और वात्सल्यपूर्ण वाणी मे बडा आकर्षण था । विरोध की भावना लेकर इनके समक्ष पहुँचने वाले व्यक्ति भी सब विरोध भूलकर उन्हे आत्मीय समझने लगते थे । विरो-धियो का विरोध शान्त करने की उनमे अद्भुत क्षमता थी । इसके लिये एक उदाहरण पर्याप्त है—

द्रोणगिरि सिद्ध क्षेत्र पर एक पाठशाला की स्थापना हुई और छात्रो के रहने के लिये कुछ कमरे बनाये गये इससे जैनेतर जनता के कुछ विद्वेषी लोगो मे ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हुआ । उन्होने छात्रो को मकान के बाहर लघुशका आदि करने पर परेशान करना शुरू कर दिया । छात्र दु खी हुए । वहाँ जैनो के अत्यन्त अल्प घर थे अत. छात्रो का कोई प्रमुख रक्षक नही था । वर्णी जी को जब इस बात का पता चला तब वे ग्रीष्मावकाश मे १-२ माह द्रोणगिरि रहे । उस काल मे उन्होने दीवान साहब आदि से बहुत बडा सपर्क बनाया । उसी समय मैं भी सागर से द्रोणगिरि गया । दो चार दिन के लिये वर्णी जी को शाक साथ मे लेता गया क्योकि देहात होने से वहाँ शाक मिलती नही थी । वर्णी जी ने उस शाक मे से थोडी शाक अपने लिये रखवा कर शेष शाक दीवान आदि के घर भिजवा दी । मैंने कहा बाबा जी, यह शाक तो मैं आपके लिये लाया था । वे बोले—भैया ! अपन लोग तो चाहे जब खाते है यहाँ के लोगो को यह दुर्लभ है । यह रही शाक की बात, फल वगैरह भी उनके पास पहुँचते थे उन्हे भी वे इसी तरह वितरण कर देते थे । वर्णी जी की इस उदारता का फल यह हुआ कि सब विरोधी लोग अपने आप शान्त हो गये और छात्र निर्द्वन्द्वरूप से वहाँ रहने लगे ।

वर्षा योग—

क्षुल्लक दीक्षा के बाद निम्नाकित स्थानो मे वर्षायोग धारण कर आपने वहाँ भव्यजीवो को उपदेशामृत से सतृप्त किया ।

वीर निर्वाण	विक्रम सवत्	ईशवीय सन्	स्थान
२४७४	२००५	१९४८	मुरार
२४७५	२००६	१९४९	दिल्ली
२४७६	२००७	१९५०	इटावा
२४७७	२००८	१९५१	ललितपुर
२४७८	२००९	१९५२	सागर
२४७९	२०१०	१९५३	गया
२४८०	२०११	१९५४	ईसरी
२४८७ तक	२०१८ तक	१९६१ तक	,,

———

२

आत्म-विश्लेषक गणेश वर्णी का पत्र साधक गणेश वर्णी के नाम

श्रीमान् वर्णी जी !

योग्य इच्छाकार

बहुत समय से आपके समाचार नही पाए, इससे चित्तवृत्ति सदिग्ध रहती है कि आपका स्वास्थ्य अच्छा नही है। सभव है आप उससे कुछ उद्विग्न रहते हो और यह उद्विग्नता आपके अन्तस्तत्व की निर्मलता के कृश करने मे भी असमर्थ हुई हो। यद्यपि आप सावधान है परन्तु जब इस शरीर से ममता है तब सावधानी का भी ह्रास हो सकता है। आपने बालकपने से ऐसे पदार्थों का सेवन किया जो स्वादिष्ट और उत्तम थे। इसका मूल कारण यह था कि आपके पूर्व पुण्योदय से श्री चिरौजाबाई जी का ससर्ग हुआ, तथा श्रीयुत सर्राफ मूलचन्द जी का ससर्ग हुआ। जो सामग्री आप चाहते थे, इनके द्वारा आपको मिलती थी। आपने निरन्तर देहरादून से चॉवल मँगाकर खाए, उन मेवादिका भक्षण किया जो अन्य हीन पुण्यवालो को दुर्लभ थे तथा उन तैलादि पदार्थों का उपयोग किया जो धनाढ्यो को ही सुलभ थे। केवल तुमने यह अति अनुचित कार्य किया किन्तु तुम्हारे आत्मा मे चिरकाल से एक बात अति उत्तम थी कि तुम्हे धर्म की दृढ़ श्रद्धा और हृदय मे दया थी,। उसका उपयोग तुमने सर्वदा किया। तुम निरतर दु.खी जीव देखकर उत्तम से उत्तम वस्त्र तथा भोजन उन्हे देने मे सकोच नही करते थे। यही तुम्हारे श्रेयोमार्ग के लिए एक मार्ग था। न तुमने कभी भी मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया, न स्थिरता से पुस्तको का अवलोकन ही किया, न चरित्र का पालन किया और न तुम्हारी शारीरिक सपदा चारित्र पालन की थी। तुमने केवल आवेग मे आकर व्रत ले लिया। व्रत लेना और बात है और उसका आगमानुकूल पालन करना अन्य बात है। लोग तो भोले है जो वाचाल और बाह्य से ससार असार है ऐसी काय की चेष्टा से जनाते है। उन्ही के चक्र मे आ जाते है, उन्ही को साधु पुरुष मानने लगते है, और उनके तन, मन, धन से आज्ञाकारी सेवक बन जाते हैं। वास्तव मे न तो धर्म का लाभ उन्हे होता है और न आत्मा मे ही शान्ति का लाभ होता है। केवल दम्भिगणो की सेवाकर अन्त मे दम्भ करने के ही भाव हो जाते है। इससे आत्मा अधोगति का ही पात्र होता है।

इस जीव को मैंने बहुत कुछ समझाया कि तूं पर-पदार्थों के साथ जो एकत्व बुद्धि रखता है उसे छोड दे परन्तु यह इतना मूढ है कि अपनी प्रकृति को नही छोड़ता, फलत: निरन्तर आकुलित रहता है। क्षणमात्र भी चैन नही पाता।

ईसरी
माघ शुक्ल १३ सं० १९९९

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

—(वर्णी-वाणीभाग ४ से उद्धृत)

३

रोशनी का बेटा

डॉ. नेमीचन्द जैन, (सपादक तीर्थकार), इन्दौर

आदमी जनमता है, जीता है, और कालकवलित हो जाता है। यह उसकी स्पष्ट नियति है। सामान्यत. इस प्रक्रिया मे लोग जान भी नही पाते कि कभी कोई हुआ भी था, या नही। ऐसे लोग धरा के बोझ होते है और धरती इनकी अपेक्षा वाझ होना अधिक पसन्द करती है, किन्तु गणेशप्रसाद वर्णी का जीवन आरम्भ से ही बिलकुल भिन्न था। वे जिस धातु के थे, उसके वहुत कम लोग होते है। यह नही कि उनमे दुर्बलताएँ नही थी, थी, किन्तु वे बहिरन्तर उन्हे जानते थे और उनसे अनवरत जूझते थे। उनमे अन्तर्दृष्टि का एक बारहमासी दिया सदैव जलता रहता था। वे उन आँखो से नही देखते थे जिनसे दुनिया देखती हे, वरन् वे उन आँखो का उपयोग करते थे जो व्यक्ति को योगीश्वर बना देती है।

क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी की निष्कामता, सारल्य, साफगोई और प्रतिक्षण जागरूकता की कोई मिसाल नही है। वे अपनी निष्कपटता और साहस के आगे किसी के भी बहिरन्तर को जान जाते थे। व कभी किसी से डरते न थे। नीतिकुशल और आत्माभिमानी वे थे ही, साथ ही सकल्प और धुन के भी पक्के थे। बहुधा धुन के पक्के लोग व्यसनो की ओर मुड जाते है और उनकी सकल्प-शक्ति रचना की अपेक्षा ध्वस मे उतर जाती है, किन्तु वर्णीजी एक दूरद्रष्टा पुरुष थे, और जानते थे, उन्हे क्या करना है ? उनका एक-एक पल अज्ञान से जूझने और उसे पूरी ताकत से पछाडने मे गया। उन्होने जो, जैसा और जितना काम किया है वह कई सौ आदमी एक पूरे युग मे लगे रहने पर भी नही कर सकते थे। वे ज्ञान की, विचार की, विवेक की शक्ति को भलीभाँति जानते थे, इसलिए ज्ञान की समाई उनसे जहाँ बनी वहाँ उन्होने प्रज्वलित कर दी। यथार्थ मे वे रोशनी के बेटे थे। उनकी माता का नाम उजियारीबाई था। पिता बाल्यावस्था मे ही नही रहे। वर्णीजी की दूरदर्शिता यह थी कि जैनेतर परिवार मे रहकर भी वे जैनो के सद्विचार को पकडते रहे। उनमे किसी भी धर्म के प्रति द्रोह था ही नही; वे तो आत्म-कल्याण के पथिक थे, उसमे जो उपकारक सिद्ध होता था, उसे स्वीकारते थे।

माना, उनका असली क्षेत्र कर्म का, साधना का; बुन्देलखण्ड ही रहा, किन्तु उसे भी उन्होने किसी सकीर्ण धरातल पर नही रखा। उन्होने जैनधर्म से प्रेरणा लेकर मानव-मात्र की सेवा की। उनकी सेवा-भावना ने कभी यह नही देखा कि कोई किस जाति, या सम्प्रदाय का है, उन्हे जहाँ भी, जब भी कोई सकट मे दिखलायी दिया, उसकी भरपूर मदद उन्होने की। करुणा उनके रोम-रोम मे थी। जैनधर्म का मुख्य धरातल करुणा ही है। 'मेरी जीवन-गाथा' एक ऐसा दस्तावेज है जिसमे जैन समाज के सौ वर्षों के मानसिक विकास को दर्पण की तरह देखा जा सकता है। इस 'गाथा' को पढकर ऐसा लगता है कि

जन्म हंसेरा उत्तरप्रदेश आश्विन कृष्णा ४, वि. स. १९३१ (१९-९-१८७३)
निधन : ईसरी : बिहार . भाद्रपद कृष्णा ११, वि. स. २०१८

वह विराट-भव्य-जीवन्त व्यक्तित्व आज भी हम सबके बीच है। ऐसे लोग मरा नही करते, समाज के प्राणो मे वितरित हो जाते है। सौ साल हुए एक महाशक्ति ने जन्म लिया था, यह अध्यात्म की ताकत थी; कर्मठता, निश्छलता, और निश्चलता की ताकत थी। यही कारण है कि क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी ने जिन कामो का श्रीगणेश किया वे आज भी उनकी कीर्ति-कथा कह रहे है। आज स्थिति बदल गयी है, नये काम हो नही पाते है, पुराने कामो को चलाने की जोखिम उठाने को कोई तैयार नही है, इसीलिए आज नये काम शुरू करना उतना जरूरी नही है जितना यह जरूरी है कि हम देखे कि जो काम इस आदमी के द्वारा स्थापित किये गये है आज किस स्थिति मे है। इन्हे देखे, निभाये और इनकी अगली सास की व्यवस्था करे।

गणेशप्रसाद वर्णी स्वभाव के क्रोधी थे, सस्कार के सुकुमार थे। स्वभाव मे खालिस चाणक्य थे किन्तु सस्कार मे धरती-जैसी क्षमा के स्वामी थे। वे खुर्दबीन की भाँति सूक्ष्मद्रष्टा थे और दूरबीन की तरह दूरद्रष्टा। वे गुलाब से खिले हुए; और आषाढ के पहले दिन की धरती की तरह सुवासित थे। उनकी सबसे बडी विशेषता, जो आज के नेतृत्व मे नही है, यह थी कि वे प्रशसा जमकर करते थे। निन्दा तो वे जानते ही नही थे। उनकी 'मेरी जीवन-गाथा' का काफी बडा भाग प्रशसाओ से भरा पडा है। यही कारण है कि उनके अनुयायियो के ऐसे दल आज उपस्थित है जो कुछ कर गुजरने की अभिलाषा रखते है। वे असीम उदारता के धनी थे, उपेक्षा, अवहेलना, या तिरस्कार की बात उनके दिमाग मे कभी आती ही नही थी। किसी को आत्मीय बना लेना और मगल कार्य की ओर उसके चित्त को मोड देना वर्णीजी के लिए बच्चो-जैसा खेल था, इसीलिए उनकी वाणी टकसाल थी, जिससे वे जब चाहते, जितना चाहते अपने वर्ण-वर्ण का स्वर्ण बना लेते थे। उनकी जीवन-गाथा मे ऐसे अनगिन प्रसग हैं जो इस कथन की साक्ष्य भर सकते है। असल मे वे मानवीयता की कला के धनी थे और ऐसे किसी अवसर को हाथ से नही जाने देते थे जिसके द्वारा रूढियो के कीचड मे गहरे धसे समाज को ऊपर खीचा जा सके। गणेशप्रसाद वर्णी ही पहले व्यक्ति थे जिन्होने जैनसमाज को अन्धी परम्पराओ के अन्धे कुए से बाहर खीचा और अनेकान्त की शुभ नसैनी से सज्जित किया ताकि वे ऊपर ही बने रह सके। धन-दौलत का मोह तो उन्हे था नही, साधना और समर्पण उनके दाये-बाये हाथ थे। वे समर्पित होना जानते थे, काम करना जानते थे। वे इस बात का प्रतिपग ध्यान रखते थे कि जहाँ तक सम्भव हो आदमी की आँख को ज्ञानार्जन की शलाका से आँजा जाए। मूलत. उनका ध्यान समाज के स्थूल, या बाह्य व्यक्तित्व की ओर नही था, वे चाहते थे वर्तमान तो बने ही भावी पीढियो को भी रोशनी मिलती रहे।

वर्णीजी वैसे बहुत सुन्दर नही थे, किन्तु हम उन्हे कुरूप भी नही कह सकते, उनकी आत्मा का अनुशासन अपूर्व था और वे अन्तरग मे अत्यन्त व्यवस्थित थे। उनका चित्त सुन्दरता की खान था, विशुद्धत्व का कोष था। उन्हे अनुशासन खूब रास आता था और इसीलिए वे व्यर्थ की पोगापथी मे नही पडते थे। वे कभी किसी पोथी से बधे नही और न ही कभी किसी पोथीधारी की खुशामद उन्होने की। वे ज्ञान की पूजा करते थे, और वह उन्हे जहाँ भी मिला, उसे पाने के लिए वे लम्बी से लम्बी और कष्टसाध्य यात्राएँ करते रहे।

चिरौजाबाई का व्यक्तित्व उनकी सासो मे ढल गया था। बाईजी ने गणेशजी को खूब सहा है। गणेशजी का गुस्सा, उनके करुणा से ओतप्रोत खब्त, उनकी मनमानी; सब कुछ बाईजी ने सहे, किन्तु बाई बहुत गहरी थी। वे धर्म का मर्म जानती थी, वे यह भी जानती थी कि गणेशप्रसाद मामूली व्यक्ति नही है। उसमे समाज की नयी 'इमेज' बैठी है; इसीलिए उन्होने 'वर्णीजी इन द मेकिंग' को अभग सहन किया। बाईजी की अपार सहिष्णुता और सयम ही आगे चलकर वर्णीजी के व्यक्तित्व का अभिन्न अग बने।

वर्णीजी की 'मेरी जीवन गाथा' मानव-समाज का एक बहुमूल्य आलेख है। वह इतिहास की भाँति महत्त्व-पूर्ण तो है ही, प्रकाशस्तम्भ की भाँति व्यक्ति की और समाज की रक्षा करने मे भी समर्थ है। जितना महत्त्व अशोक के शिलालेख का या 'पावा नयी, पावा पुरानी'

की बहस का है, उससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण है यह किताब जिसके लाखोलाख सक्षिप्त सस्करण निकलने चाहिये। इसकी सबसे बडी खूबी यह है कि जीवन-गाथा-कार ने कही भी स्वय को क्षमा नही किया है। इसमे कोई ऐसा प्रसग नही है जो जैन समाज के हृदय को प्रकट नही करता हो। दोनो खण्ड पढकर जहाँ एक ओर वर्णीजी महाराज का व्यक्तित्व अपनी सपूर्णता मे हमारे सामने आ जाता है, वही दूसरी ओर समाज के उपयोगी अवयवो का भी अन्दाज लग जाता है और हम यह भी जानने लगते है कि हम कहाँ कमजोर है और हमे कहाँ-कहाँ मरम्मत की जरूरत है।

वर्णीजी मे नेतृत्व की, निष्काम और सकल्पवान नेतृत्व की बहुत बडी प्रतिभा थी। वे जो भी धार लेते थे, उसे बडी नीतिमत्ता से पूरा करते थे। समाज को सच्चरित्रता और सम्यग्ज्ञान की ओर मोडने का काम जिस कुशलता से उन्होने किया वह हर आदमी के हाथ की बात नही थी। वस्तुत उनकी जीवन-गाथा धूप-सी सुखद और चाँदनी-सी शीतल है। वह सकट मे मुस्कराहट भरती है और परिग्रह मे निष्काम अपरिग्रह का उपदेश देती है। वह जैनधर्म का एक आचरणगत भाष्य है, जो मानवता की डगर पर कदम डाले किसी भी आदमी के लिए पाथेय का काम दे सकती है। उनकी यह जीवन-गाथा बडे-से-बड़े अधेरे से जूझने का पुरुषार्थ उत्पन्न करने मे समर्थ है।

वर्णीजी का व्यक्तित्व पुण्यशाली था। धन-दौलत पर वे न्यौछावर नही थे, धन-दौलत उन पर न्यौछावर थी। वे समाज के अनुगामी नही थे, समाज उनका अनुगामी था। वे स्वभाव के स्वच्छन्दतावादी थे, रूढियो का व्यर्थ बोझ उनको पसन्द न था। इसीलिए वे कभी वधी-बधायी स्थितियो मे नही चले। उन्हे जडता अप्रिय थी, जीवन्तता मे जीने मे उन्हे आनन्द मिलता था। चुप बैठना उनकी प्रकृति नही थी, वे कुछ-न-कुछ स्व-पर कल्याण मे करते ही थे। उनकी जैनधर्म पर अटल आस्था थी, किन्तु वे रेशे भर भी अन्धविश्वासी नही थे। उनमे किसी प्रकार का पूर्वाग्रह भी नही था; जहाँ जो भी अच्छा दिखलायी देता था, उसे वे स्वीकार कर लेते थे। वे गुणग्राही थे; सारग्राही थे; आत्मानन्दी थे। उन्हे जहाँ भी, जो भी अच्छा दिखायी देता था, उसकी मुक्त सराहना से वे कभी उदासीन नही होते थे। 'मेरी जीवन-गाथा' ऐसे प्रसगो का विश्वकोश ही है।

वर्णीजी की सबसे बडी विशेषता यह थी कि वे आदमी का मूल्य करते थे, आदमियत की परख रखते थे। नफरत का उनके व्यक्तित्व मे कोई स्थान ही नही था। वे करुणावान थे, और उनके हृदय मे अकारण बन्धुत्व और अहेतुक स्नेह सदैव हिलोरें लेता था। उनकी करुणा जिसे छू लेती थी, वह सुवर्णी वर्णी से बडा, बन जाता था। उनमे व्यक्ति की गहरी परख थी, इसीलिये वे सही वक्त पर, सही आदमी को, सही सदर्भ के लिए चुन लिया करते थे। उनकी मेधा का यह करिश्मा भी 'मेरी जीवन-गाथा' मे कई जगह देखा जा सकता है।

गुणो की परख, या सूझ उनमे गजब की थी। एक अच्छे शातिर जासूस की भाँति उन्हे यह भाँपते देर नही लगती थी कि कौन व्यक्ति कैसा है, और उसका किस सदर्भ मे उपयोग किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि वे परम आत्मा के गुप्तचर थे, और सारे जीवन-भर यही पता लगाते घूमते रहे कि जैन समाज मे कौन कितना भव्य है और कितना काम कर सकता है। कहाँ कौन से अचल मे जैन सस्थाओ की आवश्यकता है, कहाँ की जैन समाज बिना देव-दर्शन के अन्न-ग्रहण कर रही है, कहाँ कौन जैन मन्दिर सास तोड रहा है, कहाँ जैनत्व खण्डित, या दूषित हुआ है। ऐसी सारी नाजुक स्थितियो की परख-पहिचान उनमे थी, और उस ओर निधडक दौड पडने का अपार साहस-पुरुषार्थ भी उनमे था। यही कारण है कि बीमारी के दिनो मे भी वे आत्मकल्याण के साथ-साथ समाज के कल्याण मे भी बराबर घूमते रहे।

ऐसे सकट के समय जबकि जैनधर्म का अध्ययन-अध्यापन-अनुसधान एक बहुत ही नाजुक दौर से गुजर रहा था, इस महापुरुष ने वाराणसी मे एक नही दो-दो सस्थाओ को जन्म दिया। ८७ वर्ष की जीवनावधि मे इस व्यक्ति ने अतिस्वन विमान की गति-सा काम किया और जैन समाज के रथ को प्रगति, कुण्ठाहीनता, और वैज्ञानिक चिन्तन के राजमार्ग पर डाल दिया। मजा यह था

कि वर्णी महाराज तो बिलकुल पैदल चलते थे; किन्तु उनकी सेवा-भावना उनसे कई कदम आगे चलती थी। उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड अचल मे जन्म लेकर इस महान् व्यक्तित्व ने मानवता की इतनी सेवा की कि सारा भारत निरुत्तर रह गया। पता नही आज का नेतृत्व वर्णी महाराज की अपरिग्रही निष्काम चेतना से कोई सीख-सबक क्यो नही लेना चाहता है, वस्तुत दोष व्यक्ति का नही है, युग का है। आदमी आज जितना स्टेशनरी पर खर्च करना चाहता है, प्रचार-प्रसार पर खर्च करना चाहता है, उतना वास्तविक काम पर खर्च करने की उसकी नीयत नही है। वर्णीजी के पोस्टकार्ड एक संस्था को जन्म दे सकते थे किन्तु आज का आदमी अच्छा सुटकित पत्र लिखकर भी एक मामूली-सी सस्था खड़ी नही कर सकता। भावना चाहिये, भावना मे पावनता का बल चाहिये और भीतर से फुसकार भरती उमग चाहिये। यह सब था वर्णी महाराज मे।

इसीलिए आज जबकि उनकी जीवन-गाथा की लाखो जेबी प्रतियाँ घर-घर मे पहुँच जानी चाहिये तब हम पाषाणपट्ट, या छायावान, या अभिनन्दन-ग्रन्थ की ओर ध्यान दे रहे है। ऐसा क्यो नही किया जाता कि वर्णीजी को सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए हम एक 'जैन शिक्षा-महाविद्यालय' की स्थापना करे जो सम्पूर्ण भारत के लिए अधुनातन जानकारियो से लैस जैन पडित, अध्यापक और प्रसारक तैयार करे, जहाँ उनका विधिवत् प्रशिक्षण हो और जब भी जरूरत हो उनके ज्ञान को नयी महक और ताजगी देने को वहाँ उन्हे बुलाया जाए। वर्णीजी की जन्मभूमि हसेरा हो, कर्मभूमि सागर हो और निधन भूमि ईसरी हो, किन्तु इन पक्तियो के लेखक का विश्वास है कि उनका व्यक्तित्व क्षेत्रकालातीत था और इसलिए उनका स्मारक भी क्षेत्रकालातीत होना चाहिए।

205, उषानगर, सुखनिवास मार्ग,
इन्दौर-2 (म. प्र.)

—वीर-निर्वाण विचार-सेवा, इन्दौर, के सौजन्य से

न भविष्यति

"वर्णी जी जैसा विद्वान, वर्णी जी जैसा सुवक्ता, वर्णी जी जैसा सरल, वर्णी जी जैसा दयालु, वर्णी जी जैसा समभावी, वर्णी जी जैसा उदार, वर्णी जी जैसा महामना होना दुर्लभ है। एक ही व्यक्ति मे इतने सद्‌गुणो का आवास विरल ही देखा जाता है। जो एक बार उनके दर्शन कर लेता था वह सदा के लिए उनका भक्त बन जाता था। जो एक बार उनका प्रवचन सुन लेता था उसे फिर अन्य किसी का प्रवचन अच्छा नही लगता था। कहावत है कि हितकर और मनोहर वचन दुर्लभ है। किन्तु वर्णी जी के मुख से सदा ही हितकारी और मनोहारी वचन निकलते थे।"

—कैलाश चन्द्र शास्त्री

४

जैन संस्कृति के विकास में—
वर्णीजी का योगदान

लेखक : प० दयाचन्द्रजी साहित्याचार्य, सागर

जो वास्तविक श्रद्धा ज्ञान तथा आचरण के साथ विश्व के प्राणियो के प्रति मैत्री भाव रखते है वे महात्मा कहे जाते है। विश्व के विरले ही मानव इस पद से विभूषित है। उनके जीवनवृत्त का अध्ययन कर तदनुकूल सदाचरण करके साधारण मानव भी महात्मा बन सकता है। इसलिए मानवता के विकास हेतु एव जगत मे शान्ति स्थापित करने के लिए सर्वदा महात्माओ की सगति करना आवश्यक है। गुणी पुरुषो की सगति के बिना मानव गुणवान नही बन सकता।

स्वर्गीय महात्मा गाधी की सगति और उपदेश से उनके साधारण सेवक तथा अनुयायी भी महान् सुधारक और विचारक देखे गये है।

भारतवर्ष के सन्त महात्माओ की परम्परा मे श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज भी एक महान् सन्त आधुनिक युग मे हो गये है, जो सस्कृत भाषा-विज्ञ महान् आध्यात्मिक सन्त थे। उनके जीवन चरित्र की विशेषताए और घटनाए मानव समाज के लिए अति शिक्षाप्रद है।

यहाँ हम जैन सस्कृति के उन मौलिक सिद्धान्तो पर विचार करेगे जिन पर आकृष्ट होकर तदनुकूल आत्म पुरुषार्थ करते हुए वर्णीजीने अपने जीवन को उन्नतिशील और जैन सस्कृति के विकास मे सहयोग देने के लिए सुयोग्य बनाया।

(१) **अध्यात्मवाद**—विश्व के सब द्रव्यो से पृथक् आत्मद्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता है जोकि निश्चय दृष्टि से विशुद्ध ज्ञानदर्शन सुखशक्ति स्वरूपसपन्न तथा सूक्ष्म अरूपी है। व्यवहार दृष्टि से वर्तमान मे पुद्गल कर्म परमाणुओ का सयोग होने के कारण रागद्वेष आदि विकारो से सहित, जन्म मरण रूप अशुद्ध पर्याय वाला तथा अज्ञानी हो रहा है। वह अपने पुरुषार्थ से विशुद्ध चैतन्य स्वभावी परमात्मा हो सकता है।

(२) **अहिंसा**—क्रोध, मान, कपट, लालच, राग, द्वेष, मोह रूप विकार भावो के द्वारा अपने तथा अन्य प्राणी के इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणो का एव ज्ञान दर्शन आदि भावप्राणो का नाश होना हिंसा है। विकारो के अभाव मे द्रव्य तथा भाव प्राणो का नाश नही होना तथा आत्मा मे शुद्ध परिणाम का होना अहिंसा है। अहिसा परम धर्म है तथा विश्व शान्ति का सफल साधन है। "अहिंसा परमो धर्म यतो धर्मस्ततो जय."।

(३) **अनेकान्तवाद-स्याद्वाद**—जगत् का प्रत्येक पदार्थ अनत धर्म वाला है। प्रत्येक धर्म अपने परस्पर विरोधी धर्म के साथ सत्ता रखता है। उन धर्मों की सिद्धि या कथन स्याद्वाद (अपेक्षा) शैली से होता है। जैसे एक ही पुरुष अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। इस प्रकार पिता पुत्र रूप दो धर्म एक ही पुरुष मे सिद्ध होते है। उसी प्रकार

एक वस्तु मे ही नित्य अनित्य रूप दो धर्म पाये जाते है। द्रव्य दृष्टि से जो वस्तु नित्य है, पर्याय दृष्टि से वही वस्तु अनित्य भी है।

(४) **अपरिग्रहवाद** - आत्मा पुद्गल धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाश और काल इन ६ द्रव्यो के समुदाय रूप इस लोक मे आत्मा का स्वकीय द्रव्य एक परमाणु मात्र भी नही है। आत्मा इन द्रव्यो का स्वामी नही है और न ये द्रव्य आत्मा के है। आत्मा इन छह द्रव्यो का न कर्ता है, न नाशक है और न रक्षक है। द्रव्यो का परिणमन स्वयमेव होता है। इन द्रव्यो का सयोग और वियोग परस्पर अवश्य होता रहता है। यह लोक किसी व्यक्ति या ईश्वर की रचना नही है। इस सिद्धात का जीवन मे प्रयोग करने के लिए आचरण की दो धाराये होती है। प्रथम परिग्रहत्याग महाव्रत–जिसमे अन्य द्रव्यो का तथा राग द्वेष आदि विकारो का मोह त्याग कर आत्मा मे ही रमण किया जाता है। इस महाव्रत के धारी मुनिराज प्रयोजनवश यद्यपि पीछी कमंडलु पुस्तक अपने पास रखते है तथापि उन वस्तुओ मे भी उनका ममत्वभाव नही होता। जन्म से मरण तक के साथी शरीर मे भी उनका मोह नही होता है। द्वितीय धारा; परिग्रह परिमाण अणुव्रत है, जिसमे एकदेश पर—वस्तुओ का त्याग किया जाता है। इस अणुव्रत का धारी गृहस्थ नागरिक प्रतिज्ञा करता है कि मै जीवन मे यथा योग्य निश्चित सीमा के भीतर सम्पत्ति रखूँगा, अन्य द्रव्य का मुझे त्याग है। इस प्रकार सतोष से जीवन व्यतीत करता है।

(५) **मुक्तिवाद**—जैन दर्शन मे इस विश्व के अतर्गत कार्माण जाति के परमाणुओ की सत्ता मानी गई है। राग, द्वेष, मोह आदि विकार भावो के कारण वे परमाणु आत्मा से सबधित होते है। अर्थात् वे परमाणु दुग्ध और जल की तरह आत्मा के प्रदेशो मे मिल जाते है। उनके प्रभाव से आत्मा को जन्म मरण आदि के दुख भोगने पडते है। आत्मा मे क्रोध आदि कषाय तथा मिथ्यात्व आदि विभाव उत्पन्न होते है। उन कर्म-परमाणुओ के सुयोग से यह आत्मा पराधीन ससारी जीव के रूप मे रहता है। जब यह आत्मा समीचीन श्रद्धा, वास्तविक ज्ञान और यथार्थ चारित्र के माध्यम से आत्मशुद्धि या पूर्ण स्वतत्रा का पुरुषार्थ करता है तब यह पराधीन ससारी आत्मा ही एक समय परमात्मा और सर्वज्ञ हो जाता है। ज्ञाता दृष्टा और आनन्द स्वरूप अक्षय बल सपन्न होता है। यही जैन दर्शन का मुक्तिवाद है। यहाँ आत्मा से परमात्मा बन जाने का मार्ग प्रत्येक जीव के लिये खुला है।

जैन संस्कृति में स्वयं-बुद्ध दीक्षित वर्णीजी

जैन सस्कृति का विकास या उत्थान वही व्यक्ति कर सकता है कि जिसने मनसा, वाचा, कर्मणा जैन सस्कृति मे अपने जीवन को ढाल दिया हो। इष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए जो व्यक्ति स्वय मार्ग पर नही चल सकता है वह दूसरे को कदापि नही चला सकता। श्री वर्णी जी ने विचार किया कि यदि हम जैन सस्कृति के तत्वो को नही अपनाते है तो आत्म कल्याण नही कर सकते, और न जैन सस्कृति का विकास ही कर सकते है। जैन संस्कृति पर स्वयं चलकर ही अन्य व्यक्तियो को भी उस पर चलाना उपयुक्त हो सकता है।

इस प्रकार विचारधारा मे बहते हुए वे पूर्वजन्म के सस्कार से एव स्वय बुद्धिबल से जैनत्व मे दीक्षित होने का मौन पुरुषार्थ करने लगे। सर्वप्रथम वे जैन धर्मानुयायी विशेष व्यक्तियो की सगति प्राप्त कर उत्साह सम्पन्न हुए। जैन सस्कृति के प्रति दृढ श्रद्धा ग्रहण की, जैन शास्त्रो का प्रवचन श्रवण करना प्रारभ किया। मासाहार, मधु तथा नशीली वस्तुओ का सेवन न करने पर भी नियमानुकूल उनके आजीवन त्याग करने की प्रतिज्ञा की। रात्रि भोजन का त्याग किया। पच परमेष्ठी देवो का दर्शन स्तुति करना प्रारभ किया। जीव हिसा का त्यागकर दयाभाव को जागृत किया। शुद्ध छने जल का दैनिक उपयोग करने लगे। इस प्रकार आठ मूलगुणो को धारण कर तथा द्यूतक्रीडा (जुआ) आदि सप्तव्यसनो का त्यागकर दस वर्ष की अवस्था मे जैन सस्कृति के मार्ग पर वर्णी जी ने प्रथम कदम बढाया। आपके जीवन की यह महती विशेषता ज्ञात होती है कि आपने पूर्व सस्कार, स्वयबुद्धि तथा स्वाभाविक श्रद्धा के आधार पर ही जैन धर्म मे दीक्षा ग्रहण की। किसी

लौकिक आशा, लोभ और आदर सम्मान के कारण उन्होने दीक्षा ग्रहण नही की। यद्यपि आपकी माता और कुटुम्बी इस नव-दीक्षा का विरोध करते थे, तथापि आपने अपने विचार एव श्रद्धा मे कोई परिवर्तन नही किया। अपने सिद्धात पर ही सुदृढ बने रहे।

पहिले वर्णी जी श्रद्धा तथा ज्ञान का विकास जैन संस्कृति के अनुरूप आत्म हित के लिए सतत करते रहे। इसके पश्चात् सयम एवं चरित्र की ओर अपना विशेष आचरण करने के लिए प्रयत्नशील होने लगे। यद्यपि आप सयम की साधना अभ्यास रूप मे करते थे। तथापि आत्मा को शुद्ध पवित्र बनाने के लिए आपने प्रतिज्ञा रूप मे नैष्ठिक प्रतिमा को धारण करना आवश्यक समझा और वि. स १९९९ एव वीर नि. स. २४३९ मे कुन्डलपुर क्षेत्र (दमोह) मे श्री बाबा गोकुलचद्र जी ब्रह्मचारी के निकट श्री महावीर पूजन के अनन्तर विधिपूर्वक सप्तम प्रतिमा मे नैष्ठिक दीक्षा को ग्रहण कर लिया। इस दीक्षा से आप ब्रह्मचारी या वर्णी पद से प्रसिद्ध हो गये।

कई वर्षो के पश्चात् वीर स २४७४ मे बरुआसागर मे नदीश्वर पर्व के शुभ अवसर पर आपने क्षुल्लक पद को ग्रहण किया। अत समय मे मुनि पद को धारण कर, श्री १०८ गणेशकीर्ति जी महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार जैन सस्कृति के अनुसार आपने जीवन मे श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का विकास किया।

धार्मिकता के विकास में योगदान—

सन्त वर्णी जी ने समाज मे मनसा, वाचा, कर्मणा धार्मिकता के विकास मे सतत प्रयास किया। विद्वत्ता प्राप्त करने के पश्चात् आपने प्रात काल एव सायकाल दैनिक प्रवचन किए। धार्मिक पर्व तथा उत्सवो मे अनेक व्याख्यान सभाओ मे भाषण दिए। इन सभाओ मे आपने निश्चय धर्म तथा व्यवहार धर्म के एकीकरण रूप उपदेश दिए। प्रथम निश्चय धर्म की व्याख्या करते हुए आपने दर्शाया कि आत्मा के अस्तित्व पर सत्यश्रद्धा, यथार्थ तत्त्वज्ञान और वास्तविक आचरण करना जरूरी है। उसकी सिद्धी या साधना के लिए व्यवहार धर्म का पालन करना दर्शाया कि प्रत्येक मानव को हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पच पाप कार्यो का त्याग करना आवश्यक है। मद्य त्याग आदि अष्ट मूलगुणो का धारण करना भी अत्यावश्यक है। इन निश्चय तथा व्यवहार धर्मो का अविरोध रूप पालन करने से ही मानव जीवन पवित्र होता है। आत्मा का यथार्थ कल्याण होता है। इनके अतिरिक्त आपने दर्शाया कि गृहस्थो को निश्चय तथा व्यवहारपूर्वक छह दैनिक कर्त्तव्यो का पालन करना नितात आवश्यक है। वे कर्त्तव्य इस प्रकार हैं १ श्री पंच परमेष्ठी परम देवो का विधिपूर्वक दर्शन पूजन करना। २ सविनय गुरुभक्ति एव सत् सगति प्राप्त करना। ३ धार्मिक तथा नीतिपूर्ण उपयोगी ग्रथो का अध्ययन करना। ४ इन्द्रिय सयम तथा प्राणि संयम का पालन करना। ५ इच्छाओ को रोकना, व्रत तथा आवश्यक नियमो का विधिपूर्वक पालन करना। ६ स्वपर हित की कामना से आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान तथा अभयदान इन चार प्रकार के त्याग भावो का आचरण। इन छह दैनिक कर्त्तव्यो का पालन करने से मानव का जीवन महान् तथा आत्मा पवित्र हो जाती है।

चातुर्मास के अवसरो पर आपने समयसार, प्रवचनसार आदि आध्यात्मिक शास्त्रो पर सरल भाषा मे प्रवचन देकर जैन तथा जैनेतर जनता को आत्म कल्याण का सदेश दिया है। इसी प्रकार श्री दशलक्षण पर्व, अष्टान्हिका पर्व आदि पर्वो के अवसरो पर भी दशलक्षण धर्म, षोड-शकारण धर्म और रत्नत्रय धर्म का निश्चय व्यवहारमयी मिश्रित शैली से व्याख्यान कर समाज मे धार्मिकता का प्रसार किया है।

आपके इन प्रवचनो का जैन तथा जैनेतर समाज पर अच्छा प्रभाव होता था। वि स १९८२ मे एक दिन बरुआसागर मे वर्णी जी का शास्त्र प्रवचन हो रहा था। पडोसी धीवर की एक दश वर्षीय कन्या भी शास्त्र सुनने आई। प्रकरण चल रहा था कि "किसी जीव को मारना हिंसा है। हिंसा से जगत् मे निंदा ही नही, प्रबल पापबध भी होता है जिससे हिसक व्यक्ति को भव-भव मे अनेक कष्ट उठाने पडते है।" इत्यादि। लडकी बहुत प्रभावित होकर घर गई। तडातड ओले उस समय बरस रहे थे। घरो के खपरे पडापड चकनाचूर हो रहे थे, तूफानी आँधी से अनेको मकान और बडे-बडे वृक्ष धराशयी हो

रहे थे। विचारा मल्लाह परेशान था। कुटिया का छप्पर उड चुका था, कपड़े लथपथ पानी मे भीग चुके थे। इस दशा मे लडकी ने धैर्य बधाया—पिताजी! संसार मे सुख दुख के कर्त्ता न राम है न रहीम है। सुख दुख हमारे पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। पूर्वभव मे जो पाप किए थे, उनका फल है कि हम दीन दरिद्री और नीच हुए। मजदूरी करने पर भी दाने दाने और कपडे लत्ते को तरसते है, इत्यादि। छोटी सी अनपढ लडकी की ऐसी बातें सुनकर पिता गद्‌गद् हो गया, आखो मे आँसू आ गए। प्रेम के साथ उसने लडकी से पूछा—बेटी! तुम्हे यह ज्ञान कहाँ से मिला ? किसने पढा दिया? लडकी ने उत्तर दिया—पिताजी, सराफ जी के यहाँ काशी के जो पडित जी आये है उन्ही के शास्त्र प्रवचन मे सुना था। माँ बाप दूसरे ही दिन लडकी के साथ वर्णीजी के पास पहुँचे और आजीवन मद्य, मास, मधु खाने का एव मछली मारने का त्याग कर दिया। वर्णीजी ने उसे कुछ देना चाहा परन्तु उसने कहा कि जो आपसे लेने की इच्छा थी, मै स्वय ले चुका। केवल आशीर्वाद मुझे चाहिये जिससे मै अपनी प्रतिज्ञा पूर्णरूपेण पालन कर सकूँ।

श्री वर्णीजी का अंतिम उपदेश—

"कल्याण मार्ग केवल आत्मतत्व के यथार्थ भेद विज्ञान मे है। भेद विज्ञान के वल से ही आत्मा स्वतत्र होती है, पूर्ण स्वतत्रता ही मोक्ष है।"

"श्री वर्णीजी एक महान् प्रवचनकार थे। 'समय-सार' उनके प्रिय ग्रन्थो मे से एक था जिसको उन्होने अन्त तक नही छोडा। जब कभी वह प्रवचन करने बैठते, तब इसी ग्रथ को सामने रखकर अपनी सरल एव मधुर भाषा मे इस प्रकार समझाते थे कि श्रोताओ को उसमे अपूर्व आनद आता था। छोटे-छोटे चुटकुले, मनोहर दृष्टान्त एव अपने जीवन की बीती हुई घटनाए सुना करके तो वे प्रवचनो मे चार चाँद लगा देते थे। जिससे श्रोता का आलस्य दूर हो जाता था और वह अपने मे एक ताजगी एव उत्कठा का अनुभव करता था। यही वजह थी कि समयसार जैसे गभीर तत्व विषयक ग्रंथ को भी लोग बड़े मनोयोग पूर्वक सुनते थे और उनकी आगे आगे सुनने की जिज्ञासा बनी ही रहती थी।"

जैन दार्शनिक साहित्य के विकास मे योगदान—

दर्शनशास्त्र तत्त्व और सिद्धात को कसने की एक कसौटी है। जब किसी सिद्धान्त का परीक्षण या निर्णय करना होता है तो तर्क शास्त्र का आश्रय लिया जाता है। वर्णी जी ने भी भारतीय षट्‌दर्शनो का इसी लक्ष्य से अध्ययन किया कि जैन सिद्धातो को तर्कशास्त्र की कसौटी पर परीक्षण कर उनका दृढ श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त किया जाय।

आपने जैनेतर विद्वानो के पास रहकर भारतीय दर्शनो का गहन अध्ययन किया और उसके आधार से जैन सिद्धान्त अहिंसा अनेकातवाद आदि का परीक्षण कर दृढ श्रद्धापूर्वक उनका ज्ञान प्राप्त किया।

आपने जैन दर्शन साहित्य के प्रचार तथा प्रसार के लिए बहुत प्रयास किए। जैन दार्शनिक ग्रथो का पठन पाठन जैन सस्कृत विद्यालयो मे चालू कराया। जैन परीक्षालयो मे उनका पाठ्य-क्रम नियत कराया।

वंगीय सस्कृत शिक्षा परिषद् कलकत्ता की जैन न्यायतीर्थ परीक्षा देने के लिए छात्रो तथा अध्यापको को प्रेरित किया। जैन न्याय ग्रन्थो की टीका के लिए विद्वानो को उत्साहित किया। जैन दर्शनपाठी छात्रो को छात्रवृत्ति की व्यवस्था कराई। हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी मे जैन दर्शन का पाठ्य-क्रम निश्चित कराया और उसके अध्ययन का श्रीगणेश कराया। भारत के प्रमुख नगरो देहली, मथुरा, आगरा, प्रयाग, जवलपुर, सागर, वाराणसी आदि नगरो मे विशाल आम सभाओ मे आपके दार्शनिक भाषण हुए।

जब मुरार (ग्वालियर म. प्र.) स्थान मे आपका चातुर्मास योग हुआ उस समय आपकी अध्यक्षता मे वहाँ एक सर्वधर्म सम्मेलन हुआ। अनेक धर्मवादियो के भाषणो के पश्चात् अध्यक्ष पद से आपका मार्मिक [illegible] हुआ। आपने दर्शाया कि—"**भैया ! संसार मे** [illegible] धर्म मानव धर्म है। जब [illegible]

एक दूसरे के सुख दुख मे हाथ बटायेगा तभी ससार मे सुख शान्ति आयेगी। धर्म लडने के लिए नही, एक दूसरे की मदद करने तथा आत्म कल्याण के लिए है। इत्यादि ।" आपने अनेक सस्कृत के श्लोक सुनाये तथा मानवता व मानव धर्म की अनेक उदाहरणो द्वारा प्रशसा की। इस भाषण से सर्वसभा प्रभावित हुई।

जैन साहित्य के विकास मे योगदान—

वर्तमान युग मे जैन साहित्य का प्रकाशन भी जैन सस्कृति के प्रचार एव प्रसार का महत्त्वपूर्ण साधन है। वर्णीजी ने शिक्षाप्रद आत्मकथा, समयसार की हिन्दी टीका और सैकडो आध्यात्मिक तथा नैतिक पत्र लिखकर जैनतत्त्वो का प्रचार किया है। आपके महत्त्वपूर्ण भाषण लिपिबद्ध होकर तथा प्रवचन एव भाषण "टेपरिकार्ड" के रूप मे बनकर समाज मे जैन साहित्य का प्रचार करते हैं। यद्यपि आपने जीवन मे शब्द लेखात्मक निर्जीव साहित्य की रचना विशेष रूप से नही की, तथापि जैन सस्कृति के सैकडो विद्वानो को तैयार करके सजीव साहित्य की रचना विशेष रूप से की है। ये विद्वान मौखिक तथा लिखित रूप से जैन साहित्य का प्रचार कर रहे है। इन जैन विद्वानो को तैयार करने के लिए आपने देश मे जैन शिक्षा सस्थाओ की भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्थापना की है। वे सस्थाएँ जैन विद्यालय, जैन पाठशाला, छात्रावास, कन्याशाला, महिलाश्रम, वर्णी इन्टर कॉलेज, जैन हाईस्कूल और उदासीन आश्रम के नाम से आज भी विद्यमान है जो जैन सस्कृति के विद्वानो का निर्माण करती है।

श्री वर्णी जी के इस प्रयत्न के पूर्व जैन साहित्य का प्रसार इस भारत मे प्राय न्यूनरूप मे था। आपके सतत प्रयत्न द्वारा जैन सस्थाओ के माध्यम से जैन साहित्य का प्रसार देश मे अधिक रूप मे हुआ। जैन समाज मे विद्वानो का अधिक सद्भाव हुआ और जैन साहित्य के पठन पाठन के साथ जैन साहित्य का महत्वपूर्ण निर्माण भी होने लगा।

समाज संरक्षण मे योगदान—

सम्कृति और समाज का परस्पर घनिष्ठ सबध है। सस्कृति से समाज का सरक्षण और समाज के सरक्षण से सस्कृति का सरक्षण होता है। जैन सस्कृति के अनुरूप समाज मे सभ्यता का निर्माण करना, जैन सस्कृति का विकास करना है। वर्णी जी ने जैन सस्कृति के अनुरूप समाज का सगठन, सुधार, शिक्षण और पतितोद्धार किया है। उनके द्वारा किये गये समाज सरक्षण के कुछ उदाहरण निम्न प्रकार है—

(१) हरदी (सागर म. प्र.) मे पच कल्याणक के उत्सव पर, बड़गाव के करीव ५० वर्ष से वहिष्कृत २०० जैन भाइयो को वहा की समाज मे मिलाकर समान अधिकार दिलवा दिया।

(२) करीब २५ वर्ष से वहिष्कृत जतारा निवासी एक जैन कुटुम्व को जतारा समाज मे मिला दिया और उसे मदिर प्रवेश का अधिकार दिलवाया। मदिर मे वेदी का निर्माण कराया तथा मूर्ति विराजमान करायी। उस बहिष्कृत भाई ने बहुत द्रव्य का दान भी दिया जिससे मदिर की व्यवस्था की गई।

(३) हलावनी (झासी उ. प्र.) मे एक कुटुम्व कई वर्षों से समाज से बहिष्कृत था। दर्शन पूजन करने का भी अधिकारी नही था। वर्णीजी ने पचो को समझाया और उसे समाज मे मिलाकर दर्शन पूजन का अधिकार दिलवा दिया।

(४) नीमटोरिया के एक वहिष्कृत कुटुम्ब को पचो की सम्मति से समाज मे मिलाया गया और समानाधिकार दिलाया गया।

(५) शाहपुर (सागर) मे एक स्त्री कुएँ मे गिरकर मर गई। समाज ने उस स्त्री के कुटुम्व का बहिष्कार कर दिया। खाली किए गए कुए का पानी पीना भी बद कर दिया। वर्णीजी ने कुएँ के घाट पर बैठकर मत्र पढकर क्रमश १०८ लौंगे कुएँ मे डाल दी और पानी खिचवाया। भुजे चने बुलवाये। समाज ने चने खाकर पानी पिया और महावीर स्वामी की जय बोलकर कुएँ का उद्घाटन किया। कुटुम्ब को समाज मे मिलाकर दर्शन पूजन का अधिकार दिलाया।

(६) शाहपुर के निकट छोटे-छोटे ग्रामो के अनेक जातिभ्रष्ट वहिष्कृत पुरुषो एव महिलाओ का स्थितिकरण कर समाज का सरक्षण किया।

एक समय बुन्देलखण्ड मे विशाल सभा के मध्य वर्णी जी ने समाज के सरक्षण हेतु एक दस सूत्री प्रस्ताव पारित-कर समाज सुधार की घोषणा की थी।

श्री वर्णी जी का उद्देश्य था "अपनी सस्कृति को भूल जाने से या छोड देने से समाज भी एक दिन नष्ट हो जाता है।" इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही आपने जैन संस्कृति के विकास एव सरक्षण के लिये आजीवन पुरुषार्थ किया। आपने जैन सस्कृति के उपर्युक्त समस्त अगो तथा उपाङ्गो का विकास किया और देश के अधिकाश भाग मे उसका प्रचार एवं प्रसार किया।

सम्यक्त्व का निमित्त

श्रीयुत १०५ महाशय क्षुल्लक मनोहरलाल जी,

योग इच्छाकार।

पत्र आया, समाचार जाने। पदार्थ का निरूपण विवक्षाधीन है। नयों के विषय मे लिखा सो ठीक। मेरी समझ मे वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। जो सामान्य को कहता है वह द्रव्यार्थिक है जिसका विषय केवल द्रव्य है। दूसरा विशेष को विषय करने वाला है। उसे व्यवहारनय कहते है। इनमें अनेक विकल्प है। अस्तु, **निमित्त को न मानने वाले ही निमित्त से काम ले रहे** है। वहाँ निमित्त को न मानने वालो की प्रचुरता है फिर आपको किस अर्थ ले गये? कुछ समझ में नही आता। अस्तु, फोकट चर्चा निमित्त की है। मेरा तो यह विश्वास है जो यथार्थ निरूपण करने वाला है, वही सम्यक्त्व का निमित्त हो सकता है। सम्यक्त्व जिसके होगा उसकी श्रद्धा होगी तभी तो होगा। विशेष क्या लिखे।

कार्तिक वदी १२
स २००९

आपका शुभचितक
गणेश वर्णी

—वर्णी वाणी ४/४६

५

पूज्य गुरुदेव के सम्पर्क में

पं० शिखरचन्द्र जी, न्यायकाव्यतीर्थ, ईसरी

(१) "स्वयं" शब्द

ईसरी बाजार के उदासीनालय मे साथ रहते हुए मेरे अनेक वर्ष पूज्य वर्णी जी के सपर्क मे व्यतीत हुए है। उनके शास्त्र प्रवचन और शका समाधान के अवसर पर साथ रहने का सौभाग्य मुझे अनेको बार प्राप्त हुआ है। उनके कुछ विचार और समाधान नीचे लिखे जाते है—

स्वय परिणमन्तेऽत्र इत्यादि वाक्यो मे सूत्रो मे स्वय-शब्द को लोग क्रियावती शक्ति का परिणमन और भाववती शक्ति का भी परिणमन स्वत स्वतन्त्र स्वभाव से स्वीकार करते हैं। वे पर्यायकी उत्पत्ति मे सामग्री को स्वीकार करते ही नही है। अथवा कोई स्वीकार करते है तो भी निरर्थक मानते है। उपस्थिति मात्र मानते है। और उसकी उप-स्थिति मात्र रहने से उस सामग्री पर निमित्तपने का आरोप लगा देते है। ऐसा मतभेद बहुत दिनो से चला आ रहा है।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव या कर्तापना नही स्वीकार करते है। इसके प्रमाण मे वे स्वय सबको आगे रखते है। उसके समाधान के लिये—

२० वर्ष पहले ईसरी मे श्रीमान् पडित बाबूलालजी कलकत्ता से महाराज के पास आये थे। तब उन्होने महाराज से समाधान करने की प्रार्थना की थी। महा-राज ने भी एक प्रवचन देना स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन टेप रिकार्ड मशीन लेकर वे मध्याह्न मे निश्चित समय पर प्रवचन लेने के लिये उपस्थित हो गये। उस समय का टेप रिकार्ड उनके पास सुरक्षित है। उसकी पुस्तक भी उन्होने उस समय छपा दी थी।

उस समय महाराज ने प्रवचन मे कहा था कि स्वय शब्द का अर्थ है कि—"कारण के बिना नही"। कारण के बिना कोई कार्य नही हो सकता है।

कारण का अर्थ उपादान निमित्त दोनो है। एक उपादान स्वय नही परिणमता है। परिणमता उपादान कारण ही है। परन्तु परिणमन मे सहायक अवश्य चाहिये। व्याकरण मे लिखा है कि भिद्यतेघट दण्डेन। नहि भिद्यते घट दण्डेन। अपितु घट स्वय भिद्यते। इसका अर्थ यह है कि घट दण्ड से फूटता है। नही—दण्ड से घट नही फूटता है। अपितु स्वय फूटता है।

तो क्या स्वय शब्द से दण्ड का सर्वथा निषेध स्वय हो गया। नही—उस निमित्त की मुख्यता नही है। शिथिल अवयवो की ही मुख्यता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना। हठवाद को आश्रय न देना।

जब हम द्रव्य की उपादान शक्ति को ही देखते है तब स्वय कहा जाता है। जैसे जीव पुद्गल स्वय गमन करते है तो भी सहायक निमित्त धर्म द्रव्य भी होता है। दीपशिखा स्वय टेढी होती है। उसके टेढी होने मे निमित्त वायु है।

उरझै सुरझै आपही ध्वजा पवन के जोर।
उरझै सुरझै जीवही देत कर्म झकझोर ॥

(२) उपादान कारण, निमित्त सापेक्ष होता है—

कई बार कलकत्ता आदि से कितने ही लोग महाराज का प्रवचन सुनने आते थे। वे अपने अभिप्राय से विवाद

और बहस भी कर बैठते थे। कभी उलझ भी जाते थे, और तब महाराज युक्तियो से समझाते थे। मै भी साथ मे रहता था। अत मे आगम प्रमाण देते थे।

साराश यह है कि अकेला द्रव्य बाह्य उपकरणो की अपेक्षा रहित कार्य-रूपसे नही परिणमता है। कार्य की उत्पत्ति के लिये अनेक उपकरणो की जरूरत होती है। इत्यादि।

(३) निमित्त का प्रभाव पड़ता है—

आप यदि यह कहो कि निमित्त का प्रभाव नही पडता है तो महाराज कहते थे कि आपका प्रभाव मुझ पर नही पडेगा ? और मेरा प्रभाव आप पर नही पडेगा। तो फिर क्यो चर्चा करते हो। आप मेरे निकट क्यो आये हो। इस बात से वे चुप रह जाते थे। फिर कुछ देर मे दूसरी चर्चा छेड देते थे।

(४) उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों समान है—

जैसे एक रुपये के पचास पचास पैसे दो जगह समान होते है। इसी प्रकार पर्याय की उत्पत्ति मे दोनो समान है। दोनो का आधा आधा हिस्सा है। इस पर राजा भोज का दृष्टान्त जो महाराज कहते थे। सो इस प्रकार है—

राजा भोज के यहा कितने ही प्रकार के अनेक विद्वान् थे। उनमे दस विद्वान् प्रधान थे। उन्हे बड़ा गर्व था कि हम विद्वान् है। एक दिन मे १०० श्लोक बनाते है। वे प्रभात मे नदी पर स्नान करने जाते थे सो स्नान कर आते समय वे अपनी धोती आकाश मे फेक देते थे। वह धोती यो ही अधर आकाश मे सूखती चली आती थी। वे भी भूमि से कुछ ऊपर जल्दी-जल्दी चले जाते थे। यह उनके ब्रह्मचर्य का प्रभाव था। उन्हे इसका अत्यधिक गर्व हो गया कि हम अपने ही परिश्रम से प्राप्त अन्न खाते है। हम कोई के अधीन नही है। यह खबर चारो दिशाओ मे फैल गई। राजा भोज ने भी यह बात सुनी। तब उसे बडा खेद हुआ।

पहले राजा भोज ही उनके भोजन, दूध, ईंधन, नमक, आवास आदिका सब पूरा प्रबन्ध करता था। जब राजा भोज ने अपना तिरस्कार अपने ही सेवको से सुना तो राजा को बहुत खेद हुआ कि ये विद्वान् मुझे थोडा भी सहायक नही मानते है।

अत. एक दिन भोजनशाला मे राजा ने नमक लेजाने का सेवको को निषेध कर दिया। जब भोजन करने विद्वान् बैठे थे तो रसोइया ने प्रथम ही सूचित कर दिया कि राजा ने नमक नही भेजा है। सो नमक का प्रबन्ध कर लीजिये।

अभी तक तो वे विद्वान् निराकुल होने से १०० श्लोक प्रतिदिन बनाया करते थे। अब आकुलता होने लगी सो कम श्लोक बनने लगे।

दूसरे दिन राजा ने ईंधन नही भेजा सो रसोई ही नही बनी। तब और भी आकुलता उत्पन्न हो गई। इसमे उनका कुछ समय खर्च होने लगा। तब और भी कम श्लोक बनने लगे। जब राजा ने पूछा कि श्लोक कम बनने का क्या कारण है। तब उन विद्वानो ने आकुलता बताई और सामग्री का अभाव।

अन्त मे राजाभोज ने कहा कि आपको एक अपना ही गर्व करना अच्छा नही है। हम भी निमित्त है। हमारा भी उसमे हिस्सा है। इस प्रकार उन विद्वानो को निमित्त भी स्वीकार करना पड़ा। और उन्होने गर्व करना छोड दिया।

ऐसा उपादान निमित्त का बराबर का दर्जा जानना।

(५) एक पर्याय के अनेक कर्त्ता—

उपादान कारण का एक कर्म होता है। उसमे करण-रूप निमित्त कारण अनेक होते है। एक कर्मका उपादान-कर्त्ता एक होता है। उसके निमित्तकर्त्ता अनेक होते है। एक क्रिया एक उपादान की होती है। उसके निमित्तकर्त्ता अनेक होते है। एक उपादान की अनेक क्रिया भी होती है। जैसे अग्नि की स्वेदन, दाहन, पाचन, तैल शोषण वर्तिकादाह, अधकार नाशन, प्रकाशकारण आदि। सामग्री भेदाद्धि कार्य भेद.। यह जिनावमत नही है। प्रत्युत जिन सम्मत है। जैसे एक अधःकरण के चार आवश्यक और अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण के आठ आवश्यक होते है। और भी अनेक कार्य होते है। चावल का भात कर्म की पाक

क्रिया का उपादान एक तन्दुल ही है। परन्तु उसमे पात्र, जल, अग्नि, वायु आदि अनेक निमित्त है।

(६) पुद्गल पर निमित्त का आरोप—

जब जीव विभावरूप परिणमता है तब पुद्गल को निमित्त होने का आरोप कर दिया जाता है। जब महाराज के सामने यह चर्चा आती तो महाराज कहते थे कि जीव के ऊपर जब आरोप नही मानते तो पुद्गल पर आरोप लगाने का क्या अधिकार है। आरोप का अर्थ होता है अभियोग, अपराध, दूषण। यदि पुद्गल के ऊपर अभियोग का मुकदमा चलता तो मैं पुद्गल की तरफ से गवाही देता कि हा साहब ! पुद्गल का कोई अपराध नही है। सब जीवका ही अपराध है। जीव ही अपने परिणामो को बिगाडता है और पुद्गल को बँध जाना पडता है। जीव के किये हुये कर्म का दण्ड पुद्गल देता है तो इसमे पुद्गल को दोषी ठहराना उचित नही है। अत आरोप शब्द का भी प्रयोग ठीक नही है। दोनो का निमित्त नैमित्तिकपना मानना ठीक है।

अत निमित्त साधकतम है। जैसे काष्ठ छेदन करने वाले के लिये कुठार आदि। यदि निमित्त पर आरोप लगाकर उसे व्यर्थ ही कहा जाय तो विभाव पर्याय बनेगी ही नही। सभी एक उपादान से होने से स्वभाव पर्याय ही कही जायगी। फिर ज्ञान मे आगम का भी निमित्त व्यर्थ हो जाने से "आगमचेट्ठात दोजेट्ठा" और "आगमचक्खू साहू" यह आचार्य-श्री का वचन भी आरोपयुक्त हो जायगा।

(७) बंध की अपेक्षा जीव पुद्गल एक ही हैं—

बधपडि एयत्र सिद्धान्त के अनुसार तथा प्रवचन सार ज्ञेयाधिकार के अनुसार असमान जातीय पर्याय होती है। मैं स्वय मे कितना ही भेद विज्ञान करता हू कि शरीर भिन्न है। आत्मा भिन्न है। जब मेरे शरीर मे पीडा होती है तो मैं ही भोगता हू। कोई सहायक नही होता है।

इस बुढापे मे पता लगता है कि कैसा शरीर भिन्न है। नही तो मै क्यो दु ख सहता। शरीर ही सहता। खूब व्याख्यान देता और विदेश तक चला जाता। क्या कहे। यह शरीर कभी न अपना हुआ और न होगा। तो भी सबध तो एक क्षेत्रावगाह अपूर्व है ही।

(८) विद्वानो से सहायता—

एक बार महाराज ने चतुर्दशी का उपवास किया था। उस ही दिन एक विद्वान् प उदयचद्र जी बनारस से गुरु भक्ति से प्रेरित होकर आये थे। तब उन्होने अपना परिचय दिया था कि पडित जी ! मैं अभी यहा लङ्का से बौद्ध दर्शन का अध्ययन करके आया हू। और मुझे आपके प्रसाद से पढाने का स्थान भी मिल गया है। अब आपके आशीर्वाद की ही केवल जरूरत है। उत्तर मे महाराज ने कहा कि तुम्हारी निर्मलता ही तुम्हे पूर्ण आशीर्वाद है।

फिर बौद्ध दर्शन पर चर्चाऐं अनेक हुईं। इससे महाराज अति प्रसन्न हुये। उस दिन पूज्य श्री ने उन अभ्यागत पडित जी का भोजनादि से सत्कार किया।

इसी प्रकार ईसरी मे आने वाले अनेक विद्वानो को उपकृत किया। इस विषय मे महाराज कभी पीछे नही रहते थे। विद्वानो को हृदय का हार कहते थे और गोवत्स की तरह अन्तरङ्ग से पूर्ण प्रेम रखते थे।

(६) केवल ज्ञान की अपेक्षा क्रम-बद्ध पर्याय नही

भगवान् के ज्ञान मे मतिज्ञान से अनतगुणी सब ही पर्याये युगपत ही झलकती है। इसमे कोई विवाद नही है। यह तो प्रतिभासका विषय है। प्रतिभास मे क्रम कैसा।

उपदेश की वचन की अपेक्षा क्रम होता है। जैसा बहुविध मतिज्ञान है, सो उसके बहुत प्रकारो के जानने मे क्रम है क्या। कोई कम नही है। नही तो भगवान का प्रतिभासज्ञान भी क्रम-बद्ध हो जायगा। तो वे अनतकाल बीत जाने पर भी अनेक पदार्थों की अनेक गुण पर्यायो का पूरा ज्ञान कभी नही कर सकेगे। यह क्रम-बद्ध का सिद्धान्त आचार्यों ने स्वीकार नही किया है।

(१०) संकट में धीरता—

कोई भी व्यक्ति दु खी होकर महाराज के पास आता तो महाराज कहते थे कि मोह ही तो दुःख कराता है। सो मोह को छोडो। मोह मे दु ख होता ही है। फिर यह वचन सुनाते थे—

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरारे ।
अनहोनी नहि होसी कबहू काहे होत अधीरा रे ।

(११) अकालमृत्यु—

कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा अकाल मृत्यु है। कर्म-सिद्धान्त भी श्री वीतराग जिनेन्द्रदेव कथित है । सुख दु ख जीवन-मरण आदि व्यवहारनयके ही विषय है। सामग्री के ही अधीन है । इन बातो मे परमार्थनय लगाना उचित नही है । जहाँ जो नय लगे, वही नय वहाँ लगाना चाहिये । सबही जगह एक नयका विचार यथार्थ नही होता है ।

(१२) पूजा से केवल पुण्यबन्धही नही—

यह उपदेश श्रीकानजी स्वामी के सन्मुख मधुवनमे सर्वप्रथम दिये व्याख्यान मे दिया था। उसमे ऐसा अभि-प्राय प्रगट स्पष्ट किया था कि पूजा परपरा मोक्षका मार्ग है । केवल पुण्यबध की ही कारण नही है ।

क्योकि पूजामे कोई विषयकषाय पोषनेका अभिप्राय ही नही है। पूजामे जिनेन्द्रका ही गुणगान है। और जो कुछ कहा भी है सो भक्ति के वश ही कहा है। इससे जडकी क्रिया या पुण्यबधका ही कारण मानकर पूजा मे धर्म का निषेध करना ठीक नही है। भक्ति तो गुणानुराग रूप ही है । जो कि निवृत्ति परक है ।

पूजाको प्रभावना अग मे सम्मिलित किया है। पूजा को मुख्य श्रावक का धर्म कहा है। दानमे और वैयावृत्य मे भी कथन किया गया है तथा इसे सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे भी कारण माना गया है अत. हेय नही है ।

महावीराष्टक स्तोत्र मे कहा है—

यदर्च्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह ।
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण गणसमृद्धः सुखनिधिः ।।
लभन्ते सद्भक्ता शिवसुखसमाजं किमु तदा ।
महावीरस्वामी नयन पथगामी भवतु नः ।।

इसमे शिव, सुख, समाज (सामग्री) का लाभ पूजा से सद्भक्तो को बताया है ।

(१३) महाराज की शिक्षा—

उनकी इच्छा सबके जीवन को पवित्र बनाने की ही रहती थी । भैया काये उते सब अच्छे है। ऐसी सबकी कुशल पूँछते थे । तो देखो कि अष्टमी चतुर्दशी तीन अष्टाह्निका, तीन सोलहकारण, दशलक्षण पर्वो मे जरूर ब्रह्मचर्य रखना चाहिये । बाजार की चीजे न खाना चाहिये। जहाँ तक बने घर मे रहकर ममत्व को घटावो। जितना घर मे प्रतिदिन खर्च होता है, उस पर कम से कम एक रुपया पर एक पैसा दान के लिये जरूर निकालो । फिर कही भी दो। एक पाठ मेरी भावना का जरूर याद करो । श्री मगतराम कवि की बारह भावना का पाठ किया करो । और घर मे बच्चो को भी धर्म शिक्षा जरूर दिया करो । एक ग्राम मे एक विद्वान् स्थानीय जरूर हो जो सबको शिक्षा दिया करे । स्वाध्याय कराये । बाहर से विद्वान् बुलाने की पर्व आदि मे कभी भी जरूरत न पडे। नियत साफ रखो । व्यापार ईमानदारी से करो । इसी मे अब तुम्हारा कल्याण है । बिडी सिगरेट नशा का त्याग करो ।

(१४) राग में राग मत करो—

राग ही ससार का मूल है। राग से आत्मा अशुचि होता है । पराधीन बनता है । एक पनेमे अनेकपना आ जाता है । आत्मा अनात्माका भेद मिट जाता है। पर-वस्तुओ का अभिलाषी होता है । परिग्रहकेही सचयमे दिनरात ही श्रम किया करता है। इससे आकुलताही उत्पन्न होतीहै। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानही निरतर बने रहते है । इन्द्रिय विषयोसे कभी सतोष नहीं होता है । अतः रागमे आत्माकी श्रद्धा करना उपयुक्त नही है । इसलिये राग और आत्माके भेदविज्ञानको मत भूलो । और चाहे सबको भूल जावो ।

(१५) अंतिम शब्दलिखित रूप में—

जब साहु आलोकप्रकाशजी अतिम समयमे आये थे । श्रीमान् सेठ भागचद्रजी सोनी सपत्नीक अजमेरसे महाराजके अतिम दर्शनार्थ ईसरीमे पधारे थे। अन्यभी श्रीमान्धीमान् उपस्थित थे । तब सबही पुरुष श्रीमहाराज से दो शब्द सुनना चाहते थे। सभी भक्तिसे हाथ जोड़े बैठे थे । मानो अपनी श्रद्धाजलि ही समर्पण कर रहे हो ।

बोलने मे असमर्थता होनेसे महाराज ने सिलेटपर काँपते हुये हाथो से दो शब्द हसमुख मुद्रासे लिख दिये ।

"अपने बनो"

ये दो शब्द आजभी सबके लिये अमोध मत्र बने हुये

हैं। इसमंत्रका वडा गंभीर अर्थ है कि समयसार बनो, स्वाधीन वनो। अनादि से पर-पुद्गलके ही आधीन रहे। अब तो यह आदत छोडो। इससे वढकर अतिमशिक्षा और क्या हो सकती है। गागर मे सागर समा दिया है। यही सर्वस्वाध्यायका फल है।

(१६) महाराज का सर्वजीवन—

इस प्रकार महाराजका सर्वजीवन स्वाध्याय करते कराते सुनते सुनाते व्यतीत हुआ। समयसार तो आपके घटमे ही विराजमान था, जिसको स्वप्नमे भी उच्चारण करते थे। कभी नही भूलते थे। महाराज का स्वाध्यायका ही एक व्यसन था। जो महाराज अतिम क्षणतक मोक्ष-मार्ग प्रकाश, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्मपुराण आदि ग्रन्थो-को आद्योपान्त कई बार तक श्रवण करते रहे। उनके निमित्तसे अनेक पुरुष और महिलाऐं भी स्वाध्याय प्रेमी वन गई।

(१७) अनादर—

महाराज जिनवाणीके अनादरसे सदैव डरते थे। यो तो किसी भी तुच्छवस्तु का भी अनादर स्वप्नमेभी नही चाहते थे। यह शिक्षा माताजी श्री चिरोजावाईजी से पाई थी। अत महाराज अपने जीवनमे उनका उपकार कभी नही भूलते थे।

(१८) परहित निरतता—

महाराजकी आत्मा परके दु ख देखनेके लिये वडी कातर थी। पशुपक्षी के भी दुख निवारण करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते थे। दीन दु खियोको सदा मिष्ट भोजन कराने के लिये उद्यत बने रहते थे। महाराज कभी किसीको झूठा या सडा फल देना पसद नहीं करते थे। दीनो को वस्त्र वनयान तक बटवाते रहते थे। जिससे आजभी कितनेही दीन-हीन पुरुष आजभी ईसरीमे महाराज को स्मरण करते है। अजैन समाजभी उनके शब्दोको सुनने के लिये सदा इच्छुक रहती थी। महाराजकी प्रसन्न मुद्रासे दर्शन के लिये मार्ग मे सभी करबद्ध खडे हो जाते थे।

(१९) पुरुष परीक्षा—

महाराजको पुरुष परीक्षाभी शीघ्रही उसके आचरण को देखकर आजाती थी कि यह व्यक्ति कैसा है। जो जैसा व्यक्ति हो तो उससे वैसीही बात करते थे। अपनी उदारता से उसको सुयोग्य बना देते थे।

(२०) राष्ट्रपति से परिचय—

एक वार राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी अखिलग्राम-पचायत बिहार राज्यकी सभाके सभापति होकर ईसरी मे आये थे। उनका व्याख्यान हुआ। अनतर जब वे सैलून (स्पेशल रेल वोगी) मे चले गये, उनका महाराजसे मिलनेका भाव था। जब उन्हे स्मरण दिलाया गया तो तुरतही अपने सेक्रेटरी को महाराज के पास भेजा। महाराजभी तुरत सैलून पर चले गये। साधुजनोके ऊपर आदर दृष्टिसे भी महाराज को अधिक आदर दृष्टिसे बैठाया। वे नीचे बैठे। महाराज पाँच मिनट चटाई पर ऊँचे बैठे। कुशल वार्ताके बाद मद्यबदीके लिये प्रेरणाकी। उनने भी कहाकि मै इसको ध्यान मे रखूगा। यह वात मुझे भी प्रिय है। आदि।

(२१) बिनोवाजी गुरु रूप से मानते थे—

जब महाराज जी गया मे थे तब श्री विनोवाजी भी भ्रमण करते हुये गया मे आये। फिर प्रात महाराजके दर्शन के लिये विशेष रूपसे पधारे। तव उनकी मुद्रा कितनी विनययुक्त थी वह देखनेही योग्य थी। अद्वितीय सम्मेलन था। महाराजको देवताके रूपमे वताया।

(२२) शुभचिन्तक—

महाराज सबके ही शुभचिन्तक थे। मेरेलिये विशेष आश्रयदाता अतिम क्षण तक होने के कारण वे मेरे लिये सर्वस्व उपास्य देवता थे। प्रात. स्मरणीय आराध्य सरक्षक एक ही थे। उनका परभवकाही चला आया मेरे साथ गाढ प्रेम था। इसीलियें मै अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि उनके चरण कमलो मे समर्पित करता हू। ऐसे महान् गुरुदेव को अष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ।

वदन प्रसादसदन सदय हृदय सुधामुचो वाच।
करण परोपकरण येषा केषां न ते वद्या॥

———

६

ज्ञान रथ के प्रवर्तक

—प्रो० उदयचन्द्र जैन एम० ए०, जैन-बौद्ध-सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी भारतवर्ष की उन विभूतियो मे से थे जिन्होने अपने जन्म से इस भारत भूमि को अलकृत ही नही किया किन्तु समाज सेवा, देश सेवा, शिक्षा प्रचार आदि के पवित्र कार्यों द्वारा इस देशवासियो का अत्यन्त उपकार किया है। ससार मे जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सबने पहले स्वय अपने जीवन का निर्माण किया और इसके अनन्तर संसार के प्राणियो के कल्याण के लिए अन्तिम क्षण तक कार्य करते रहे। पूज्य वर्जी जी का जीवन भी इसी प्रकार तप पूत, लोकोद्धारक तथा सर्व हितैषी रहा है। आज वर्णी जन्म शताब्दी के शुभ अवसर पर हमे यह देखना है कि वर्णी जी ने किस प्रकार सबसे पहले अपने अन्दर ज्ञान ज्योति प्रज्वलित की और इसके पश्चात् समाज मे व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए यत्र-तत्र-सर्वत्र ज्ञान ज्योति का प्रसार कैसे किया। वे सच्चे अर्थ मे 'ज्ञानरथ' के प्रवर्तक हो गये। सच्चे गुरु का जो कार्य है उसे जीवन भर किया। ऐसे गुरुओ को सदा नमस्कार करना हमारा परम कर्तव्य है। इसीलिए कहा गया है:—

अज्ञान तिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्री गुरवे नम ।

वर्णी जी ने सात वर्ष की अवस्था मे विद्यारभ किया और चौदह वर्ष मे मिडिल पास हो गये। इससे आगे पढने के साधन न थे, अत अधिक विद्याभ्यास से उस समय वञ्चित रहना पडा। १८ वर्ष की आयु मे विवाह हुआ जिसके बाद ही पिता जी का स्वर्गवास हो गया। आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। इस कारण मदनपुर गॉव मे मास्टरी कर ली। वहाँ चार मास रहकर नार्मल स्कूल मे शिक्षा लेने के लिए आगरा चले गये। वहॉ दो मास ही रह सके। इसके बाद जयपुर की ओर गये। एक माह बाद इन्दौर पहुँचे और शिक्षा विभाग मे नौकरी कर ली। देहात मे रहने के कारण उपयोग की स्थिरता न होने से घर चले आये। दो माह बाद कारी टोरन गॉव की पाठशाला मे अध्यापकी कर ली। पुन कुछ समय के बाद जतारा के स्कूल मे अध्यापक हो गये। तत्पश्चात् पूर्वपुण्य से सिमरा गॉव मे माता चिरोजाबाई का सुयोग मिल गया। यह पूर्व पुण्य का ही प्रभाव था कि वर्णी जी को देखकर बाई जी के हृदय मे पुत्र जैसा स्नेह उत्पन्न हो गया और कहा कि मै जब तक हूँ तुम्हारी पुत्रवत् रक्षा करूँगी। और चिरोजाबाई जी ने वर्णी जी की धर्ममाता बनकर वर्णी जी के जीवन को समुन्नत बनाने के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया।

वर्णी जी को विद्या प्राप्त करने की धुन सवार तो थी ही। जब वर्णी जी ने सुना कि जयपुर मे बड़े-बड़े विद्वान् है तो बाई जी से कहा कि मुझे जयपुर भेज दो, मै जयपुर जाकर विद्याभ्यास करूँगा। तदनन्तर बाई जी की आज्ञा प्राप्त कर जयपुर की ओर प्रस्थान कर दिया। किन्तु लश्कर (ग्वालियर) की धर्मशाला मे सामान चोरी हो जाने के कारण जयपुर जाकर विद्याध्ययन करने का विचार वर्षो के लिए टल गया। किसी प्रकार लौटकर जतारा आ गये। कुछ समय बाद स्वरूपचन्द्र जी बनपुरया के साथ खुरई के लिए प्रस्थान किया। जतारा से खुरई जाते हुए टीकमगढ पहुँचे। वहॉ श्री गोटीराम जी भायजी सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनके प्रवचन को सुनकर वर्णी जी के मन मे यह भाव हुआ कि क्या मैं भी

किसी दिन इसी प्रकार जैनधर्म का ज्ञाता हो जाऊँगा। खुरई पहुँचने पर प० पन्नालाल जी न्यायदिवाकर का सारगर्भित प्रवचन सुनकर वर्णी जी ने प० जी के समक्ष यह जिज्ञासा प्रकट की कि क्या ऐसा भी कोई उपाय है जिससे मै जैनधर्म का रहस्य जान सकूँ। जब प० जी को यह मालूम हुआ कि ये वैष्णव से जैनी हो गये हैं तब उन्होने कहा कि तुमने बडी भूल की जो जैनी हो गये। न तो तुम वैष्णव ही रहे और न जैनी ही। यह सुनकर वर्णी जी ने खेदपूर्वक कहा कि प० जी, आप से शपथ-पूर्वक कहता हू, अब उसी दिन आपके दर्शन करूँगा जिस दिन धर्म का मार्मिक स्वरूप आपके समक्ष रखकर आपको सन्तुष्ट कर सकूँगा। आज आप जो वाक्य मेरे प्रति व्यवहार मे लाये हे, तब आपको वे वाक्य वापिस लेने होगे।

वर्णी जी तीर्थयात्रा के वडे प्रेमी थे। साथ ही अच्छे विद्वान् की खोज मे रहते थे, जिससे कि अच्छी तरह विद्याध्ययन किया जा सके। इसी दृष्टि से रेशन्दीगिरि, कुण्डलपुर, रामटेक, मुक्तागिरि और गजपन्था की यात्रा के बाद वम्बई पहुँच गये। पास मे एक पैसा भी नही वचा था। सयोग से वहाँ खुरजा के रहने वाले बाबा गुरुदयाल सिंह ने भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था कर दी। १०) रुपया नगद दिये तथा १०० कापियाँ देकर कहा कि इन्हे बाजार मे जाकर फेरी मे वेच आना। एक कापी छह आना से कम मे मत वेचना। कापियाँ वेचने पर ३१ रु० छह आने हो गये। स्व प० गोपालदास जी बरैया उस समय बम्बई मे कार्य करते थे। वे भी वर्णी जी से प्रसन्न हुए और कहने लगे कि तुम आनन्द से विद्या-ध्ययन करो और कोई चिन्ता मत करो। बम्बई मे प० जीवाराम जी शास्त्री से कातन्त्र व्याकरण तथा प० पन्नालाल जी बाकलीवाल से रत्नकरण्ड-श्रावकाचार पढकर दोनो ग्रन्थो की परीक्षा दी और अच्छी सफलता प्राप्त की। २५) रुपया इनाम मिले। परीक्षाफल देखकर दिल्ली के श्री लक्ष्मीचन्द्र जी झवेरी ने कहा कि हम दस रुपया मासिक बरावर देगे, तुम सानन्द अध्ययन करो। बम्बई का पानी अनुकूल न होने से कुछ समय के लिए पूना चले गये। फिर वहाँ से केकडी गये। १५ दिन बाद जयपुर पहुँचे। वहाँ प० वीरेश्वर शास्त्री के पास पढने लगे। यहाँ कातन्त्र व्याकरण, चन्द्रप्रभचरित, तत्त्वार्थसूत्र और सर्वार्थसिद्धि का अध्ययन किया। कातन्त्र व्याकरण की परीक्षा देते समय पत्नी के स्वर्गवास का पत्र मिला। पत्र पढकर वर्णी जी ने कहा कि आज मै वन्धन से मुक्त हुआ। उसी दिन एक पत्र वाई जी को सिमरा लिख दिया कि अब मैं निःशल्य होकर अध्ययन करूँगा। एक वर्ष जयपुर रहे। इसके बाद आगरा से प० गोपालदास जी बरैया का पत्र मिला कि मथुरा मे दि० जैन महा विद्यालय खुलने वाला है, तुम शीघ्र चले आओ। पत्र पाते ही वर्णी जी आगरा चले गये और बरैया जो से न्यायदीपिका पढने लगे। बरैया जी वर्णी जी से पूर्ण सन्तुष्ट थे। मथुरा मे जैन महाविद्यालय की स्थापना हो गई। वर्णी जी उसमे भर्ती हो गये। बरैया जी उसके मत्री थे। बरैया जो ने वर्णी जी से कहा कि हम तुम्हारे व्यवहार से पूर्ण सन्तुष्ट है, तुम्हे जो कष्ट हो हमसे कहना, हम निवारण करेगे। मैं तुम्हे दो रुपया मासिक अपनी ओर से दुग्धपान के लिए देता हूँ। मथुरा मे दो वर्ष अध्ययन किया। पश्चात् कारणवश खुरजा चले गये। खुरजा मे भी दो वर्ष रहकर बनारस की प्रथमा परीक्षा तथा न्यायमध्यमा का प्रथमखण्ड यही से पास किया। तत्पश्चात् नियतिवश खुरजा छोडकर वैशाख मास मे शिखर जी की यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। और जेठ की भीषण गर्मी मे शिखर जी की वन्दना की। शिखर जी की यात्रा के वाद मऊ पहुँचे और मऊ से बाई जी के पास सिमरा पहुँच गये। वहाँ डेढ मास रहने के बाद न्यायशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् श्री दुलारझा के पास अध्ययन के लिए टीकमगढ चले गये और उनके पास मुक्तावली, पञ्चलक्षणी, व्यधिकरण आदि ग्रन्थो का अध्ययन करने लगे। किन्तु दुलारझा के बलिप्रथा के पोषक होने के कारण कुछ समय बाद ही वहाँ से सिमरा आ गये। तदनन्तर इलाहाबाद से पूर्व मे झूसी से १५ मील पर हण्डिया तहसील के हरिपुर गाँव मे प० ठाकुरदास जी के पास जाकर प्रमेयकमलमार्तण्ड पढने लगे। वहाँ चार मास रहे। फिर वहाँ से वाराणसी चले गये।

उस समय गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज मे प जीवनाथ

मिश्र न्याय के प्रमुख अध्यापक थे। वर्णी जी ने उनके पास जाकर न्यायशास्त्र पढने की इच्छा प्रकट की। किन्तु जब उनको पता चला कि वर्णी जी जैन है तब उन्होने कहा कि यहाँ से चले जाओ, हम नास्तिक लोगो को नही पढाते। इस से वर्णी जी के हृदय मे तीव्र वेदना हुई। फिर भी वे निराश नही हुए और गुरुदेव की खोज मे भ्रमण करते हुए एक श्वेताम्बर विद्यालय मे पहुँच गये। वहाँ विद्यालय के अध्यक्ष श्री धर्मविजय सूरि से भेट हुई। धर्मविजय सूरि वर्णी जी को न्याय के अध्यापक पं अम्बादास जी शास्त्री के पास ले गये और कहा कि शास्त्री जी से अध्ययन करो, तुम्हे कोई रोक टोक नही। अम्बादास जी शास्त्री ने भी प्रसन्न होकर कहा कि तुम हमारे यहाँ आओ, हम तुम्हे सहर्ष पढावेगे। वर्णी जी ने उनसे न्यायशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ कर दिया। किन्तु सदा ही उनके मन मे तीव्र इच्छा रहती थी कि वाराणसी मे एक दि० जैन विद्यालय का होना आवश्यक है। इस मनोरथ को पूर्ण करने के लिए बाबा भागीरथ जी वर्णी को भी बुला लिया। दोनो रात दिन यही चर्चा करते रहते थे कि कौन से उपायो का अवलम्बन किया जाय जिससे काशी मे एक दि० विद्यालय स्थापित हो जावे। उस समय सयोगवश श्री झम्मनलाल जी कामावाले मिले और उन्होने विद्यालय की स्थापना के निमित्त एक रुपया दिया। उस एक रुपया ने बटबीज का काम किया। उस एक रुपया से ६४ पोस्टकार्ड खरीदे गये और समाज के ६४ विशिष्ट व्यक्तियो को विद्यालय खोलने के विषय मे लिखा गया। अनेक लोगो के आशाजनक उत्तर प्राप्त हो गये। बाबू देवकुमार जी रईस आरा, सेठ माणिकचन्द्र जी बम्बई आदि ने पूर्ण सहायता का आश्वासन दिया। अन्त मे जेठ सुदी पचमी (विक्रम सम्वत् १९६२) के दिन स्याद्वाद जैन विद्यालय के उद्घाटन करने का निर्णय किया गया। इस दिन समाज के अनेक गण्य मान्य व्यक्ति वाराणसी आ गये। विद्यालय का उद्घाटन श्रीमान् सेठ माणिकचन्द्र जी के द्वारा सम्पन्न हुआ। प. अम्बादास जी शास्त्री आदि तीन अध्यापक नियुक्त किये गये। वर्णी दीपचन्द्र जी सुपरिन्टेन्डेन्ट हुए। वर्णी गणेशप्रसाद जी स्याद्वाद विद्यालय के प्रथम छात्र हुए। यह सयोग और आश्चर्य की बात है कि वर्णी जी स्याद्वाद विद्यालय के सस्थापक और छात्र दोनो हुए। बाद मे भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से छात्र आने लगे।

वर्णी जी पं. अम्बादास जी शास्त्री के पास अष्ट-सहस्री का अध्ययन करने लगे। यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र का एक गम्भीर और क्लिष्ट ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को मनोयोगपूर्वक पढ लेने से स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तो का सम्यक् बोध हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—

श्रोतव्याऽष्टसहस्री किमन्यै सहस्र सख्यानै।
विज्ञायते ययैव स्वसमय-पर-समय-सद्भाव॥

वर्णी जी ने अष्टसहस्री का अध्ययन एक वर्ष मे समाप्त कर लिया। जिस दिन यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ उस दिन वर्णी जी ने शास्त्री जी के चरणो मे ५००) रुपया की हीरा की एक अँगूठी भेट करके कहा कि 'महाराज, आज मुझे इतना हर्ष है कि यदि मेरे पास राज्य होता तो मै उसे भी आपके चरणो मे समर्पित करके तृप्त नही होता। न्यायशास्त्र का अध्ययन करते हुए वि०सम्वत् १९६४ मे सस्कृत कालेज की न्यायमध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। पुन. कुछ वर्षों बाद हिन्दू विश्वविद्यालय की न्यायशास्त्री परीक्षा मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। बाद मे न्यायाचार्य के भी तीन खण्ड पास कर लिये। इतना होने पर भी पढने की जिज्ञासा शान्त नही हुई और कारणवश वाराणसी छोड़कर टीकमगढ आ गये और पं. दुलारझा से पढने लगे। दुलारझा के पुत्र शान्तिलाल भी न्याय के अच्छे विद्वान् थे। वर्णी जी उनको लेकर बरुआसागर चले गये तथा उनसे वहाँ न्याय पढ़ने लगे। फिर कुछ समय बाद शान्तिलाल के साथ चकौती (जि० दरभगा) चले गये और वहाँ सहदेवझा के पास पढने लगे। कुछ मास चकौती मे रहने के बाद नवद्वीप (बगाल) पहुँचे। किन्तु जब पता चला कि यहाँ सब छात्र माँसभोजी है तो उसी दिन वहाँ से कलकत्ता चले गये। वहाँ सस्कृत कालेज मे न्यायशास्त्र का अध्ययन करने लगे। ६ मास कलकत्ता रहने के बाद फिर वाराणसी आ गये और शास्त्री जी से अध्ययन करने लगे। इस प्रकार वर्णी जी ने ज्ञान-प्राप्ति के लिए कष्टो को सहन करते हुए अथक परिश्रम किया और भारत के प्रत्येक

उच्चकोटि के विद्वान् से कुछ न कुछ सीखने का प्रयत्न किया।

विद्यालयो की स्थापना

वर्णी जी वि० सम्वत् १९६२ मे वाराणसी मे स्याद्वाद महाविद्यालय की स्थापना कर ही चुके थे। वर्णी जी बुन्देलखण्ड के निवासी थे। वर्णी जी के मन मे उत्कट भावना थी कि इस प्रान्त मे भी एक उच्चकोटि के विद्यालय की स्थापना होना अत्यावश्यक है। उस समय बुन्देलखण्ड के लोगो की रुचि विद्याध्ययन मे प्राय नही थी। यदि किसी के धर्म करने के भाव हुए तो श्रीजी के जलविहार मे द्रव्य लगा दिया। किसी के अधिक भाव हुए तो मन्दिर बनवा दिया या पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा करा दी। परन्तु विद्यादान की ओर किसी की दृष्टि न थी। जो सूत्रपाठ करना जानता था वह पण्डित कहलाता था। यह सब देखकर वर्णी जी के चित्त मे यह विचार उठा करते थे कि जिस प्रान्त मे प्रतिवर्ष लाखो रुपये धर्मकार्य मे व्यय होते हो वहाँ के निवासी यह भी न जाने कि देव, शास्त्र और गुरु का क्या स्वरूप है, अष्टमूलगुण कौनसे है, यह कितने खेद की बात है। इस कारण वर्णी जी को इस प्रान्त मे एक विशाल विद्यालय और छात्रावास की कमी निरन्तर खलती रहती थी। इस कमी को दूर करने के लिए वर्णी जी के प्रयत्न से अक्षयतृतीया (वि०सम्वत् १९६५) के दिन सागर मे श्री सत्तर्क-सुधा-तरङ्गिणी जैन पाठशाला की स्थापना की गई। इस के लिए वर्णी जी ने गाँव गाँव मे घूम कर धनसग्रह किया। सागर के महानुभावो का भी अच्छा सहयोग मिला, जिससे उक्त विद्यालय अच्छी तरह चलने लगा। अब उसका नाम श्री गणेश दि० जैन सस्कृतमहाविद्यालय है। इस प्रकार वाराणसी मे श्री स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर मे श्री गणेश दि० जैन महाविद्यालय स्थापित कर आपने जैन सस्कृति के सरक्षण और पोषण के सबसे महान् कार्य किये हैं। इनके अतिरिक्त वर्णी जी के प्रयत्न, प्रेरणा और सहयोग से अनेक विद्यालय और कालेजो की भी स्थापना हुई है। वि० स १९८५ मे द्रोणगिरि क्षेत्र पर एक विद्यालय की स्थापना की गई। इस विद्यालय का नाम श्री गुरुदत्त दि० जैन विद्यालय रक्खा गया। जबलपुर मे शिक्षामन्दिर, की स्थापना अहार क्षेत्र पर श्री शांतिनाथ विद्यालय की स्थापना, शाँहपुर मे एक जैन विद्यालय की स्थापना, खतौली मे कुन्दकुन्द विद्यालय की स्थापना, मढिया जी (जबलपुर) मे वर्णी गुरुकुल की स्थापना, इटावा मे श्री ज्ञानधन दि० जैन सस्कृत विद्यालय की स्थापना, ललितपुर मे वर्णी इण्टर कालेज की स्थापना इत्यादि अनेक शिक्षायतनो की स्थापना मानवमात्र के हृदय मे ज्ञानज्योति को प्रज्वलित करने के सकल्पस्वरूप ही हुई है।

विद्या, विद्वानो और विद्यार्थियो के प्रति वर्णी जी के विचार

मुझे विद्यायतन देखकर बहुत हर्ष होता है। वास्तव मे विद्या ही मनुष्य के कल्याण की जननी है और विशेष रूप से वह विद्या जो कि स्वपर भेदविज्ञान की जननी है। शिक्षाप्रचार की दृष्टि से बुन्देलखण्ड की स्थिति शोचनीय है। लोग गजरथ आदि महोत्सवो मे तो खर्च करते हैं, पर इस ओर जरा भी ध्यान नहीं देते। शिक्षाप्रचार के लिए अनेक प्रयत्न हुए परन्तु जितनी चाहिए उतनी सफलता नहीं मिली। लोग जलविहार मे ५०००) तक लगा देंगे किन्तु विद्यादान मे प्रसन्नता से पाँच रुपया भी न देंगे। मेरी निजी सम्मति तो यह है कि एक ऐसा मन्दिर बनवाना चाहिए जिसमे सब मतवालो की सुन्दर से सुन्दर मूर्तियाँ हो और उनके ऊपर सङ्गमर्मर मे उनका इतिहास लिखा हो। मन्दिर के साथ एक विशाल पुस्तकालय हो जिसमे सब आगमो का सग्रह हो। प्रत्येक मतवालो को उसमे पढने की सुविधा रहे। हर एक विभाग मे एक निष्णात विद्वान रहे जो कि अपने मत का सिद्धान्त सबको अच्छी तरह समझा सके। इसके लिए सर्वोत्तम स्थान वाराणसी है। हमारी तो धारणा है कि जैनियो मे अब भी ऐसे व्यक्ति है जो अकेले ही इस महान् कार्य को कर सकते है।

वाराणसी मे एक विद्यालय है। सबसे उत्तम स्थान है। किन्तु धनाभाव के कारण वहाँ केवल जैन छात्रो को ही स्थान मिल पाता है। यदि पच्चीस रुपया मासिक छात्रवृत्ति ब्राह्मण छात्रो को दी जावे तो सहस्रो छात्र जैनधर्म,

के सिद्धान्तो के पारगामी हो सकते है और अनायास ही धर्म का प्रचार हो सकता है। जब मैं सागर मे मोराजी के विशाल प्राङ्गण मे बहुत से छात्रो को आनन्द से एक साथ खेलते-कूँदते और विद्याध्ययन करते देखता था तब मेरा हृदय हर्षातिरेक से भर जाता था।

कटनी मे सन् १९४५ मे वर्णी जी के सान्निध्य मे श्री भा० दि० जन विद्वत्परिषद् का प्रथम अधिवेशन हुआ था। उस समय अनेक विद्वानो के समागम को देखकर वर्णी जी ने विद्वानो के प्रति जो उद्‌गार प्रकट किये थे वे निम्नप्रकार है—

"मुझे तो पण्डितो के समागम से बहुत ही शान्ति मिली और इतना विपुल हर्ष हुआ कि इसकी सीमा नहीं। जिस प्रान्त मे सूत्रपाठ के लिए दस या बीस ग्राम मे कोई एक व्यक्ति मिलता था, वह भी शुद्धपाठ करने वाला नही मिलता था। आज उन्ही ग्रामो मे राजवार्तिक आदि ग्रन्थो के विद्वान पाये जाते है। जहाँ गुणस्थानो के नाम जानने वाले कठिनता से मिलते थे, आज वहाँ जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड के ज्ञाता विपुल सख्या मे पाये जाते है।"

सच्ची प्रभावना

वर्णी जी ने लिखा है कि जिस ग्राम मे मन्दिर और मूर्तियो की प्रचुरता है यदि वहाँ मन्दिर न बनवाया जाय तथा गजरथ न चलाया जाय तो कोई हानि नही। वही द्रव्य गरीब लोगो के स्थितिकरण मे लगाया जावे और उनके बालको को शिक्षित बनाया जावे। यही सच्ची प्रभावना है। प्रभावना दो प्रकार से हो सकती है। एक तो पुष्कल द्रव्य व्यय करके गजरथ चलाना, पञ्चकल्याणक करना, मन्दिर बनवाना इत्यादि। प्राचीन समय मे लोग इसी प्रकार की प्रभावना करते थे। परन्तु इस समय इस प्रकार की प्रभावना की आवश्यकता नही है। दूसरे प्रकार की प्रभावना यह है कि लोगो का अज्ञान दूर करके उनमे समीचीन ज्ञान का प्रचार करना, दरिद्रो को भोजन देना, अनाथो को वस्त्र देना, आजीविका-विहीन मनुष्यो को आजीविका से लगाना इत्यादि। वर्तमानकाल मे इसी प्रकार की प्रभावना की अत्यन्त आवश्यकता है।

इस प्रकार वर्णी जी ने अपने उदार विचारो और नि स्वार्थ सेवाओ के द्वारा जैन समाज मे एक अनोखी जागृति उत्पन्न की है। शिक्षा के क्षेत्र मे उन्होने जो महान् कार्य किये है उससे जैन समाज का गौरव बढा है। जहाँ तत्त्वार्थसूत्र का मूलपाठ करने वाले विद्वान् दुर्लभ थे वहाँ आज धवला आदि सिद्धान्त ग्रन्थो के विशेषज्ञ अनेक विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे है। यह सब वर्णी जी की पवित्र भावना का ही फल है। मैने अपने विद्यार्थी जीवन मे पपौरा जी और वाराणसी मे कई बार वर्णी जी के दर्शन किये और प्रवचन सुने। सन् १९६० मे हिन्दू विश्वविद्यालय मे नियुक्ति के तुरन्त बाद उनके जीवनकाल के अन्तिम वर्णी जयन्ती-समारोह मे उपस्थित होने का अवसर मिला। पुन सन् ६१ मे उनके स्वर्गवास के कुछ दिन पहले उनके अन्तिम दर्शन का सौभाग्य मिला। ऐसे तप पूत और लोकहितैषी महामानव के चरणो मे उनकी जन्मशताब्दी के पवित्र अवसर पर मेरा शत शत प्रणाम।

जहा तक बने, शान्ति से धर्मसाधन करना। आकुलता न करना, आकुलता करना ही धार्मिक भावोका बाधक है। जो मनुष्य मोक्षमार्गके सामने हो गया वह तो सुखी ही है। अपनेको सम्यग्बोध होनेपर अवश्य एक दिन शान्तिका मार्ग अनायास मिल जावेगा। देखो, सर्वार्थसिद्धिके देवोको सम्यग्ज्ञान तो हे, परन्तु मोक्षमार्ग मनुष्यपर्यायसे होगा तब क्या उनकी आयु अशान्ति मे जाती है? नही, अत शान्ति से जीवन बिताना।

—अध्यात्म पत्रावली—३४

७

विद्वानों की परम्परा का भविष्य

श्री पं० जगन्मोहन लाल जी सिद्धान्त शास्त्री, कटनी

(वीर-निर्वाण-भारती दिल्ली के विद्वत्-सम्मान-समारोह में दिये गये भाषण का अंश)

भगवान महावीर की इस २५०० वी सदी के १००-वर्ष जैन-जगत मे एक क्रान्ति का रूप लेकर आये। गुरु गोपालदास जी बरैया तथा पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी, इन दो महात्माओ ने समाज मे ज्ञान के उज्ज्वल दीप जलाए। आज के विद्वान् उसी शिष्य-परम्परा के दीपक हैं। सैकडो विद्वान् प्रतिवर्ष तैयार हुए तथा होते आ रहे हैं। तथापि इस सदी के अन्त के साथ साथ वह परम्परा भी समाप्ति के अन्तिम चरण पर जा रही है। सस्कृत प्राकृत के धार्मिक व दार्शनिक विद्वान प्राय समाप्त होते जा रहे हैं। जिन नवयुवक विद्वानो पर हमारी आशाएँ थी, वे हमसे पूर्व ही, अभी अभी, काल-कवलित हो चुके है।

आज की नई पीढी अब इस दिशा की ओर से विमुख है। उसके अनेक हेतु हैं। प्रथम तो वातावरण नास्तिकता की ओर जा रहा है। दूसरे विद्वानो को समाज मे पर्याप्त सम्मान प्राप्त नही रहा। कुछ स्थानो मे समाज ने कुछ गिने चुने विद्वानो को सम्मान दिया भी है तो वह कोई विशेष उत्सव पर उनकी आवश्यकता देखकर। अन्य समय तो समाज का वेतनभोगी, समाज के नौकर के रूप मे ही मान्य रहा। इससे ज्यादा इज्जत उसे नही मिली। उसका फल भी समाज को उतना ही प्राप्त हुआ जितना वह नौकर से ले सकता था। तीसरे वेतन की अल्पता ने इस आर्थिक युग मे उन्हे झकझोर दिया। वे अनुभव करने लगे कि इस लाइन मे अपने बालको को लगाने पर न पराधीनता मिटेगी और न दरिद्रता मिटेगी। फलत समाज के अन्य बालको की तरह उनके बालक भी लौकिक शिक्षा के मार्ग मे गए जहाँ सरकारी या उच्चतम कम्पनियो की अर्थप्रदायी सर्विस प्राप्त हुई। चौथी कठिनाई विद्वानो के सामने आज भी जटिल है। वह है बच्चे बच्चियो की शादी की समस्या। समाज मे उनका निर्वाह नही है। कन्या की शादी मे उससे भी समाज दहेज की आशा करती है। लडके की शादी मे बिना सोना चढाए गति नही होती। साथ ही वह समाज के नेतृत्व के कारण दहेज न माग सकता है और न पा सकता है।

इन सब कठिनाइयो के कारण न तो विद्वान् अपने बालको को उक्त शिक्षा की तरफ अग्रसर करते है न अब समाज ही अपने बालको को उस ओर भेजती है। फलत- सस्कृत विद्यालय छात्रो के अभाव मे अपने अन्तिम दिन देख रहे है।

———

८

उनका एक प्रेरक पत्र नई पीढ़ी के नाम

प्रस्तुति--नीरज जैन

पूज्य वर्णी जी समाज को सदैव उन्नति और उत्कर्ष की दिशा देते रहे। नई पीढी का मार्ग-दर्शन करने की उनकी दृष्टि विशेष थी। समाज के प्रति उनकी ऐसी प्रेरणा के सबल उदाहरण समय समय पर हमे मिलते रहते थे।

"घर खर्च पर प्रति रुपया एक पैसा दान" उनका सर्वोपरि उपदेश था। इस प्रकार की दान की प्रवृत्ति से वे देखते थे कि जहाँ सहज ही लाखो रुपये की राशि प्रतिवर्ष एकत्र हो सकती थी वही प्रतिदिन, प्रति समय, दान की भावना प्रवर्तमान रहने से हमारे जीवन में सहज अनुकम्पा का भाव आता था।

जबलपुर के जैन नवयुवक-मण्डल के नाम लिखा, उनका एक ऐसा ही प्रेरणाप्रद पत्र मेरे सकलन मे है। पत्र मे दान के अतिरिक्त भी नैतिकता के पोषक उत्तम उपदेशो का समावेश हैं। पत्र इस प्रकार है—

श्रीयुत नवयुवक मडल

योग्यदर्शन-बिशुद्धि ।

हम सानन्द है चिन्ता की बात नही। हमारा कहना है जो आपके घर भोजन और वस्त्र आदि मे व्यय हो उसमे १ रुपया पर पाव आना दान मेरख लो। यदि यह काम हो गया तब अनायास ही जबलपुर की सर्व संस्थाएँ अनायास चल जावेगी, परन्तु यह सामूहिक होना चाहिये। कल्पना करो, जबलपुर मे चार हजार जैन है तब कम से कम चार हजार रुपया प्रतिदिन भोजनादि मे व्यय होता होगा। प्रतिदिन चार हजार पैसे दान मे आवेगे, जिसके साढ़े बासठ रुपये हुए। एक मास के एक हजार आठ सौ पचहत्तर रुपये हुए। इनमे यदि एक छात्र पर पच्चीस रुपया व्यय हो तो पचहत्तर छात्र अध्ययन कर सकते हैं।

जहाँ तक बने आवश्यकताये कम करो स्व-दार सन्तोष करो। ब्रह्मचर्य की रक्षा करो। विशेष फिर।

आ० शु० चि०

गणेश वर्णी।

नोट—जो अपना शत्रु हो उसका भी अनिष्ट चिन्तन न करो। प्राणिमात्र पर दया करो, किसी को हीन न मानो। मर्यादा को उल्लघन कर काम न करो। त्याग ही धर्म है, ग्रहण ही अधर्म है। इसका रहस्य पण्डित ब्रह्मचारी कस्तूरचन्द्र जी से पूछ लेना।

—गणेश वर्णी।

यह तो एक सयोग है कि यह पत्र जबलपुर के नवयुवक मण्डल के नाम लिखा गया। वास्तव मे उनका यह परम-पावन, प्रेरक और आज्ञावाचक उपदेश तो समाज के प्रत्येक घर और नई पीढी के प्रत्येक भाई बहिन के नाम लिखा गया माना जाना चाहिए।

यदि हम वर्णी जी महाराज के उक्त आदेश उपदेशो की कोई कीमत आँक सके तो एक पैसा प्रति रुपया का दान कोई ऐसी अशक्य माँग तो नही है जो पूरी करने मे हम मे से किसी को भी कोई असुविधा हो।

आइये विचारे कि इस पत्र का हमे क्या उत्तर देना है ?

"आत्माका निज स्वरूप भी चेतनारूप है। उसकी व्यक्ति ज्ञान-दर्शन रूपमे प्रगट अनुभवमे आती है। परन्तु अनादि परद्रव्य सयोगसे नाना परिणमन द्वारा विकृतावस्था उसकी हो रही है। परन्तु इससे ऐसा न समझना कि स्वरूप प्रगट होना असम्भव है। असम्भव तो तब होता जब उसका लोप हो जाता, सो तो नही है। असली स्वभाव का प्रकट होना कठिन है। विस्मृत हस्तगत रत्नके समान है पर जिस तरह कोई अपनी वस्तु भूल जाता है और यत्र तत्र खोजता है। बस, इस न्यायसे यह जीवात्मा अपने असली निजरूप को भूल कर पर-पदार्थोमे हेरता है। अपने को आप नही जानता। मोहनिमित्त प्रबल हो रहा है। उसमे फँसकर सुखके कारणोमे दु:खप्रतीति करता है, दु:खके कारणोमे सुख मान रहा है। इस विपरीत भावसे निजनिधि भूल रहा है।"

—अध्यात्म पत्रावली–५०

१

वर्णी जी और समाज

—सुमेरचन्द कौशल एडवोकेट, सिवनी

जैन समाज मे पूज्य पडित गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य (श्री१०८ श्री मुनि गणेशकीर्तिजी महाराज) का उच्चस्थान है। आपका समस्त जीवन मानव-कल्याण और समाज-सेवा मे ही बीता है। जैन समाज तो आपका खासकर अत्यन्त ऋणी है। क्योकि अत्यन्त कठिनता-पूर्वक अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् आपने अपना जीवन जैनधर्म—जिसे आप मानवधर्म समझते थे—के प्रचार और प्रसार मे ही लगा दिया था। आपके ही प्रसाद से जैन समाज मे स्थान स्थान पर पाठशालाए, विद्यालय और महाविद्यालय खुल चुके है। आपकी पीयूष-वाणी का प्रभाव इतना विचित्र होता था कि वर्त्तमान का पूजीवादी धनिक भी विद्यादान के लिये अपनी थैलियो के मुँह खोल देता था। वर्णीजी जहा कही भी जाते थे, स्त्री पुरुषो, नवयुवक वृद्धो, बालक बालिकाओ का समूह सदा आपके दर्शनार्थ तथा अमृतवाणी का पान करने के लिये चुम्बकसा खिचा एकत्रित हो जाता था। इस प्रभाव की पृष्ठभूमि थी आपकी आजीवन आत्म-साधना तथा अन्तरग बहिरग जीवन की समरसता थी। जिसने स्वपर कल्याणार्थ एक लँगोटी और एक उपरना मात्र रखकर सर्वस्व समाज को अर्पण कर दिया था। निष्कपटता और दया के क्षेत्र मे आप ससार के उच्चतम सतो के समकक्ष थे। निष्कपट इतने कि अपनी खामियो कमजोरियो का स्वयम् वर्णन कर देते थे और किसी ने-अगर कोई उनकी गलती बताई तो उसे उसी क्षण स्वीकार भी कर लेते थे। दयावान इतने कि अपने समक्ष किसी दुखी नगे भूखे को देखकर स्वयम् अपना खडवस्त्र उसे प्रदान कर देते थे। और जब तक भूखे की भोजन-व्यवस्था न हो जाय चैन नही लेते थे। जीवन के अतिम क्षणो मे एक लम्बे समय की शारीरिक विकट विकृति को उदासीनतापूर्वक सहन करते हुए, आपने अत्यन्त शात और गभीर रहकर, समस्त परिग्रह—लँगोटी व चादर छोडकर मुनिपद-सहित समाधि—सल्लेखना-पूर्वक स्वर्गारोहण किया।

वर्णी जी अद्वितीय आदर्श सत थे। लाभ, ख्याति और पूजा की भावना से वे सदा कोसो दूर रहे। अपने पास आपने कभी एक पैसा नही रक्खा। हजारो रुपयो का दान आपके एक इशारे मात्र से हो जाता था और लोग लालायित रहते थे कि वर्णीजी आज्ञा के रूप मे उन्हे कही के लिये दान देने को कहे और वे जितना कहे तत्क्षण दे दिया जावे। परन्तु आप ने हठ या आग्रहपूर्वक कभी किसी को जबरन दान के लिये नही कहा। आपके सान्निध्य मे स्वेच्छा से लोग प्रेमपूर्वक दान देते थे।

यशोलिप्सा आपको छू तक न सकी थी। उसका एक ही उदाहरण—सैकडो अन्य उदाहरणो के होते हुए भी—पर्याप्त है। आपने आचार्यवर श्री कुन्दकुन्द-स्वामी के ग्रन्थ "समयसार" की टीका लिखी। प्रथम तो विद्वानो को उसकी खबर ही न लगने दी तथा जैसे तैसे उन्हे मालूम भी हुआ और उनने चाहा कि वर्णी जी उन्हे वह टीका सोप दे। परन्तु वर्णीजी ने वैसा कुछ न किया। उनके मरणोपरान्त ही वह समाज के हाथ लग सकी।

वर्णी जी एक महान सच्चे सुधारक थे। आपके प्रभाव से बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रात मे हजारो स्थानो पर अनेक वर्षों से पडी हुई फूट दूर हुई। कही कही तो दो नही तीन-तीन चार-चार पटिया (दल, तड़े) थी। आप आपसी झगड़ो का निपटारा इस खूबी—वृद्धिमत्तापूर्ण ढग

थे, जो अपने आप मे एक अनोखी बात होती थी। उसकी मिसाल अन्यत्र नही मिलती। इन बातो के जानकार आज भी वर्णी जी की प्रशसा करते और आनदित होते नही अघाते है। आप सामाजिक आचार मे द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार परिवर्तन को उत्तम समझते थे। इसी लिये समाज सुधार का जो कार्य वर्णी जी के द्वारा हुआ है, वह अन्य के द्वारा नही।

धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि से जिसमे एक व्यक्ति का कल्याण है, उसमे समाज का हित भी निहित है। क्योकि आत्मोन्नति और सदाचार के जितने नियम है; उनके पालन से ही स्वपर कल्याण सभव है। जैसे अहिंसा, सत्य आचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पालन तथा क्रोध, लोभ, मान, माया, मत्सर, अहकार से रहितपन। अब जो मनुष्य अपना जीवन इस प्रकार उच्च बनाएगा उससे उसका कल्याण तो होगा ही, साथ ही साथ उसके उच्च आचरण का प्रभाव समाज पर अवश्य पडेगा, जिससे समाज ऊँचा उठेगा। कारण, व्यक्तियो के समूह का नाम ही समाज है।

इसी भारतीय सास्कृतिक पथ का अनुसरण कर वर्णी जी—श्री गणेशकीर्ति जी महाराज ने अपना और समाज का कल्याण किया।

वर्णी का वर्णन अगम, कैसे करे बखान।
शब्दाञ्जलि ही चढाकर, कौशल पाता मान॥

चलते फिरते स्मारक

पूज्य वर्णी जी का सच्चा स्मारक तो वे सैकड़ो विद्वान है जिन्होने उनके द्वारा स्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, श्री गणेश वर्णी विद्यालय सागर आदि मे अध्ययन करके ज्ञानलाभ के साथ आत्मलाभ किया है। वर्णी जी को जितना स्नेह अपने इन विद्वानो से था उतना अन्य किसी से नही था। उन्हे देखकर उनकी आत्मा प्रफुिल्लत होती थी। और सचमुच मे जैन समाज से विद्वानो की कमी को दूर करके वर्णी जी महाराज ने एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति की थी। यदि समाज उनकी इस देन को ही सुरक्षित रखने का बीड़ा उठा ले तो यही वर्णी जी का सच्चा स्मारक हो सकता है।

१०

कथाका विसर्जन : और विसर्जनकी कथा

— नीरज जैन, एम ए.

महापुरुष अपने जीवन से हमे बहुत-सी शिक्षा देते है और प्राय: अपने मरण से भी वे हमे बहुत कुछ सिखाते है। यदि उनका जीवन एक प्रयोगशाला है तो मरण उनका सफल आविष्कार है। यदि जीवन एक पाठशाला है तो मरण उनकी परीक्षा है।

पूज्य वर्णी गणेशप्रसाद जी इस युग के मान्य महापुरुष थे। उनके दीर्घ साधनामय और समर्पित जीवन को आदर्श बनाकर यदि हम यह सीख सकते है कि क्षुद्र मानव-जीवन को विकसित करके कैसे धर्म और समाज के लिये उसकी उपादेयता सिद्ध की जा सकती है, तथा आत्मसयम के द्वारा किस प्रकार उसकी सार्थकता स्थापित की जा सकती है तो, इसमे सन्देह नही कि उनके विवेकपूर्ण अवसान को ध्यान मे लाकर हम भलीभाँति यह भी जान सकते है कि किस प्रकार मरण को महानता प्रदान करके उसे भी अनुकरणीय बनाया जा सकता है।

बाबा जी के देहावसान के पाँच सप्ताह पूर्व से, उनकी चरण सेवा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। आज तेरह वर्ष का लम्बा समय व्यतीत हो जाने के बाद भी, उस महाप्रयाण की प्राय सभी छोटी-बडी घटनाए, एलबम के चित्रो की तरह मुझे अपने मानस पटल पर स्पष्ट अकित दिखाई देती हैं।

वह साहसिक संकल्प—

१९६१ के रक्षाबन्धन के कुछ दिन पूर्व की बात है। बाबा जी मोतीझिरा की लम्बी बीमारी से मुक्त होकर कुछ स्वस्थ-सा अनुभव कर रहे थे। एक दिन अकस्मात् गुरुजी श्रद्धेय पण्डित जगन्मोहनलाल जी का रेलगाडी मे से लिखा एक पोस्टकार्ड सतना मे मुझे प्राप्त हुआ। लिखा था—

"पूज्य बाबा जी का स्वास्थ्य कुछ सुधार पर है। ज्वर शान्त हो गया है। मरण आसन्न नही है। फिर भी, न जाने क्यो, वे अन्न ग्रहण नही कर रहे है। तुम जाकर प्रयत्न करो। शायद तुम्हारी बालहठ कुछ काम कर जाय।"

पत्र देखते ही चित्त एकदम बेचैन हो उठा। दूसरे ही दिन सपरिवार मै ईसरी पहुच गया। बाबा जी के एक और मूक सेवक भाई पन्नालाल जी सतना से ही साथ हो गये।

सुबह साढ़े आठ बजे हमलोग आश्रम पहुच गये। मन मे तो एक ही लगन थी कि बाबा जी को अन्न का आहार देना है। सुना, कुछ भी ग्रहण नही करते है। फलो के दो-चार तोले रस का ही शरीर को आसरा है।

झटपट नहा धोकर मैने मूग की दाल का पानी तैयार कराया और एक छोटी कटोरी मे उसे लेकर प्रस्तुत हो गया। चर्या की विधि प्रारम्भ हुई और लगभग एक छटाक मौसमी या अनार का रस, चार-पाच घूँट मे, बाबा जी ने ग्रहण किया। मैने दाल का पानी बढाया, बहुत आग्रह किया, पर उन्होने एक बूद भी उसे लेना स्वीकार न किया। पहली बार निषेध मे जो उनका हाथ हिला सो हिलता ही चला गया। मेरी दाल बिल्कुल नही गली।

पाचन की प्रक्रिया के लिये फलो के रस और दाल के छाने हुये पानी मे कोई विशेष अन्तर नहीं होता। वैद्यो का भी परामर्श था कि दाल के पानी से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे अन्नाहार पर आ जाना हितकर होगा। इस सबके

बावजूद भी उनके निषेध की दृढता देखकर मुझे विश्वास हो गया कि यह निषेध, अनिच्छा या अरुचिजन्य साधारण निषेध नही है । इसके पीछे अवश्य ही कोई दूसरा सकल्प होना चाहिए ।

बाबा जी सामायिक के उपरात विश्राम मे थे । अशक्ति के कारण लेटे ही लेटे उनकी ये क्रियाये चलती थी । मैं भी भोजनादि से निवृत्त हुआ और अपनी टोह मे लग गया । उनकी डायरी निकालकर पढ डाली । निरन्तर लिखने का उनका क्रम तो कभी का टूट चुका था परन्तु कोई विशेष बात होने पर कभी-कभी बोलकर डायरी मे लिखा देते थे । एक एक पक्ति छान डाली पर कही कुछ सकेत मिला नहीं ।

उनके पास आने वाले पत्रो का निरीक्षण-परीक्षण भी व्यर्थ रहा । अन्त मे उनकी समयसार की प्रति मैने उठाई । मुझे ज्ञात था कि कई बार पूज्य बाबा जी विशेष महत्त्व के पत्र-कागज आदि समयसार के आवरण मे खोस देते है । अहिंसा प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित समयसार की इस मोटी प्रति पर खाकी रग के मोटे ही कपडे का एक आवरण था, जो बाबा जी को लिखे गये विशेष पत्रो आदि का शरणस्थल हुआ करता था । तीन-चार कागज उसमे प्राप्त हुए । उन्ही मे वह लिखित सकल्प मुझे प्राप्त हो गया जिसे पढने पर, वैद्यो के परामर्श के बावजूद भी, दाल के पानी के प्रति उनके दृढतापूर्ण निषेध का सही अर्थ मेरी समझ मे आ गया । पत्र इस प्रकार था

"यद्यपि हमारा रोग दो वर्ष से हम अनुभव कर रहे हैं, निष्प्रतीकार हैं । परन्तु हमारे जो साधर्मी भाई है, वह कहते है कि आप सौ वर्ष जीवेगे । यह उनका कहना तथ्य है या अतथ्य है, बहुज्ञानी जाने, या जो कहते है वे ही जाने । परन्तु मुझे विश्वास है, अब समाधि मरण के उपायों का अविलम्ब अवलम्बन श्रेयस्कर है ।

इसका उपाय पेय पदार्थ है । अर्थात् आहार को छोडकर स्निग्ध पान करना बहुत उपयोगी होगा । आधा सेर दूध और दो अनार का रस जो पाव सेर से अधिक न हो । आठ दिन इसका प्रयोग करना चाहिये । यदि यह उपयोग समाधि-मरण के अनुकूल पड जावे तो अगाड़ी सात छटाक दूध और आधा पाव अनार का रस का उपयोग करना चाहिये । और इस उपयोग मे सफल हो तो आगामी काल मे तक्र आदि का प्रयोग करना चाहिये । ऐसी आशा है कि साधर्मी भाई सम्मति देगे अथवा इसे अनुचित समझे तो जो उचित हो उसे उपयोग मे लावे ।

"अब केवल सन्तोप कराने से मेरा तो कल्याण दुर्लभ होगा ।"

आपका शुभचिन्तक
—गणेश वर्णी

पत्र आश्रम के छपे पैड पर पेसिल से लिखा हुआ था । एक भक्त विद्वान् को बोलकर यह पत्र लिखाया गया था और उस पर तिथि तारीख का कोई उल्लेख नही था । बाबा जी के सबल-सकल्प का यह दस्तावेज आज भी मेरे पास सुरक्षित है । लगता था बाबा जी ने अपने शरीर-त्याग की यह तैयारी, काफी सोच-समझकर यथा समय ही कर ली थी । इधर कुछ सप्ताहो मे जिस क्रम से भोजन घटाकर मात्र दो चूल्लू रस तक वे अपना आहार ले आये थे, उससे भी स्पष्ट था कि वे अपने निर्णय के अनुसार ही अपनी सल्लेखना के मार्ग पर चल रहे है ।

स्मृतियो की घनी छाँव में—

जब से मैने होश सभाला तब से बराबर वर्णी जी के श्रीचरणो का समागम मुझे मिलता रहा । छुटपन मे उनका नाम "बडे पडित जी" सुना करता था । बाद मे 'वर्णी जी' की सज्ञा उनके व्यक्तित्व का प्रतीक बन गयी । अब, क्षुल्लक दीक्षा लेने के बाद, अथवा यो कहे कि वृद्ध हो जाने के कारण, सब लोग उन्हे 'बाबा जी' कहने लगे थे । मेरे पिता स्व० सिघई लछमनलाल जी से वर्णी जी का स्नेहभाव रहा है, और वे प्राय हमारे यहाँ रीठी आते जाते रहे है । इसी सुयोगवश शैशव से लेकर आजतक मैने

सदैव वर्णी जी महाराज का वरद हस्त अपने माथे पर महसूस किया था। उनका सान्निध्य ही अनेक आकुलताओ को हरण करके चित्त को अनुपम शान्ति देता था। मेरे जैसे सैकड़ो लोग थे जो ऐसा ही कुछ अनुभव करते थे। सान्त्वना का यह सम्बल कभी छूटना भी है ऐसी कल्पना कभी मन मे आयी ही नही थी। अब आज, बाबा जी का लिखाया हुआ, सल्लेखना का यह सकल्प-पत्र जब उद्घाटित हुआ तो पढकर एक क्षण के लिये मुझे चक्कर आ गया। निकट भविष्य के गहन अन्धकार की भयावह कल्पना मन को कपाने लगी।

महायात्रा का पाथेय—

सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् पडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री और कलकत्ते के निष्ठावान् सरावगी बन्धु बावू छोटेलाल जी तथा बावू नन्दलाल जी, ब्र० बावू सुरेन्द्रनाथ जी, प० बंशीधर जी न्यायालकार इन्दौर आदि उस समय बाबा जी की सेवा के लिये आश्रम मे ठहरे हुए थे। मैने तत्काल वह पत्र बावू जी को दिखाया। इन लोगो को भी इस सकल्प का आभास मिल चुका था। थोडे विचार-विमर्श के उपरान्त सब लोग उनके पास एकत्र हुए और पडित कैलाशचन्द्र जी ने उनसे प्रार्थना की कि एक बार शरीर को निरोग और शक्ति सम्पन्न करने की अनुकूलता को अवसर दिया जाना चाहिए। हम लोगो ने भी अपने-अपने राग के अनुरूप यही विनती की, परन्तु सल्लेखना के प्रति बाबा जी के अडिग निश्चय मे कोई परिवर्तन करा लेना सभव न हुआ। उनका सकल्प अकम्प था और दृढता अचल थी।

पूज्य वर्णी जी की सत्तासी वर्ष की आयु और जरा-जीर्ण शरीर की रुग्णावस्था को ध्यान मे रखकर तथा ससार और शरीर के प्रति उनकी उदासीनता के परिप्रेक्ष्य मे देहत्याग के उनके दृढ सकल्प को परख कर सबने यह जान लिया कि अब उन्हे उनके इस निश्चय से हटाना न उचित है, न सभव। अत पडित जी ने रुद्धकण्ठ और भाव भीने शब्दो मे वर्णी जी के परिणामो की स्थिरता की प्रशसा करते हुए विनय की कि अब हम लोग उनके संकल्प मे साधक ही होगे, बाधक नही।

पता लगाने पर विदित हुआ कि जुलाई के प्रथम सप्ताह मे उन पर ज्वर का आक्रमण हुआ था जो दो चार दिन मलेरिया का छद्म रूप दिखाकर शीघ्र ही मोतीझिरा मे परिणत हो गया था। इस सावधिक ज्वर के प्रतिकार हेतु ही जुलाई के तीसरे सप्ताह मे उन्होने अन्न-भोजन बन्द कर दिया था। उनका अंतिम अन्न-ग्रहण सभवत. १६ या १७ जुलाई को हुआ था। इस प्रकार इस पर्याय के अतिम पचास दिन उन्होने अत्यत समता सहित, अन्नाहार के त्यागपूर्वक व्यतीत किये।

हृदय-मन्थन के वे दिन—

वर्णी जी ने सल्लेखना ले ली है, यह घोषित होते ही ईसरी का वह आश्रम 'तीर्थधाम' बन गया। समाचार जगल की आग की तरह थोडे ही समय मे समाज मे फैल गया और चारो तरफ से उनके स्वास्थ्य के प्रति जिज्ञासा और चिन्ता प्रकट की जाने लगी। दर्शनार्थियो की सख्या भी दिन-प्रतिदिन बढने लगी।

बाबा जी इस बीच प्राय. निरोग हो गये थे। कभी-कभी कोप दिखाने वाले साधारण ज्वर के अतिरिक्त कोई रोग जन्य उपद्रव नही था। पाव के घुटनो का दर्द अवश्य सच्चे मित्र की तरह उनका साथ दे रहा था। इस स्थिति मे भी वे शरीरकी अवस्था के प्रति नितान्त उदासीन और प्रसन्न चित्त दिखाई देते थे। मैने जैनशास्त्रो मे कई जगह पढा था और विद्वानो के मुख से कई बार सुना था कि शरीर पृथक है और आत्मा पृथक हे। ईसरी मे अब हमलोग इस सैद्धान्तिक परिभाषा का प्रयोगात्मक रूप साक्षात् देख रहे थे। एक ओर जड़धर्मी शरीर शिथिल और अशक्त होता जा रहा था वही दूसरी ओर आत्मा की शक्ति वढती चली जा रही थी। एक ओर शरीर दूषित और विकारग्रस्त होता जा रहा था वही दूसरी ओर आत्मा के दोष और विकार उपशान्त होते चले जा रहे थे। एक ओर शरीर पीडा और ताप का अनुभव कर रहा था वही दूसरी ओर आत्मा आनन्द और शान्ति का आस्वादन करती अनुभव मे आती थी।

यही वह दिन थे जब वर्णी जी की अडिग आस्था कसोटी पर थी और समयसार की उनकी जीवन-व्यापिनी

परीक्षा का अन्तिम प्रश्नपत्र उनके सामने था। ऐसा लगता था कि इस परीक्षा के लिये उनकी तैयारी बहुत अच्छी है और उनका उत्साह और उनकी सावधानी बराबर बनी हुई है। "समयसार" तो वर्णी जी की साँसो मे बस गया था। मूल गाथाओ के साथ आचार्य अमृतचन्द्र के कलश भी चालीस वर्ष पूर्व से उन्हे कण्ठस्थ थे। इस टीका के पृष्ठ के पृष्ठ कई बार सोते समय भी तन्द्रा की स्थिति मे उनकी वाणी मे निसृत होते थे। कहा जाता है कि आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन के बाद भगवान कुन्दकुन्द की वाणी का इतना तलस्पर्शी अध्ययन किसी के द्वारा नही हुआ जितना वर्णी जी महाराज के द्वारा किया गया। वे समयसार के एकमात्र अधिकृत अध्येता माने जाते थे। सोनगढ मे कान्हजी स्वामी ने जब अपने कुल का गृहीत मिथ्यात्व वाला मार्ग छोडकर सम्यक् मार्ग की शरण लेने का उद्योग किया और समयसार का अध्ययन करना चाहा तब उनके सामने सिद्धान्त के अनेक गूढ प्रश्न उपस्थित हुए। समयसार की यात्रा मे कई जगह अटकाव और भटकाव की स्थिति का सामना कान्हजी स्वामी को उस समय करना पडा। उस समय उनकी दृष्टि भी वर्णी जी पर गयी। कलकत्ते के कुछ जिज्ञासु मित्रो को सोनगढ से अपनी शकाये गुजराती भाषा मे लिखी जाती थी। उन्हे हिन्दी मे करके वर्णी जी के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। वर्णी जी उन प्रश्नो के समाधान विस्तार से समझाकर लिखते थे। तब उनकी वह वाणी कलकत्ते से गुजराती लिपि मे सोनगढ पहुँचती थी। इस प्रक्रिया से वर्णी जी महाराज का सहारा लेकर सोनगढ के साधको का समयसार का अध्ययन सम्पन्न हुआ था। इन पत्रो का एक सकलन "अध्यात्म पत्रावली" के नाम से सोनगढ से लगभग चालीस वर्ष पूर्व प्रकाशित भी हुआ था। कालान्तर मे सोनगढ की मान्यताओ मे अनेकान्त की छवि धूमिल होती गयी और एकागी आग्रह वहाँ स्थापित हुआ, तब प्रयत्नपूर्वक इस 'अध्यात्म पत्रावली' का लोप किया गया। किन्तु यह एक पृथक प्रकरण है। यहाँ उसका विश्लेषण अभीष्ट नही।

पूज्य वर्णी जी की सल्लेखना के इस महासकल्प बीच जब हम यह देखते थे कि शरीर की पीडा के उपरान्त भी पूज्य वर्णी जी उसी सहजता और एकाग्रता के साथ समयसार का चिन्तन मनन और कभी कभी होठो के भीतर उसका उच्चारण कर रहे है, तब उनकी साधना के प्रति सबका मस्तक अनायास झुक जाता था।

आश्रम मे घटनाचक्र तीव्रगति से घूम रहा था। महाराज का उठना-बैठना और बोलना क्रमशः बन्द हो गया। आहार—खाद्य, पेय, औषधि आदि का क्रमश त्याग हुआ। सल्लेखना की विधि-विधान और उसका नियमन श्रीमान् पडित वशीधर जी न्यायालकार के निर्देशन मे हो रहा था। कही से दक्षिण के एक ऐलक महाराज पधार गये थे। वे भी वैय्यावृत्य और सुश्रुषा मे सहायक होते थे। कमरे के बीचो बीच घास के सन्थारे पर महाराज को लिटाया गया था।

प्रायः पूरे समय, महाराज शान्त और विचारमग्न, अपनी शैय्या पर निरुद्विग्न लेटे रहते थे। उनके कान के समीप धीमी और स्पष्ट ध्वनि मे निरन्तर कुछ न कुछ पाठ हम लोग किया करते थे। कभी बुधजन की 'बारह भावना' या 'छहढाला', कभी दौलतराम की 'छहढाला' या कोई पद। कभी 'एकीभाव' या 'भक्तामर स्तोत्र' और प्राय आचार्य अमृतचन्द्र के 'समयसार कलश'। महाराज जब तक चाहते, सुनते थे। वे जब स्वत कुछ चिन्तन करना चाहते थे, तब एक निश्चित इशारे से यह पाठ बन्द कर दिया जाता था। उनकी वाणी तो पहले ही थक चुकी थी, परन्तु वे निरन्तर सावधान और पूरी तरह सतर्क थे। जिस महायात्रा की साधना के लिये वे अपना बुन्देलखण्ड छोडकर, हजारो अपने लोगो की ममताभरी मनुहार से मुँह मोडकर और लाखो भोले भक्तो के आसुओ की धारा मे से मानो तैरकर इस सिद्ध भूमि पर पारस प्रभु के पादमूल मे आये थे, उस महायात्रा की घडी अब क्षण-प्रतिक्षण पास आती जा रही थी। दौड की स्पर्धा करने वाला खिलाडी, लक्ष्य रेखा को सामने देखकर जैसे पूरी शक्ति लगाकर अपनी गति को अधिक सयत और अधिक तीव्र कर देता है, उसी प्रकार वर्णी जी महाराज की जीवन व्यापी साधना, समाधि के लक्ष्य को

सम्मुख आया देखकर अधिक संयत और अधिक तीव्र हो उठी थी। करवट दिलाने के लिये, पैर या हाथ सिकोडने या फैलाने के लिये, लघुशका आदिक शरीर धर्म के लिये दो अगुलियो के निश्चित सकेत निर्धारित हो गये थे। वे आवश्यकता पडने पर जितनी एक रूपता और निस्पृहता के साथ इन सकेतो का प्रयोग करते थे उसी से यह बात स्पष्ट हो जाती थी कि वे कितने सजग और सावधान है। दर्शनार्थी भक्तो की निरन्तर बढती हुई भारी भीड को ऐसा नियन्त्रित कर दिया गया था कि सबको उनका दर्शन प्राप्त हो किन्तु उससे उनका चिन्तन और उनकी एकाग्रता बाधित न हो।

ज्योति का विलय—

दिनाक १-९-६१ को उन्होने फलो के रस का भी त्याग कर दिया। मात्र जल ग्रहण की छूट रही परन्तु शरीर की अशक्ति के कारण क्रिया के अभाव मे जल लेना भी सभव न हुआ। देहावसान के १६ घटे पूर्व दिनाक ५-९-६१ को उनकी सहर्ष अनुमति पूर्वक जल के त्याग के साथ ही उनके वस्त्रो का भी त्याग कराकर उन्हे दिगम्बर मुद्रा धारण करायी गयी। **"१०८ मुनि श्री गणेश कीर्ति"** उनका दीक्षा का नाम घोषित किया गया। आज भाद्रपद कृष्णा एकादशी का वह दिन आ ही गया, जब जीवन के यज्ञ की अन्तिम आहुति पडने वाली थी। इतने दिनो में कई बार ऐसा हुआ कि उनका शारीरिक क्लेश अनायास बढ गया। कभी थर्मामीटर के पारे ने १०५ पर जाकर विश्राम किया, कभी घुटनो और जोडो मे भंयकर पीडा उठी और कभी भीषण दाह ने श्वास नलिका मे ऐठन पैदा करने का उपक्रम किया। परन्तु हम स्पष्ट देखते थे कि शरीर की यह परिणति शरीर तक ही सीमित है। महाराज की ज्ञाता-दृष्टा आत्मा को लेशमात्र भी आकुलता पहुँचाने मे शरीर के ये उपद्रव सफल नही हो पा रहे थे। यद्यपि आज शिथिलता कुछ बढ गयी थी किन्तु उनकी सजगता और सावधानी मे कोई कमी नही आयी थी। आधी रात से उनकी श्वास मे कफ के लक्षण प्रकट हुए और दो घडी के भीतर एक बजकर बीस मिनट पर उन्होने अन्तिम श्वास ली। जीवन यदि साधना का नाम था तो आज वह सफल हो गयी। जीवन यदि एक परीक्षा थी तो आज वह समाप्त हो गयी। और जीवन किसी अनजानी दिशा की यात्रा के बीच की यदि एक बाधा-मात्र थी तो आज वह दूर हो गयी। चिर पथिक अपनी रुचिर आत्म साधना का पाथेय बाधकर अचिर यात्रा पर प्रस्थित हो गया।

मुनि श्री गणेशप्रसाद जी की समाधि का समाचार जैसे-जैसे लोग पाते गये, आश्रम जनाकुल होता गया। अपने आसू अपने ही हाथो पोछकर जब मै सावधान हुआ तो मैने देखा कि बाबू छोटेलाल जी निढाल हो कर एक ओर पडे है। बाबू नन्दलाल जी ऐलक महाराज के साथ मिलकर वर्णी जी के पावन शरीर की व्यवस्था मे लगे हैं। गया के श्री चम्पालाल जी सेठी आनन्द के अतिरेक मे बेसुध हो गये है। हाथ मे करताल लेकर ऊँचे स्वर से भजन बोलकर वे पागल की तरह नाच रहे है। सौ-पचास कण्ठ और दस-बीस चरण और भी थे, जो उनका साथ दे रहे थे। कमरा इन भक्तो से भरा था।

महाराज के देह त्याग के थोडी ही देर पहले साहु शान्तिप्रसाद जी के सुपुत्र श्री आलोक प्रकाश कलकत्ते से कार द्वारा पहुँचे थे। एकदम अस्त-व्यस्त और व्याकुल। अब वे महाराज के चरणो के वियोग का शोक और अन्त समयमे उनका दर्शन पा लेने का सन्तोष एकसाथ भोग रहे थे। बडी तत्परता से उन्होने धनवाद सन्देशा भेजकर तार, टेलीफोन और टेलीप्रिन्टर से महाराज की समाधि का समाचार अविलम्ब प्रसारित करा दिया।

शेष अवशेष—

आगे की बात बहुत सक्षिप्त है। शायद इसलिये कि वे घटनाये मेरे सामने घटी और मैं और मेरा कैमरा ये दोनो, यन्त्रवत् ही साथ-साथ उसके साक्षी रहे। प्रात. शरीर पूजन हुआ। उनकी देह को विमान मे सजाकर दो घण्टे तक लोग जुलूस मे घुमाते रहे। इसी बीच चारो तरफ से कारो, टैक्सियो, बसो और अन्य साधनो का सहारा लेकर लगभग ३००० लोग ईसरी मे एकत्र हो गये। पारसनाथ आश्रम के प्रागण मे उनके साधना कक्ष के ठीक सामने एक बडे चबूतरे का निर्माण हुआ। उसीपर चन्दन, नारियल, घी और कपूर का एक बडा ढेर लग गया जिसके

बीच मे उनका तप पूत शरीर विराजित करके उसे अग्नि को समर्पित कर दिया गया। वह सन्तापहारिणी छवि क्षण भर मे भस्मीभूत हो गयी जिसके दर्शनमात्र से सारे दैहिक, दैविक और भौतिक ताप स्वत शान्त हो जाते थे। वे यशस्वी हाथ देखते-देखते अदृश्य हो गये जिनका वरद स्पर्श, पारस का प्रभाव रखता था। वे चरण अचानक ही दृष्टिपथ से ओझल हो गये जिन पर मस्तक टेककर हम, और हमारे जैसे सैकडो लोग अपने आपको धन्य मानते थे।

देखते-देखते चिता की लपटे शान्त हो गयी और चारो तरफ के गावो से आदिवासी स्त्री-पुरुषो का ऐसा रेला आया जिसने अपने इस सिद्ध महात्मा की पावन भस्मी की एक-एक चुटकी उठाकर चबूतरा साफ कर दिया। बाबा जी के अनन्य भक्त प्रो खुशालचन्द्र गोरावाला और नरेन्द्र विद्यार्थी ने जो थोडी सी अस्थिया सचित कर ली वे शेष रह गयी। मेरे केमरे ने इन सब घटनाओ की जो छबिया अकित कर ली वे शेष रह गयी, और शेष रह गयी वे अनगिनती स्मृतिया जो हजारो लोगो के मन और मस्तिष्क मे सूम के धन की तरह आज भी संचित है, सुरक्षित है और अविस्मरणीय है।

उपसंहार

यह समाधि महोत्सव ईसरी के पारसनाथ उदासीन आश्रम मे सम्पन्न हुआ और जैन शिक्षा और सस्कृति के अभ्युत्थान का प्रथम अध्याय इसके साथ समाप्त हो गया। आज दीर्घकाल के बाद जब उन घटनाओ को स्मरण कर कर के लिखने का अवसर आया तब अनेक ऐसी स्मृतिया भी ताजी हो गयी जिन्हे लिपिबद्ध करने की बात इसके पहले कभी सोची नही थी। "सस्मरण" तो खट्टी-मीठी सभी तरह की स्मृतियो का नाम है। इसलिये इस लेख के उपसहार के रूप मे उन कुछ स्मृतियो की झलकियाँ यहाँ प्रस्तुत करने से मै अपने आपको नही रोक पा रहा हूँ।

अनुदार नियन्त्रण—

उन दिनो ब्र० श्री रतनचन्द मुख्तार आश्रम के अधिष्ठाता पद को सुशोभित कर रहे थे। उन्होने इस घटना चक्र के बीच जिस असहिष्णुता और अनुदारता का परिचय दिया वह अपने ढग की अद्वितीय कही जानी चाहिये। महाराज के अस्वास्थ्य के समाचार अथवा समाधि-सकल्प के समाचार समाज तक पहुँचाने के लिये उन्होने कोई उद्यम नही किया और इन समाचारो को रोकने की भरसक कोशिश की। मैंने दिनो वहाँ यह अनुभव किया कि महाराज के दर्शनार्थ आश्रम मे आने वाला प्रत्येक व्यक्ति अधिष्ठाता महोदय को उपसर्ग सा प्रतीत होता था और मुझे आज यह कहने मे कोई सकोच नही है कि मुख्तार साहब का रवैया यदि थोडा सहिष्णु, थोडा पर-सापेक्ष, रहा होता तो महाराज के सैकडो भक्त उनके अन्तिम दर्शन मे वचित न रह जाते। वास्तव मे अधिष्ठाता महोदय की दृष्टि मे इस महाप्रयाण का वह महत्त्व उस समय था ही नही जो महाराज के हजारो भक्तो के हृदय मे था। मुख्तार साहब इस सारे कार्य को ऐसे 'निबटा' देना चाहते थे जैसे वर्णी जी का देहावसान एक साधारण घटना से अधिक कुछ न हो।

देहावसान के पश्चात् रात्रि को दो बजे आश्रम की तरफ से अन्त्येष्टि की जो रूपरेखा बनायी गयी, वह कुल मिलाकर इतनी थी, कि सुबह साढे सात बजे आश्रम के पीछे, हाईस्कूल के पास वाले सूखे मैदान मे उनके शरीर का दाह-सस्कार होगा। मैं देख रहा था कि इस योजना मे न कही जन साधारण की भक्ति के अतिरेक को उमडने का कोई स्थान है न पूज्य वर्णी जी के स्मारक का कोई प्रावधान। मैं यह भी सोच रहा था कि यदि इसी योजनानुरूप यह दाह-सस्कार हो गया तब सुबह चारो ओर से भाग कर आने वाले शोकाकुल, दर्शनार्थी, जन समुदाय के दिल पर क्या गुजरेगी।

अधिष्ठाता महोदय के पास अपनी बात मनवाने के सबल शास्त्रीय कारण थे, किन्तु भावुकता या कोमल भावनाओ का उनमे नितान्त अभाव दिखायी दे रहा था। साढे सात बजे वे इसलिये अन्त्येष्टि करना चाहते थे क्योकि आचार ग्रन्थो मे अन्तर्मुहूर्त का व्यपदेश है। आश्रम से दूर बीहड स्थान उन्होने इसलिये पसन्द किया था कि आश्रम के आँगन मे लम्बी घास लगी थी और वहाँ

अन्त्येष्टि करने से कुछ अधिक जीव हिंसा होने का अन्देशा था। वे हम लोगो की पीडा हजार समझाने पर भी नही समझ पा रहे थे और बार-बार ग्रन्थो के प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे थे। अन्त मे किसी प्रकार हम लोग इस बात पर उन्हे राजी कर पाये कि यह त्यागियो का काम नही है, गृहस्थो का है। उसकी व्यवस्था हम गृहस्थो को ही करने दी जाय। इस पर भी अन्त्येष्टि को नौ बजे से अधिक नही टाला जा सका और साढे नौ बजे रेल से पहुँचने वाले सैकडो लोग जो देख सके वह केवल राख का ढेर था।

वास्तव मे समाधि के अन्तिम पाच दिनो मे मुझे अधिष्ठाता के अनुशासन से अनेक बार उलझना पडा। उनके असहिष्णु दृष्टिकोण ने कदम-कदम पर मुझे ऐसा मानसिक कष्ट दिया जिसे मै सहज नही भुला पाया और घर लौटकर मैने पत्र मे उन पर अपना आक्रोश प्रकट किया। तब तक सभवत: उनकी कषाय भी ढीली हो चुकी थी। उत्तर मे उन्होने मुझे लिखा :

उदासीन आश्रम
ईसरी बाजार
(हजारी बाग)
२८–९–६१

श्रीयुत नीरज जी,

सप्रेम जयजिनेन्द्र।

आज आपका क्षमावणी पत्र मिला। देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। आप महान् है जो मुझ जैसे अपराधी को भी क्षमा करने मे समर्थ है। मेने पत्र दिया किन्तु उत्तर न पाकर निराश हो बैठा था किन्तु बार-बार यह विचार आता था कि नि रज से तो ऐसी आशा नही। सभव है पत्र न मिला हो। पता अधूरा हो। आज मेरा वह विचार ठीक निकला। निराश को आशा बधी। मै अपने अपराध की निन्दा करता हू और क्षमा याचना करता हू।"

आपका
—रतनचन्द

इस पत्र मे जो सदाशयता दिखायी दे रही है वह भी मुख्तार सा० के व्यक्तित्व का एक अग है। समय-समय की परिणति है। अस्तु।

बाबा जी के उत्तराधिकारी—

समाधिकाल मे आश्रम मे जो लोग उपस्थित थे उनमे एक क्षुल्लक महाराज इस बात के लिये विशेष चिन्तित और व्यग्र दिखायी देते थे कि कब और कैसे वे पूज्य वर्णी जी महाराज के 'पीठासीन' उत्तराधिकारी घोषित किये जाये। उन्हे शायद यह भ्रम हो गया था कि उत्तराधिकारी घोषित होने मात्र से वे हजारो-लाखो भक्तजनो की वही श्रद्धा, वही भक्ति, और वही समर्पण प्राप्त कर लेगे जो अब तक पूज्य वर्णी जी महाराज को अपने तप पूत और साधना-सिक्त जीवन मे प्राप्त था।

उन महाशय ने अपने आपको पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी का उत्तराधिकारी घोषित कराने के लिये उनके जीवित रहते क्या पापड बेले, यह जानने के लिये तो मेरे पास तब समय नही था, परन्तु बाबा जी की चिता जलते ही जब वहाँ एकत्रित हजारो नर-नारियो की भीड़ ने एक श्रद्धाँजलि सभा का रूप ले लिया, किसी ने एक माइक वहाँ चालू कर दिया, और कुछ लोग अपने शोक-सतप्त उद्‌गार प्रकट करने का प्रयत्न करने लगे, तब उन महाशय के किसी साधक ने वही इस बात का प्रस्ताव कर दिया कि अब से श्री 'अमुक' जी बडे वर्णी जी का स्थान ग्रहण करेगे। समाज उन्हे मान्यता दे। पद लोलुपता और 'यश, ख्याति, लाभ तथा पूजादि' चाह की आकुल उत्कण्ठा का इससे बडा उदाहरण मैने अपने जीवन मे नही देखा था। जब एक ओर गुरु का पावन शरीर चिता की लपटो मे भस्मीभूत हो रहा हो उसी समय उसी जगह कोई उनके पद के लिये न केवल प्रयत्नशील हो जाये, वरन् खुली दुरभिसन्धि प्रकट करने लगे, यह किस पुरुषार्थ की पराकाष्ठा थी, सो हम स्वत विचार करे।

इस श्रद्धाँजलि सभा मे जब मुझे बोलने का अवसर दिया गया था तब मेरा गला इस तरह वाष्प रुद्ध हो रहा था कि कुछ हिचकियो के अतिरिक्त मै कुछ भी कहने मे सफल न हो सका। परन्तु उत्तराधिकार का यह बे मौके और बेतुका प्रस्ताव सुनकर मै अपने आपको रोक भी नही पाया और वही उसी समय मैने इस चर्चा का विरोध

किया । एक दो लोगो ने और भी उस प्रकरण के अनौचित्य पर अगुली उठायी और ऐसा लगा कि यह प्रकरण यही समाप्त हो गया है । पर बाद मे ज्ञात हुआ कि हमारा ऐसा सोचना गलत था ।

दोपहर को आश्रम के प्रवचन भवन मे दूसरी श्रद्धाजलि सभा आयोजित की गयी और उसके बाद सभी लोग अपने-अपने घर लौटने लगे । मुझे भी दूसरे रोज लौटना था ही । लौटने के पहले एक बार महाराज के कमरे मे जाकर उनके चित्र, उनकी चौकी, उनकी जाप उनकी समयसार की प्रति को देखने-छूने का लोभ हमलोग सवरण न कर सके और मैं तथा विद्यार्थी नरेन्द्र उस कमरे की ओर पहुच गये । हमने जाकर जो देखा वह हमारी कल्पना से परे का दृश्य था । पूज्य वर्णी जी के उपयोग की सारी वस्तुए बडी जल्दबाजी मे उस कमरे से हटाकर अन्यत्र एक छोटी कोठरी मे भर दी गयी थी और उस कमरे मे वे ही क्षुल्लक महाशय अपने सामान के साथ आसन जमाये हुए वर्णी जी के उत्तराधिकारी पद पर अपना अभिषेक कराये जाने की कल्पना मे तल्लीन थे ।

दु ख और आवेग, हसी और आक्रोश का हम लोगो ने एक साथ अनुभव किया, परन्तु चौवीस घण्टो मे आश्रम के भीतर जो कुछ देखा था उससे मन ऐसा ऊबा, तथा बावा जी के बिना उस आश्रम का सूनापन इतना खलने वाला लगा, कि वहॉ घडी भर भी रुकने का उत्साह या साहस हम लोग न जुटा पाये । चिता का चबूतरा खाली हो चुका था । बाबा के जैनेतर भक्त जन-बच्चो सहित दिन भर आते रहे थे और उस चबूतरे की राख और बालू सब बटोर ले जा चुके थे । हम लोगो ने भरी आखो के साथ अन्तिम वार चबूतरे का भस्म-वन्दन किया और स्टेशन की ओर चल दिये । इतना हमने जरूर किया कि रायबहादुर हरखचन्द्र जी, ब्रह्मचारी बाबू सुरेन्द्रनाथ जी, प्रो० गोरावाला, पडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री और जो भी अन्य जिम्मेदार लोग दिखते गये उन सबसे हमने इसकी शिकायत की और यह अनुरोध किया कि महाराज का कमरा उनके स्मारक के रूप मे वैसा ही सुरक्षित रखा जाय जैसा कि वह उनके जीवन काल मे था । प्रो० गोरावाला और विद्यार्थी नरेन्द्र ने तो यह भी कह डाला कि यदि यह अनुरोध सार्थक नही हुआ तो हम लोग किसी दिन आकर अपने हाथ से यह पुण्य कार्य करेगे और जिसका भी सामान उस कमरे मे होगा उसे बाहर फेक कर अपने गुरु का स्मारक यथाविधि सुरक्षित रखेगे ।

भगवान् की दया से इतना पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नही पडी । 'पीठासीन' क्षुल्लक महाराज को बात समझ मे आ गयी, (या समझा दी गयी) और उन्होने उस कमरे से अपना निष्कासन जहर के घूँट की तरह स्वीकार कर लिया । हमारे घर लौटने के एक सप्ताह के भीतर ही आश्रम के अधिष्ठाता महोदय का पत्र मुझे प्राप्त हुआ .

प्रियवर भाई नीरज जी,

सस्नेह जयजिनेन्द्र ।

मुझको खेद है कि मैं आपको इससे पूर्व पत्र नही लिख सका । पूज्य वर्णी जी के कमरे मे वे सब वस्तुए जो उनके प्रयोग मे आती थी, रख दी गयी है । उनके हाथ का लिखा हुआ समयसार पण्डित शिखरचन्द जी के पास है सो प्रयत्न यह करूगा कि वह भी उनसे मिल जावे और उनकी शास्त्र अल्मारी मे रख दिया जावे । 'मेरी जीवन गाथा' का तीसरा भाग भी छपना चाहिये जिसमे अन्तिम समय तक का जीवन आ जावे । इन सब मे आपके सहयोग की आवश्यकता है ।

भवदीय

—रतनचन्द

अंतिम श्रद्धाजंलि : जलती चिता को—

बाबा जी की समाधि का समाचार समय पर प्रसारित न किये जाने के कारण जो सैकडो लोग अन्त समय मे उनकी चरण- सेवा करने से अथवा उनका दर्शन पाने से वचित रहे उनमे महाराज के अनेक निकटतम अनुयायी और कृपापात्र भी थे। उन्ही मे थे श्रीमान् पडित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री । ट्रेन से जब वे ईसरी पहुँचे तब चिता की अग्नि अपने दाहक धर्म के परिणमन का प्रतिफल दे चुकी थी । पण्डित जी आश्रम मे पहुँचकर

उनकी वाणी मुखर थी पर पाव थक गये थे।

कुर्सी पर उन्हे प्रवचन के लिये ले जाते हुए उनका निष्ठावान सेवक महावीर।

रुग्णावस्था मे भी वे अत्यन्त शान्त और अडिग थे । परिचर्या मे रत है श्री बाबू छोटेलाल सरावगी तथा कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ।
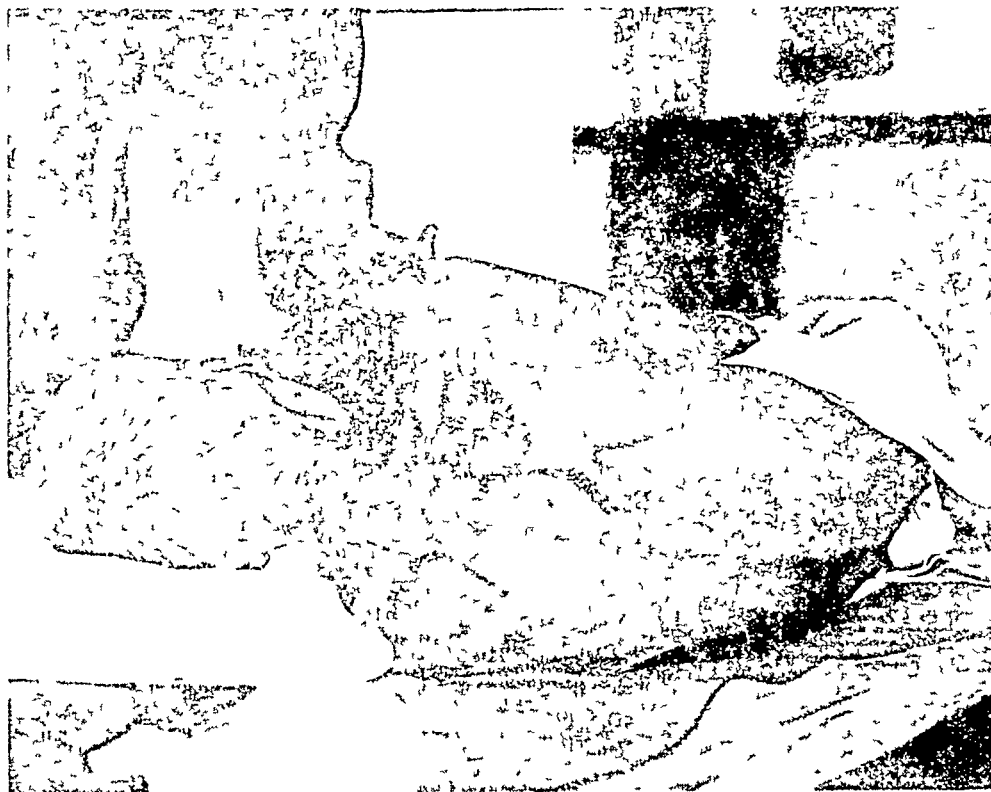
शरीर अस्थिपंजर-मात्र रह गया था परन्तु महाराज का ज्ञाता दृष्टा आत्मा अत्यन्त सावधान और वेदनारहित था ।

अन्तिम झांकियां

उनके देह की पूजा अर्चा करके विमान मे उसका जुलूस निकाला गया ।
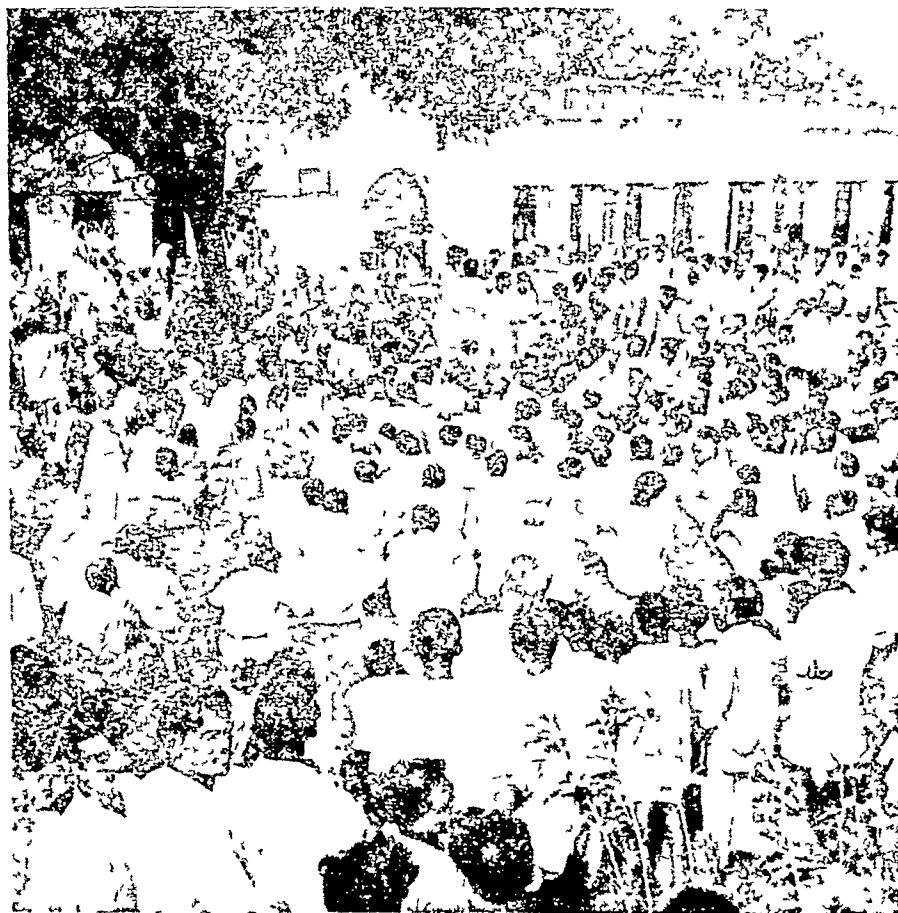
जुलूस आश्रम के आगन मे समाप्त हुआ जहा अन्तिम सस्कार की तैयारिया हो रही थी ।

चन्दन श्रौर श्रीफल की चिता मे उनका शरीर श्रग्नि को समर्पित हुश्रा ।
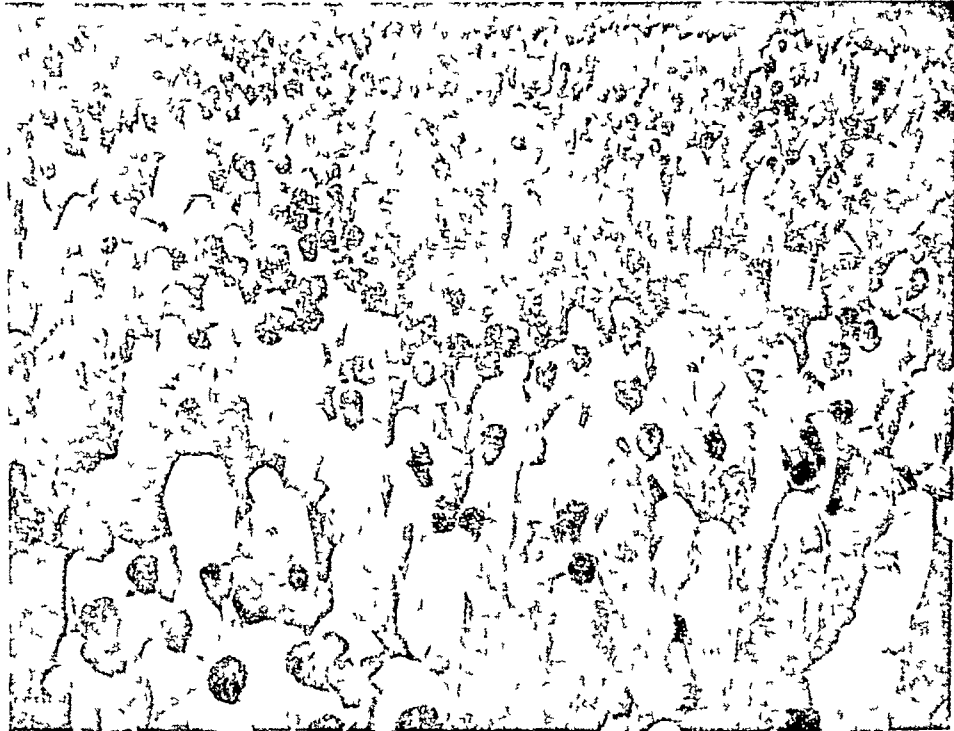
हजारो शोकाकुल स्त्री—पुरुषो ने चिता की प्रदक्षिणा देते हुए भस्म वन्दन किया ।

सीधे चिता के पास गये। मुझे साथ आते देखकर उन्होने कहा— "भैया! पिछली बार जब मैं वर्णी जी के पास आया तब दो-तीन बार उन्होने मुझे याद दिला-दिला कर यह बात कही कि भैया तुम्हारे पिता ने (बाबा गोकुलचन्द जी ने) हमे सातवी प्रतिमा के व्रत दिये थे।"

आखो मे आसू भरे हुए पण्डित जी ने आगे कहा कि बिना किसी प्रसग के जब तीसरी बार बाबा जी ने यह बात हमसे कही तो हमे ऐसा लगा कि किसी विशेष अभिप्राय से वे यह प्रसग चलाते हैं। शायद हमारे भविष्य के लिये दिशा निर्देश का कोई इशारा उनके इन शब्दो मे निहित था। एक बार तो हमारे मन मे आया कि हम पूज्य वर्णी जी से कह दें कि—"हमारे पिता जी ने आपको ब्रह्मचर्य व्रत दिया था तो वह व्रत आप हमे देकर हमारा एक उपकार और कर दे।" पर हम इतना साहस जुटा न सके।

इतना कहते-कहते गुरुवर पंडित जगन्मोहनलाल जी का कण्ठ रुद्ध सा होने लगा। उनकी वाणी का कम्पन अब छिप नही रहा था। चन्दन काष्ठ की अजुलि बनाये हुए उनके हाथ धीरे-धीरे कम्पित हो रहे थे पर उनका चित्त आकुलित या अशान्त नही था। 'बडी स्थिरतापूर्वक उन्होने अपनी बात पूरी की—"**अब, आज हमें ऐसा लगता है कि हम उनके इंगित का अर्थ न समझ पाये तो एक बड़ी भूल होगी। इसलिये उनकी चिता को साक्षी बनाकर हम यहीं आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प करते है।**"

वाक्य समाप्त होते-होते पंडित जी के हाथ का चन्दन काष्ठ चिता को समर्पित हुआ। ज्वालाओ ने उसे आत्मसात करके सभवत. अपनी अनुमोदना व्यक्त कर दी। जीवन पर्यन्त आत्म-निग्रह की साधना करने वाले उस परम-तपस्वी की चिताको, आत्म-निग्रह के सकल्प से भरा यह अन्तिम प्रणाम था।

※

'सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां।
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमज्योतिस्सदैवास्म्यहम्॥
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥'

अर्थ—यह सिद्धान्त उदारचित्त और उदार चरित्रवाले मोक्षार्थीयोको सेवन करना चाहिये कि मैं एक ही शुद्ध (कर्मरहित) चैतन्य स्वरूप परम ज्योतिवाला सदैव हूँ। तथा ये जो भिन्न लक्षणवाले नाना प्रकारके भाव प्रगट होते है, वे मै नही हूँ, क्योकि वे सपूर्ण परद्रव्य है।

११
पूज्य वर्णी जी के कुछ अप्रकाशित पत्र

डा. कन्हैयालाल अग्रवाल, सतना

श्री गणेशप्रसाद वर्णी अपने लोकहितकारी कार्यों के लिये युग-पुरुष के रूप मे विख्यात हो गये है। उनकी सस्थाओ के माध्यम से और उनके साहित्य के माध्यम से सैकडो लोगो को जीवन-निर्माण का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। मुझे उनका साक्षात् दर्शन करने का सौभाग्य तो प्राप्त नही हुआ किन्तु श्री गोपीलाल अमर और श्री नीरज जैन के सम्पर्क मे आने पर वर्णी जी महाराज के महान् व्यक्तित्व का प्रसाद प्राय मुझे मिलता रहा है। उनका जीवन ऐसी अनवरत साधनाओ का पुज था जिसके स्मरणमात्र से मनुष्य बहुत कुछ ग्रहण कर सकता है। मैने स्वत अथक परिश्रम और अनवरत परिश्रम का पाठ उनके जीवन से सीखने का सकल्प किया हे। समय का उपयोग करके कैसे अपने महान् सकल्पो की पूर्ति की जा सकती है यह वर्णी जी के जीवन की ओर देखने से सहज ही ज्ञात हो जाता है।

श्री नीरज जैन पूज्य वर्णी जी के अनन्य भक्तो मे है। उन्हे अनेक बार सप्ताहो और महीनो तक वर्णी जी की चरणसेवा करने का अवसर मिला है। उनकी स्मृति मे महाराज के सैकडो सस्मरण सुरक्षित हे। जब कभी ये सस्मरण सुनने का अवसर मिलता है तो वर्णी जी का सरल और अनुकम्पावान अलौकिक व्यक्तित्व, थोडी देर के लिये, प्रत्यक्ष-सा हो जाता है। वर्णी जी के लेखन मे भी उनके व्यक्तित्व की महानताये यत्र-तत्र प्रतिभासित होती रहती है। श्री नीरज के पास वर्णी जी के बहुत से पत्र सुरक्षित है। अधिकाश उन्हे लिखे गये और कुछ दूसरो को लिखे गये। वर्णी जी के व्यक्तित्व और उनके उपदेशो की पूरी छवि उनके पत्रो मे निहित है। श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला से "वर्णी-वाणी" और "पत्र-पारिजात" के नाम से जो सकलन प्रकाशित हुए है उनमे उनके हजारो पत्र सकलित है। मुझे यह भी ज्ञात है कि पूज्य वर्णी जी के सैकडो अप्रकाशित पत्रो का सम्पादित सग्रह डा० नरेन्द्र विद्यार्थी के पास प्रकाशन की प्रतीक्षा मे वर्षों से पडा हुआ हे। मैं वर्णी जी के भक्तो और अनुयायियो के लिये यह आलोचना और अप्रतिष्ठा की वात मानता हू कि उनके देहावसान के बाद एक पूरा युग बीत जाने पर भी तथा उनके जन्म-शताब्दी समारोह जैसे महत्त्वपूर्ण आयोजन के समय भी उनकी यशस्वी लेखिनी से प्रभूत सामग्री भी प्रकाशित नही की जा सकी है। मेरा तो यह भी अनुमान है कि बहुत वडी सख्या मे महाराज के पत्र अनेक स्थानो पर अनेक लोगो के पास सुरक्षित होगे जिन्हे अभी तक प्राप्त नही किया जा सका है। यह आशा करना अनुचित नही होगा कि वर्णी ग्रन्थमाला के सचालक इस ओर ध्यान देंगे और सकल्प करके एक निश्चित अवधि के भीतर ऐसी सारी सामग्री प्रकाशित करके लोगो के पठन-पाठन के लिये उपलब्ध कर देंगे।

इस छोटे से लेख मे मै पूज्य सत के व्यक्तित्व की कुछ विशेषताओ पर उन अप्रकाशित पत्रो के माध्यम से प्रकाश डालने का प्रयत्न करूगा, जो श्री नीरज जैन के सकलन मे मुझे देखने को मिले।

इतिहास के संरक्षक

पूज्य वर्णी जी इतिहास को किसी भी समुदाय के उत्कर्ष का सहायक निमित्त मानते थे। वे इस वात के लिये, अपने लेखन मे बहुत प्रयत्नशील दिखायी देते है कि दिगम्बर जैन समाज का तथा दिगम्बर जैन साहित्य का एक विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास तैयार किया जाय। इस कार्य के लिये उनके मन मे वडी लगन थी और एक

निश्चित योजना उनके मन मे बनकर तैयार थी। उनके जीवनकाल मे यह कार्य नही हो सका इसकी व्यथा भी उनके लेखन मे स्पष्ट झलक उठी है। देहावसान से पॉच वर्ष पूर्व इस सम्बन्ध मे उन्होंने श्रीमान् पण्डित जगन्मोहन लाल जी शास्त्री को जो मार्मिक पत्र लिखा था, वह उनकी इस लगन का यथार्थ परिचय देता है।

श्रावण सुदी ७, सं० २०१३
ईसरी बाजार

श्रीयुत पण्डित जगन्मोहनलाल जी,
इच्छाकार।

बहुतकाल से मन मे कल्पना आती थी जो आपको मनोव्यथा लिखू। दिगम्बर जैनो का इतिहास द्रुतगति से लिखा जावे। एक हजार रुपया मासिक व्यय किया जावे। यह रुपया सागर, कटनी, जबलपुर की पचायत देवे। कार्य बनारस से हो। जो पडित काम करे उन्हे एक सौ रुपया प्रति घण्टा प्रतिमास दिया जावे। काम का तकाजा न किया जावे। अध्यक्ष आप रहें।

अभी चार पडित बनारस मे है। उनसे नम्रतास-हित कहा जावे—"आपको यह काम करना पड़ेगा।" कल्पना करो प्रत्येक पंडित दो घण्टा भी काम करेंगे, आठ सौ रुपया मासिक हुआ। दो सौ रुपये फुटकर खर्च होगा। दो वर्ष में काम हो जावेगा। यदि दो मे न हुआ तो तीन वर्ष में हो जावेगा। छत्तीस हजार रुपया ही तो लगेंगे। यह काम होने से जैनधर्म का वास्तविक परिचय अनेको विद्वानो की दृष्टि में आ जावेगा। अस्तु—हमारा जो भाव था आपको लिख दिया। रुपया कहाँ से आवेगा ? जहाँ से आता है। सागर का तो मै दिलाऊगा। विशेष क्या लिखू। श्री धन्यकुमार जी कल्याण-भाजन हो। यह तो स्वनाम धन्य ही है, क्या लिखू अब वृद्ध शरीर है पत्र लिखने मे हाथ दूखता है। एक बार महानुभावों के श्रवण मे मेरा सन्देश कह देना। मानना न मानना हृदय की वृत्ति पर है।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

यह ध्यान देने योग्य है कि समाज के इतिहास के प्रति इतनी गहरी लगन और कितनी विस्तृत और स्पष्ट योजना उनके हृदय मे थी।

समाज का कोई भी उत्सव या समारोह हो, पूज्य वर्णी जी के पास उसकी उपयोगिता की कसौटी यही थी कि अशिक्षा के निवारण मे और शिक्षा के प्रसार मे उस उत्सव का कितना योगदान है। सन् १९५५ मे द्रोणगिरि (छतरपुर) मध्यप्रदेश मे पचकल्याणक महोत्सव बडे विशाल आयोजन के साथ सम्पन्न हुआ था। इस उत्सव का आँखो देखा हाल श्री नीरज जैन ने एक विस्तृत पत्र द्वारा पूज्य वर्णी जी के पास भेजा। महाराज ने उस महोत्सव की समीक्षा इसी आधार पर की और स्पष्ट ही अपना असन्तोष इसके लिये प्रकट किया कि इतने बड़े उत्सव मे भी बुन्देलखण्ड के विद्यार्थियो के ज्ञानार्जन के लिये कोई स्थायी व्यवस्था नही हो पायी। इस सन्दर्भ मे उनके दो पत्र अवलोकनीय है—

चैत्र वदी २ संवत् २०११

श्रीयुत महाशय कवि नीरज जी,
योग्य कल्याण-भाजन हो।

पत्र आया। समाचार जानें। आप लोगों को धन्यवाद है जो कार्य सफल हुआ। किन्तु पाठशाला की स्थिरता नही हुई। यदि एक लाख रुपया भी ऐसे समारोह मे हो जाता तब कुछ कठिन न था परन्तु इस ओर किसी का लक्ष्य नही। स्वय मलैया बीस हजार रुपया देते तब शेष रुपया अनायास हो जाता। अस्तु। जो

हुआ वही बहुत है। सौ छात्रो का प्रबन्ध भी नही हुआ तब क्या कहे। विशेष लिखने को जी नही चाहता। ऐसा सुअवसर बार बार न मिलेगा।

ऊषरे सरसि शाल्मलि-बने,
दाव-पावक-चितेऽपि चन्दने।
तुल्यमर्षयसि वारि, वारिद,
कीर्तिरस्तु, गुण-विज्ञता गता।।

(ऊसर मे और सरसि मे, शालमलि बन में और दावानल से दहकते हुए वन मे, चिता पर और चन्दन वृक्ष पर, एक समान बरसने वाले हे मेध। इससे तेरी कीर्ति ज्ञात हो तो हो, गुण-विज्ञता समाप्त हो जाती है।)

यही दशा हमारी है।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

महाराज के इस पत्र के उत्तर मे श्री नीरज जी ने समय और परिस्थितियो का बखान करते हुए अपने पत्र मे निवेदन किया कि जितना हो गया वही बहुत था। परन्तु वर्णी जी के शिक्षा-सकल्पी मन को उससे वोध नही लगा। उन्होने दसवे दिन ही दूसरा पत्र लिखा—

ईसरी बाजार
चैत्र वदी १३ सवत २०११

श्री नीरज महाशय,
कल्याण-भाजन हो।

पत्र आया। समाचार जाने। हमको सन्तोष करा दो यह ठीक है परन्तु आप स्वय सन्तुष्ट नही हुए होगे। यदि लोको के चित्त मे विद्या का महत्त्व आया होता तब एक लाख रुपया होना कठिन न था मलैया जी ने गुरुतर परिश्रम किया इसमे कोई शका नही, परन्तु दान देने मे कुछ सकोच कर गये। बीस हजार रुपया उन्हे देना था। सिघई जी को और श्री भगवानदास जी को भी इतना ही देना था। तब चालीस हजार शेप जनता का हो जाता। अस्तु, जो हुआ सो अच्छा है। सन्तोष ही करना अच्छा है, अभी 'देश' का कल्याण दूर है। यदि मनुष्य वास्तव तत्त्व समझते तब एक सौ छात्रो की रक्षा दुर्लभ न होती। यह होगा जो पर साल ऐसा मेला नैनागिर मे हो, जो इससे अच्छा प्रबन्ध हो, यह बात अवश्य हुई। विशेप क्या लिखे, धनिक वर्ग सुनता नही, न सुने, पचम काल है अन्त मे यही कह के चुप होना पडता है।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

पूज्य वर्णी जी धर्म की प्रभावना और परपीड़ा के निवारण की प्रेरणा को भी अपने पत्रो मे पर्याप्त स्थान देते थे। दमोह के श्री भागचन्द जी इटौरया वर्णी जी के निष्ठावान् भक्त है। उन्होंने समाज-सुधार के लिये कुछ योजना बनायी और कुछ दान करने का सकल्प वर्णी जी को सूचित किया जिसके उत्तर मे महाराज ने उन्हे वास्तविक प्रभावना करने का और निरन्तर स्वाध्याय करने का उपदेश दिया.

ईसरी बाजार
जेठ वदी ४, सवत् २०१३

श्रीयुत महाशय इटौरया जी,
योग्य कल्याण-भाजन हो।

जैन जनता मे अभी यह भाव नही हुआ जो जैनधर्म का व्यापक प्रचार किया जावे। इनका लक्ष्य तभी बाह्य-प्रभावना मे सो भी नही। प्रभावना वह वस्तु है जिसे देखकर अनेको का धर्म मे अनुराग हो सकता है। आपके विचार प्रशस्त है। जहाँ तक बने यही प्रयास करो, एक दिन सफल

होग्रोगे । अपने विचार दृढ़ रखो । आत्मा की निर्मलता सर्व शान्ति का उपाय है, यह कौन बड़ी वस्तु है ।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

इटौरया जी की उदारता की सराहना करते हुए एक अन्य पत्र मे बाबा जी ने लिखा

"आपकी यह परिणति ही ससार उच्छेद का कारण होगी । वही मनुष्य इस ससार के झझट से रक्षित रहता है जो न्यायमार्ग को उल्लघन नही करता । जहाँ तक बने स्वाध्याय मे भी कुछ काल लगाना । अपनी समालोचना करना, पर की समालोचना मे काल का उपयोग न करना । रुपयो का हम क्या करेगे ? हमको प्रसन्नता इसमे है जो आप विवेक से काम लेते हो ।"

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

स्याद्वाद विद्यालय बनारस की जयन्ती के समय पूज्य वर्णी जी ने इटौरया जी को पुन· लिखा ·

"पत्र आया, समाचार जाने । आपकी उदारता प्रशसनीय है, किन्तु मेरा कहना है कुछ स्वाध्याय भी करना चाहिये, तथा यह कहना है—स्याद्वाद विद्यालय जैनियो मे मुख्य सस्था है । इसकी स्वर्ण-जयन्ती का उत्सव होने वाला है । उसमे अवश्य सहायता करना चाहिये । आप उसमे अवश्य पधारे । बहुत बातो का निर्णय हो जावेगा तथा यह भी पता लग जावेगा जो समाज किस ओर जा रहा है ।"

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

ऐसी प्रेरणा और ऐसे प्रेम पगे उपदेशो से भरे हुए होते थे उनके पत्र । पढने पर ऐसा लगता है जैसे सम्मुख ही किसी से चर्चा हो रही हो । श्री नीरज जैन के सग्रह मे पूज्य वर्णी जी के शताधिक पत्र मुझे देखने को मिले । हर पत्र का अलग-अलग सदर्भ उनकी स्मृति मे है और हर पत्र किसी न किसी उपदेश से सुरभित है । लेख का कलेवर अधिक नही बढाते हुए मै दो पत्रो का उल्लेख करके इसे समाप्त करूगा ।

सवत् २००७ मे पूज्य वर्णी जी के—"हरिजनो की धार्मिक पात्रता" सम्बन्धी क्रान्तिकारी विचारो को लेकर समाज के स्थिति-पालक वर्ग मे तूफान आ गया था । पत्रो के सम्पादक वर्णी जी को विजातीय होने का फतवा और अपदस्थ कर दिये जाने की धमकिया दे रहे थे और विद्वानो (?) के भाषण गालियों से उनका सम्बोधन करते थे । उस समय विद्यार्थी नरेन्द्र और श्री नीरज जैन ने 'हरिजन मन्दिर प्रवेश' नाम से एक छोटी पुस्तक प्रकाशित करने की योजना बनायी । विद्यार्थी नरेन्द्र की सतर्क और तीखी भाषा मे पूज्य वर्णी जी के मतव्य का जैसा सटीक समर्थन तथा विरोध करने वालो की जैसी निर्मम अलोचना उस पुस्तक मे होने वाली थी उसकी चर्चा दोनो खेमो मे हुई । स्थिति-पालक वर्ग ने इस सम्बन्ध मे पूज्य वर्णी जी को भी इस सम्बन्ध मे लिखा और इस प्रकाशन से समाज की शान्ति-भग होने का अन्देशा प्रकट किया ।

इस प्रकरण मे महाराज् ने विद्यार्थी नरेन्द्र को एक पत्र मे लिखा

श्रीयुत महाशय नरेन्द्रकुमार जी,
योग्य दर्शनविशुद्धिः ।

पत्र आया, समाचार जाने । हमारा तो यही अभिप्राय है जो समाज मे अशान्ति न हो । तलवार का वार ढाल से बचाना चाहिये । विशेष कुछ नही, जिसमे तुमको उत्तर काल मे शान्ति मिले वह करो । जैनधर्म का दृढ पालने वाला बड़े बड़े परीषह सहता है । अभी तो श्री···

....जी ने हमको कुछ नही लिखा । इससे भी अधिक लिखें, हम कुछ न लिखेगे । हमको जो लिखना था, लिख दिया । हमारा विश्वास है जनता कुतूहल-प्रिय होती है ।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

इसी सन्दर्भ मे नीरज जी को बाबा जी ने लिखा

श्रीयुत महाशय नीरज जी,
योग्यदर्शनविशुद्धि. ।

पत्र आया, समाचार जाने । आप जानते है, मै किसी का हित करने मे असमर्थ हूँ । आप लोको की जो इच्छा हो सो करे किन्तु भाषा सरल और तर्क आगम के अनुकूल हो, ऐसा ही उत्तर मुद्रित करावे । विशेष क्या लिखे । मुझे तो यह विश्वास हो जो ऐसा महापुरुष इस समय नही है जो निर्व्याज पर का कल्याणकर्त्ता हो । आप लोको के हम स्वामी नही अत आपकी इच्छा मे जो आवे सो करो ।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

एक पत्र मे नीरज जी ने अपनी कुछ निपट वैयक्तिक परेशानियो की सूचना पूज्य वर्णी जी को दी । इसी पत्र मे उन्होने महाराज से भी प्रार्थना की कि समय निकाल कर अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' का दूसरा भाग शीघ्र पूरा करने की दया करें । उत्तर मे महाराज ने लिखा

श्रीयुत महाशय नीरज,

नीरज हो यही हमारी कामना है । जो काम करो, सन्तोष से करना । काल पाकर ही कार्य होता है । अणुमात्र भी व्यग्र न होना । उदयानुकूल सर्व होगा । प्राणियो के चरित्र तो सर्वदा ऐसे ही रहेगे । किसी विशेष के विशेष हो जावे, यही प्रशस्त मार्ग है ।

'जीवन गाथा' का प्रयत्न करेगे । आप अपने से अपना काम कीजिये । अन्य तो अन्य ही है । सिद्धान्त नही बदलता, ससार ही बदलता है, इसको सही मानो । जगत् की चिन्ता दु ख की जननी है । मानो चाहे न मानो ।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

जिस प्रकार महापुरुषो के प्रत्येक आचरण मे महानता का दर्शन होता है उसी प्रकार पूज्य वर्णी जी के पत्रो मे प्रत्येक पक्ति से महानता, सदाशयता और अनुकम्पा टपकती है । उनके पत्रो को प्रकाशित करके यदि उनका विधिवत् वर्गीकरण किया जाय, तो मनुष्य मे मानवता का विकास कराने वाली एक अच्छी उपदेश-माला तैयार की जा सकती है । आशा है यह बात वर्णी भक्तो की दृष्टि मे होगी । उनकी जन्म-शताब्दी पर मेरे शतश प्रणाम ।

✲

१२

"पूज्य वर्णी जी के सुभाषित"

लेखक : **श्रीचन्द्र जैन,** M.A,LL B

(१)

देवभाषा मधुर है, काव्य मधुरतर है, सुभाषित मधुरतम।

—अज्ञात

(२)

हर सुभाषित मधु मक्षिकाओ की तरह होना चाहिए। जिसमे डंक हो, शहद हो और जिसका छोटा-सा शरीर हो।

—मार्ट

(३)

जीवन को देखने की शक्ति दुर्लभ है, उससे सबक लेना दुर्लभतर है, और उस सबक को नुकीले वाक्य मे घनीभूत कर देना दुर्लभतम है।

—जॉन मौर्ले

(४)

प्राचीन ज्ञानियो ने अपना अधिकाश आध्यात्मिक ज्ञान सुभाषितो की हल की नौकाओ द्वारा काल-धारा मे प्रवाहित कर दिया है।

—ह्विपिल

(ज्ञानगगा पृष्ठ ७३०)

आदर्शवाद के धरातल पर पल्लवित ये सुभाषित गहन अनुभव से परिपुष्ट होकर जन-जन के हितकारी बनते है। विपत्तियो के उपस्थित हो जाने पर जब मानव किंकर्त्तव्यविमूढ होता है। तब ये ही सुभाषित उसे नव-चेतना प्रदान करते है एव उसके सामने एक ऐसा मनोरम मार्ग स्थापित कर देते है जिस पर चलकर वह अपने लक्ष्य को भलीभाँति पहचान लेता है। वस्तुतः सुभाषित, अनुभवी सज्जनो की उपदेशात्मक चिन्तन की साकार प्रतिमूर्ति है।

परमपूज्य वर्णी जी की वाणी स्वय सुभाषितो की एक गरिमामयी सृजनपरता है, जिनमे जीवन के अनुभवो का वैविध्य है, विश्व-कल्याण की सुनिश्चित भावना निहित है, मानवता के प्रति अगाध स्नेह है, विरक्ति के लिए सतत साधना का प्रयास है एव कल्पित अन्धविश्वासो के प्रति अनास्थामूलक विद्रोह है। जीवन का कोई भी ऐसा तथ्य पूज्य वर्णी जी के ज्ञान-नेत्रो से ओझल नही हो सका है, जिसे सन्तो ने न जाना हो। व्यापकता, गहनता, आत्म-शोधन, निज-परीक्षण, अनेकान्तवाद, आत्म-शक्ति, दृढ निश्चय, सिद्धान्त-निष्ठा, एकाग्रता, धर्म का महत्त्व, पाप-पुण्य की व्याख्या, ज्ञान-महिमा, भक्ति रहस्य, स्वाध्याय-महत्त्व, मानस निर्मलता, स्वोपकार-परोपकार, शान्ति, आत्म-विसर्जन आदि सैकडो ऐसे तत्त्व है जो पूज्य वर्णी जी के सुभाषितो मे गुम्फित है। इन सीमित पृष्ठो मे कतिपय सिद्धान्त-मूलक सुभाषितो को ही यहाँ उद्धृत किया जाता है।

(१)

ससार मे हम लोग जो आज तक भ्रमण कर रहे है, उसका मूल कारण यह है कि हमने अपनी रक्षा नही की और निरन्तर परपदार्थो के ममत्व मे अपनी आत्मशक्ति भूल गये।

(२)

आत्मा का गुरु आत्मा ही है और आत्मा ही उसका शत्रु है।

(३)

आत्मा मे अचिन्त्य शक्ति है, परन्तु कर्मावृत्त होने से ढकी है। इसके लिए भेद-ज्ञान की आवश्यकना है और भेदज्ञान के लिए महती आवश्यकता आगमाभ्यास की है। जितना समय ससारी कामो मे लगाते हो उसका दशाश भी यदि आगमाभ्यास मे लगावो तो अनायास ही भेदज्ञान हो सकता है।

(४)

अन्तरग की निर्मलता का कारण आत्मा स्वय है। अन्य निमित्त कारण है। किसी के परिणाम किसी के द्वारा निर्मल हो जावे, यह नियम नही। हाँ, वह जीव पुरुषार्थ करे और काललब्धि आदि कारण सामग्री का सद्भाव हो तो निर्मल परिणाम होने मे बाधा नही। परतु उसी का ऊहापोह करे और उद्यम न करे तो कार्य सिद्ध होना दुर्लभ है। कल्याण का कारण अन्तरग की निर्मलता है न कि घर छोडना और मौन ले लेना।

(६)

ससार मोहरूप है, इसमे ममता न करो। कुटुम्ब की रक्षा करो परन्तु उसमे आसक्त न होओ। जल मे कमल की तरह भिन्न रहो, यही गृहस्थ को श्रेयस्कर है।

(७)

जब तक आकुलता-विहीन अनुभव न हो तब तक शान्ति नही। अत इन बाह्य आलबनो को छोडकर स्वावलबन द्वारा रागादिको की क्षीणता करने का उपाय करना ही अपना ध्येय बनाओ और एकान्त मे बैठकर उसी का मनन करो।

(८)

ससार का मूलकारण राग द्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त कर ली उसके लिए शेष क्या रह गया है?

(९)

परिग्रह अनर्थों का प्रधान उत्पादक है, यह किसी से छिपा नही स्वय अनुभूत है। उदाहरण की आवश्यकता नही, आवश्यकता उससे विरक्त होने की है।

(१०)

मेरा तो शास्त्रो के द्वारा यह विश्वास हो गया है कि ससार मे अनर्थो और अत्याचारो की जड परिग्रह ही है। जहाँ यह इकट्ठा हुआ वही झगडा होता है। जिन मठो मे द्रव्य है वहाँ पर सर्वप्रकार का कलह है।

(११)

सयोग और वियोग मे सुख-दुख का कारण ममत्व-भाव है। ममत्व-भाव से ही परसयोग मे सुख और वियोग मे दुख होता है और कही पर जिस पदार्थ से हमारा अनिष्ट होता है उसमे हमारी ममत्व-बुद्धि न होकर द्वेष-बुद्धि होती है। अत अनिष्ट पदार्थ के सयोग मे दुख और वियोग मे सुख होता है। वास्तव मे ये दोनो कल्पनाएँ अनात्मधर्म होने से अनुपादेय ही है।

(१२)

हम लोग केवल शास्त्रीय परिभाषाओ से त्याग करने के व्यसनी है। जब तक आत्मगत विकारो से त्याग नही होता तब तक त्याग, त्याग नही कहला सकता।

(१३)

जीवो की रक्षा करना ही धर्म है। जहाँ जीवघात मे धर्म माना जावे वहाँ जितनी भी बाह्य क्रिया है, सब विफल है। धर्म तो वह पदार्थ है जिसके द्वारा यह प्राणी ससार बन्धन से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्राणी का घात धर्म बताया जावे उनके दया का अभाव है, जहाँ दया का अभाव है वहाँ धर्म का अश नही, जहाँ धर्म नही वहाँ ससार से मुक्ति नही।

(१४)

जिसका आचरण आगम-विरुद्ध है वह बाह्य मे कितना ही कठिन तपश्चरण क्यो न करे मोक्ष-मार्ग का साधक नही हो सकता।

(१५)

जिसकी प्रवृत्ति हर्ष और विषाद से परे है वही मुक्ति का पात्र है ।

(१६)

ज्ञानी वही है जो उपद्रवो से चलायमान न हो। स्यालिनी ने सुकुमाल स्वामी का उदर विदारण करके अपने क्रोध की पराकाष्ठा का परिचय दिया किन्तु सुकुमाल स्वामी उस भयकर उपसर्ग से विचलित न होकर उपशम-श्रेणी द्वारा सर्वार्थसिद्धि विमान के पात्र हुए । अत. मै उसी को सम्यग्ज्ञानी मानता हूँ जिसके मान अपमान से कोई हर्ष विषाद नही होता ।

(१७)

पर्याय की सफलता सयम से है। मनुष्य भव मे देव पर्याय से भी उत्तमता इसी सयम की मुख्यता से है।

(१८)

उपयोग की स्थिरता मे स्वाध्याय मुख्य हेतु है। इसी से इसका अन्तरङ्ग तप मे समावेश किया गया है। तथा सवर निर्जरा मे कारण है। अतएव श्रेणी मे अल्प से अल्प आठ प्रवचन मातृका ज्ञान परमावश्यक है। अवधि और मन पर्ययसे भी श्रुतज्ञान महोपकारी है। यथार्थ पदार्थ की अवगति इसके ही बल से होती है। अतः सब उपायो से इसकी वृद्धि करना यही मोक्ष का प्रथम सोपान है।

(१९)

जिस तरह व्यापार का प्रयोजन आर्थिकलाभ है उसी तरह स्वाध्याय का प्रयोजन शान्तिलाभ है ।

(२०)

वदना (तीर्थयात्रा) का अर्थ अतरङ्ग निर्मलता है। जहाँ परिणामो मे सक्लेशता हो जावे वहाँ यात्रा का तात्त्विक लाभ नही ।

(२१)

जो वस्तु भाग्य मे नही होती वह थाली मे आने पर भी चली जाती है और जो भाग्य मे होती है वह द्वीपान्तर से भी आ जाती है। अत मनुष्य को उचित है कि सुख-दुख मे समताभाव धारण करे।

[ये सुभाषित वर्णी-वाणी (सकलयिता. वि. नरेन्द्र जैन) से लिये गए हैं, अत. लेखक विद्यार्थी जैन के प्रति कृतज्ञ है।]

इन सुभाषितो मे भाषा के सौन्दर्य के साथ शैली मे प्राजलता है, तथा प्रचलित और लोक-प्रिय उदाहरणो से कथ्य को सुगम, -सर्वग्राह्य और प्रभावोत्पादक बनाया गया है। "मेरी जीवन गाथा" मे भी पूज्य वर्णी जी ने यथावसर अनेक तात्त्विक सिद्धान्तो को निरूपित किया है और मार्मिक प्रसगो को अधिक प्रभावक बनाने के लिए जो उदाहरण दिये गए है उनकी रोचकता सर्वत्र दृष्टव्य है।

✲

भगवन्! तुम अचिन्त्यशक्ति के स्वत्व मे क्यो दर दर के भिक्षुक बन रहे हो ? भगवान् से तात्पर्य स्वात्मा से है। यदि तुम अपने को सँभालो तो फिर जगत् को प्रसन्न करने की आवश्यकता नही ।

—गणेश वर्णी

१३
वर्णीजी और जैनधर्म

सन्त विनोवाजी भावे

एक ऐसे महापुरुषकी जयन्ती मनानेके लिए हम एकत्रित हुए है। जिन्होने समाज सेवाका कार्य किया है। भूदानयज्ञके सिलसिलेमे मै ललितपुरमे वर्णीजीसे मिला था। भूदानयज्ञकी सफलताके लिए सहानुभूति प्रगट करते हुए उन्होने कहा था कि ऐसे महासन्तको छोटेसे कार्यके लिए घूमना पडे यह दु खकी वात है। वर्णीजीने जो कार्य किया है वह वहुत अच्छा है। वे ज्ञान-प्रचार चाहते थे। जनतामे ज्ञानप्रचार हो जाने पर अन्य अच्छी बाते स्वय ही आजाती है। मूलसिञ्चन करने से पानी शाखाओ तक स्वय ही पहुँच जाता है। वर्णी जी स्वय जैन नही थे पर जैन होकर जैन समाजका ही हित नही किया जैनेतरो का भी हित किया है।

जैनधर्म प्राचीन धर्म है। इसका वैदिकधर्म के साथ अच्छा सम्वन्ध रहा है, किन्तु बीचमे कसमकस व मन्थन भी चलता रहा। दोनोने रुख बदला एव दूधमे शक्करके समान घुलकर काम किया। नतीजा यह हुआ कि जैन-धर्म आज भी है। इसके विपरीत बौद्धकर्म हिन्दुस्थान ही नही दुनिया मे फैला, किन्तु प्रत्यक्षरूपसे यह यहा नही है। जैन चुपचाप कार्य कर रहे है। उनकी कार्यशैलीमे विरोध नही है। लोग महावीर जीसे कई सवाल पूँछते थे। ब्राह्मणोके प्रश्नोका जवाव वे उपनिषदो जैसा देते थे। उनका ध्येय पन्थविशेषका प्रचार नही था। आत्माका उद्धार मुख्य उद्देश था। अत आग्रह विना उन्नतिका कार्य जैनोने किया। बौद्धधर्मकी खुशवू आज भी चीन और जापानसे कही अधिक हिन्दुस्थानके अन्तस्थलमे है। उनकी भूतदया और अहिसा आदि हिन्दुओने भी मानी। यह वैदिकधर्ममे भी है। राजसत्ता द्वारा धर्म फैलनेकी वजाय वह मिटता है। ईसाइयोने राजसत्ता द्वारा धर्म फैलाने का प्रयास किया तो झगडे हुए। हिन्दुओ को राजसत्तासे धर्म फैलानेमे लाभ न हुआ। जैन भी राजा थे। शासनने धर्मके लिए मदद पहुँचायी, इसलिए सघर्ष पैदा हुआ इस्लाम इसका उदाहरण हे। वडी जमात होना धर्म प्रचारका लक्षण नही। सत्यका प्रचार सत्ता से नही होता धर्म और सत्ताका मिश्रण ठीक नही। दोनोमेसे या धर्म नष्ट होगा या सत्ता नष्ट होगी।

जैन बुद्धिवादी है। जैनोने इतना साहित्य लिखा है कि शायद ही इतनी छोटी जमात इतना साहित्य लिख सके। प्रत्येक शाखामे हजारो ग्रन्थोकी रचना की। वहुत सी सारी भाषाओमे जैनाचार्योंने ग्रन्थरचना की है। अपभ्रश, कन्नड, गुजराती आदि भाषाओमे इनका साहित्य भरा पडा है। मूलभाषाओके श्रोतमे विशेषतया जैनोका हाथ रहा है, जैनोने तालीम देना अपना कर्तव्य माना। जव बालक मूलाक्षर क ख ग सीखने जाता है तव 'श्री गणेशाय नम' विद्यार्थीकी तरफसे बोला जाता है। 'ॐ नम सिद्धेभ्य' जैन गुरुओका मूल मन्त्र है। जैन गुरुओसे हिन्दू भी पाठ पढने जाते थे, किन्तु वे अपने धर्मका भार किसीके ऊपर नही लादते थे। उनका कहना था कि विद्या-प्रचारसे सव कुछ हो जाता है। वे ज्ञान देकर ही सन्तुष्ट रहते थे। वर्णीजीने भी यही किया।

एक जमाना था जब जैन, बौद्ध, हिन्दू तीनो मिलकर एक ही घरमे रहते थे। ·······

जैन माध्यस्थ्य दृष्टिसे काम करते है। अहिसाके सिवाय माध्यस्थ्य दृष्टि रखते हुए मेलजोलसे रहना विचार-भेद होते हुए भी एक दूसरेकी कद्र करना जैनोकी चीज है। इस माध्यस्थ्यदृष्टिने ससारको बडी भारी सीख दी है। तर्क और न्यायशास्त्र रचकर उसे पक्की बना दी। तत्त्वज्ञान न देते तो न टिकती, क्योकि भारतीय तत्त्व-ज्ञानी आत्म-खेतमे बुनयादी शोध करते थे। साम्यवादी भी समदृष्टि को बल देते है। "शास्त्र ज्ञापक, न कारकम्" के अनुसार शास्त्र मार्गसूचक यन्त्रकी तरह स्थिति बता देते है। अमलमे लाने पर ही उनका ज्ञान होता है। वर्णीजीने इसी श्रद्धासे काम फैलाया। जैनी और अन्यो को भी प्रेरणा दी। उनकी जयन्तीका लाभ उठाते हुए आत्माका लाभ करे। नाम और जाति तो बन्धन है। महापुरुष चाहते नही। जयन्ती मनाने का प्रयोजन अच्छे कामो का अनुकरण करना है।*

✲

ससार से उद्धार करने के अर्थ तो रागादि-निवृत्ति होनी चाहिये परन्तु हमारा लक्ष्य उस पवित्र मार्ग की ओर नही जाता। केवल जिससे रागादि पुष्ट हों उसी ओर अग्रसर होता है। अनादिकाल से परपदार्थो को अपना मान रखा है उसी ओर दृष्टि जाती है—कल्याण-मार्ग से विमुख रहते है।

—गणेश वर्णी

* ७९ वी वर्णीजयन्ती सप्ताहके उद्घाटनके समय ता० ३ सितम्बर सन् १९५२, अनन्तचतुर्दशी को श्री स्याद्वाद जैन विद्यालय वाराणसी मे किया गया प्रवचन।

१४

सागर विद्यालय के संस्थापक और सहकारी

पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

इस विद्यालयकी स्थापना अक्षयतृतीयाके मङ्गलमय मुहूर्तमे हुई थी इसलिए इसकी प्रगति उत्तरोत्तर वढती ही गई। पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी इसके सस्थापक और अधिष्ठाता थे। इनका स्थायी निवास सागर ही रहा और जब तक सागर रहे तब तक छात्रोके सपर्कमे अवश्य रहे। आपकी आत्मा आकाशकी तरह निर्लेप और समुज्ज्वल थी अत आपके सपर्कमे रहने वाले छात्र भी लौकिक वातावरण से हटकर निरन्तर अध्ययनमे ही रत रहे हैं। आसपास जैनियोकी घनी बस्ती होनेके कारण इस विद्यालय-मे कभी छात्रोकी कमी नही रही। यह दूसरी बात है कि विद्यालय पुष्कल साधनोके अभावमे वहुसख्यक छात्रोको प्रवेश देनेमे असमर्थ रहा।

छोटा सा अकुर—

सागर न शहर है न देहात। यहाँका वातावरण श्रद्धा एव शान्तिसे ओत-प्रोत रहा है। उसपर पवित्रहृदय पूज्य वर्णीजीका सन्निधान प्राप्त था, इसलिए लोगोकी श्रद्धा और शान्तिमे निरन्तर वृद्धि ही होती रही। सन् १९०५ की प्रोसीडिग बुक् हमारे सामने है, उसमे लिखा है कि सागर मे एक ज्ञान-प्रकाशिनी सभाकी स्थापना कुछ उत्साही वन्धुओने की थी। उत्साही वन्धु थे श्री नन्हूरामजी सराफ, वालचन्द्रजी अरजीनवीस, पूर्णचन्द्रजी बजाज, प० दमरूलालजी और पन्नालालजी वडकुर आदि। उस सभाके सभापति थे श्री नन्हूरामजी और मन्त्री थे श्री पन्नालालजी वडकुर। यह सभा सात दिनमे एक वार बैठती थी और इसमे सभासद लोग निबन्ध-पाठ किया करते थे। इसी सभाको यह आवश्यकता अनुभवमे आई कि हमारे नगरमे एक पाठशाला खुलना चाहिये जिसमे हम लोग पूजापाठ तथा जैन शास्त्रोका अध्ययन कर स्वाध्यायके योग्य वन सके। फलस्वरूप इसी सभा द्वारा कुंवार शुक्ला १० स १९६२ दिनाक १-१०-१९०५ को एक स्थानीय पाठशालाकी स्थापना की गई। पाठशालाका समय था प्रात ६ वजे से ९ वजे तक और रातको ६ वजेसे ९ वजे तक। इस पाठशालामे अष्टमी और चतुर्दशीको प्रात कालकी छुट्टी रहती थी। प्रथम अध्यापक श्री वसतीलालजी थे जो कि १५) मासिक पर नियुक्त हुए थे। २) मासिक चपरासीको दिया जाता था। इस स्थापनाके पूर्व २४-९-१९०५ की सभामे ११७) का चन्दा हुआ था। ४२ स्थानीय छात्र इस पाठशालामे पचमगल, अभिषेक, विनयपाठ तथा पूजा आदि की शिक्षा ग्रहण करने लगे। शहर के पञ्च लोग बीच-बीचमे छात्रोकी परीक्षा लेकर तथा पुरस्कार-वितरण कर उनका उत्साह वढाते रहे। पाठशाला चलती रही। प० वसतीलालजीके वाद पं० दीपचन्द्रजी और उनके वाद प० मूलचन्द्रजी विलौआ इस पाठशाला मे अध्यापन कराते रहे।

सन् १९०९ आया। ललितपुरमे विमानोत्सव था पूज्य वर्णीजी (जो कि उस समय अव्रती थे) उस विमानोत्सवमे पहुँचे। सागरकी ज्ञान-प्रकाशिनी सभाके सभासद भी उस विमानोत्सवमे पहुँचे थे। पूज्य वर्णीजी निरन्तर इस वातका अनुभव करते रहते थे कि यदि जिन-शासनकी सच्ची प्रभावना करना है तो लोगोका अज्ञानान्धकार दूर करना चाहिये। केवल रथ, प्रतिष्ठा, जलयात्रा या विमानोत्सवसे स्थायी प्रभावना नही हो सकती। अब तक

वर्णीजी बनारसमे स्याद्वाद विद्यालयकी स्थापना कर चुके थे और स्वयं उच्चकोटिका अध्ययन करनेके लिए अपने साथ सहदेवझा जीको रक्खे हुए थे । वे भी उस विमानोत्सवमे वर्णीजीके साथ थे ।

वर्णीजीने सागर के उत्साही युवकोसे सागरका समाचार और पढने-लिखनेकी बात पूछी—युवकोने अपनी ज्ञान-प्रकाशिनी-सभा और उसके अवधानमे चलने वाली पाठशालाका परिचय दिया । उतनेसे उन्हे सतोप नही हुआ । उन्होने कहा कि भाई आप लोगोके पास साधन है इसलिए आपने अपने बच्चोकी पढाईकी व्यवस्था कर ली पर देहातोमे हजारो गृहस्थ इस अवस्थामे रहते है कि वे अपनी सतानकी शिक्षाकी व्यवस्था स्वय नही कर सकते । अच्छा हो कि आप लोग ऐसी पाठशाला खोले जिसमे बाहरके छात्र भी रह सके । उनके भोजन आदि की व्यवस्था आप लोगोको करनी होगी । लोग साधारण स्थितिके थे अत· निश्चयात्मक उत्तर तत्काल नही दे सके । बोले कि सागर जाकर आपको लिखेगे । युवक विमानोत्सवसे सागर आये और यहाँके अन्य लोगोसे विचारविमर्श कर वर्णीजीको उत्तर दिया गया कि आप आइये । यहाँ आपकी इच्छानुसार पाठशाला खुल जायगी ।

वर्णीजी सागर आकर रहने लगे । उनके साथ प० सहदेव झा भी थे, जिनसे वे न्यायका अध्ययन करते थे । वर्णीजीका सनिकर्ष पाकर ज्ञानप्रकाशिनी सभाके सभासदो का उत्साह दिन-दूना बढने लगा । सभाके अधिवेशनोमे वर्णीजी सम्मिलित होने लगे । इनके वैदुष्यसे प्रभावित होकर लोगोने इन्हे १०-४-१९०९ की सभा मे अपनी सभाका अध्यक्ष बना लिया । उस सभाकी कार्यवाही रजिस्टरमे पूज्यवर्णीजीके हस्ताक्षर है । (हस्ताक्षराणि गणेशप्रसादस्य) ।

निश्चयानुसार वैशाख सुदी ३ वीरनिर्वाण सं० २४३५ दिनाक १-५-१९०९ को छात्रावासके साथ पाठशालाकी स्थापना हुई । पं० सहदेवझा ने पाठशालाका नाम रक्खा श्री सत्तर्कसुधातरङ्गिणी दि० जैन पाठशाला । पाठशालाके खर्चके लिए स्थानीय समाजसे चन्दा किया गया । पाठशालाके प्रथम अध्यापक श्री प०क्षमाधरजी शास्त्री नियुक्त हुए और प्रथम सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री प० मूलचन्द्रजी बिलौआ। मत्री बने श्रीपूर्णचन्द्रजी बजाज और अध्ययक्ष हुए श्री पं० गणेशप्रसादजी वर्णी । चन्दामे दृढता लानेके लिए दिनाक १८-५-१९०९ को श्री बुधू व्याके मन्दिरमे श्री सिं कारेलालजी (जैनजातिभूषण दानवीर सि कुन्दनलालजीके पिता) की अध्यक्षतामे एक सभा हुई जिसमे वर्णीजीने मंगलाचरण किया । मोतीलालजी (वर्णी) जतारा और श्री प० पन्नालालजी वाकलीवाल (जो कि विशेष कारणसे सागर पधारे थे) का व्याख्यान हुआ । अनन्तर वर्णीजीका भी मार्मिक भाषण हुआ । चन्दाकी बात चलनेपर श्री सि कारेलालजीने ६०), मोदी धर्मचन्द्रजीने १२०), सि मोहनलालजी बजाजने ३६), मलैया प्यारेलाल मूलचन्द्रने ६०) सि. मौजीलालजीने २०), सि बालचन्द्रजी अरजीनवीस (जो कि महामत्री थे) ने ३०), और छोटेलालजी कठरयाने ६) वार्षिक चन्दा देना शुरू किया था ।

यह वर्णीजी की ही कार्य-कुशलताका फल था कि इतनी थोडी-सी रकमसे ही उन्होने कार्य शुरू किया और आज उसे इस रूपमे लाकर रख दिया । सिघई शिवप्रसादजीके मकानमे पाठशालाका मुहूर्त हुआ था । सर्व प्रथम श्री प० मुन्नालालजी राँधेलीय, जो कि पाटनके रहनेवाले थे और परिस्थितिवश सागर आकर रहने लगे थे पाठशालामे प्रविष्ट हुए । श्री शिवप्रसादजीके मकानमें पाठशाला तीन माह ही रही । फिर सकीर्णताके कारण वहाँसे चलकर तारण-तरण चैत्यालयके मकानमे, जोकि पीलीकोठीके नामसे मशहूर था, रही । वहाँसे चलकर स्व० सिं, ढाँकनलालजीके मकानमे रही और वहाँसे चलकर मोराजी भवन मे रही ।

प्रमुख सहायक—

हम यह पहले लिख आये है कि सागर न शहर है न देहात । इसलिए अन्य शहरोकी अपेक्षा यहाँ रहन-सहनका खर्च कम आता था । थोडे ही खर्चमे ३० विद्यार्थी २ अध्यापक और एक सुपरिन्टेन्डेन्ट रह जाते थे । चन्दासे येन केन प्रकारेण काम चलता था । यहाँकी जनता अत्यन्त श्रद्धालु तथा धर्मप्रेमी है इसलिए उसका पूर्ण सहयोग

पाठशालाको अयाचित मिलता रहा। मैं यहाँ कुछ ऐसे लोगोका परिचय देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि जिनके सक्रिय सहयोगसे यह सस्था फली-फूली है।

पूज्य वर्णीजी—प्रथम तो पूज्य वर्णीजीका ही सक्रिय और बहुमूल्य तथा दीर्घकालीन सहयोग इस सस्थाको निरन्तर मिला है। वे तो बरदानरूप होकर सागर आये। उनके आश्रयसे सागरने प्रसिद्धि पाई और यहाँकी सस्थाएँ तथा अनेक गृहस्थोके घर फले फूले। उनके विषयमे कुछ न लिखना महती अकृतज्ञता होगी। विक्रम सवत् १९३१ (१८७४ ई०) मे झाँसी मण्डलान्तर्गत मडावरा परगनेके हँसेरा ग्राम-निवासी श्री हीरालालजी असाटी की धर्मपत्नी उजियारीकी कूखसे आपका जन्म हुआ था। पिताकी आर्थिक स्थिति साधारण ही थी अत वे आपको ६ वर्षका लेकर ही मडावरा आकर बस गये थे। वहाँ शिक्षाके न अधिक साधन थे और न अनुकूल सुविधा थी। इसलिए येन केन प्रकारेण हिन्दी की मिडिल पास कर आप हिन्दी स्कूलमे अध्यापकी करने लगे।

वर्णी जी की विवेक-शक्ति जन्मसे ही आपका साथ दे रही थी। मडावरामे आपके घरके सामने जो जैनमन्दिर था उसमे होने वाली पद्मपुराणकी वचनिका और गान-तानके साथ होने वाली जिनेन्द्रार्चाने आपका मन फेर दिया। जैनधर्मकी ओर आपकी अभिरुचि बढती गई। इतनी बढी कि उसने कुछ समय बाद ही आपको दृढश्रद्धानी जैनी बना दिया। अपनी अज्ञान-दशाको दूर करनेके लिए आप निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। यही कारण था कि आप सिमरानिवासी पूज्य चिरोजाबाईजी सिघैन की मातृममता पाकर घर से निकल पडे और अनेको स्थानोमे घूमकर विद्यार्जन करने लगे। जयपुर, खुर्जा, बम्बई, मोरेना, नदिया, बनारस आदि अनेको स्थानोमे घूमकर आपने सस्कृत विद्याका अध्ययन किया। सस्कृत-विद्याके केन्द्रस्थान बनारस मे जैन विद्याका आयतन न होना आपको बहुत अधिक खटका, जिसके कारण आपने अपने प्रयत्नसे स्याद्वाद विद्यालयकी स्थापना कराई। उसके बाद सागर, द्रोणगिरि, पपौरा, शाहपुर आदि अनेको स्थानो पर अपने विद्याके आयतन स्थापित किये।

वर्णीजी का कहना था कि जबतक लोगोके हृदय का अज्ञान दूर नही किया जायगा तबतक जैनधर्म की सच्ची प्रभावना नही हो सकती। आपका हृदय बहुत ही दयालु था, दुखी मनुष्यको देखकर तो आपका हृदय मोमकी तरह गलकर पानी हो जाता था। दुखीका दु ख दूर करनेके लिए आप अपने पासकी कीमती-से-कीमती वस्तुका भी मोह नही करते थे। इस समय जैन समाजमे जो शिक्षाविषयिक जागरण दिखाई देता है उसके मूल कारण आप ही थे। आपकी ही शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा सर्वत्र फैली हुई है। वर्तमान जैन समाजमे जो विद्वान है उनमे अधिकाश आपके शिष्य अथवा शिष्योके शिष्य है। जन्म-शताब्दी की मङ्गल वेलामे आपका स्मरण सुख और शान्तिका प्रदायक है। सस्कृत शिक्षाका नाम सुनते ही आपका रोम-रोम हर्षित हो उठता था। छोटेको बडा कैसे बनाना, गिरेको ऊपर कैसे उठाना यह आप खूब जानते थे। सन् १९२७ की बात है बनारस की प्रथम परीक्षा मै पास कर चुका था। सस्कृत-कविता लिखनेका शौक उत्पन्न हुआ और गलती-सलती रचना करने लगा। एक बार एक दरख्वास्त लिखना थी। मैने कुछ श्लोक सस्कृतमे लिखकर पूज्य वर्णीजीको दिये। उनमे कितनी गलतियाँ थी, यह शब्दोमे नही कहा जा सकता। २–४ साल बाद उन श्लोकोकी एक कापी मेरे देखनेमे आई तो मुझे अपनी मूर्खता पर बडी हँसी आई, पर वर्णीजी उन श्लोकोसे प्रसन्नही हुए किन्तु मुझे ५) पाच रुपये नकद इनाम दे गये। मैंने उन रुपयोसे तत्त्वबोधनी (सिद्धान्तकौमुदी टीका) खरीद ली। मेरा उत्साह बढ गया और कुछ लिखना सीख गया। आज कोई छात्र जब मेरे सामने कविता बनाकर लाता है तो मैं उसमे दशो गलतियाँ निकालकर उसका उत्साह भग कर देता हूँ, पर जब पूज्य वर्णीजीके विवेक की ओर दृष्टि जाती है तब हृदय कह उठता है कि इस युगमे ऐसा जन-निर्माता पुरुष दूसरा तो नही देखा।

श्री हंसराज कण्डया—सस्था का दूसरा आश्रयदाता

है हसराज कण्डया सागरका वश। श्री हंसराजजी कण्डया, नन्हूरामजी कण्डया, करोडीमल्लजी कण्डया और बाबूलालजी कण्डया, ये इस वशके प्रमुख व्यक्ति है। यद्यपि इन सबका जन्म उस तारणसमाजमे हुआ है जिसमे केवल शास्त्रको पूजते है, मूर्तिपूजाकी ओर जिसका आकर्षण नही। परन्तु इस वशके सब लोग पूर्वभवका सस्कार समझिये कि **जिनेन्द्रदेव की** पूजा किये बिना भोजन नही करते। सर्राफीका काम इनके यहाँ होता है। अच्छी सम्पति इनके पास रही। श्रीहसराजजी कण्डयाके केवल एक पुत्री थी और सम्पत्ति अच्छी थी। जब आपका देहान्त हुआ तब आप सस्थाके लिए दस हजार रुपये एकमुश्त प्रदान कर गये। इस तरह ध्रौव्यफण्डके नामपर इन्हीकी रकमसे प्रारम्भ हुआ। नन्हूरामजी कण्डया भी बडे धर्मप्रेमी और विद्यानुरागी रहे। पूज्यवर्णीजीका गृहखर्च, आप अकेले ही वर्षो तक उठाते रहे। आपका अब देहान्त हो चुका है। श्री करोडीमल्लजी कण्डया वर्षो तक इस सस्थाके मन्त्री रहे। मोराजीके विशाल प्राङ्गणमे जब पाठशाला आई तब आपने बडे परिश्रमसे यहाँ ६० विद्यार्थियोके रहने योग्य मकान बनवाया था। आप बहुत ही गभीर तथा सरल है।

सिंघई रतनलालजी—तृतीय आश्रयदाता है, श्रीमान सिघई रतनलालजी। इनके छोटे भाईका नाम है सिंघई डालचन्द्रजी। जिनपूजाके प्रेमी और स्वाध्यायकी रुचिसे ओत-प्रोत . यही दोनो भाइयोकी विशेषता है। इन्होने श्री चौधरनबाईके मन्दिरके साथ अपना मन्दिर बनवाया था। जब सिंघई रतनलालजीका देहान्त होनेवाला था तब एक दिन पूर्व उन्होने स्व० सिघैन चिरोजाबाईजी (पूज्य वर्णीजीकी धर्ममाता) को बुलाकर अपने उद्गार प्रकट किये और एकमुश्त ग्यारह हजार रुपये पाठशालाके ध्रौव्य कोषमे बिना माँगे प्रदान किये। सि. डालचन्द्रजीकी रुचि भी पाठशालाकी ओर निरन्तर रहती है। आप वर्षो तक पाठशालाके कोषाध्यक्ष रहे है।

कमरया रज्जीलालजी—चतुर्थ आश्रयदाता है श्री कमरया रज्जीलालजी। इनके सर्वस्व दानका जब भी स्मरण आता है, हृदय आनन्दसे फूल उठता है। सिंघई ढाँकनलालजीके जीर्ण-शीर्ण मकानमे विद्यार्थी रहते थे। मकानके कुछ कमरोमे निरन्तर अंधेरा रहता था। बिज्जुओका निवास था और आवहवा अत्यन्त कुन्द थी। छोटे-छोटे लडके रातमे निरन्तर भयभीत रहते थे। पाठशालाके योग्य मकानकी चिन्ता वर्णीजीको निरन्तर सताती रहती थी। यद्यपि श्री बिहारी मोदीजीकी कृपासे मोराजीका विशाल मैदान पाठशालाको प्राप्त हो गया था पर उसमे मकान बनवानेके लिए पैसा कहाँ था ? पाँच हजारकी लागतसे एक खपरैल मकान प्रारम्भमे बनाया गया था पर उससे न छात्रोका निर्वाह था और न मैदान की शोभा ही थी। कमरया रज्जीलालजी स्वाध्यायशील और विवेकी पुरुष थे। उनके पास स्वयके प्रयत्नसे अर्जित विशाल सम्पत्ति थी। सन्तानमे सिर्फ एक लडकी गुलाब बाई थी। उनकी इच्छा हुई कि गजरथ चलाऊ, पर जब कलक्टरने मेला भरानेकी जगहके २०००)माँगे तब उनका विवेक जागृत हुआ। उन्होने वर्णीजीसे कहा कि मै मोराजी मे पाठशालाके लिए मकान बनवाना चाहता हूँ। कमेटीकी मजूरी लेकर उन्होने भोजनशाला और रहनेका विशाल भवन बनवा दिया। छात्रगण सुखसे रहने लगे। कुछ समय बाद आपने दूसरा भवन और चन्द्रप्रभ चैत्यालय बनवा दिया। भीतर सामनेकी ओर एक विशाल धर्मशाला भी अपने भतीजे सुखेलाल पन्नालालजी कमरयाके नामसे बनवा दी। मै उस समय पाठशालामे अध्ययन करता था इसलिए मैने अपनी आँखसे देखा है कि स्व० कमरया रज्जीलालजीने जेठ मासकी कडी दुपहरियो मे केवल एक छत्ताके आश्रय खड़े रहकर कितने परिश्रमसे इन विशाल भवनोको बनवाया है। भवन भी इतने मजबूत बनवाये कि आज इतना लम्बा समय निकल जानेके बाद भी इनमे पुताईके सिवाय कभी मरम्मतकी आवश्यकता नही हुई। पूज्य वर्णीजीने अपनी जीवनगाथामे इन भवनोके विषयमे निम्न पंक्तियाँ लिखी है।

'एक छोटी-सी पहाडीकी उपत्यकामे, सडकके किनारे, चूनासे पुते हुए धवल उत्तुङ्ग भवन, जब चाँदनी रातमे चन्द्रमाकी उज्ज्वल किरणोका सपर्क पाकर और भी अधिक सफेदी छोडने लगते है, तब ऐसा लगता है मानो यह

कमरया रज्जीलालजीकी अमर निर्मल कीर्तिका पिण्ड ही हो।'

आपने पठाका मन्दिर तथा गोपालगज का मन्दिर जिनके साथ आपका कोई भी सम्बन्ध नही था सिर्फ धर्मानुराग-वश ठीक कराये और उनकी मरम्मतमे काफी द्रव्य खर्च किया। ढाँकनलाल सिंघईके मन्दिरमे भी आपकी एक उत्तम वेदी है जिसपर आप प्रतिदिन पूजा करते थे। जव आपका स्वर्गवास होने लगा तव १००००) दस हजार रु० पाठशालाको तथा ६०००) छह हजार अपने दोनो मन्दिरोकी व्यवस्थाके लिए दे गये। छात्रोके ऊपर हमेशा आप अनुग्रहपूर्ण दृष्टि रखते थे। कभी छात्रोको कोट बनवाते थे तो कभी चद्दर प्रदान करते थे। इनके द्वारा बनवाये हुए मकानोकी लागत आजके मँहगाई प्रधान युगमे दो लाखसे कम नही होगी। इन्हे समाजने एक बड़े भारी उन्सवमे 'दानवीर' पदसे अलकृत किया था।

सिं. कुन्दनलालजी—इनके बाद पाठशालाके आश्रय-दाता श्रीमान् सिं. कुन्दनलालजी थे, इनके विषयमे क्या लिखू ? बहुत ही दयालु प्रकृतिके व्यक्ति थे। जब इनके पिता कारेलालजीका देहान्त होने लगा तब आपने उनकी स्मृतिमे ४०००) चार हजार रुपये पाठशालाको एकमुश्त प्रदान किये। मोराजीके प्राङ्गणमे एक और विशाल सरस्वती भवन नेमिनाथ चैत्यालय तथा मानस्तम्भ भी बनवाया। बुधू व्याके मन्दिरमे भी आपने एक वेदी तथा विशाल सरस्वती-भवन बनवाया। आपके दो पुत्रियाँ है। आपने दि जैन महिलाश्रम सागरके लिये २२०००) बाईस हजारका मकान खरीदकर समर्पित किया। जैन गुरुकुल, मलहरा और सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरिके लिए आपने वीस हजारका दान दिया। गरीब छात्र तथा अन्य अपाहिज व्यक्ति सदा आपसे सहायता पाते रहते थे। इन्हे समाजने 'जैनजातिभूषण' और 'दानवीर' के पदसे विभूषित किया था। आपने अत मे अपनी समस्त चल-सम्पत्तिका ट्रस्ट बनाकर उससे होने वाली आयका आठवाँ भाग हमेशाके लिए पाठशालाको प्रदान कर दिया है। ऐसे सहृदय व्यक्तिसे सागर-समाजकी शोभा थी। आप विद्यालयके सभापति पदपर आसीन थे। आपके मँझले भाई सिं रज्जीलालजी और छोटे भाई भी नाथूरामजी पाठशाला पर कृपापूर्ण दृष्टि रखते थे। अब ये तीनो भाई नही है। अभी इनके वशजो मे सिं. जीवेन्द्रकुमार जागरूक और उदारमना सामाजिक कार्यकर्त्ता है।

चौधरी कन्हैयालालजी—इनके बाद पाठशालाके आधार श्री स्व० चौ० कन्हैयालालजी मनिकचौक वाले है। इन्होने हमेशा आगे आकर यथाशक्य द्रव्य दिया है और सबसे बडा उत्साह प्रदान किया है। चलते कार्यमे मीन-मेष निकालकर कार्यकर्त्ताओको उत्साहहीन करने वाले लोग ही आजकल अधिक देखे जाते है पर मैंने देखा और पुराने लोगोसे सुना कि आपका उत्साह पाकर अकर्मण्य व्यक्तिके भी हाथ चलने लगते थे और पैर उसके आगे बढने लगते थे। आप प्रारम्भसे पाठशालाके सभापति रहे। आपके सुपुत्र चौ० हुकुमचन्द्रजी भी पाठशाला पर सदा अनुग्रह रखते है।

मलैया-वंश—इस प्रकरणमे मलैया-वशका नामोल्लेख न करना कृतघ्नता होगी। श्री प्यारेलालजी मलैया इस वशमे बडे कर्मठ व्यक्ति हो गये। आप जिस कार्यमे जुटते थे उसे पूरा करके ही छोडते थे। श्री शिवप्रसादजी, शोभा-रामजी और बालचन्द्रजी मलैया भी इसी वशके अलकार है। इनके विषयमे क्या लिखू ? ये तीनो ही भाई इतने अध्यवसायी, शिक्षा-प्रेमी और विवेकी मानव है कि इनके निमित्तसे बुन्देलखण्डका मस्तक ऊँचा उठ गया। जब वर्णीजी ईसरीसे लौटकर सागर आये थे तब इन्होने पाठशालाके लिए ग्यारह हजार देकर वर्णीजीकी माला नीलाममे ली थी और जैन हाईस्कूलकी बिल्डिंग बनवानेके लिए ४००००) चालीस हजार रु० दिये थे। बालचन्द्रजी मलैया जैनगुरुकुल मलहरा और श्री सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि जीके मन्त्री है। वहाँ भी इन्होने लगभग तीस चालीस हजार रुपया लगाकर वहाँकी काया-पलट कर दी है। आप अनेक निर्धन छात्रोको छात्रवृत्ति वितरण करते है। समाजने इन्हे दानवीरके पद से विभूषित किया।

पूर्णचन्द्र बजाज—श्री पूर्णचन्द्रजी बजाजकी सेवाएँ पाठशालाको समुन्नत बनानेमे सदा गणनीय रहेगी। आप बहुत ही गम्भीर और विचारक व्यक्ति थे। आप लगातार ३० वर्षतक पाठशालाके मन्त्री रहे है। मैने नही देखा कि

आपको कभी रोष आया हो। रोषके कारणोंको आप बडी सुन्दरताके साथ समाप्त कर देते थे। मै पाठशालामे पढता था और आप मंत्री थे। प्रात.काल जब मैं घूमने जाता था तब आप लौटते हुए मिला करते थे। मैं आपसे **जयजिनेन्द्र** किया करता था। बीना बारहामे परवार सभाका अधिवेशन हुआ उसमे विधवा-विवाहकी चर्चा हुई। समर्थकोमे प० दरबारीलालजी (इस समय स्वामी सत्यभक्त) भी थे जो रिश्तेदार होनेके कारण आपके यहाँ ठहरे थे। उनके साथ आप उठते बैठते थे इस कारण मुझे भ्रम हो गया कि पूर्णचन्द्रजी तो विधवा-विवाहके समर्थक है इसलिए इनसे **जयजिनेन्द्र** नही करना चाहिये। प्रात काल जब वे मिले तो मै सडकके दूसरे किनारेसे चुपचाप आगे बढ जाऊँ। कुछ छात्र हमारे साथ रहते थे। तीन दिनतक यह क्रिया चलती रही। चौथे दिन आपने दूरसे देखा और जिस ओरसे मै जा रहा था वहीसे आप एकदम पास आकर हाथ जोडकर बोले **जयजिनेन्द्र** देवकी, और आगे बढ गये। मै स्तब्ध रह गया और अपनी गलती समझ गया। विचारभेदके कारण 'शिष्टाचारमे परिवर्तन होना यह बुद्धिमानी नही है—यह बात मेरी दृष्टिमे तत्काल आ गई। दूसरे दिनसे फिर वह गलती नही हुई। मेरी निरन्तर आपमे श्रद्धा रही है। आपके पुत्र कस्तूरचन्द्रजी सराफ भी विवेकी मानव है। आपने अपने पिताजीकी स्मृतिमे पच्चीस हजारका दान निकालकर छात्रवृत्ति फण्ड चालू किया है उसके व्याजमेसे आप प्रतिवर्ष अनेक असहाय छात्रोको छात्रवृत्तियाँ देते है।

सिं० मौजीलाल—श्रीमान् स्व० सिं० मौजीलालजी बडे ही विवेकी और तत्त्वज्ञानी व्यक्ति थे। आपने पूज्य वर्णीजीके सपर्कसे जो तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था उसके अनुरूप आपने चारित्र भी धारण किया था। आप हमेशा वर्णीजीके साथ रहकर सस्थाके कार्योमे सहायता करते रहे। सस्थाकी भोजनशालामे जितना नमक खर्च होता है वह सब आपकी ओरसे मिलता रहा और यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती हे कि आपके पुत्रोके द्वारा भी पूरा नमक अभी तक मिलता जा रहा है। संस्थासे पढकर निकलनेवाले प्रत्येक छात्रने आपका नमक खाया है।

सेठ भगवानदास—वर्तमानमे समाज-भूषण श्रीमान् सेठ भगवानदास शोभालालजी बीडीवाले भी पाठशालाकी सदा चिन्ता रखते है। आप बहुत ही सहृदय व्यक्ति है। कोई भी गरीब मनुष्य आपके द्वारसे खाली हाथ नही जाता। हजारो रुपये का कपडा आप सक्रान्तिके समय गरीबोको बाँट देते है। आपने निसईजीमे बहुत बडी धर्मशाला बनवाई है। इस सस्थाको भी अच्छी सहायता दी है और सदा देते रहते है।

स्वर्गीय मल्थूराम रसोइया—इस प्रकरणमे स्व० श्री मल्थूरामजी रसोइयाका नाम भी उल्लेखनीय है। मै वर्णीजीके मुखसे सदा उसकी प्रशसा सुना करता था। दानके प्रकरणमे अन्तरात्माके पारखीको गरीबका छोटा-मोटा दान भी बडा महत्त्वपूर्ण दान जान पडता है। मल्थूराम स्याद्वाद विद्यालय बनारसमे रसोइया था। उसने अपने परिश्रमसे ६००) छह सौ रुपये एकत्रित किये थे। जब उसका अन्तिम समय आया तब वह पूज्य वर्णीजीके पास आकर कहता है कि 'महाराज! मै यद्यपि बनारसके विद्यालयमे काम करता हूँ पर मेरी श्रद्धा सागरकी पाठशालामे विशेष है, इसलिये आप मेरे ये रुपये वहाँके लिये ले लीजिये।' स्व० मल्थूरामजी के सर्वस्व समर्पणसे सबको आश्चर्य हुआ। विद्यालयके कार्यालयके समक्ष जिस पटिया पर बडे-बड़े दानियोके नाम लिखे है वही स्व० मल्थूरामजीका भी नाम लिखा हे। यदि मै भूलता नही हूँ तो मुझे याद है कि मै सागरकी पाठशालामे उसी वर्ष प्रविष्ट हुआ था और उसकी तेरहवीमे मैने भी लप्सी और पूडियाँ खाई थीं।

सिंघई बालचन्द्रजी सवालनवीस—इन सबसे पूर्व मुझे सिंघई बालचन्द्रजीका स्मरण करना चाहिये था। वह बहुत ही प्रभावक और विवेकके धारक थे। पूज्य वर्णीजीको ललितपुरसे सागर लानेवालो मे यही प्रमुख थे। जब तक ये जीवित रहे सस्थाके महामन्त्री रहे। आपके साथ ही सिं० रज्जीलालजी, छोटेलालजी बडकुर, गजाधरप्रसादजी जानिया, बिहारी मोदी एवं बट्टेदाऊ आदि भी स्मरणीय हे।

पं० मूलचन्द्र जी विलौआ—यह एक ही व्यक्ति था जो असभव को भी सभव कर दिखाता था। बहुत ही चतुर व्यक्ति थे। इन्होने सुपरिन्टेन्डेट पद पर रहकर विद्यालय की बहुत सेवा की। इनका ही पुत्र परमेष्ठी दास एक व्यक्तित्वशाली व्यक्ति था। परन्तु असमय मे ही काल-कलवित हो गया।

वर्त्तमानमे श्रीमान् लक्ष्मीचन्द्रजी मोदी एक उत्साही युवक है जो सस्था के प्रत्येक कार्यमे सोत्साह प्रवृत्त रहते है। आप ४–५ वर्ष तक सस्थाके मन्त्री रह चुके हैं। मोदी घराना सागरका प्रसिद्ध घराना है। विद्यालयकी स्थापना तथा ढाकनलाल सिघईका मकान एव मोराजीका विशाल प्राङ्गण मिलना आदि कार्योमे इस वशके पूर्वजोका प्रमुख हाथ रहा है। श्री सिं० भैयालालजी मुशी भी एक निस्पृह कार्यकर्त्ता है। आपने ३ वर्ष तक मत्री रहकर सस्थाकी सेवा की है। श्री नाथूरामजी गोदरे वर्तमान मन्त्री है। जैन हाईस्कूलके आप लगभग २० वर्षसे मत्री है। बहुत ही सहनशील एव गम्भीर प्रकृति व्यक्ति है। श्री बाबूलालजी आकुल अपनी लगनके एक ही व्यक्ति है। जिस कार्यमे झुक जावे उसे पूरा करके ही छोडे। सस्थाओकी सेवाके लिये तन-मन-धन तीनो ही अर्पित करते रहते है। श्री प० दामोदरदासजी बिलौआ सस्कृत-शिक्षा-समितिके मत्री हैं। आपके हृदयमे विद्यालयके प्रति अटूट अनुराग है जिसके फलस्वरूप अपनी अमूल्य सेवाओसे विद्यालयको उपकृत करते रहते हैं। इनके सिवाय सैकडो ऐसे व्यक्ति है जिन्होने पाठशालाको पूरी-पूरी सहायता दी है। उन सबका उल्लेख इस छोटेसे लेख मे कैसे किया जा सकता है ? मैं उन समस्त उपकारियोसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ जिनका कि मैं अपनी अज्ञानता या विस्तारभयके कारण यहाँ उल्लेख नही कर सका हूँ।

✲

सुख का कारण क्या है ? कुछ समझ मे नही आता। यदि बाह्य पदार्थो को माना जावे तब तो अनादिकाल से इन्ही पदार्थो को अर्जन करते करते अनन्त भव व्यतीत हो गये परन्तु सुख नही पाया। इस पर्याय मे यथायोग्य बहुत कुछ प्रयत्न किया परन्तु कुछ भी शान्ति न मिली।

—गणेश वर्णी

१५

सागर विद्यालय—एक दृष्टि

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

सागर मध्यप्रदेशका एक प्रमुख नगर है। इसके चारो ओर प्राकृतिक सुषमासे युक्त बिखरी हुई छोटी-छोटी अनेक पहाडियाँ है उनकी तलहटीमे बसा हुआ होनेके कारण इसकी भूमि कही सम और कही विषम है। इस नगरकी दूसरी विशेषता कमल-वनसे युक्त एक तालाव है। सम्भवतः इसके सागर नामकरणका यही कारण है। साधारणतया बुन्देलखण्ड उद्योग-धन्धोकी दृष्टिसे पिछडा हुआ प्रदेश है। यहाँका मुख्य व्यापार बाहरसे पक्का माल मँगाकर उसका क्रय-विक्रय करना और इस प्रदेशमे खेतीसे उत्पन्न हुए धान्योको बाहर भेजना भर है। किन्तु इस दृष्टिसे सागर नगर थोडा भाग्यवान् है। इस नगरमे जैनियोकी सख्या भी पर्याप्त मात्रामे पाई जाती है और अपनी व्यापारिक कुशलताके कारण उनका यहाँपर प्रमुख स्थान है।

यहाँ एक विश्वविद्यालय है जिसमे अनेक विषयोकी उच्चतम शिक्षा दी जाती है। कई हाईस्कूल है। माध्यमिक और प्राथमिक शालाएँ तो प्रचुर मात्रामे है ही। हाईस्कूलोमे जैनसमाजके द्वारा सचालित हाईस्कूल मध्यप्रदेश भरमे प्रसिद्ध है। कई वर्षोसे इसका परीक्षाफल बहुत अच्छा रहता है। अनुशासन और व्यायाम आदिपर भी यहाँपर बहुत ध्यान दिया जाता है। जैन-समाज द्वारा सचालित एक महिलाश्रम भी है। इसमे असहाय और विधवा बहिनोकी शिक्षा और भोजनादिकी समुचित व्यवस्था है। बालिकाओकी शिक्षाकी ओर भी इस नगर का ध्यान है। इन सबके बाद इस नगरकी जो सबसे बडी विशेषता है वह है **श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय**। इसकी नीव आजसे लगभग ५८ वर्ष पूर्व एक स्थानीय पाठशालाके रूपमे रखी गई थी। उसके बाद प्रसिद्ध सन्त पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीका सम्पर्क मिलने के बाद यह स्थानीय पाठशाला सस्कृत पाठशाला के रूपमे परिवर्तित की गई और उसके बाद तो यह जैन समाजमे सस्कृत और प्राकृत भाषामे धर्म, न्याय, व्याकरण और साहित्य आदि विविध विषयोकी शिक्षा देने वाला प्रमुख विद्यालय हो गया है। यहाँ लगभग २०० छात्र विविध विषयोकी शिक्षा प्राप्त कर रहे है। किसी सस्कृत विद्यालयमे छात्रोकी इतनी वडी सख्याका होना; यह सौभाग्य इसी विद्यालयको प्राप्त हुआ है। इनमे अधिकतर छात्र बाहरके रहने वाले है। विद्यालयसे सम्बद्ध एक छात्रावास है उसमे इनके रहने व भोजन आदिकी समुचित व्यवस्था है। जो समर्थ छात्र है वे भोजनका खर्च स्वय वहन करते है, किन्तु ऐसे छात्र बहुत ही थोडे है। अधिकतर छात्रोके भोजन व शिक्षा आदिकी पूरी व्यवस्था निःशुल्क की जाती है।

यह तो हम पहले ही सकेत कर आये है कि प्रसिद्ध सन्त पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीके सत्प्रयत्नसे ही इस विद्यालयको बर्तमान रूप मिला है। शिक्षाके क्षेत्रमे उन्होने जो तपस्या की है उसे चन्द शब्दो द्वारा व्यक्त करना कठिन है। उनके द्वारा स्थापित की गई शिक्षा-सस्थाएँ सख्यामे काफी अधिक है। इस विद्यालयके सस्थापक तो वे है ही। बनारसका स्याद्वाद विद्यालय भी मुख्य रूपसे उन्होने ही स्थापित किया है। अक्सर आम जनता बनारस विद्यालयको वडा भाई और सागर विद्यालयको छोटा भाई कहती है। इसका कारण यही है कि ये दोनो विद्यालय एक ही जनककी दो सन्तानें है।

बनारस विद्यालय कुछ काल-पूर्व स्थापित किया गया था और यह विद्यालय उससे बाद स्थापित हुआ है। अपने जन्म-कालसे लेकर इनकी शिक्षा-दीक्षाका क्रम भी एक है। सागर विद्यालयने भी अपने जीवन-कालमे बडी सफलता प्राप्त की है। अनेक मान्य विद्वान् यहाँके स्नातक है और वे अपनी सेवा द्वारा इसके गौरव को बढा रहे है। कुछ कालपूर्व तक समाजमे और भी उच्चकोटिकी शिक्षा देने वाली सस्थाएँ थी, किन्तु एक-एक करके उनका ह्रास होता जा रहा है। ये दो सस्थाएँ ही ऐसी है जिनपर समाजको गर्व होना चाहिए और है।

प्राय आजकल यह प्रश्न किया जाता है कि जब सरकारकी ओरसे शिक्षाका पर्याप्त प्रबन्ध हो रहा है, ऐसी अवस्थामे स्थान-स्थान पर इस प्रकारकी शिक्षा-सस्थाओकी स्थापना करना और उनके सञ्चालनके लिए समाजसे चन्दा माँगते फिरना कोई अर्थ नही रखता। कुछ समझदार व्यक्ति भी जो इनसे लाभान्वित होकर इस स्थितिको प्राप्त कर सके है कि वे खडे हो सके और समाजका मार्गदर्शन कर सकें, ऐसी बाते करते हुए देखे जाते है। किन्तु हम उनके इस दृष्टिकोणसे बिलकुल सहमत नही है। पूज्य श्री वर्णीजी महाराज प्राय कहा करते थे कि जिस दिन हम प्राचीन भाषाओमे निबद्ध साहित्यको भूल जावेंगे उसी दिनसे हमारा पतन होने लगेगा। सस्कृति क्या है, धर्म क्या है और उनका दैनदिन के जीवनमे कैसे उपयोग हो सकता है इत्यादि बातोका बोध हमे इसी साहित्यसे होता है। इससे हमे मानसिक तृप्ति तो मिलती ही है साथ ही शाश्वतिक सुख और उसकी प्राप्तिके साधनो का बोध भी हमे इसी साहित्यसे होता है।

यदि विचार कर देखा जाय तो धर्म एक है और उसे जीवनमे उतारनेका मार्ग भी एक ही है, पर विश्वमे जो अनेक धर्म दिखखाई देते है और उनमे परस्पर जो अन्तर है उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि का ज्ञान हम इस साहित्यका गहन मन्थन किये बिना नही कर सकते। बालकका सास्कृतिक जीवन कैसे बने इसका ज्ञान लौकिक और सरकार द्वारा पोषित शिक्षा-सस्थाओ द्वारा नही कराया जा सकता। इस बातका अनुभव उन शिक्षा-सस्थाओमे होने लगा है जिन्हे सरकार द्वारा थोडी बहुत सहायता दी जाने लगी है। सरकारके अपने नियम है और वह उन नियमोके आधार पर सब शिक्षा-सस्थाओमे परिवर्तन करना चाहती है। इस समय समाजके सामने बहुत ही बडी समस्या है। वह अपनी सस्कृति की समुचित रक्षा कैसे करे? क्या वह अपने बालकोको केवल सरकारी सस्थाओमे भेजकर अपने आचार-विचारकी रक्षा कर सकती है? हमे तो यह असम्भव ही दिखलाई देता है। हमे अपने कौटुम्बिक जीवनकी एक घटना याद है। इसे लगभग तीस वर्ष हो गये है। गर्मीके दिनोमे हम अपने बाल-बच्चोके साथ बैलगाडीसे यात्रा कर रहे थे। उस समय हमारी बडी बच्ची चि० शान्ति लगभग ७ वर्षकी थी। मार्गके लिए कुछ फल रख लिये थे। कुछ दूर जानेपर एक खरबूज बनाया गया। खरबूजेके बीजोको देखकर बच्चीके मनमे जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह हमसे पूछने लगी—दादा! खरबूजेके भीतर बीज कहाँसे आये? कही कोई छिद्र नही फिर ये भीतर कैसे घुस गये? हमने उसकी इस जिज्ञासा का समाधान करनेका प्रयत्न किया। हमने बतलाया—बेटा! ये बीज इसीके दलमेसे उत्पन्न हुए है। जिस प्रकार खरबूजे का छिलका, दल और गूदा बना है उसी प्रकार ये बीज भी बन गये है। पर बच्चीको हमारे इस उत्तरसे समाधान नही हुआ। वह बार-बार पूछने लगी—कैसे बन गये है। इस कैसेका हम क्या समाधान करते? पदार्थ विज्ञानकी इस छोटी-सी बातको उस समय उस अबोध बच्ची के मस्तिष्कमे एक तो यो ही बिठलाना कठिन था और दूसरे जब कि उसका मस्तिष्क दूषित कर दिया गया हो ऐसी अवस्थामे तो और भी कठिन था। हमारी पण्डिताई समाप्त हो गई। हार मानकर हमने उसीसे पूछा—बेटा तुम्ही बतलाओ ये कैसे बन गये? हमारा पूछना था कि उसने चटसे उत्तर दिया—ईश्वर ने बनाये है। हमे आश्चर्य हुआ, उसका यह उत्तर सुनकर। दिल धक् धक् करने लगा। मनमे अनेक भाव उठे। चित्त पीडासे भर गया। इसलिये नही कि हमारे

वैयक्तिक या कौटुम्बिक जीवनपर कोई आपत्ति आई थी बल्कि इसलिए कि उसका यह उत्तर जैन सस्कृति और धार्मिक आचार-विचारपर पानी फेरनेके लिए पर्याप्त था। फिर भी हमने तथ्य जाननेके लिए अपने मनकी प्रतिक्रियाको रोककर उससे पुन पूछा—बेटा ! तुमने यह कहासे जाना ? उसने तडाक से उत्तर दिया—हमारे गुरुजीने बतलाया है और फिर उसने उस समय स्कूलो मे बोली जानेवाली ईश्वर वन्दना पढ कर सुना दी—

प्रभू हमे दो ऐसा बरदान।
हम पढ़ें लिखें बनें बलवान ।।

बात आई गई, किन्तु हमे एक प्रकाश मिला। इससे पहले इन सस्कृत पाठशालाओ और दूसरी सामाजिक शिक्षा-सस्थाओको अनुपयोगी समझने वाला व्यक्ति उनकी उपयोगितासे प्रति परम आस्तिक बन गया। तब हमारी समझमे आया कि यदि समाज अपनी सास्कृतिक चेतनाको जागृत रखना चाहती है तो इन शिक्षा-सस्थाओको न केवल जीवित रखना होगा बल्कि उनकी उन्नति और स्थायित्वके लिये भगीरथ प्रयत्न करना होगा। समाजको सागरके श्रीगणेश दिगम्बर जैन विद्यालयको इसी दृष्टि-कोणसे देखना चाहिये। इसे अपने धर्म और समाजकी सेवा करते हुए अडसठ वर्ष पूरे हो गये है। किसी भी सस्था के जीवनके लिए यह बहुत बड़ी बात है। इस स्तुत्य कार्यके लिए जिन्होने इसका पोषण और सवर्धन किया है वे सभी अभिनन्दनीय है। हमे विश्वास है कि समाज इस विद्यालयकी आगामी उन्नति और स्थायित्वकी ओर न केवल पर्याप्त ध्यान देगी अपितु कोई ऐसा प्रबन्ध कर देगी जिससे वह हमेशाके लिए आर्थिक और दूसरी चिन्ताओसे मुक्त होकर भविष्यमे इसी प्रकार धर्म और समाज की सेवा करता रहे।

लोगों मे धर्म के प्रति महान् श्रद्धा है किन्तु धर्मात्माओ का अभाव है। लोग प्रतिष्ठा चाहते है परन्तु धर्म को आदर नही देते। मोह के प्रति आदर है, धर्म के प्रति आदर नही। धर्म आत्मीय वस्तु है, उसका आदर विरला ही करता है। जो आदर करता है वही ससार से पार होता है।

—गणेश वर्णी

१६

सागर नगर के जीवन्त स्मारक

लेखक : श्रीचन्द्र जैन, सागर

पूज्य वर्णी जी की निवास-भूमि होने से सागर, भारतवर्ष मे प्रसिद्ध हुआ है। यह बुन्देलखण्ड और मध्य प्रदेश का प्रमुख नगर है एक विशाल सुन्दर सरोवर के किनारे छोटी मोटी अनेक टेकडियो पर बसा डेढ लाख की गणना वाला सागर नगर अपने स्वास्थ्यप्रद जलवायु के लिये प्रसिद्ध है। चारो ओर बसे अनेक कसबो और ग्रामो के साथ साक्षात् सपर्क रहने के कारण यहा का व्यवसाय भी सतोप-जनक है। सागर नगर मे इक्कीस जिन-मन्दिर और एक तारणतरण चैत्यालय है। जैनियो के बारह सौ घर तथा अठारह हजार जैनश्रावको की सख्या है। यहा का समाज अधिकतर श्रद्धालु और धार्मिक भावो से ओत-प्रोत है। पास मे ही श्री सिद्धक्षेत्र रेशन्दीगिरि, द्रोणगिरि तथा कुण्डलपुर होने के कारण तीर्थयात्रियो का यातायात प्राय प्रत्येक वर्ष अच्छी सख्या मे होता रहता है।

जैनशिक्षा की दृष्टि से यहा श्री गणेश दि० जैन सस्कृत विद्यालय, दि० जैन महिलाश्रम, दि० जैन उदासीनाश्रम तथा मन्दिरो मे लगने वाली अनेक रात्रिशालाएँ है। इनके सिवाय अनेक सार्वजनिक हाईस्कूल, एक जैन हाई स्कूल और दो कालेज है। इन सब से ऊपर स्वनामधन्य डा० सर हरिसिह गौर द्वारा स्थापित सागर विश्वविद्यालय भी है, जिसमे प्रत्येक विषय के विशेपज्ञ विद्वान् नियुक्त है। इन सब कारणो से सागर अपने प्रान्त का केन्द्रस्थान बन गया है, इसमे आश्चर्य की बात ही क्या हे ? यहा की जैन सस्थाओ पर एक विहगमदृष्टि डाल लेना समयोचित है।

श्री गणेश दि० जैन सस्कृत विद्यालय

यह विद्यालय एक हरी भरी पहाडी की उपत्यका मे निर्मित है। इसी के अन्दर मोराजी (सागर के राजा के मत्री) की दो ढाई सौ वर्ष पुरानी इमारत खडी हुई है जो बहुत मजबूत तथा उपयोगी है। इस विद्यालय की स्थापना श्री शिवप्रसाद जी के मकान मे सन् १६०६ मे अक्षयतृतीया के शुभ मुहूर्त मे हुई थी। इसके पूर्व यह एक स्थानीय पाठशाला के रूप मे सन् १६०५ स्थापित हुआ था। सन् १६०६ मे इस विद्यालय का नाम श्री सत्तर्क-सुधा-तरगिणी था पीछे चलकर गणेश दि० जैन सस्कृत महाविद्यालय के नाम से परिवर्तित हो गया। श्री शिवप्रसाद जी के मकान मे जब सकीर्णता का अनुभव होने लगा तब चमेलीचौक मे स्थित तारणतरण चैत्यालय के मकान मे पहुँचा परन्तु वहा भी पूर्ण सुविधा नही थी इसलिये स्व० सि० ढाकनलाल के मन्दिर के जीर्णशीर्ण मकान मे आया। इस तरह १४ वर्ष के भीतर तीन मकानो मे इसे कालयापन करना पडा। सन् १६२३ मे स्व० रज्जीलाल जी कमरया ने सस्था के लिये विशाल भवन बनवाकर समर्पित किया। जैनजातिभूपण सिं० कुन्दन लालजी ने भी एक विशाल मन्दिर, सरस्वती-भवन तथा मानस्तम्भ का निर्माण कराया। श्री दानवीर बालचन्द्र जी मलैया और स्व० सिं० पन्नालाल जी अमरावती वालो ने भी २ कमरे बनवाये। अभी हाल मे स्थानीय तथा बाहर की जनता के सहयोग से ७५+७५ फुट के व्यास मे वर्णिस्मारक तथा बाहुबलि मन्दिर का निर्माण हुआ है। २ मन्दिर और मानस्तम्भ पहले से ही थे। इन सब आकर्षणो से यह विद्यालय सागर का एक दर्शनीय स्थान बन गया है। सागर आया हुआ व्यक्ति जब तक इसके दर्शन नही कर लेता तब तक वह सतोष का अनुभव नही करता। सैकडो तीर्थयात्री यहा एक साथ स्थान प्राप्त कर लेते है।

विद्यालय मे प्रारम्भ से लेकर शास्त्री और आचार्य कक्षा तक की पढाई होती है। समाज के माने हुए विद्वानो द्वारा विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते है अत छात्र अच्छी सख्या मे रहते है। उनके भोजन तथा आवास की व्यवस्था नि शुल्क अथवा अल्पतम शुल्क मे की जाती है। एक लाख रुपये का वार्षिक व्यय सस्था उठाती है और प्रसन्नता की बात है कि समाज के सहयोग से उसकी पूर्ति होती रहती है। स्व० प० दयाचन्द्र जी शास्त्री ने अनवरत ५२ वर्ष तक प्राचार्य-पद से इस विद्यालय की सेवा की है। अभी वर्तमान मे श्रीमान् डा० पन्नालाल की साहित्याचार्य इसके प्राचार्य है। वैसे यह भी ४३ वर्ष से विद्यालय मे अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। श्रीमान् पं० माणिकचन्द्र जी न्याय काव्यतीर्थ 'जैनदर्शनाचार्य' भी इस विद्यालय मे ४८ वर्ष से अध्यापक है। सैकड़ो विद्यार्थी इस विद्यालय मे अध्ययन कर देश मे जहा तहा काम कर रहे है कोई स्वतन्त्र व्यवसायी बने हुए है। इस समय विद्यालय मे ६ अध्यापक और ८७ छात्र है। गृह-प्रबन्धक, भोजनशाला-व्यवस्थापक, तथा आय-व्यय-लिपिक अलग है। समाज से निर्वाचित ५५ सदस्यो की प्रबन्ध-कारिणी-कमेटी इसकी सारी व्यवस्था करती है। श्रीमान् दानवीर, समाजभूषण, श्रीमन्त सेठ भगवानदास जी बीडीवाले इसके सभापति और श्रीधर्मचन्द्र जी सोधिया इसके मत्री है।

दिगम्बर जैन महिलाश्रम

इसके मूल सस्थापक स्व० सि० रेवाराम जी है इन्होने अपनी सपत्ति का ट्रष्ट बनाकर उसे समाज के लिये समर्पित किया था उसी से वीरनिर्वाण संवत् २४६७ मे इस सस्था का जन्म हुआ था। आज यह सस्थाभी अपने निज के विशाल भवन मे सचालित है। इसमे प्रारम्भ से लेकर आठवी मिडिल तक पढाई होती है। साथ मे धार्मिक विषयो का अध्यापन प्रात काल डा० पन्नालाल जी साहित्याचार्य के द्वारा होता है। इसी सस्था मे अध्ययन कर श्री सुमित्राबाई जी, स्व० आचार्य शिवसागर जी के सघ मे १०५ आर्यिका विशुद्धमती जी के रूप मे विद्यमान है। माता जी श्री विनयमती जी तथा कनकमती जी भी इसी सस्था की छात्राएँ रही है। यहा के वातावरण और धर्मशास्त्र की उच्चतम पढाई के कारण इस आश्रम की समाज मे अच्छी ख्याति है। अभी इसके छात्रावास मे ५२ छात्राएँ अध्ययन कर रही है। श्री रामाबाई जी जो इसी सस्था की छात्रा है, गृहप्रबन्धिका पद पर आसीन है। इसकी अन्तर्व्यवस्था एक प्रबन्धकारिणी समिति के द्वारा होती है। इसके मत्री श्री कपूरचन्द्र जी भायजी समैया तथा अध्यक्ष, श्रीमत सेठ, दानवीर, समाजभूषण भगवान दास जी ही है। पूज्य वर्णी जी का आदेश पाकर स्व० सि० कुन्दनलाल जी की धर्मपत्नी सिघैन दुर्गाबाई ने अपनी ओर से एक विशाल भवन लेकर सस्था को दिया था। इसी प्रकार स्व० सिघैन फूलाबाई जी ने अपने रहने का मकान तथा सारी सपत्ति इस सस्था को प्रदान की थी।

दिगम्बर जैन उदासीनाश्रम

यह सस्था शहर के वातावरण से दूर वेदान्तीरोड पर स्थित है। प्रारम्भ मे पूज्य वर्णी जी के उपदेश से प्रभावित श्री गुलाबचन्द्र जी जोहरी के उद्यान मे खुली थी पर अब वह उद्यान सस्था ने स्वय खरीद लिया है। एक विस्तृत स्थान मे यह सस्था है सस्था के अन्दर एक चैत्यालय है, दो कूप है, एक सुन्दर बगला है, जिसमे धर्म्य-ध्यान करते हुए त्यागी ब्रह्मचारी रहते है। जब पूज्य वर्णी जी स्वय इस सस्था मे रहते थे तब यहा भक्तजनो का मेला सा लगा रहता था। इसका प्रबन्ध एक निश्चित प्रबन्धकारिणी कमेटी के द्वारा होता है। इसके अध्यक्ष श्रीमान् सेठ भगवान् दास जी है तथा मत्री श्रीमान् प० ताराचन्द्र जी सराफ है।

उपर्युक्त तीनो सस्थाएँ पूज्य वर्णी जी की देन है। इन सस्थाओ ने मध्यप्रान्त के अन्दर आशातीत उन्नति की है। इनकी रक्षा करना समाज के प्रत्येक बन्धु का कर्त्तव्य है। ये सस्थाए पूज्य वर्णी जी के जीवन्त स्मारक है।

१७

समस्त वर्णी वाङ्गमय—एक संक्षिप्त परिचय

कुमारी बन्दना जैन, बी० ए० द्वितीय वर्ष
महाराजा कालेज, छतरपुर

पूज्य श्री वर्णी जी भारत के उन महामना आध्यात्मिक सन्तो मे से एक है जिन्होने भारतीय सस्कृति को अपनी आध्यात्मिक विचारधारा से उत्तरोत्तर गौरवान्वित किया है। सन्त अमर नही रहते परन्तु उनके वचन या उद्गार जिनका सग्रह एक अच्छे विशाल वाङ्गमय या शास्त्र का रूप ले लेते हे वे सदा अमर रहते है और युग-युग तक लोगो को सन्मार्ग-प्रदर्शन करते हुए उनके आत्म-कल्याण मे परम सहायक होते है। इसी विचार धारा से प्रभावित होकर वर्णी भक्तो ने वर्णी वाङ्गमय का सकलन और सम्पादन के अनन्तर प्रकाशन कार्य भी प्रारभ किया है। मेरे पिता जी (डॉ० नरेन्द्र जी विद्यार्थी) इस सम्बन्ध मे जितने प्रयत्नशील है, समस्त जैन समाज उससे परिचित है। प्रकाशित और अप्रकाशित वर्णी साहित्य का एक अच्छा खासा अध्ययन कक्ष हमारे घर ही मे है। वर्तमान मे "वर्णी जी—व्यक्तित्व और विचार" नामक एक अच्छे ग्रन्थ का लेखन कार्य चल रहा है। हो सकता है यह कभी प्रकाशित भी हो। इस सब साहित्य को देखने, सभाल कर रखने और यदा कदा पढने का अवसर मुझे भी मिल जाया करता है।

वर्णी-साहित्य का सर्व प्रथम प्रकाशन आध्यात्मिक पत्रावलियो के रूप मे होना प्रारभ हुआ। सर्व प्रथम श्री कस्तूरचन्द्र जी नायक जबलपुर ने यह शुभारम्भ किया। तदनन्तर जिज्ञासु मडल कलकत्ता, जैनजातिभूषण सिंघई कुन्दनलाल जी सागर, सर सेठ हुक्मचन्द्र जी इन्दौर आदि ने इस कार्य की परम्परा को आगे बढाया। विवरण निम्नप्रकार है।

१. समाधिमरण पत्रपुंज—

प्रकाशक सि० कस्तूरचन्द्र जी नायक, जवलपुर वीर निर्वाण स० २४६४ प्रथम-वृत्ति १५०० मूल्य भेदविज्ञान द्वारा समाधिप्राप्ति।

२. आध्यात्मिक पत्रावली और समाधिमरण पत्र पुंज (प्रथमभाग)—

प्रकाशक-जिज्ञासु मडल कलकत्ता, वी० नि० स० २४६६, प्रथमावृत्ति १०००, मूल्य भेदविज्ञान द्वारा समाधिप्राप्ति। इसी को श्री नीरज जी ने वि० स० २०२५ मे 'वर्णी स्नातक परिषद्' से पुन प्रकाशित कराया। श्री नीरज जी ने इसकी प्रस्तावना मे लिखा है कि सोनगढ के लोगो को समयसार पढने सुनने और समझने की प्रेरणा इसी वर्णी पत्रावली से मिली है और वहा पहले इसका स्वाध्याय समयसार ग्रन्थ की तरह किया जाता था।

३. आध्यात्मिक पत्रावली (द्वितीय भाग)—

सग्रहकर्ता ब्र० छोटेलाल जी, प्रकाशक सर सेठ हुक्मचद्र जी सा० इन्दौर, वी० नि० स० २४६७, प्रथमावृत्ति १०००, मूल्य आत्मविचार।

माननीय सर सेठ सा० इन्ही पत्रो के माध्यम से प्रभावित और परिचित हुए और एक दिन पूज्य श्री के दर्शनार्थ सागर भी पधारे। वे वर्णी जी को एक परम तपस्वी और समयसार का सबसे बडा ज्ञाता विद्वान्
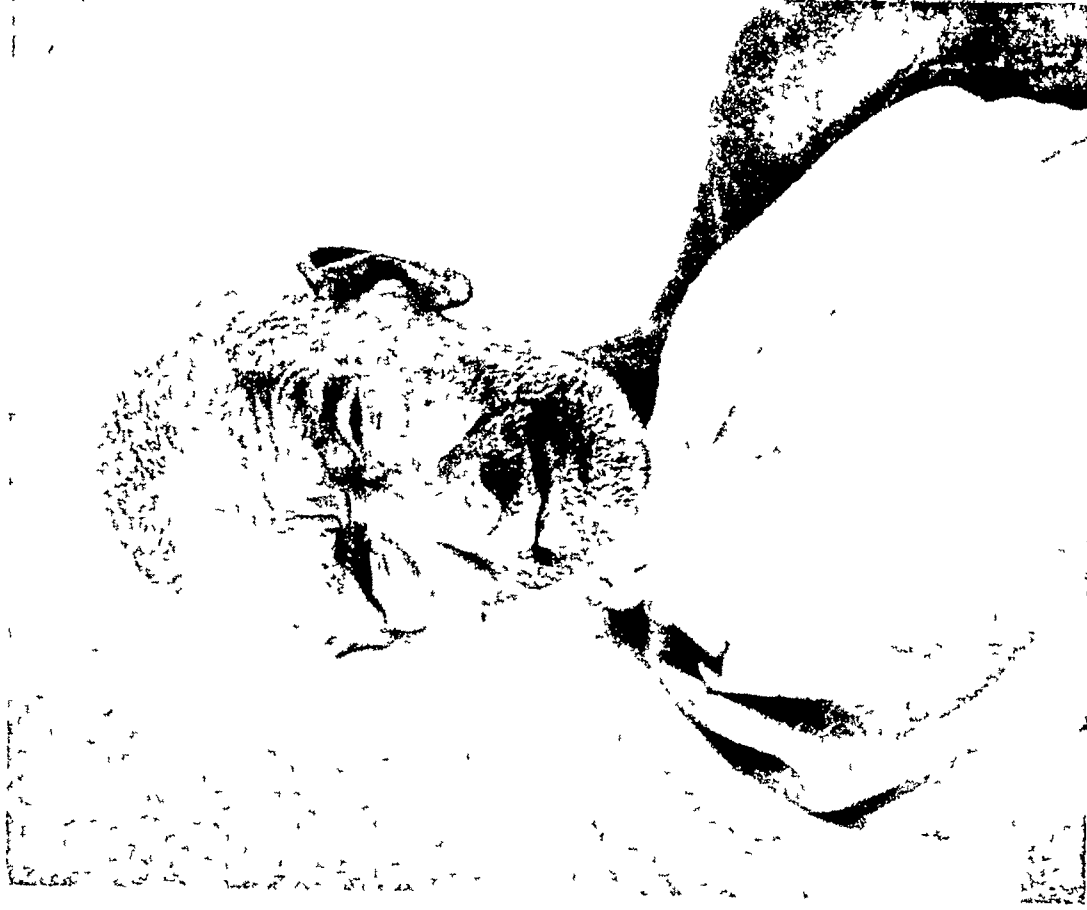
चिर अज्ञान-निशा मे लाये तुम शुभ-ज्ञान सबेरा,
वह तुम हो जिसने वन्ध्या को 'माता' कहकर टेरा ।

देखो प्रकाश की ओर मोह का यह अधियारा मत देखो

—नीरज जै
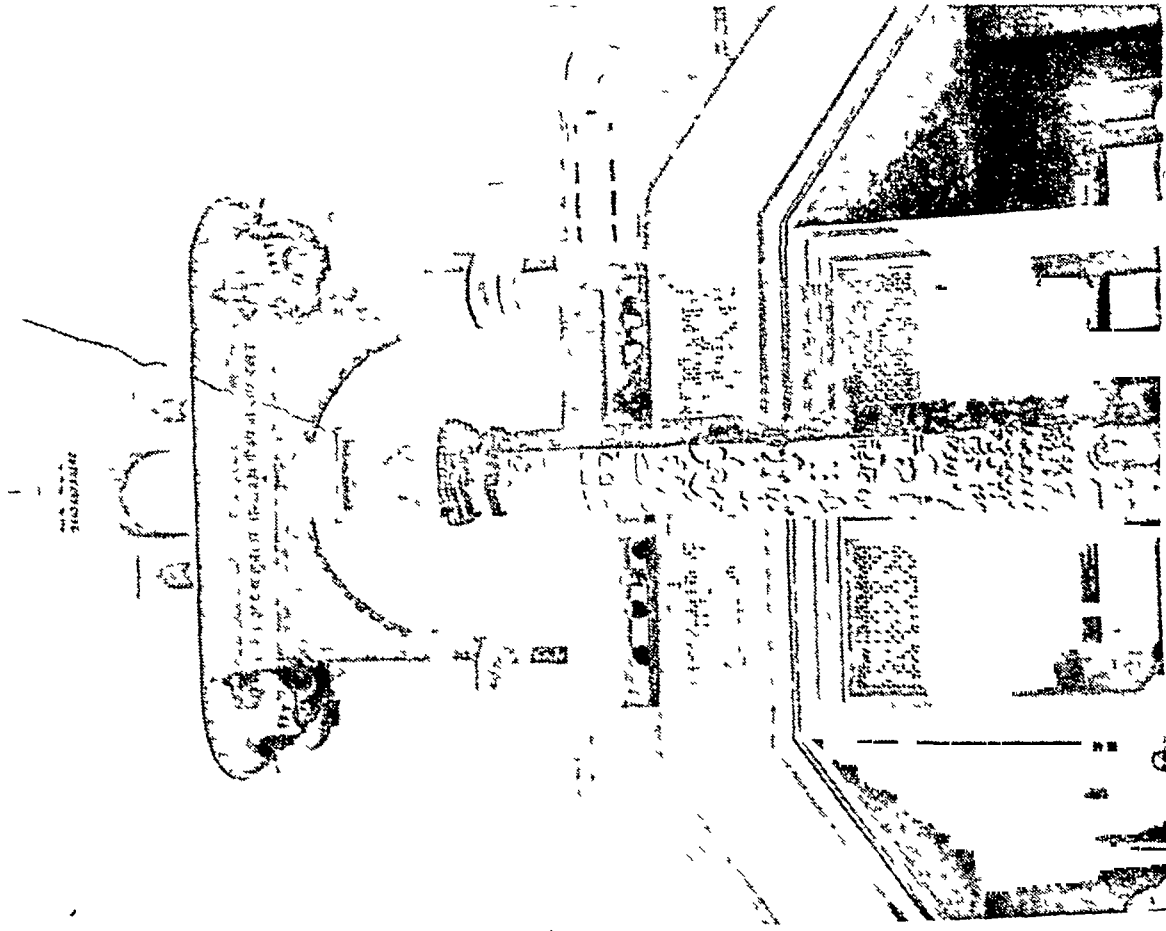
मोराजी भवन, सागर के प्रागण मे विशाल मानस्तम्भ
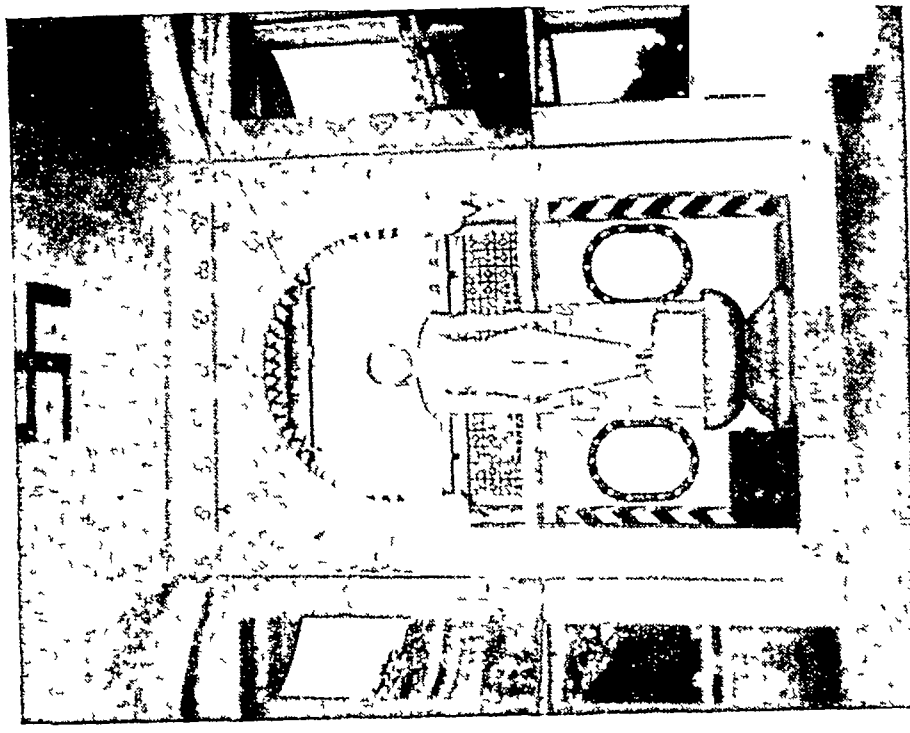
वाहुवली स्वामी का नवीन मदिर

मानते थे। उनका कहना था कि ये पत्र नही, अपितु समयसार का सार ही है। बात वस्तुत सत्य ही है।

४. आध्यात्मिक पत्रावलि (तृतीय भाग)—

प्रकाशक जिज्ञासु मडल कलकत्ता, वी० नि० स० २४६७, प्रथमावृत्ति १०००, मूल्य भेदविज्ञान द्वारा समाधिप्राप्ति।

५. आध्यात्मिक पत्रावलि—

प्रकाशक श्री सिघई कुन्दनलाल जी सागर, वी० नि० सं० २४६८, प्रथमावृत्ति १०००, मूल्य सदुपयोग,

६. वर्णी प्रवचन (छोटी साइज)

प्रकाशक जिनेश्वरप्रसाद जैन, पृष्ठ सख्या ११८, महावीर जयन्ती वि० स० २००६,

७. सुबोध पत्रावलि (प्रथम भाग)

सग्रहकर्ता मूलचन्द्र जैन, प्रकाशक सहजानन्द ग्रन्थ-माला मेरठ, वी० नि० स० २४८०, प्रथम सस्करण २२००, मूल्य दस आने।

पत्रावलियो की परम्परा ने लोगो को वर्णी साहित्य को पढने के लिये उत्साहित किया परन्तु एक नये रूप मे उसको प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया और सामग्री भी इतनी संगृहीत होने लगी कि उसका प्रकाशन एक नये रूप के बिना संभव नही था। अत: मेरे पिता जी ने "वर्णी वाणी" (प्रथम भाग) का साथ ही वर्णी जी की जीवनी "वर्णी जी" नामक एक १०० पृष्ठ की पुस्तक का लेखन कार्य किया। इनके प्रकाशित होने के पश्चात् पूज्य श्री वर्णी जी द्वारा लिखित एक बडी पुस्तक मेरी जीवन गाथा का प्रकाशन हुआ। विवरण इस प्रकार—

८. वर्णी जी

लेखक-नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक बालचन्द्र बाबूलाल मोदी, बडा मलहरा (छतरपुर) पृष्ट १००, मूल्य तेरह आने।

यह पुस्तक पूज्य श्री वर्णी जी द्वारा लिखित "मेरी जीवन गाथा" के आधार पर लिखी गई थी।

९. वर्णी-वाणी

सकलयिता और सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, पृष्ठ १३३, मूल्य एक रुपया दस आने। प्रकाशक साहित्य साधना समिति, जैन विद्यालय, काशी, वि. स. २००४।

१०. मेरी जीवन गाथा (प्रथम भाग)

लेखक पूज्य श्री वर्णी जी, पृष्ठ ८९० के लगभग, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थ माला बाराणसी, मूल्य ६ रुपये आठ आने, इसका द्वितीय सस्करण भी प्रकाशित हुआ।

११. मेरी जीवन गाथा (द्वितीय भाग)

लेखक पूज्य श्री वर्णी जी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थ माला बाराणसी प्रथम सस्करण १०००, पृष्ठ ४८६, मूल्य चार रुपये चार आने, वी नि. स. २४८६।

१२. वर्णी वाणी (प्रथम भाग)

सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थमाला, पूर्व प्रकाशित 'वर्णी-वाणी' का यह परिवर्धित सस्करण है। इसके कुल ५ सस्करण हो चुके है। प्रत्येक पृष्ठ ५००, प्रति १००० प्रत्येक बार।

१३. वर्णी वाणी (द्वितीय भाग)

सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थमाला, प्रथम सस्करण २००० प्रति, द्वितीय सस्करण १००० प्रति, प्रत्येक सस्करण मे मूल्य एक प्रति चार रुपये। पृष्ठ सख्या ४४८।

१४. वर्णी वाणी (तृतीय भाग)

सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थमाला, प्रत्येक सस्करण १००० प्रति, तीन संस्करणो मे मूल्य साढे तीन रुपये, चौथे सस्करण मे पाँच रुपये, पृष्ठ सख्या ४२८।

वर्णी जी के पत्र पहले आधुनिक सम्पादन कला के अनुसार वर्गीकृत न होकर एक असम्वद्ध क्रम से प्रकाशित होते रहे है परन्तु अब उनका खण्डश व्यक्ति के पद एवं प्रतिष्ठा तथा दिनाक क्रम को ध्यान मे रखते हुए नवीन ढंग

से वर्गीकृत करके चार खण्डो मे सम्पादन किया गया है। विवरण निम्नप्रकार है।

१५. वर्णी वाणी (पत्र पारिजात चतुर्थ भाग)

सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थमाला, प्रथम सस्करण १००० प्रति, वी. नि स २४८४, पृष्ठ ४७५, मूल्य तीन रुपये आठ आने, इसमे साधुसाध्वियो को लिखे गये पत्र सकलित है।

१६. वर्णी वाणी (पत्र पारिजात) पंचम भाग

सम्पादक डा नरेन्द्र विद्यार्थी, अप्रकाशित, इसमे विद्वानो के नाम लिखे गये पत्र सग्रहीत है। पृष्ठ सख्या अनुमानत ५००।

१७. वर्णी वाणी (पत्र पारिजात) छठवां भाग

सम्पादक डा नरेन्द्र विद्यार्थी, अप्रकाशित, पृष्ठ अनुमानत ५००, इसमे श्रीमानो के नाम लिखे गये पत्र सग्रहीत है।

१८. वर्णी वाणी (पत्र पारिजात) सातवां भाग

सम्पादक डा नरेन्द्र विद्यार्थी, अप्रकाशित, पृष्ठ अनुमानतः ५००, इसमे श्रीमानो के नाम लिखे गये पत्र सग्रहीत है। श्री बाबू रामस्वरूप जी बरुआसागर के नाम लिखे ५०० पत्रो का सग्रह प्रमुख है। इसी मे स्व. लाला जैनेन्द्रकिशोर जी जोहरी दिल्ली तथा स्व लाला राजकृष्ण जी दिल्ली को लिखे पत्र भी हैं।

१९. समयसार (प्रवचन सहित)

आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वोत्कृष्ट कृति समय प्राभृत ऊपर नाम 'समय सार' ग्रन्थ की सरल सुबोध हिन्दी टीका लिखकर पूज्य श्री वर्णी जी ने आध्यात्मिक जगत का महान उपकार किया है। पूज्य वर्णी जी से मेरे पिता जी ने बहुत आग्रह किया परन्तु अपने जीवनकाल मे उन्होने यह टीका प्रकाशनार्थ नही दी। वे कह देते थे भैया! आत्मख्याति और तात्पर्यावृत्ति के सामने इसकी क्या आवश्यकता? धन्य है उन आचार्यों को जो ये प्रकाश प्रदान कर गये। इस तरह बात टाल दिया करते थे। परन्तु जब वे स्वर्गीय हो गये तब केवल ७ दिन के लिये प्रति बडी कठिन कार्यवाही के बाद मिल सकी। उदारमना लाला फिरोजी लाल जी जैन दिल्ली ने उसकी फोटो कापी ७ दिन मे ही करा दी जिस पर से ६ प्रतिया टाइप होकर सम्पादन कार्य प्रारभ हुआ। ग्रन्थ के सम्पादन जैन समाज के प्रकाण्ड विद्वान प पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर ने किया। पृष्ठ संख्या ११०० प्रति, वि० स० २०२६ मे प्रकाशिका की गई। ग्रथ की प्रकाशिका वर्णी ग्रथ माला ने उसका मूल्य १२) रखा है। द्वितीय सस्करण छप रहा है। पृष्ठ सख्या ४०६ है।

२०. जीवन यात्रा

पूज्य वर्णी जी द्वारा लिखित 'मेरी जीवन गाथा' का उन्ही के शब्दो मे नये ढग से क्रमवद्ध सक्षिप्त रूपान्तर है। सक्षेपकार डा० नरेन्द्र विद्यार्थी और श्रीमती रमा जैन एम ए, साहित्यरत्न (मेरी माता जी) पृष्ठ मूल्य १) पृष्ठ सख्या ५०००, प्रकाशक सुषमा प्रेस, सतना।

२१. वर्णी जी और उनका दिव्यदान

'जीवन यात्रा' मे ही वर्णी जी के कुछ प्रवचन और वर्णी-वाणी से कुछ महत्त्वपूर्ण अश लेकर इस ग्रथ की रचना की गई है। लगभग ३०० पृष्ठो के इस ग्रथ की ५००० प्रतिया दिल्ली निवासी, वर्णी भक्त, लाला फिरोजी लाल जी ने आत्मलाभार्थ स्वाध्याय प्रेमियो को वितरित की थी।

२२. वर्णी दर्शन

वर्णी शताब्दी समारोह के शुभावसर पर ४२० पृष्ठ के इस सुन्दर ग्रथ का प्रकाशन दि० जैन शान्ति निकेतन, ईसरी बाजार की ओर से हुआ है। विद्वान् सम्पादक श्री जिनेन्द्र जी वर्णी ने इसमे सभी सामग्री 'मेरी जीवन गाथा' तथा 'वर्णी-वाणी' के भागो से सकलित की हे।

ग्रथ का विमोचन आश्विन कृष्ण ४ वि० सं० २०३१ (वर्णी जन्म शताब्दी के प्रथम दिन) ईसरी बाजार मे सम्पन्न हुआ।

२३ से ३७ सुख की एक झलक (१५ भाग)—

मुरार, दिल्ली, इटावा, ललितपुर, सागर, गया तथा ईसरी मे सम्पन्न हुए पूज्य श्री वर्णी जी से प्रवचनो का १५ वर्ष के चातुर्मासो मे श्री कपूरचन्द्र जी वरैया एम० ए०, साहित्यरत्न लश्कर ने बडे परिश्रम पूर्वक संकलन और सम्पादन कर प्रकाशन कार्य सम्पन्न कराया है। ये प्रवचन "सुख की एक झलक" के नाम से समाज मे बडे चाव के साथ पढे जाते है। कुल १५ वर्षों के प्रवचनो के है।

३८. सुख की एक झलक (प्रथमभाग)—

सरल जैनग्रन्थ भण्डार जबलपुर के सम्पादक वा प्रकाशक मोहनलाल शास्त्री काव्यतीर्थ के यहाँ से भी प्रकाशित हुआ है। जिसमे लगभग २०० पृष्ट वा मूल्य २।।) है। यह जबलपुर से ही प्राप्त होता है।

इनका भी पुन. विषय वार वर्गीकरण तथा नवीन ढंग से सम्पादन कार्य मेरे पिता जी करने को अनुज्ञप्त ही चुके है। "वर्णी जी—व्यक्तित्व और विचार" नामक डी० लिट्० के लिये लिखे जाने वाले ग्रन्थ के स्तर का जो ग्रन्थ लिखा जा रहा है उसके बाद वे इस कार्य को सम्पन्न करेगे।

इस प्रकार कुल ३८ छोटे बडे ग्रन्थ वर्णी-साहित्य मे उपलब्ध है।

वर्णी जी के उक्त उपलब्ध साहित्य से जन जन का कल्याण हुआ है और आगे भी होता रहेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

अनादिकाल से इस जीवके परपदार्थो का सम्बन्ध हो रहा है, आकाशवत् एकाकी नही रहा। यद्यपि परसम्बन्ध से इसका कोई भी अश अन्यरूप नही हुआ। जीवद्रव्य न तो पुद्गल हुआ और न पुद्गल जीव हुआ। केवल सुवर्ण-रजत का गलने से एक पिण्ड हो गया। उस पिण्ड मे सुवर्ण रजत अपनी अपनी मात्रा मे उतने ही रहे परन्तु अपनी शुद्ध परिणति को दोनो ने त्याग दिया एव जीव और पुद्गल भी बन्धावस्था मे दोनो ही अपने अपने स्वरूप से च्युत हो गये।

—गणेश वर्णी

१८

वर्णी जी की विकास-भूमि मड़ावरा

विमलकुमार जैन सोरया एम. ए., शास्त्री

अतीत के अंचल मे—बुन्देलखण्ड मे मडावरा एक ऐसा नगर है जिसका अपना प्रामाणिक इतिहास आज भी अपने अतीत गौरव को अपने आप मे संजोए है। मडावरा से एक किलोमीटर पूर्व मे ग्राम कसई है। यद्यपि वह स्थान वर्तमान मे कृषिक्षेत्र के रूप मे प्रवर्त रहा है परन्तु फिर भी आजकल वहाँ भवनो के पुरातन चिन्ह देखने मे आते है। उस ग्राम मे भी जैनो का पर्याप्त सद्भाव था और जैनसस्कृति पर्याप्तमात्रा मे फलीफूली थी। सम्वत् १६५० के लगभग सागर से मराठा ब्राह्मण पण्डित कौशीय ग्राम मे आए। आजभी सागर मे इनके बशज मौजूद है। जो मोरा जी नाम से जाने जाते हैं। वैद्यजी के मदिर मे पीतल की चौवीसी, जिसमे पद्मासन मूर्तियाँ है उस पर अकित प्रशस्ति निम्नप्रकार है। "सम्वत् १८६४ मार्गशीर्ष शुक्ला ५ शुक्रवार परगनौ सागर नग्र "मराठावरौ" प० मोरोजी राज्योदयात् परवार मूर सर्वछौला वैद्य नदजू, भार्या गोदा, तयो. पुत्र १ हरीसिह प्रणमति"

ये मराठे पेशवा के नाम से उस क्षत्र मे विख्यात हुए। इनकी मुख्य बैठक सोरई ग्राम मे थी। जो मडावरा से लगभग छह मील दूर दक्षिण मे है। जहाँ पर आज भी पुरातन विशाल किला, देवालय, पुरातनस्थल खण्डहर अवस्था मे अवस्थित हैं।

मराठा पण्डितो ने 'कौशीय' (कसई) ग्राम के पश्चिम भाग मे एक भव्य विशाल दुर्ग का निर्माण किया और किले से एक गुप्त भूमिगत मार्ग सोरई ग्राम के किले तक बनाया। इसकी लम्बाई ७ मील थी। किले के निर्माण कार्य मे लगभग ४० वर्ष लग गए। किले के पश्चिम मे वर्तमान मडावरा नगर को नये रूप से बसाया और उसका नाम 'मराठागाव' रखा। 'मराठागाव' का सम्बोधन सम्वत् १८७० तक प्रचलित रहा। इसके पश्चात् मराठा गाँव का सम्बोधन मडावरा के रूप मे प्रचलित हो गया। वैद्य जी के मदिर मे स्थित स० १८६४ की प्रशन्ति के अनुसार यह निर्विवाद सत्य है कि मडावरा नगर को पूर्व मे "मराठा" गाँव से नाम से कहा जाता रहा। स्व० श्री नेमिचद्र जी ज्योतिषाचार्य, ने मडावरा के विषय मे कहा है मठम्बर शब्द से मडावरा बन सकता है। मठ—जहाँ विशिष्ट व्यक्ति रहे। विद्वान साहित्यकार का यह अन्वेषणात्मक कथन अवश्य इतिहास और उसकी पुरातन परम्परा की पुष्टि करता है। मडावरा नगर की स्थापना मे तत्कालीन समीपवर्ती स्थित कौशीय (कसई) ग्राम के अलावा लार, छपारा तथा नाले के समीप स्थित ग्रामो का विलीनीकरण हुआ है।

मड़ावरा की भौगोलिक एवं सामाजिक रचना—भौगोलिक दृष्टि से मडावरा भारत के मध्य विन्ध्याचल के अचल मे २५-२६ एव २५-४० अक्षाश और ७८-२६ एव ७९-२६ देशान्तर रेखाओ के बीच उत्तरप्रदेश एव मध्यप्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्र मे ललितपुर से ३९ मील पूर्व-दक्षिण के कोने मे स्थित है। वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता तथा उपजाऊ एव खनिज तत्त्वो से भरपूर भूमि सम्पन्नता मे सदैव अग्रणी रही है। मराठा पण्डितो ने अत्यत सुन्दर और वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप इस नगर की व्यवस्था की थी। ग्राम के मध्य से चारो दिशाओ मे चार मार्ग बनाए। चारो मार्गों पर वर्तुलाकार मे वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप समाज-व्यवस्था की। ग्राम के बीच मे जैन-सम्प्रदाय और जैनो के विशाल गगनचुम्बी जिनालय बनाये इसे मदिरो की नगरी की उपमा दिलाते है। जैनो से लगे

हुए ब्राह्मण समाज और उनके ९ वैष्णव-मदिर है। जो यहाँ की प्राचीन धार्मिक परम्परा के प्रतीक है। ग्राम के आधे भाग मे लुहारो, नाइयो, तेलियो, ढीमरो के प्रथक् प्रथक् मुहल्ले है। दूसरी ओर स्वर्णकारो औदियो, लोधियो, कास्तकार, मजदूरो, कृषको के प्रथक् प्रथक् मुहल्ले बसे हुए है। ग्राम की अर्द्ध परिक्रमा देता हुआ उत्तर की ओर एक विशाल प्राकृतिक नाला है। जो अर्द्ध गोलाकार के रूपमे अवस्थित है। पूर्व की ओर नगर का तालाब व किला दक्षिण मे मराठो की बडी बाखर तथा पश्चिम भाग मे राजपथ है।

उत्तरीभाग मे नाले के उस पार सेवाकारी वर्ग के व्यक्तियो मे चर्मकारो, वसोरो, मेहतरो तथा वेश्याओ को वसाया गया है। इन सभी के प्रथक् प्रथक् मुहल्ले बसे हुए है।

मराठा पण्डितों के राज्य का पतन और अंग्रेजी शासन का प्रभाव - सम्वत् १८८० के आसपास मराठा पण्डितो मे श्रेष्ठी प० मोरोजी मडावरा नगर के राज्याधिपति थे। इसी समय शाहगढ राज्य के अधिपति महाराज बखतबली सिंह ने एक पत्र मराठा पण्डित राजा मोरोजी के समीप भिजवाया। जिसमे निर्देश था कि मडावरा की शासन-सत्ता हमारे आधीन कर दे अथवा युद्ध के लिए तैयार रहे। मराठा नरेश प० मोरो जी ने ३ माह की मौलत मागते हुए शासन-सत्ता राजा बखतबलीसिह को सौप देने की अधीनता स्वीकार कर ली। इसी समय इन्ही मराठा पण्डितो ने वड़ी वाखर का निर्माण किया था। यह तीन फर्लाङ्ग लम्बी थी जिसमे समस्त मराठा परिवार किले को छोड़कर रहने लगा था। इस वड़ी वाखर (मकान) मे ९ कुए और ३ वैष्णव मदिर थे। जो अधिकाशतः वर्तमान मे भी हैं।

एक बार राजा बखतबली सिह ने अंग्रेज अधिपति के आदेश की अवज्ञा कर दी। परिणामत अंग्रेजी फौज ने शाहगढ नरेश पर आक्रमण कर दिया और अचानक मडावरा दुर्ग को घेर कर तोप के गोला बरसाने लगे। परिणामत मडावरा नरेश बखतबली सिंह को परास्त होकर गुप्त मार्ग से भागना पडा और मड़ावरा सम्वत् १८९० (सन् १८३४) के आसपास अंग्रेजो की अधीनता मे आ गया। सम्वत् १९१४ मे सुव्यवस्थित शासक के अभाव मे इस क्षेत्र मे भयकर गदर पडी। परिणामत अनेक सम्पन्न परिवारो को समीपवर्ती रियासतो मे शरण लेनी पडी। गदर की जानकारी अंग्रेजो तक पहुँची और उन्होने अपनी सुव्यवस्था बनाई। व्यवस्था मे जमीदारी स्थापित की। मडावरा के ४ प्रमुख पच राजा के दरवारी थे। उन्हे चार चार आना जमीदारी दी। चार पचो मे प्रथम ग्राम तिसगना के राजपूत ठाकुर, ग्राम डोगरा के लोधी ठाकुर, ग्राम सिमरिया के जैन सिघई एव ग्राम हँसेरा के राजपूत ठाकुर थे। और इस प्रकार ११३ वर्ष तक मडावरा—अंग्रेजो की अधीनता (शासन-सरक्षण) मे रहा।

श्रमणसंस्कृति की परम्परा मे मड़ावरा—मडावरा नगर की स्थापना के पूर्व से ही इस प्रक्षेत्र मे श्रमण-सस्कृति का व्यापक प्रभाव एव जैनो का प्रभुत्व रहा है। मडावरा नगर के समीपस्थ ग्राम सीरोन, गिरार, सोरई, मदनपुर आदि ऐसे ऐतिहासिक स्थल है जहाँ पर श्रमण-सस्कृति के प्रतिमान एव वास्तुकला के अनूठे गढ देवालय और शिलापट्ट देखने को मिलते है। हजारो की सख्या मे विशाल मनोहर दिगम्बर जैन मूर्तियाँ और उन पर अकित शिलालेख एव प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो पर अकित प्रशस्तियाँ इस बात की साक्षी हैं कि यहाँ पर बहुसंख्या मे जैनो का सद्भाव रहा है। यही कारण है कि मड़ावरा नगर की स्थापना मे जैनो को पर्याप्तमात्रा मे सुसम्मान, सुविधाऐं एव उनके आवास (निवास) की व्यवस्था मे प्रमुखता दी गयी।

जैनधर्म की व्यापकता के प्रतिमान जैनमन्दिर और उनका निर्माण—

१. **वैद्य का मन्दिर**—मडावरा नगर मे सर्वप्रथम फाल्गुन वदी एकम वि० सम्वत् १७१० मे आचार्य सकलकीर्ति के उपदेश से परवार कुलोत्पन्न श्री मोहनदास, ग्वालीराम, एव मायाराम जी के द्वारा साधारण घर मे मंदिर की स्थापना की गई। लगभग एक शताब्दी बाद सर्वप्रथम इसे शिखर बन्द मदिर बनाने का कार्य आरभ हुआ। कहा

जाता है कि मदिर की दीवालो की चौडाई दश फुट २ इन्च है। इससे अनुमान होता है कि मदिर का उत्तुग शिखर काफी ऊचा बनना चाहिए था, परन्तु तत्कालीन शासक प० मोरो जी ने आज्ञा दी कि मदिर का शिखर किले की गुर्ज से ऊचा नही होना चाहिए क्योकि दुश्मनो द्वारा किए जाने वाले आक्रमण मे किले से जो तोप का गोला फेंका जाएगा उससे मन्दिर के विनाश की सम्भावना हो सकती है। अतएव एकाएक मदिर के शिखर को चौडा करके छोटा किया गया। मन्दिर की रचना आज इस तथ्य की पुष्टि करती है। इसके पश्चात् मार्गशीर्ष शु० ५ शुक्रवार वि०स० १८६४ मे वैद्य नद जू के पुत्र हरीसिंह जू ने इस मन्दिर की मरम्मत एव विशाल प्रतिष्ठा कराई। तभी से इस मदिर को वैद्य जी का मन्दिर नाम से पुकारने लगे। इसके पश्चात् वि०स० १८८३ वैशाख कृ० ५ बुधवार के दिन श्री सिं० मनराखन रामस्वरूप ने पुन. पच-कल्याणक कराकर जिनबिम्ब की स्थापना कराई।

यह मडावरा नगर का अत्यत प्राचीन जिनालय है उसका मुख्य द्वार पूर्व की ओर है।

२. सड़क का मन्दिर—गोरावाला मंदिर, नया मदिर-वैद्य जी के मदिर के निर्माण के पश्चात् वि० सम्वत् १८२४ के माघ सुदी ५ बुधवार को परवार कुलोत्पन्न मोदी कम्मोद जी के पुत्र श्री स्वरूपचद जी ने सडक के मदिर का निर्माण कर प्रतिष्ठा कराई। कहा जाता है कि स्वरूपचद और नदलाल दो भाई थे। छोटे भाई नंदलाल जीने मदिर के शिखर पर कलश अपनी ओर से भी रखने की इच्छा अपने भाई से व्यक्त की। भाई ने ईर्ष्याभिमान वश कहा "कलश रखने की इतनी ललक है तो अपने आगन मे बास गाड कर उस पर कलश रख लें।" भाई को भाई के यह शब्द सहन नही हुए और एक वर्ष मे ही अपने भाई से एक हाथ ऊँचा दूसरा मदिर तैयार कराकर नन्दलाल ने दूसरे वर्ष वैशाख सुदी षष्ठी स० १८२८ मे विशाल पचकल्याणक-प्रतिष्ठा कराई।

सम्वत् १९०१ मे श्री अधू चौधरी ने नये मदिर के निर्माण का कार्य आरम्भ किया। असमय मे ही उनका देहावसान हो जाने के कारण मदिर का कार्य अधूरा ही रह गया। लगभग ४५ वर्ष बाद सौरया वशीय दामोदर दास जी दौलतराम जी आदि के सत्प्रयत्न से यह मदिर निर्माण मे आया तथा श्री पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की गई। वि० सम्वत् १९६३ फागुन सुदी ३ को सौरया वशीय प्रमुख श्री दौलतराम जी ने विरधा मे हुई पचकल्याणक प्रतिष्ठा मे कुछ प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराकर मदिर जी मे स्थापित कराईं और मदिर का अधूरा कार्य पूरा कराकर सम्वत् १९८० मे सौरया मौजीलाल हरीसिंह आदि ने कलश स्थापित किया। परवार कुलोत्पन्न श्री भैयालाल जी लक्ष्मणप्रसाद जी आदि प्रमुख व्यक्तियो ने स० २०१४ मे गजरथ कराकर विम्ब-स्थापना कराई तथा मार्गशीर्ष कृष्णा ६ वि० स० २४९४ को ब्र० आदिसागर जीने नवीन वेदी की रचना कर महावीर स्वामी की विशाल वा भव्य मूर्ति स्थापित कराई।

इन तीनो मदिरो मे वि०स० १८२६ मे सिं० नदलाल जी द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ है। वि०स० १८६२ माघ शु० ७ सोमवार के दिन परवार कुलोत्पन्न गोरावालो ने विशाल पचकल्याणक-प्रतिष्ठा कराकर सिं० नदलाल जी के मदिर मे विम्ब-स्थापना की। तब से गोरावालो का मदिर यह सम्बोधन इस मदिर का हुआ। इसी मदिर के सामने वर्णी जी का मकान है। जहाँ अपने दरवाजे पर बैठकर इस मदिर पर होने वाले प्रवचन से उनके अन्त करण मे सम्यपक्त्व का उदय हुआ।

३. वेदी जड़ा मदिर - मार्गशीर्ष शु० २ रविवार स० १८४८ को सिं० भवानीदास जी ने इस मदिर की मरम्मत कराकर प्रतिष्ठा कराई। इस मदिर मे १५ एव १६ वी शताब्दी की अनेक प्रतिमाएँ है। माघ शु ७ सोमवार स० १८६२ को जमुनिया ग्राम मे प्रतिष्ठित अधिकाश मूर्तियाँ इस मदिर मे स्थित है। अबतो जमुनिया ग्राम के मदिर का पूरा समवसरण इस मदिर मे आ गया है। माघ शु० ५ वि०स० १९२४को परवार कुलोत्पन्न चौ०भानसा जी ने प्रतिष्ठा कराई एव चैत्र शु० ५ सोमवार वि०स० १९७५ को कुड़ीला (टीकमगढ) मे हुए पञ्चकल्याणक मे सिं० दामोदरदास कुन्दनलाल जी ने प्रतिष्ठा कराकर सर्वप्रथम इस मदिर की वेदी का नवीनीकरण कराया था। इसीलि

यह मदिर वेदी जडा नाम से प्रचलित हुआ। इस मदिर से लगा हुआ मदिर का एक भवन है जिसमे आरभ मे श्री हितवर्द्धनी दि० जैन पाठशाला सचालित रही। वर्तमान मे शासकीय अस्पताल सचालित है।

४. पटवारी का मंदिर—मूलनायक भगवान ऋषभ देव की अत्यत मनोज्ञ २ फुट ६ इच की देशी पाषाण की मूर्ति है। रचना की दृष्टि से ११वी शताब्दी के आसपास की प्रतीत होती है। कोई लेख इस पर नही है। इस मदिर की प्रतिष्ठा मार्गशीर्ष वदी १३ शुक्रवार स. १८६४ को श्री मोहनदास सिघई द्वारा कराई गई। यह गोलापूर्व समाज के सुसन्पून्न व्यक्ति थे। पुन वैशाख कृष्ण ५ बुधवार सं० १८८३ का पटवारी सिं० सिरहार, सिं० नारे सिं० मोतीराम ने पचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई। इसी कुटुम्ब परम्परा मे भाद्रपद शुक्ल १४ चन्द्रवार वि०स० १९०९ मे पटवारी नदलाल, गनेश, रामचद ने पचकल्याणक प्रतिष्ठा कराके बिम्ब-स्थापना की और एक पृथक् नवीन वेदी सम्वत् १९६५ मे परवार कुलोत्पन्न मोदी नाथूराम ने बनवाकर प्रतिष्ठा कराई। यहाँ गोलापूर्व समाज का यही एक जिनालय है।

५. सिघई का मंदिर—परवार जाति के डेवढिया गोत्रज श्री गनेश पातरे उस समय के वैभवशाली प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। एक बार अकाल के समय इन्होने राजा मोरो जी से कहा था महाराज आप इस अकाल से भयभीत न हो यदि आपकी आज्ञा प्राप्त हो तो मै अनाज के बदले अशर्फियाँ खेतो मे फसल के रूप मे बुआ सकता हू। राजा ने प्रसन्नता के साथ बजारो के द्वारा अशर्फियाँ भेजकर बाहर से अपने राज्य मे गल्ला मँगाया था। इसी सिघई परिवार ने फागुन सुदी ३ बुधवार वि०सम्वत् १८६७ को इस मदिर की प्रतिष्ठा कराई। इसी सिघई परिवार मे रसोलामूर गोयलगोत्रोत्पन्न सिं० उदेत जी, सिं० सुख सिह जी आदि ने कार्तिक शु० ५ बुधवार वि०स० १९२२ को इसी मदिर के अहाते मे दूसरा शिखरवद गगनचुम्बी मदिर बनवाकर विशालकाय भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। सं० १९२४ मे पुनः गजरथ महोत्सव इन्ही के द्वारा सम्पन्न हुआ। इस मदिर की वेदी देशी पत्थर की बनी है। जिसमे कलात्मक पच्चीकारी मेहराव आदि बनी है। इसी मंदिर मे स्थित प्राचीन हस्तलिखित ग्रथ सुदृष्टि तरगिणी की प्रशस्ति से यह जाना गया कि सम्वत् १८५६ मे तत्कालीन नरेश प. मोरो जी ने ससम्मान परवार कुलोत्पन्न ऐडरीमूर वाभूल्य गोत्र, श्री उमराव जी उर्फ लल्लाजूसाव को सोरई ग्राम से ससम्मान मडावरा बुलवाया था। तथा राजदरबार मे स्वर्णाभूषणो से सम्मान कर सोरई प्रवासी होने से "सौरया जी" शब्द का सबोधन किया। उसी परम्परा मे श्री माडनलाल देवीदास आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियो ने जन्म लेकर सौरया वश की यशो वृद्धि की। अत सिघई और सौरया यह दोनो वश मडावरा की स्थापना के समय से इस नगर के निवासी है।

६ **बाजार का मंदिर**—फाल्गुन शु० १५ बुधवार वि०स० १८९३ को गोलालारे कुलोत्पन्न आशाराम बिहारीलाल जी ने इस मदिर की एव इसमे स्थापित भ० नेमिनाथ की विशाल भव्य खड्गासन मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। यह मूर्ति वीतरागता, मनोज्ञता, सौम्यता मे अद्वितीय है। सम्वत् १९१२ ज्येष्ठ शु० ५ रविवार को पुन इसी परिवार मे सर्राफ नदजू, वसत, थोवन ने विशाल पार्श्वनाथ की प्रतिमाएे स्थापित कराकर प्रतिष्ठा कराई।

७. नीचे पुरा का मन्दिर—इसका प्रामाणिक इतिहास नही मिलता। ज्येष्ठ शु० ५ गुरुवार स० १८९७ को इस मदिर के मूलनायक की प्रतिष्ठा होना लिखा है। सम्भवत यह मदिर इसी समय बना हो। यह गोलालारे समाज के सिघईजीके द्वारा बनवाया गया ऐसी जानकारी परम्परागत सुनने मे आई। यह सदैव से गोलालारे समाज के सरक्षण मे रहा।

इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर १६ से २० शदी तक मडावरा नगर मे अनेक पचकल्याणक प्रतिष्ठाऐ व गजरथ हुए। मदिरो का यह इतिहास, मूर्ति शिलालेखो, ग्रथप्रशस्तियो एव परम्परागत प्रचलित कथानको के आधार पर लिखा गया है।

मडावरा नगर मे महापुरुषों का सद्भाव और वर्णी जी का जन्म—ऐतिहासिक प्रमाणो एवं प्राचीन हस्त-लिखित पुराण ग्रथो पर अकित प्रशस्तियो से यह जाना जा सकता है कि मडावरा मे सदैव धर्म की महती

प्रभावना होती आई है। तथा समय समय पर विशिष्ट श्रीमानो, विद्वानो, व्रतियो एव महापुरुषो ने यहाँ जन्म लेकर अपनी यश कीर्ति चिरस्मरणीय की है।

इसी परम्परा मे कुँवार वदी चौथ वि०सम्वत् १९३१ के दिन मडावरा मूलनिवासी एव हँसेरा-प्रवासी श्रीमान् हीरालाल जी के घर माँ उजियारी की कूख से एक बालक ने जन्म लिया। नाम 'गणश' रखा गया। कौन जानता था कि असाटी जाति मे जन्म लेने वाला गणेश जैनधर्म का अधिकारी विद्वान, महान आध्यात्मिक सत, और विश्ववद्य युगपुरुष बनेगा। पूज्य वर्णी जी ने मेरी जीवन-गाथा के प्रथम पृष्ठ पर अपना परिचय देते हुए लिखा है।

"मेरा नाम गणेश वर्णी" है। मेरा जन्म सम्वत् १९३१ के कुँवार वदी ४ को हँसेरे गाँव मे हुआ था। यह ग्राम जिला ललितपुर (झाँसी) तहसील महरोनी के अन्तर्गत मदनपुर थाने मे स्थित है। पिता का नाम श्री हीरालाल जी और माता का नाम उजियारी था। मेरी जाति असाटी थी। यह प्राय बुन्देलखण्ड मे पाई जाती है। इस जाति वाले– वैष्णव धर्मानुयायी होते है। पिताजी की स्थिति सामान्य थी।"

मडावरा के सबध मे "मेरी जीवन गाथा" मे वर्णी जी ने लिखा है—"मेरी आयु जब ६ वर्ष की हुई तब मेरे पिता मडावरा आ गए थे। तब वहाँ पर मिडिल स्कूल था डाकखाना था और पुलिस थाना भी था। नगर अति रमणीय था। यहाँ पर १० जिनालय और दिगम्बर जैनियो के १५० घर थे। प्राय सब सम्पन्न थे। दो घराने तो बहुत ही धनाढ्य और जनसमूह से पूरित थे।"

अपने विषय मे वर्णी जी ने स्वय लिखा है "मैने ७ वर्ष की अवस्था मे विद्यारम्भ किया और १४ वर्ष की अवस्था मे मिडिल पास हो गया चूँकि यहाँ पर यही तक शिक्षा थी अत आगे नही बढ सका। मेरे घर के सामने एक जिनालय था, इसलिए वहाँ भी जाया करता था। उस मुहल्ले मे जितने घर थे सब जैनियो के थे। उन लोगो के सहवास से प्राय हमारे पिता का आचरण जैनियो के सदृश हो गया था। रात्रिभोजन मेरे पिता नही करते थे। जब मैं १० वर्ष का था तब की बात है सामने मदिर जी के चबूतरे पर प्रतिदिन पुराण प्रवचन होता था एक दिन त्याग का प्रकरण आया–बहुत से भाइयो ने प्रतिज्ञा ली मैंने भी उसी दिन आजन्म रात्रिभोजन त्याग दिया। इसी त्याग ने मुझे जैनी बना दिया।"

वर्णी जी २० वर्ष की अवस्था तक मडावरा रहे। एक ओर जहाँ पिता के धार्मिक सस्कारो एव जैनधर्म के प्रति गहन आस्थामय विचारो का प्रभाव बालक वर्णी के जीवन मे सहकारी हुआ तो दूसरी ओर अपने आत्मीय बालमित्रो मे अभिन्न स्व० सि० हरीसिह जी सौरया (जो कि लेखक के बाबा थे) के मैत्री व्यवहारो एव पवित्र धर्माचरण के सस्कारो से वर्णी जी के अन्त करण मे जिनश्रद्धान का अकुरण परिपक्व होता गया। वर्णी जी ने मेरी-जीवन-गाथा मे अनेको जगह अभिन्न लगुटया मित्र के रूपमे स्व० हरिसिह सौरया को आदर के साथ स्मरण किया है।

अपनी निवासभूमि मड़ावरा के उज्ज्वल इतिहास मे–वि० सम्वत् १९७५ मे मडावरा मे विशाल विमानोत्सव हुआ। वर्णी जी ने अक्षयतृतीया के दिन सागर मे "सत्तर्क सुधातरगिणी" पाठशाला की स्थापना की थी। उस समय वर्णी जी की उम्र ३३ वर्ष की थी। मडावरा समाज ने ऐसे पुनीत अवसर पर वर्णी जी को सागर से बुलवाया। वर्णी जी अपने ज्ञान, आचरण और सामाज एव धर्म सेवा की अभूतपूर्व प्रवृत्तियो के कारण आदर श्रद्धा के साथ लोकप्रियता पाते जा रहे थे। मडावरा समाज अपने ऐसे गौरवशाली बेटे के कारण अपने आपको अहोभाग्य मानकर गौरवान्वित था। समाज को विश्वास था कि हमारा लाल हमे ज्ञान और आचरण की दिशा मे जो भी प्रकाश देगा वह पीढियो तक रहेगा। हुआ भी ऐसा ही। वर्णी जी ने हितवर्धिनी दि० जैन पाठशाला की स्थापना कर अपनी निवासभूमि के गौरव को समुन्नत किया। वर्णी जी ने स्वय लिखा है। "मडावरा से, जहाँ पर कि मेरा बाल्यकाल्य वीता था, एक पत्र इस आशयका आया कि'

आप पत्र के देखते ही चले आइए। यहाँ पर श्री जिनेन्द्र भगवान के विमान निकालने का महोत्सव है। हम सानद मडावरा पहुँच गए उस समय वहाँ समाजमे परस्पर अत्यत प्रेम था। तीन दिन का उत्सव था। अन्त मे मैने कहा—"भाई एक प्रस्ताव परवार सभा मे पास हो चुका है कि जो ५०००) विद्यादान मे देवे उसे सिघई पद दिया जावे। इस ग्राम मे सौ से ऊपर घर है, परन्तु बालको को जैनधर्म का ज्ञान कराने के लिए कुछ भी साधन नही है" जहाँ पर १० मदिर हो, बडे बडे बिम्ब सुन्दर सुन्दर वेदिकाऐं और अच्छे अच्छे गानविद्या के जानने वाले हो, वहाँ धर्म के जानने का कुछभी साधन न हो, यह यहाँ इस समाज को भारी कलक की बात है। अत. मुझे आशा है कि सौरया वश के महानुभाव इस त्रुटि की पूर्ति करेंगे। मेरे बाल्यकाल के मित्र श्री सौरया हरीसिह जी हँस गए। उनके हास्य से मैने आगत जन समुदाय के बीच घोषणा करदी कि बडी खुशी की बात है कि हमारे बाल्यकाली मित्र ने सिघई पद के लिए ५०००) का दान दिया। मैने श्री दामोदर सिंघई से कहा कि भैया आपतो जानते है कि इतने मे तो एक अध्यापक ही न मिल सकेगा आशा है आपभी ५०००) का दान, देकर ग्राम की कीर्ति को अजर अमर कर देवेगे। उन्होने कहा—इससे उत्तम क्या होगा कि हमारे द्वारा बालको को ज्ञानदान मिले। 'पचोने सौरया वश के प्रमुख-व्यक्तियो को पगडी बाधी और केशर का तिलक लगा कर 'सिघई जी जुहार' का दस्तूर अदा किया। पश्चात् सि० दामोदरदास जी को भी केशर का तिलक लगा कर पगड़ी बाधी और 'सवाई सिघई' पद से विभूषित किया। इस तरह जैन पाठशाला के लिए दश हजार का मूलधन अनायास हो गया।" इस प्रकार पूज्य वर्णी जी ने मडावरा मे ज्ञानप्रकाशिनी सस्था की स्थापना कर महान उपकार किया इसी पाठशाला से सैकड़ो विद्वानो ने जन्म लिया।

अपनी जन्मभूमि के अंतिम दर्शन—अपनी बुन्देलखण्ड की अतिम ऐतिहासिक यात्रा मे वर्णीजी अनेको जगह पाठशालाओ, विद्यालयो की स्थापना के साथ सामाजिक मनोमालिन्यो एवम् मतभेदो को दूर करते हुए अगहन शुक्ला ३ वि०सवत् २००४ तदनुसार दिनाक १५-१२-१९४७ सोमवार को प्रात मडावरा पधारे। ३ दिन मडावरा रहे। पूज्य वर्णीजी का सह आगमन उनकी पुनीत ऐतिहासिक स्मृति ही बन गया। उनकी वाणी मे स्नेह और आत्मीयता का जादू था। मडावरा जैनसमाज के बीच जो मतभेद और मनोमालिन्य था उनके आगमन से स्नेह और एकता मे परिणत हो गया। पाठशाला जो बद हो चुकी थी पुन. चालू हो गई और पूज्य वर्णी जीकी पुनीत स्मृति मे एक सार्वजनिक उपयोगी—"वर्णीभवन" का निर्माण किया गया। इस सदर्भ मे वर्णी जीने स्वय लिखा है। "रात्रिको हँसरा ग्राम मे वस रहे। वहाँ पर हमारी जन्मभूमि के रहने वाले हमारे लगोटिया मित्र सिघई हरिसिह जी आगए। बाल्यकाल की बहुत सी चर्चा हुई। प्रात: काल मडावरा पहुँच गए। हम यहाँ ३ दिन रहे। यही पर एक दिन ३ बजे श्रीमान् प० वंशीधर जी इन्दौर आगए, आपका रात्रि को प्रवचन हुआ, जिसे श्रवण कर श्रोता लोग मुग्ध हो गए। मडावरा मे पडित जी तथा समगौरया जी के अथक परिश्रम से पाठशाला का जो चन्दा वन्द था वह उगाया और यहाँ के जैनियो मे परस्पर जो मालिन्य था वह भी दूर हो गया।"

वर्णीजी उस प्रकाशमान ज्योतिर्मय दिवाकर की भाति थे, जिसका प्रकाशपुञ्ज सर्वत्र समानरूप व्यापक रहा। ऐसे महापुरुष की पुनीत शताब्दी के पावन प्रसग पर हम उनके पावन चरणो मे कोटिश: नमन करते है।

✲

१९

श्रुत-पञ्चमी

त्यागियों और विद्वानों से—

श्रुतपचमी का यह पर्व हमको यह शिक्षा देता है कि **यदि कल्याण करने की इच्छा है तब ज्ञानार्जन करो। ज्ञानार्जन के बिना मनुष्यजन्म की सार्थक्ता नहीं।** देव और नारकियो मे तीन ज्ञान होते है। जो ज्ञान होते है उनमे वे विशेष वृद्धि नही कर सकते है। जैसे देवो के देशावधि है वे उसे परमावधि, सर्वावधि नही कर सकते। हा, यह अवश्य है जैसे उनके मिथ्यादर्शन का उदय हो तब उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलावेगा। सम्यग्दर्शन के हो जाने पर सम्यग्ज्ञान हो जावेगा। परन्तु देवपर्याय मे सयम का उदय नही। अत आपर्याय वही अविरत अवस्था रहेगी।

मनुष्य पर्याय ही की विलक्षण महिमा है। जो सकल-सयम धारण कर ससार-बधन-विनाश कर सकता है। यदि ससार का नाश होता है तब इसी पर्याय मे होता है। अतः इस पर्याय की महत्ता सयम से ही है। हम निरन्तर ससार को यह उपदेश देते हैं कि मनुष्य जन्म पाकर इसकी सार्थकता इसी मे है कि ऐसा उपाय करो जिससे फिर ससार-बधन मे न बँधना पडे। **इस उपदेश का तात्पर्य केवल सम्यग्दर्शन से नही; क्योकि सम्यग्दर्शन तो चारो गतियो मे होता है।** केवल इसको प्राप्त किया तब क्या विशेषता हुई। **अत: इससे उत्तर संयम धारण करना ही इस पर्याय की सफलता है।**

आजकल बडे बडे विद्वान यह उपदेश देते है कि स्वाध्याय करो। यही आत्मकल्याण का मार्ग है। उनसे यह प्रश्न करना चाहिए, महानुभाव! भगवन्!! विद्वच्छिरोमणि!!! आपने आजन्म विद्याभ्यास किया। सहस्रो को उपदेश दिया। स्वाध्याय तो आपका जीवन ही है। हम जो चलेंगे सो आपके उपदेश पर चलेंगे। परन्तु देखते हैं आप स्वय स्वाध्याय करने का कुछ लाभ नही लेते। अत हमको तो यही श्रद्धा है कि **स्वाध्याय के करने से यही लाभ होगा कि अन्य को उपदेश देने मे पटु हो जावेंगे।** सो प्राय जितनी बातो का उपदेश आप करते है हम भी कर देते है। प्रत्युत एक बात हम लोगो मे विशेष है कि हम आपके उपदेश से दान करते है। अपने बालको को यथाशक्ति जैनधर्म का ज्ञान कराने का प्रयत्न करते है। परन्तु आप मे वह बात नही देखी जाती। आपके पास चाहे पचासो हजार रुपया हो जावे परन्तु आप उसमे से दान न करेंगे। अन्य की कथा छोडिए। आप जिन विद्यालयो द्वारा विद्वान हुए, उनके अर्थ कभी १००) न भेजे होगे। निज की बात छोडो। अन्य से यह न कहा होगा कि भाई! हम तो अमुक विद्यालय से विद्वान हुए उसकी सहायता करनी चाहिए। जगत को उपदेश धर्म जानने का देवेंगे, परन्तु अपने बालको को एम० ए० ही बनाया होगा। धर्मशिक्षा का मिडिल भी न कराया होगा। अन्य को मद्य, मास, मधु के त्याग का उपदेश देते है। आपसे कोई पूँछे कि आपके अष्टमूल गुण है तो हँस देवेंगे। व्याख्यान देते देते पानी का गिलास कई बार आ जावे तो कोई बडी बात नहीं। हमारे श्रोतागण भी इसी मे प्रसन्न है कि प० जी ने

सभी को प्रसन्न कर लिया।

यदि यह पडितवर्ग चाहे तब समाज का बहुत कुछ हित कर सकता है। जो पडित हैं वे नियम कर लेवें कि जिस विद्यालय से हमने प्रारम्भ मे विद्यार्जन किया है और जिसमे अन्त मे स्नातक हुए अपने को कृतज्ञ बनने के लिए दो प्रतिशत देवेंगे। एक प्रतिशत प्रारम्भ विद्यालय के लिए तथा एक प्रतिशत अंतिम विद्यालय को प्रतिमास भिजवावेंगे। यदि २००) मास उपार्जन होता होगा तब २।।) प्रतिमास भिजवावेंगे। तथा एक वर्ष मे २० दिन दोनो विद्यालयो के अर्थ देवेंगे। अथवा यह न दे सकें तब कम से कम जहाँ जावे उन विद्यालयो का परिचय तो करा देवे। जिनको १००) से कम आय हो वह प्रतिवर्ष ५) ५) अपनी संस्था मातेश्वरी को पहुँचा देवें। तथा यह भी न बने तब एक वर्ष मे कम से कम जिस ग्राम के हो वहा रहकर लोगो मे धर्म प्रचार तो कर देवे।

त्यागियो की बात कौन कहे? वह तो त्यागी है। किसके त्यागी है? सो दृष्टि डालिए तो पता चलेगा। त्यागीवर्ग को यह उचित है जहाँ जावे वहाँ पर यदि विद्यालय हो तब ज्ञानार्जन करे। **केवल हल्दी, धनिया, जीरे के त्याग में ही अपना समय न बितावे।** गृहस्थो के बालक जहाँ अध्ययन करते है वहाँ अध्ययन करे तथा शास्त्रसभा मे यदि अच्छा विद्वान हो तो उसके द्वारा शास्त्रप्रवचन प्रणाली की शिक्षा लेवे। केवल शिक्षाप्रणाली ही तक न रहे, किन्तु संसार के उपकार मे अपने को लगा देवे। यह तो व्यवहार है। अपने उपकार मे इतने लीन हो जावे कि अन्य बात ही उपयोग मे न आवे।

श्रुत-पञ्चमी
वि० स० २००८

कल्याण का मार्ग पर पदार्थो से भिन्न जो निजद्रव्य है उसी मे रत हो जाना है। इसका अर्थ यह है जो पर मे रागद्वेष विकल्प होते है उसका मूल कारण मोह है। यदि मोह न हो तब यह वस्तु मेरी है यह भाव भी न हो। तब उसमे राग हो, यह सर्वथा नही हो सकता। प्रेम तभी होता है जब उसमे अपने अस्तित्व की कल्पना की जावे। देखो! प्राय मनुष्य कहते है हमारा विश्वास अमुक धर्म मे है। हमारी तो प्रीति इसी धर्म मे है। विचार कर देखो, प्रथम उस धर्म को निज का मानना भी तो उसमे प्रेम हुआ। और यदि धर्म को निज का न माने तब उसमे अनुराग होना असम्भव है। यही कारण है कि एक धर्म वाला अन्य धर्म से प्रेम नही करता। अतः **जिनको आत्मकल्याण करना है वे आत्मा से राग करें। जो आत्मा नही, उनसे न राग करें और न द्वेष करें।** आत्मा एक द्रव्य है, ज्ञान दर्शन वाला है, बल्कि यह भी व्यवहार है। ज्ञान दर्शन के विकल्प क्षयोपशम ज्ञान मे होते है।

—गणेश वर्णी

—वर्णी-वाणी ३/२६०

✾

सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए परिणमनशील है। कोई पदार्थ किसी के साथ सम्बन्ध नही रखता। जिस पदार्थ मे जो गुण-पर्यायें हैं उन्ही के साथ उनका तादात्म्य हो रहा है, चाहे वे चेतन हो, चाहे अचेतन हो। चेतन पदार्थ का तादात्म्य चेतन गुण पर्याय के साथ है, यह निर्णीत है। किन्तु अनादिकाल से मोह का सबध आत्मा के साथ हो रहा है। मोह पुद्गल द्रव्य का परिणमन है। किन्तु जब उसका विपाककाल आता है उस काल मे यह आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है। आत्मा मे चेतन गुण है, उसमे यह आत्मा है, उसे ज्ञान जानता है। ज्ञानगुण का काम जानना है। जैसे दर्पण मे स्वच्छता है, उसमे अग्नि का प्रतिबिम्ब पडता है किन्तु अग्नि मे जो उष्णता और ज्वाला है वह दर्पण मे नही है। एव ज्ञान गुण स्वच्छ है, उसमे मोह के उदय मे रागादि होते है वे आत्मा की उपादानशक्ति से ही हुए है, नैमित्तिक नही। यह उन्हे स्वभाव मान लेता है, यही इसकी भूल है। यही भूल अनन्त ससार की नियामक है। जिन्हे अनन्त ससार से पार होना होवे वे इस भूल को त्यागे। ससार को निज मत बनाओ और न निज को ससार बनाओ। न तुम किसी के हो और न कोई तुम्हारा है। परन्तु मोह के आवेग मे तुम्हे कुछ सूझता नही।

—वर्णी वाणी, ३/१४०

✲

तृतीय खण्ड

प्रवचन और चिन्तन
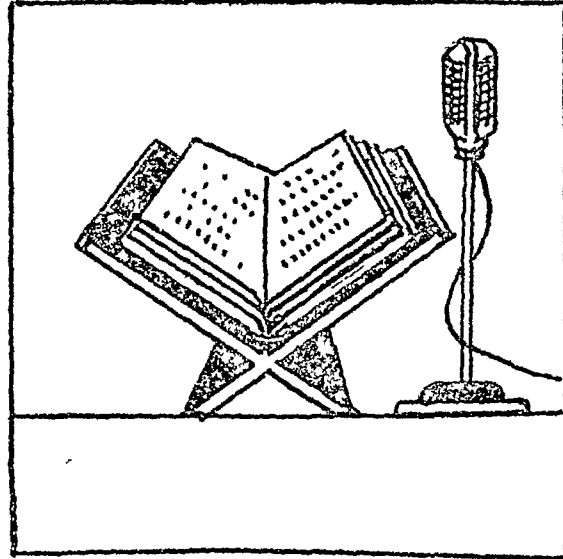
उनके अक्षर—उनकी बात

उपादान और निमित्त अपनी अपनी सीमा के भीतर परिणमन करते हुए भी किस प्रकार कार्य की कारणता प्राप्त करते है, यही रहस्य स्याद्वाद की कुजी है। पूज्य वर्णीजी कितने सुगम शब्दो मे इस रहस्य का उद्घाटन कर देते थे—

धर्म्म तो आत्मा में है, इसे निमित्तों में
खोजते हैं। चक्षु को निर्मल रखने से
(आत्मा का) नेत्र बिना आत्मा
नहीं देख सकता अतः नेत्र की
रक्षा भी आवश्यक है — चश्मा
भी सहकारी है।

गणेश वर्णी

भगवान् महावीर

समय—

विहार प्रान्तके कुण्डनपुरनृपति सिद्धार्थकी आँखो का तारा, त्रिशलाका दुलारा बालक महावीर, कौन जानता था मूकोका सरक्षक, विश्वका कल्याणपथदर्शक बनेगा ?

ईसवी सन्के ५६८ वर्ष पूर्व भगवान् श्री पार्श्वनाथके निर्वाण पश्चात् कोई धर्मप्रवर्तक न रहा। स्वार्थी जन अपने स्वार्थ साधनके लिये अपनी ओर, अपने धर्मकी ओर दूसरो को आकर्षित करनेके लिए यज्ञवतिवेदिओमे जीवो-को जला देना भी धर्म बताने लगे। अश्वमेध, नरमेध जैसे हिंसात्मक कार्योको भी स्वर्ग और मोक्षका सीधा मार्ग कहकर जीवोको भुलावेमे डालने लगे। ससार श्मशान प्रतीत होने लगा। एक रक्षककी ओर जनता आशा भरी दृष्टि लिये देखने लगी। यही वह समय था, जब भगवान् महावीरने भारत वसुन्धराको अपने जन्मसे सुशोभित किया था।

बाल जीवन—

सर्वत्र आनन्द छागया, राजपरिवार एक कुलदीपक को और विश्व एक अलौकिक दिव्यज्योति को प्राप्तकर अपने आपको धन्य समझने लगा। बालक महावीर दोयज के चन्द्रके समान बढते हुए दु खातुर ससारको त्राण देनेके लिए विद्याभ्यासी और अनेक कलाओके पारगामी एव कुशल सरक्षकके रूपमे दुनियाके सामने आये। अवस्थाके साथ उनके दया दाक्षिण्यादि गुण भी युवावस्थाको प्राप्त हो रहे थे। अपनी सुन्दरता, युवावस्था, विद्या और कलाओका उन्हे कभी अभिमान नही हुआ।

श्री वीर प्रभुने बाल्यावस्थासे लेकर तीस वर्ष की आयु तक घर ही मे समय विताया। उन वर्षोको अविरत अवस्था ही मे व्यय किया। श्री वीर-प्रभु बाल-ब्रह्मचारी थे। अत सबसे कठिन व्रत जो ब्रह्मचर्य है उन्होने अविरतावस्थामे ही पालन किया, क्योकि ससारका मूल कारण स्त्रीविषयिक राग ही है। इस रागपर विजय पाना उत्कृष्ट आत्माका ही काम है। वास्तवमे वीर प्रभुने इस व्रतका पालन कर ससारको दिखा दिया—"यदि कल्याण करना इष्ट है तब इस व्रतको पालो। इस व्रतको पालनेसे शेष इन्द्रियोके विषयोमे स्वयमेव अनुराग कम हो जाता है।"

आदर्श ब्रह्मचारी—

वीर प्रभुने अपने बाल-जीवनसे हमको यह शिक्षा दी कि—"यदि अपना कल्याण चाहते हो तो अपनी आत्माको पचेन्द्रियोके विषयोसे और ज्ञानपरिणतिको परपदार्थोमे उपयोगसे रक्षित रखो।" बाल्यावस्थासे ही वीर प्रभु ससार के विषयोसे विरक्त थे। क्योकि सबसे प्रबल ससारमे स्त्रीविषयिक राग है अत. उस रागके बस होकर यह आत्मा अन्धा हो जाता है। जब पुवेदका उदय होता है तब यह जीव स्त्रीसेवन की इच्छा करता है। प्रभुने अपने पितासे कह दिया—"मै इस ससार के कारण विषयसेवनमे नही पडना चाहता।" पिताने कहा—"अभी तुम्हारी युवावस्था है अत' दैगम्बरी दीक्षा अभी तुम्हारे योग्य नही। अभी तो सासारिक कार्य करो, पश्चात् श्री आदिनाथ स्वामीकी तरह विरक्त हो जाना।" श्री वीर प्रभुने उत्तर दिया—"पहलेतो कीचड लगाया जावे, पश्चात् जलसे उसे धोया जावे, यह मै उचित नही समझता। विषयोसे कभी आत्म-तृप्ति नही होती। यह विषय तो खाज खुजानेके सदृश हैं। प्रथम तो यह सिद्धान्त है कि परपदार्थ का परिणमन पर मे हो रहा है, हमारा परिणमन हममे हो रहा है। उसे हम अपनी इच्छाके अनुकूल परिणमन नही करा सकते। इसलिये उससे सम्बन्ध करना योग्य

नही है। जो पदार्थ हमसे पृथक् है उन्हे अपनाना महान अन्याय है। अत जो परकी कन्या हमसे पृथक् है उसे मैं अपना बनाउ, यह उचित नही।

प्रथम तो हमारा आपका भी कोई सम्बन्ध नही। आपकी जो आत्मा है वह भिन्न है, मेरी आत्मा भिन्न है। इसमे यही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आप कहते है विवाह करो, मै कहता हूँ वह सर्वथा अनुचित है। यह विरुद्ध परिणमन ही हमारे और आपके बीच महान् अन्तर दिखा रहा है। अत विवाहकी इस कथाको त्यागो। आत्म-कल्याणके इच्छुक मनुष्यको चाहिये कि वह अपना जीवन ब्रह्मचर्य-पूर्वक व्यतीत करे। और उस जीवनका सदुपयोग ज्ञानाभ्यासमे करे। क्योकि उस ब्रह्मचर्य व्रतके पालने से हमारी आत्मा रागपरिणति—जो अनन्त ससार मे रुलाती है, उससे बच जाती है। यह तो अपनी दया हुई और उस राग-परिणतिसे जो अन्य स्त्रीके साथ सहवास होता है वह भी जब हमारी राग-परिणतिमे फँस जाती है तब उस स्त्रीका जीव भी अपनेको इस राग द्वारा अनन्त ससारमे फँसा लेता है। इसलिये दूसरेके फँसानेमे भी हम ही कारण होते हैं। इस प्रकार दो जीव इस राग व्यालके लक्ष्य हो जाते है। दोनोका घात हो जाता है, अत जिसने इस ब्रह्मचर्य व्रत को पाला उसने दो जीवो-को ससार बन्धनसे बचा लिया और यदि आदर्श उपस्थित किया तो अनेकोको बचा लिया।"

वैराग्य की ओर—

कुमार महावीरकी अवस्था तीस वर्षकी थी। जब माता पिताने पुन पुन. विवाहका आग्रह किया, राज्यभार ग्रहण करानेका अभिप्राय व्यक्त किया तब उन्होने दृढता के साथ उत्तर दिया—"यह ससार बन्धनका मुख्य कारण है, इसको मै अत्यन्त हेय समझता हूँ। जब मैने इसे हेय माना तब यह राज्य सम्पदा भी मेरे लिए किस कामकी? अब मै दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करूँगा। जब मै रागको ही हेय समझता हूँ तब ये जो रागके कारण है वे पदार्थ तो सदा हेय ही है। वास्तवमे अन्य पदार्थ न तो हेय है, और न उपादेय हैं, क्योकि वे तो पर-वस्तु है। न वह हमारे हितकर्ता है, न वह हमारे अहितकर्ता ही है। हमारी राग-द्वेषपरिणति जो है उसमे हितकर्ता तथा अहितकर्ता प्रतीत होते है। वास्तवमे हमारे साथ जो अनादि कालसे रागद्वेषका मम्बन्ध हो रहा है वही दु खदाई है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है, देखना-जानना है, उससे जो रागद्वेपमोहकी कलुषता है वही ससारकी जननी है। आज हमारे यह निश्चय सफल हुआ कि इन पर-पदार्थोके निमित्तसे रागद्वेष होता है। उस रागद्वेपके निमित्तको ही त्यागना चाहिए। निश्चय सफल हुआ, इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके सहकार से ज्ञान तो सम्यक् था ही और बाह्य पदार्थोसे उदासीनता भी थी, परन्तु चारित्रमोहके उदयसे उन पदार्थोको त्यागनेमे असमर्थं थे, परन्तु आज उन अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान कषायके अभावमे वे पदार्थ स्वय छूट गये। छूटे हुये तो पहले ही थे, क्योकि भिन्न सत्ता वाले थे, केवल चारित्रमोहके उदय मे सम्यग्ज्ञानी होकर भी उनको छोडनेमे असमर्थ थे। यद्यपि सम्यग्ज्ञानी होनेसे भिन्न समझता था। आज पितासे कह दिया-"महाराज! इस ससारका एक अणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नही"—क्योकि—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूबी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमित्त पि।"

अर्थात् मै एक हूँ, शुद्ध हूँ। ज्ञानदर्शनमय हूँ। सदा अरूपी हूँ। इस ससारमे परमाणुमात्र भी मेरा नही है। मेरे ज्ञानमे परपदार्थ दर्पणकी तरह बिम्बरूपसे प्रतिभासित हो रहे है, यह ज्ञानकी स्वच्छता है। अर्थात् ज्ञानकी स्वच्छता का उदय है। इससे ज्ञेयका अश मुझमे नही आता—यह दृढ निश्चय है। जैसे दर्पण जो रूपी पदार्थ है, उसकी स्वच्छता स्वपराव-भासिनी है। जिस दर्पणके समीपभागमे अग्नि रक्खी है उस दर्पणमे अग्निके निमित्तको पाकर उसकी स्वच्छता मे अग्नि प्रतिबिम्बित हो जाती है। परन्तु क्या दर्पणमे अग्नि है? नही, जब दर्पणमे अग्नि नही तब अग्निकी ज्वाला और उष्णता भी दर्पणमे नही। तब यह मानना पडेगा कि अग्निकी ज्वाला और उष्णता तो अग्निमे ही है, दर्पणमे जो प्रतिबिम्ब दिख रहा है वह दर्पणकी

स्वच्छताका विकार है। इसी तरह ज्ञानमें जो ये बाह्य पदार्थ भासमान हो रहे है वे बाह्य पदार्थ नही। बाह्य पदार्थकी सत्ता तो बाह्य पदार्थोमे है। ज्ञानमे जो भासमान हो रहा है वह ज्ञानका ही परिणमन हो रहा है।"

साधना के पथ पर--

पश्चात् श्री वीर प्रभुने ससारसे विरक्त हो दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। सभी प्रकारके बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर दिया। बालोको घासफूसकी तरह निर्ममताके साथ उखाड फेका। ग्रीष्मकी लोल लपटे, मूसलाधार वर्षा और शिशिरका झझावत सहन कर प्रकृतिपर विजय प्राप्त की और अनेक उपसर्गोको जीतकर अपने आप पर विजय प्राप्त की। उन्होने बताया – "वास्तवमे यह परिग्रह नही। मूर्च्छाके निमित्त होनेसे इन्हे उपचारसे परिग्रह कहते है। धन-धान्य आदि पदार्थ पर वस्तु है। कभी आत्माके साथ इनका तादात्म्य हो सकता है? इन्हे अपना मानता है, यह मानना परिग्रह है। उसमे ये निमित्त पडते है इससे इन्हे निमित्तकारणकी अपेक्षा परिग्रह कहा है। परमार्थसे तो क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद और मिथ्यात्व ये आत्माके चतुर्दश अन्तरङ्ग परिग्रह हैं। इनमे मिथ्यात्व भाव तो आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका विकार है जो दर्शनमोहनीय कर्मके विपाकसे होता है। शेष जो क्रोधादि तेरह प्रकारके भाव है वे भाव चारित्र-मोहनीय कर्मके विपाकसे होते है। इन भावोके होनेसे आत्मामे अनात्मीय पदार्थमे आत्मीय बुद्धि होती है।

जब आत्मामे मिथ्यात्व भावका उदय होता है उस कालमे इसका ज्ञान विपर्यय हो जाता है। यद्यपि ज्ञानका काम जानना है, वह तो विकृत नही होता अर्थात् जैसे कामला रोग वाला नेत्रसे देखता तो है ही परन्तु शुक्ल वस्तुको पीला देखेगा। जैसे शख शुक्लवर्ण है वह शख ही देखेगा परन्तु उसे पीतवर्ण देखेगा। एव मिथ्यादर्शनके सहवाससे ज्ञानका जानना नही मिटेगा। परन्तु विपरीतता आ जावेगी। मिथ्यादृष्टि जीव शरीरको आत्मा रूपसे देखेगा अर्थात् शरीरमे शरीरत्व धर्म है पर यह अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) जीव उसमे आत्मत्व धर्मका मान करेगा। परमार्थसे शरीर आत्मा नही होगा और न तीन काल मे आत्मा हो सकता है, क्योकि वह जड पदार्थ है उसमे चेतना नही, परन्तु मिथ्यात्वके उदयसे 'शरीरमे आत्मा है" यह बोध हो ही जाता है। तब इसका ज्ञान मिथ्या कहलाता है। इसका कारण बाह्य प्रमेय है। वैसा नही जैसा इसके ज्ञानमे आ रहा है। तब यह सिद्ध हुआ कि बाह्य प्रमेय की अपेक्षासे यह मिथ्याज्ञान है। अन्तरङ्ग प्रमेयकी अपेक्षा तो विपयबाधित न होनेसे उस कालमे उसे मिथ्या नही कह सकते। अतएव न्यायमे विकल्पसिद्ध जहाँ पर होता है वहाँ पर सत्ता या असत्ता ही साध्य होता है।

अनादिकालसे यह जीव इसी चक्करमे फँसा हुआ अपने निज-स्वरूपसे बहिष्कृत हो रहा है। इसका कारण यही मिथ्याभाव है। क्योकि मिथ्यादृष्टिके ज्ञानमे "शरीर ही आत्मा है" ऐसा प्रतिभास हो रहा है। उस ज्ञानके अनुकूल वह अपनी प्रवृति कर रहा है। जब शरीरको आत्मा मान लिया तब जो शरीरके उत्पादक है उन्हे अपने माता-पिता और जो शरीरसे उत्पन्न है उनमे अपने पुत्र पुत्री तथा जो शरीरसे रमण करनेवाली है उसे स्त्री मानने लगता है। तथा जो शरीरके पोषक धनादिक है उन्हे अपनी सम्पति मानने लगता है। उसीमे राग-परणति कर उसीके सचय करनेका उपाय करता है। इसमे जो बाधक कारण होते है उनमे प्रतिकूल राग द्वेष द्वारा उनके पृथक् करनेकी चेष्टा करता है। मूल जड यही मिथ्यात्व है जो शेष तेरह प्रकारके परिग्रहकी रक्षा करता है। इन्ही चतुर्दश प्रकारके परिग्रह से ही तुमको ससारकी विचित्र लीला दिख रही है यदि यह न हो तो यह सभी लीला एक समयमे विलीन हो जावे।"

दिव्योपदेश--

दैगम्बरी दीक्षाका अवलम्बन कर भगवान महावीर बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण कर केवलज्ञानके पात्र हुए। केवलज्ञानके बाद भगवान्ने दु खातुर ससारको दिव्योपदेश दिया--

"ससारमे दो जातिके पदार्थ है—चेतन, और

अचेतन। अचेतनके पाँच भेद है – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चार पदार्थोंको छोडकर जीव और पुद्गल यह दो पदार्थ प्राय सबके ज्ञानमे आ रहे है। जीव नामक जो पदार्थ है वह प्राय सभीके प्रत्यक्ष है, स्वानुभव गम्य है। सुख दु खका जो प्रत्यक्ष होता है वह जिसे होता है वही आत्मा है। मैं सुखी हूँ, मै दु खी हूँ, यह प्रतीति जिसे होती है वही आत्मा है। जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन्द्रियके द्वारा जाना जाता है वह रूपादि गुण वाला है—उसे पुद्गलद्रव्य कहते है। इन दोनो द्रव्योकी परस्परमे जो व्यवस्था होती है उसीका नाम ससार है। इसी ससारमे यह जीव चतुर्गति सम्बन्धी दुखोंको भोगता हुआ काल व्यतीत करता है।

परमार्थसे जीव द्रव्य स्वतन्त्र है और पुद्गल स्वतन्त्र है—दोनोकी परिणति भी स्वतन्त्र हे। परन्तु यह जीव अज्ञानवश अनादिकालसे पुद्गलको अपना मान अनन्त ससारका पात्र हो रहा है। आत्मामे देखने-जाननेकी शक्ति है परन्तु यह जीव उस शक्ति का यथार्थ उपयोग नही करता अर्थात् पुद्गलको अपना मानता है, अनात्मीय शरीरको आत्मा मानकर उसकी रक्षाके लिये जो जो यत्न किया करता है वे यत्न प्राय ससारी जीवोके अनुभवगम्य होते है। इसलिए परमार्थसे देखा जाय तो कोई किसीका नही। इससे ममता त्यागो। ममताका त्याग तभी होगा जब इसे पहले अनात्मीय जानोगे। जब इसे पर समझोगे तब स्वयमेव इससे ममता छूट जायगी। इससे ममता छोडना ही ससार दु खके नाशका मूल कारण है। परन्तु इसे अनात्मीय समझना ही कठिन है। कहने मे तो इतना सरल है कि "आत्मा भिन्न है शरीर भिन्न है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, शरीर रूप रस गन्ध स्पर्शवाला है। जब आत्मा का शरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है तब शरीरमे कोई चेष्टा नही होती"। परन्तु भीतर बोध हो जाना कठिन है। अत सर्वप्रथम अनात्मीय पदार्थो से अपनेको भिन्न जाननेके लिए तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना चाहिए। आत्मज्ञान हुए विना मोक्षका पथिक होना कठिन है, कठिन क्या असम्भव भी है। अत अपने स्वरूपको पहिचानो। तथा अपने स्वरूप को जानकर उसमे स्थिर होओ। यही ससारसे पार होने का मार्ग हे।

"सबसे उत्तम कार्य दया है। जो मानव अपनी दया नही करता वह परकी भी दया नहीं कर सकता। परमार्थ दृष्टि से जो मनुष्य अपनी दया करता हे वही परकी दया कर सकता है।

"इसी तरह तुम्हारी जो यह कल्पना है कि हमने उसको सुखी कर दिया, दुखी कर दिया। इनको बँधाता हूँ, इनको छुडाता हूँ, वह सब मिथ्या है। क्योकि यह भावका व्यापार परमे नहीं होता। जैसे—आकाशके फूल नही होते वैसे ही तुम्हारी कल्पना मिथ्या है। सिद्धान्त तो यह है कि अध्यवसानके निमित्तसे बँधते है और जो मोक्षमार्गमे स्थित है वे छूटते है। तुमने क्या किया ? यथा तुमने क्या यह अध्यवसान किया कि इसको बन्धनमे डालूँ और इसको बन्धनसे छुडा दूँ ? नही अपितु यहाँ पर—"एन वन्धयामि" इस क्रियाका विषय तो "इस जीवको वन्धनमे डालूँ" और एन मोचयामि" इसका विषय—"इस जीवको वन्धनसे मुक्त करा दूँ" यह है। और उन जीवोने यह भाव नही किये तव वह जीव न तो बँधे और न छूटे। तुमने वह अध्यवसान नही किया, अपितु उन जीवोमे एकने सराग परिणाम किये और एकने वीतराग परिणाम किये तो एक तो बन्ध अवस्थाको प्राप्त हुआ, और एक छूट गया। अत यह सिद्ध हुआ कि परमे अकिंचित्कर होने से यह अध्यवसान भाव स्वार्थ-क्रियाकारी नही। इसका तात्पर्य यह हे कि हम अन्य पदार्थ का न तो बुरा कर सकते हैं और न भला कर सकते है। हमारी अनादि कालसे जो यह बुद्धि है कि "वह हमारा भला करता है, वह बुरा करता है, हम पराया भला करते है, हम पराया बुरा करते हैं, स्त्री पुत्रादि नरक ले जानेवाले है, भगवान स्वर्ग मोक्ष देने वाले है।" यह सब विकल्प छोडो। अपना शुभ जो परिणाम होगा, वही स्वर्ग ले जाने वाला है। और जो अपना अशुभ परिणाम होगा वही नरकादि गतियोमे ले जाने वाला है। परिणाममे वह पदार्थ विषय पड जावे, यह अन्य बात है। जैसे ज्ञानमे ज्ञेय आया इसका यह अर्थ नही कि ज्ञेयने ज्ञान उत्पन्न कर दिया। ज्ञान ज्ञेयका जो सम्बन्ध है उसे कौन रोक सकता है ? तात्पर्य यह कि परपदार्थके प्रति रागद्वेप करनेका जो मिथ्या अभिप्राय हो रहा है उसे

त्यागो । अनायास निजमार्गका लाभ हो जावेगा । त्यागना क्या अपने हाथकी बात है ? नही, अपने ही परिणामोसे सभी कार्य होते है ।

'जब यह जीव स्वकीय भावके प्रतिपक्षीभूत रागादि अध्यवसायके द्वारा मोहित होता हुआ सम्पूर्ण परद्रव्यो को आत्मामे नियोग करता है तब उदयागत नरकगति आदि कर्मके वश, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, पाप, पुण्य जो कर्मजनित भाव है उन रूप अपनी आत्माको करता है । अर्थात् निर्विकार जो परमात्मतत्त्व है उसके ज्ञानसे भ्रष्ट होता हुआ "मै नारकी हूँ, मै देव हूँ" इत्यादि रूप कर उदयमे आये हुए कर्मजनित विभाव परिणामो की आत्मामे योजना करता है । इसी तरह धर्माधर्मास्तिकाव, जीव, अजीव, लोक, अलोक ज्ञेय पदार्थोको अध्यवसानके द्वारा उनकी परिच्छित्ति विकल्प रूप आत्माको व्यपदेश करता है ।

"जैसे घटाकर ज्ञानको घट ऐसा व्यपदेश करते है वैसे ही धर्मास्तिकाय विषयिक ज्ञानको भी धर्मास्तिकाय कहना असगत नही । यहाँ पर ज्ञानको घट कहना यह उपचार है । कहने का तात्पर्य यह है कि जब यह आत्मा पर पदार्थो को अपना लेता है तब यदि आत्म-स्वरूपको निज मान ले तव इसमे आश्चर्यकी कौन-सी वात है ? स्फटिकमणि स्वच्छ होता है और स्वयं लालिमा आदि रूप परिणमन नही करता किन्तु जब उसे रक्तस्वरूप परिणत जपापुष्पका सम्बन्ध हो जाता है तब वह उसके निमित्तसे लालिमादि रँगरूप परिणत हो जाता है । फिर भी उसका लालिमादि रूप स्वभाव नही हो जाता । निमित्तके अभावमे वह स्वय सहजरूप हो जाता है । इसी तरह आत्मा स्वभावसे रागादिरूप नही है परन्तु रागादिकर्मकी प्रकृति जब उदयमे आती है उस कालमे उसके निमित्तको पाकर यह रागादिरूप परिणमन प्राप्त हो जाता है । इसका स्वभाव भी रागादि नही है क्योंकि वे नैमित्तिक भाव है । परन्तु फिर भी इसमे होता है । जब निमित्त नही होता तब परिणमन नही करता ।यहाँ पर आत्मा, चेतन पदार्थ है यह निमित्तको दूर करनेकी चेष्टा नही करता, किन्तु आत्मामे जो रागादिक हैं उन्हीको दूर करनेका उद्योग करता है और यह कर भी सकता है क्योंकि यह सिद्धान्त है— "अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कुछ नहीं कर सकता । अपनेमे जो रागादिक है वे अपने ही अस्तित्व मे है, आप ही उसका उपादान कारण है । जिस दिन चाहेगा उसी दिनसे उनका ह्रास होने लगेगा ।" उन रागादिकका मूल कारण मिथ्यात्व है जो सभी कर्मोको स्थिति अनुभाग देता है । उसके अभावमे शेष कर्म रहते है । परन्तु उनको वल देने वाला मिथ्यात्व जानेसे वे सेनापति विहीनकी तरह हो जाते है । यद्यपि सेनामे स्वय शक्ति है, परन्तु वह शक्ति उत्साहहीन होने से शूरकी शूरताकी तरह अप्रयोजक होती रहती है । इसी तरह मोहादिक कर्मके बिना शेष सात कर्म अपने कार्योमे प्रवृत्त नही होते । क्योकि सेनापति जो मोह था उसका अभाव हो गया । उस कर्मका नाश करने वाला यही जीव है जो पहले स्वय चतुर्गति भवावर्तमे गोता लगाता था आज स्वय अपनी शक्तिका विकास कर अनन्त सुखामृतका पात्र हो जाता है । जब ऐसी वस्तु-मर्यादा है तव आप भी जीव है यदि चाहे तो इस ससार का नाश कर अनन्तसुख के पात्र हो सकते है ।"

यही सँदेश भगवान महावीर ने अपने जीवन से व अपनी वाणी से हमे दिया है ।

—वर्णी-वाणी : १ / ३१६-३२७

———

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका अर्थ आत्मलब्धि है। आत्माके स्वरूपका ठीक-ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्मलब्धि के सामने सब सुख धूल हैं। सम्यग्दर्शन आत्माका महान् गुण है। इसीसे आचार्योंने सबसे पहले उपदेश दिया—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है।" आचार्यकी करुणाबुद्धि तो देखो, मोक्ष तब हो जब कि पहले बन्ध हो। यहाँ पहले बन्धका मार्ग बतलाना था फिर मोक्षका, परन्तु उन्होने मोक्ष-मार्गका पहले वर्णन इसीलिये किया है कि ये प्राणी अनादिकालसे बन्धजनित दुःखका अनुभव करते-करते घबरा गये है, अत पहले उन्हे मोक्षका मार्ग बतलाना चाहिये। जैसे कोई कारागारमे पडकर दुखी होता है, वह यह नही जानना चाहता कि मै कारागारमे क्यो पडा ? वह तो यह जानना चाहता है कि मै इस कारागारसे कैसे छूटूँ ? यही सोचकर आचार्यने पहले मोक्षका मार्ग बतलाया है।

सम्यग्दर्शनके रहनेसे विवेक-शक्ति सदा जागृत रहती है, वह विपत्तिमे पडने पर भी कभी न्यायको नही छोडता। रामचन्द्रजी सीताको छुडाने के लिये लङ्का गये थे। लङ्काके चारो ओर उनका कटक पडा था। हनुमान आदिने रामचन्द्र जीको खबर दी कि रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है, यदि उसे विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये जिससे कि हम लोग उसकी विद्याकी सिद्धिमे विघ्न डाले।

रामचन्द्रजीने कहा – 'हम क्षत्रिय है, कोई धर्म करे और हम उसमे विघ्न डाले, यह हमारा कर्त्तव्य नही है।"

हनुमानने कहा—"सीता फिर दुर्लभ हो जायगी।"

रामचन्द्रजीने जोरदार शब्दोमे उत्तर दिया—"एक सीता नही सभी कुछ दुर्लभ हो जाय, पर मै अन्याय करने की आज्ञा नही दे सकता।"

रामचन्द्रजीमे इतना विवेक था, उसका कारण उनका विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन था।

सीताको तीर्थ-यात्राके बहाने कृतान्तवक्र सेनापति जङ्गलमे छोडने गया, उसका हृदय वैसा करना चाहता था क्या ? नही, वह स्वामीकी आज्ञाकी परतन्त्रतासे गया था। उस समय कृतान्तवक्रको अपनी पराधीनता काफी खली थी। जब वह निर्दोष सीताको जङ्गलमे छोड अपने अपराधकी क्षमा माँग वापिस आने लगता है तब सीताजी उससे कहती है—"सेनापति! मेरा एक सन्देश उनसे कह देना। वह यह कि जिस प्रकार लोकापवादके भयसे आपने मुझे त्यागा, इस प्रकार लोकापवादके भयसे धर्मको न छोड देना।"

उस निराश्रित अपमानित दशामे भी उन्हे इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था ? उनका सम्यग्दर्शन। आज कलकी स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानताके अधिकार बतलाती। इतना ही नही, सीताजी जब नारदजीके आयोजन द्वारा कुशलके साथ अयोध्या वापिस आती है, एक वीरता-पूर्ण युद्धके बाद पिता-पुत्रका मिलाप होता है, सीताजी लज्जासे भरी हुई राजदरबारमे पहुँचती हैं, उन्हे देखकर रामचन्द्रजी कह उठते है—"तुम बिना शपथ दिये, बिना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ ?"

सीताने विवेक और धैर्यके साथ उत्तर दिया—"मैं समझी थी कि आपका हृदय कोमल है पर क्या कहूँ ?

आप मेरी जिस प्रकार चाहे शपथ ले ।"

रामचन्द्रजीने कहा—"अग्निमे कूदकर अपनी सचाई-की परीक्षा दो ।"

बडे भारी जलते हुए अग्निकुण्डमे सीताजी कूदनेको तैयार हुई । रामचन्द्रजी लक्ष्मणजीसे कहते है कि सीता जल न जाय ।"

लक्ष्मणजीने कुछ रोषपूर्ण शब्दोमे उत्तर दिया—'यह आज्ञा देते समय नही सोचा ? वह सती है, निर्दोष है, आज आप उनके अखण्ड शील की महिमा देखिये ।"

उसी समय दो देव केवली की वन्दनासे लौट रहे थे, उनका ध्यान सीताजीका उपसर्ग दूर करनेकी ओर गया । सीताजी अग्निकुण्डमे कूद पडी, कूदते ही सारा अग्निकुण्ड, जलकुण्ड बन गया ! लहलहाता कोमल कमल सीताजीके लिए सिहासन बन गया । पुष्पवृष्टिके साथ "जय सीते ! जय सीते !" के नादसे आकाश गूँज उठा ! उपस्थित प्रजाजनके साथ राजा रामके भी हाथ स्वय जुड गये, आँखोसे आनन्दके अश्रु बरस उठे । गद्‌गद् कण्ठसे एकाएक कह उठे—"धर्मकी सदा विजय होती है । शीलव्रतकी महिमा अपार है ।"

रामचन्द्रजीके अविचारित वचन सुनकर सीताजीको ससारसे वैराग्य हो चुका था, पर "नि शल्यो व्रती" व्रतीको नि शल्य होना चाहिये । इसलिए उन्होने दीक्षा लेनेसे पहले परीक्षा देना आवश्यक समझा था । परीक्षामे वह पास हो गई ।

रामचन्द्रजी ने उनसे कहा—'देवि ! घर चलो, अब तक हमारा स्नेह हृदयमे था, पर लोक-लाज के कारण आँखोमे आ गया है ।"

सीताजी ने नीरस स्वरमे कहा—"नाथ ! यह ससार दु.खरूपी वृक्षकी जड है, अब मै इसमे न रहूँगी । सच्चा सुख इसके त्यागमे ही है ।"

रामचन्द्रजीने बहुत कुछ कहा—"यदि मै अपराधी हूँ तो लक्ष्मणकी ओर देखो, यदि यह भी अपराधी है तो अपने बच्चो लव-कुशकी ओर देखो और एक बार पुन घरमे प्रवेश करो ।" पर सीताजी अपनी दृढतासे च्युत नही हुई । उन्होने उसी समय केश उखाड़ कर रामचन्द्रजीके सामने फेक दिये और जङ्गलमे जाकर आर्या हो गई । यह सब काम सम्यग्दर्शनका है, यदि उन्हे अपने आत्म-बलपर विश्वास न होता तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती थी ? कदापि नही !

अब रामचन्द्रजीका विवेक देखिये जो रामचन्द्र सीता-के पीछे पागल हो रहे थे, वृक्षोसे पूछते थे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी है ? वही जब तपश्चर्यामे लीन थे सीता-के जीव प्रतीन्द्रने कितने उपसर्ग किए पर वह अपने ध्यानसे विचलित नही हुये । शुक्लध्यान धारण कर केवली अवस्थाको प्राप्त हुए ।

सम्यग्दर्शनसे आत्मामे प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होते है, जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी है । यदि आपमे यह गुण प्रकट हुये है तो समझ लो कि हम सम्यग्दृष्टि है । कोई क्या बतलायगा कि तुम सम्य-ग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि । अप्रत्याख्यानावरण कषायका सस्कार छह माहसे ज्यादा नही चलता । यदि आपके किसीसे लड़ाई होने पर छह माहके बाद तक बदला लेनेकी भावना रहती है तो समझ लो अभी हम मिथ्या-दृष्टि है । कषायके असख्यात लोक प्रमाण स्थान है उनमे उनका स्वरूप यो ही शिथिल हो जाना प्रशम गुण है । मिथ्यादृष्टि अवस्थाके समय इस जीवकी विषयकषायमे जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नही होती । यह दूसरी बात है कि चारित्रमोहके उदयसे वह उसे छोड नही सकता हो पर प्रवृत्तिमे शैथिल्य अवश्य आ जाता है ।

प्रशमका एक अर्थ यह भी है जो पूर्वकी अपेक्षा अधिक ग्राह्य है—"सद्य. कृतापराधी जीवो पर भी रोष उत्पन्न नही होना" प्रशम कहलाता है । बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्रजीने रावण पर जो रोष नही किया था वह इसका उत्तम उदाहरण है ।

प्रशम गुण तब तक नही हो सकता जब तक अनन्ता-नुबन्धी सम्बन्धी क्रोध विद्यमान है । उसके छूटते ही प्रशम गुण प्रकट हो जाता है । क्रोध ही क्या अनन्तानु-

बन्धी सम्बन्धी मान माया लोभ—सभी कषाय प्रशम गुणके घातक है ।

ससार और ससारके कारणो से भीत होना ही सवेग है । जिसके सवेग गुण प्रकट हो जाता है वह सदा आत्मामे विकारके कारणभूत पदार्थोसे जुदा होनेके लिये छटपटाता रहता है ।

सब जीवोमे मैत्री भावका होना ही अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि जीव सब जीवोको समान शक्तिका धारी अनुभव करता है । वह जानता है कि ससारमे जीवकी जो विविध अवस्थाएँ हो रही है उनका कारण कर्म है, इसलिए, वह किसीको नीचा-ऊँचा नही मानता वह सबमे समभाव धारण करता है ।

ससार, ससारके कारण, आत्मा और परमात्मा आदिमे आस्तिक्य भावका होना ही आस्तिक्य गुण है। यह गुण भी सम्यग्दृष्टिके ही प्रकट होता है, इसके विना पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्तिके लिये उद्योग कर सकना असम्भव है ।

ये ऐसे गुण है जो सम्यग्दर्शनके सहचारी है और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुवन्धी कषायके अभाव मे होते है।

—वर्णी-वाणी १ / ३२८-३३३

यह ससार कोई वस्तु नही । केवल कर्मादिकके सबन्धसे रागद्वेप के वशीभूत होकर नानाशरीरोमे आत्माका सयोग और वियोगरूप जन्म और मरण ही का नाम ससार है । और इस ससारका मूलकारण निमित्तकारणकी अपेक्षा मोहकर्म और उपादान कारणकी अपेक्षा मोह, राग, द्वेपमय आत्मा है—अत सर्वसे पहले हमारा यह दृढ निश्चय होना चाहिये कि इस ससारकी उत्पत्तिमे हमारा ही हाथ है । अल्पकालको मान लो कि मोहरूप पुद्गल भी तो कारण है । ठीक है । परन्तु उसपर आपका क्या अधिकार है ? क्या आपमे ऐसा सामर्थ्य है जो उन पुद्गलोको अन्यथा परिणमन करा दे । ? नही है । हाँ, यह अवश्य है जो आपका रागादि परिणाम है उसे विभाव जान उसके होने पर यदि उसमे आसक्त नही हुए तब आगामी उस रूपका तीव्रबध न होगा, जैसा कि आसक्त होने पर होता है । ऐसा अभ्यास करने पर कभी ऐसा अवसर आवेगा—जो रागादिक होने पर भी आगामी उन रागादिको का बन्ध न होगा ।

अध्यात्म पत्रावली—७६

सम्यग्दृष्टि

जिसको हेयोपादेयका ज्ञान हो गया वही सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टिको आत्मा और अनात्माका भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है। वह सकल बाह्य पदार्थोको हेय जानने लगता है। पर पदार्थोसे उसकी मूर्छा बिलकुल हट जाती है। यद्यपि वह विषयादिमे प्रवर्तन करता है परन्तु वेदना-का इलाज समझ कर। क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म है उनको तो भोगना ही पडता है। हाँ, नवीन कर्मका बन्ध उस चालका उसके नही बँधता। हमको चाहिये कि हमने अज्ञानावस्थामे जो कर्म उपार्जन किये है उनको हटानेका प्रयत्न न करे, बल्कि आगामी नूतन कर्मका बन्ध न होने दे। अरे जन्मान्तरमे जो कर्मोपार्जन किये गये है वे तो भोगने ही पडेगे। चाहे रो करके भोगो, चाहे हँस कर। फल तो भोगना ही पडेगा। यदि 'हाय हाय' करके भइया रोगकी शान्ति हो जाय तो उसे भी कर लो, परन्तु ऐसा नही होता। हाय हाय की जगह भगवान् भगवान् कहे और उस वेदनाको शान्तिसे सहन करले और ऐसा प्रयत्न करे जिससे आगे वैसा बन्ध न हो। हाय हाय करके होगा क्या ? हम आपसे पूछते है इससे उल्टा कर्मबन्ध होगा। सो ऐसा हुआ जैसे किसी मनुष्यको ५००) रु० मय व्याजके देना था सो तो दे दिया ६००) रु० और कर्जा सिर पर ले लिया। जैसा दिया वैसा न दिया।

हमको पिछले कर्मोकी चिन्ता न करनी चाहिये, बल्कि आगामी कर्मका सवर करे। अरे, जिसको शत्रुओं-पर विजय प्राप्त करना है वह नवीन शत्रुओका आक्रमण रोक देवे और जो शत्रु गढमे है वे तो चाहे जब जीते जा सकते हैं। इनकी चिन्ता न करे। चिन्ता करे तो आगामी नवीन बँधकी, जिससे फिर बन्धनमे न पडे, और जो पिछले कर्म हैं वे तो रस देकर खिरेगे ही, उनको शान्ति पूर्वक सहन करले। आगामी कर्म-बन्ध हुआ नही, पिछले कर्म रस देकर खिर गये। आगामी कर्जा लिया नही पिछला कर्जा अदा किया, चलो छुट्टी पाई। आगे आने-वाले कर्मोके सवर करनेका यही तात्पर्य है।

सम्यग्दृष्टिका आत्मपरिणाम—

वेदक भाव—वेदनेवाला भाव और वेद्यभाव—जिसको वेदे, इन दोनोमे काल भेद है। जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नही होता, और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नही होता। क्योकि जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है। तब वेदकभाव किसको वेदे ? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब वेदकभावके विना वेद्यको कौन वेदे ? इसलिये ज्ञानी जन दोनोको विनाशीक जान आप जानने वाला ज्ञाता ही रहता है। अत सम्यक्त्वीके कोई चाल का बध ही नही होता।

भोगो से अरुचि—

भोगोमे मग्न होने के अलावा और कुछ दिखता ही नही है। भोग भोगना ही मानो हमने अपना लक्ष्य बना लिया है। हम समझते है कि हम मोक्षमार्गमे लग रहे है पर यह मालूम ही नही कि नरक जानेकी नसैनी बना रहे है।

स्वास्थ्य वही जो कभी क्षीण न हो। क्षीणताको प्राप्त हो वह स्वास्थ्य किस कामका ? और स्वार्थी पुरुषोके भोग भी विषम एव क्षणभगुर है। जब तक भोग भोगते है तब तक उसे सुख नहीं कहा जा सकता, क्योकि वह सुख भी आताप का उपजाने वाला है, उसमे तृष्णारूपी रोग लगा हुआ है। अत भोगोसे कभी तृप्ति नही मिल सकती। भोगोसे तृप्ति चाहना ऐसा ही है

जैसे अग्निको घी से बुझाना। मनुष्य भोगोमे मस्त हो जाता है और उसके लिए क्या-क्या अनर्थ नही करता।

सम्यग्दृष्टिमे विवेक है, वह भोगोसे उदास रहता है—उनमे सुख नही मानता। वह स्वर्गादिककी विभूति प्राप्त करता है और नानाप्रकार की विषय-सामग्री भी। पर अन्तमे देवोकी सभामे यही कहता है कि कब मै मनुष्ययोनि पाऊँ? कब भोगो से उदास होऊँ? और नानाप्रकारके तपश्चरणोका आचरण कर मोक्ष रमणी वरूँ? उसके ऐसी ही भावना निरन्तर बनी रहती है। और बताओ जिसकी ऐसी भावना निरन्तर बनी रहती है, क्या उसे मुक्ति प्राप्त नही हो सकती? अवश्यमेव होती है, इसमे सन्देहको कोई स्थान ही नही।

हर्ष-विषाद से निवृत्ति--

आप कहते है कि जब सम्यग्दृष्टिको पर-पदार्थोसे अरुचि हो जाती है तब घरमे क्यो रहता है? और कार्य क्यो करता है? इसका उत्तर यह है कि वह करना कुछ नही चाहता पर क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म है उनके उदयसे करना पडता है। वह चाहता अवश्य है कि मैं किसी कार्यका कर्त्ता न बनूँ। उसकी पर पदार्थोसे स्वामित्व-बुद्धि हट जाती है पर जो अज्ञानवस्थामे पूर्वोपार्जित कर्म है उनके उदयसे लाचारीवश होकर घर-गृहस्थीमे रहकर उपेक्षाबुद्धिसे करना पडता है। वह अपनी आत्मा-का अनाद्यनन्त अचल स्वरूप देखकर तो प्रसन्न होता है, उसके अपार खुशी होती है, पर अज्ञानावस्थामे जो जन्मार्जित कर्म है उसका फल तो भोगना ही पडता है। वह बहुत चाहता है कि मुझे कुछ नही करना पडे। मै कब इस उपद्रवसे मुक्त हो जाऊँ? पर करना पडता है, चाहता नही है। उस समय उसकी दशा मरे हुए व्यक्तिके समान हो जाती है। उसको चाहे जितना साज श्रृगार करो पर उसे कोई प्रयोजन नही। इसी भाँति सम्यक्त्वीको चाहे जितनी सुख-दुखकी सामग्री प्राप्त हो जाय पर उसे कोई हर्ष-विषाद नही।

भोगेच्छासे मुक्ति—

भोग तीन तरहका होता है—अतीत, अनागत और वर्तमान। सम्यग्दृष्टिके इन तीनोमे से किसीकी भी इच्छा नही होती। अतीतमे जो भोग-भोग लिया उसकी तो वह इच्छा ही नही करता। वह तो भोग ही चुका। अनागतमे वह वाछा नही करता कि अब आगे भोग भोगूँगा और प्रत्युत्पन्न कहिए वर्तमानमे उन भोगोको भोगनेमे कोई रागबुद्धि नही है। अत इन तीनो कालोमे पदार्थोके भोगनेकी उसके सब प्रकारसे लालसा मिट जाती है। अतीतमे भोग चुका, अनागतमे वाछा नही और वर्तमानमे राग नही तो बतलाओ उसके बन्ध हो तो कहाँसे हो। क्या सम्यग्दृष्टि भोग नही भोगता? क्या उसके राग नही होता? राग करना पडता है। पर राग करना नही चाहता। उसकी रागमे उपादेय बुद्धि मिट जाती है। वह रागको सर्वथा हेय ही जानता है। पर क्या करे, प्रतिपक्षी कषाय जो चारित्रमोह बैठा है उसका क्या करे, उसको उदासीनतासे सहन कर लेता है। उदयमे आओ और फल देकर खिर जाओ। फल देना बन्धका कारण नही है। अब क्या करे, जो पूर्व-बद्ध कर्म है उसका तो फल उदयमे आयगा ही। परन्तु उसमे राग द्वेष नही। यदि फल ही बन्धका कारण होता तो कभी भी मुक्ति प्राप्त नही होती। इससे मालूम हुआ कि राग द्वेष और मोह बन्धके कारण है।

कषाय और रागादिकमें अरुचि—

योग और कषाय ये दो ही चीजे हे। उनमे योग बन्धका कारण नही कहा, बन्धका कारण बतलाया है कषाय। कषायसे अनुरजित प्राणी ही बन्धको प्राप्त होता है। देखिए १३ वे गुणस्थानमे केवलीके योग होते है, हुआ करो परन्तु वहाँ कषाय नही है, इसलिये अबन्ध है। अब देखो, ईट पर ईट धरकर मकान तो बना लो जब तक उसमे चूना न हो। आटे मे पानी मत डालो, देखे कैसे रोटी हो जायगी? अग्निपर पानीसे भरी हुई बटलोई रक्खी है और खलबल खलबल भी हो रही है पर इससे क्या होता है–जबतक उसमे चावल न हो। एव बाह्यमे समवसरण आदि विभूति है पर अन्तरङ्गमे कषाय नही है—तो बताओ कैसे बन्ध होगा? इससे मालूम पडा कि कषाय ही बन्धको कराने वाली हे। सम्यग्दृष्टिको कषायो-से अरुचि हो जाती है इसीलिये उसका रागरस वर्जनशील

स्वभाव वाला हो जाता है। सम्यक्त्वीको रागादिकोसे अत्यन्त अरुचि हो जाती है। वह किसी पर-पदार्थकी इच्छा ही नही करता। इच्छा करे तो होता क्या है ? वह अपनी चीज हो तब न। अपनी चीज हो तो उसकी इच्छा करे। इच्छाको ही वह परिग्रह मानता है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोको तो जुदा समझता ही है पर अन्तरङ्ग परिग्रह जो रागादिक है उनको भी वह हेय ही जानता है, क्योकि सम्यग्दृष्टि वास्तवमे एक टकोत्कीर्ण अपनी शुद्धात्माको ही अपनाता है। वह किन्ही पर-पदार्थो पर दृष्टिपात नही करता, क्योकि जिसके पास सूर्यका उजाला है, उसे दीपककी क्या आवश्यकता? उसकी केवल एक शुद्ध-दृष्टि ही रहती है। और ससारमे ही देखो, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म और खान-पानके सिवाय है क्या ? इसके अतिरिक्त और कुछ है तो बताओ। सब कुछ इसीमे गर्भित है।

सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोको तो जुदा समझता ही है पर अन्तरङ्ग परिग्रह जो रागादिक है उनको भी वह हेय जानता है। क्योकि बाह्य वस्तु को अपना माननेका कारण अन्तरङ्गके परिणाम ही तो है। यदि अन्तरङ्गसे छोड दो तो वह तो छूटी ही है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोकी चिन्ता नही करता, वह उसके मूल कारणको देखता है। इसीलिये उसकी परणति निराली ही रहती है।

सम्यक्त्वीकी श्रद्धा—

सूर्य पूर्वसे पश्चिममे भी उदित होने लगे, परन्तु मनुष्यको अपनी श्रद्धा नही त्यागना चाहिये। लोकापवादके कारण जब कृतान्तवक्र श्रीरामकी आज्ञा से सीता महारानीको वनमे ले गया, जहाँ नानाप्रकारके सिंह, चीते और व्याघ्र अपना मुँह बाए फिर रहे थे। सीता ऐसे भयकर वनको देखकर सहम गई और बोली—"मुझे यहाँ क्यो लाए ?"

कृतान्तवक्र कहते है—"महारानी जी! जब आपका लोकापवाद हुआ तब रामने आपको वनमे त्यागनेका निश्चय कर लिया और मुझे यहाँ भेज दिया।"

उसी समय सीताजी कहती है "जाओ; रामसे जाकर कह देना कि जिस लोकापवादसे तुमने मुझे त्याग दिया, कही उसी लोकापवादके कारण तुम अपने धर्म श्रद्धानसे विचलित मत हो जाना।"

इसे कहते है श्रद्धान। सीताको अपना आत्मविश्वास था। शुद्धोपयोग प्राप्ति के लिये इसका बडा महत्त्व है। जब यह जान जाता है कि मोक्षका मार्ग यही है तब उसकी गाडी लाइन पर आ जाती है।

जिन लोगोके पास सम्यक्त्व श्रद्धाका यह मंत्र नही, प्राय: वही लोग सोचते है—"क्या करे ? मोक्षमार्ग तलवारकी धार है, मुनिव्रत पालन बडा कठिन है। परीषह सहना उससे कठिन है।" तिलको ताड तो पहिले ही बना देते है, मोक्ष-मन्दिरमे प्रवेश हो तो कैसे ? उस तरफ दृष्टिपात तो करे, उसके सन्मुख तो हो, फिर तो वहाँ तक पहुँचने मे कोई सशय नही है कभी न कभी पहुँच ही जावेगे। परन्तु उस तरफ दृष्टि हो तभी।

सम्यग्दृष्टिकी उस तरफ उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी श्रद्धा पूर्णरूपेण मोक्षके सन्मुख हो जाती है। रहा चारित्रमोह सो वह क्रमश: धीरे धीरे गल जाता है। वह उतना घातक नही जितना दर्शनमोह। जब फोडेमेसे कीसी निकल गई तो घाव धीरे धीरे भर ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यको सर्व प्रथम अपनी श्रद्धा को सुधारनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यक्त्वी की प्रवृत्ति—

सम्यग्दृष्टि पिछले कर्मोकी चिन्ता नही करता, बल्कि आगामी जो कर्म बँधने वाले है उनका सवर करता है जिससे उसके उस चाल का बन्ध नही होता। रहे पिछले कर्म सो उनको ऐसे भोग लेता है जैसे कोई रोगी अपनी वेदनाको दूर करनेके लिए कडवी औषधिका सेवन करता है। तब विचारे रोगीको कडवी औषधिसे प्रेम है या रोग-निवृत्तिसे। ठीक यही हाल सम्यग्दृष्टिका चारित्र मोहके उदयसे होता है। वह अशुभोपयोगको तो हेय समझता ही है और शुभोपयोग-पूजा दानादिमे प्रवृति करता है उसको भी वह मोक्षमार्गमे बाधक जानता है। वह विषयादिमे भी प्रवर्तन करता है पर अन्तरङ्गसे यही चाहता है कि कब इस उपद्रवसे छुट्टी मिले ? जेलखाने मे जेलर हन्टर लिए खडा रहता है, कैदी को सडाक-

सडाक मारता भी है और आज्ञा देता है कि 'चलो चक्की पीसो, बोझा उठाओ आदि । तव वह कैदी लाचार हो उसी माफिक कार्य करता है । परन्तु विचारो अन्त-रङ्गसे यही चाहता है कि हे भगवन् ! कव इस जेलखाने से निकल जाऊँ । पर क्या करे, परवश दुःख भोगना पडता है ।

यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है । वह चारित्रमोह की जोरावरी वश अशक्य हुआ गृहस्थीमे अवश्य रहता है पर जलसे भिन्न कमलकी तरह । यह सब अन्तरङ्गके अभिप्रायकी बात है । अभिप्राय निर्मल होना चाहिये । कोई भी कार्य करते समय अपने अभिप्रायको देखे कि उस समय कैसा अभिप्राय है ? यदि वह अपने अभिप्रायो पर दृष्टिपात नही करता तो वह मनुष्य नही, पशु है । सबसे पहले अपने अभिप्रायको निर्मल बनाए । अभिप्रायो के निर्मल बनानेमे ही अपना पुरुषार्थ लगा देवे । जिन जीवोके निरन्तर निर्मल परिणाम रहते है वे नियमसे सद्गतिके पात्र होते है । हाँ तो सम्यग्दृष्टिके परिणाम निरन्तर निर्मल होते जाते है । वह कभी अन्यायमे प्रवृत्ति नही करता । अच्छा बताओ, जिसकी उपर्युक्त जैसी भावना है वह काहेको अन्याय करेगा । अरे, जिसने रागको हेय जान लिया वह क्या रागके लिये अन्याय करेगा ? जो विषयोके त्यागनेका इच्छुक है वह क्या विषयो के लिए दूसरो की गाठ काटेगा ? कदापि नही । वह गृहस्थीमे उदासीनतासे रहता हुआ जब चारित्रमोह गल जाता है तब तुरन्त ही व्रतको धारण कर लेता है । भरत जी घर ही मे वैरागी थे । उनको अन्तर्मुहूर्त्तमे ही केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया । इसका कारण यही कि इतनी विभूति होते हुए भी वह अलिप्त थे । किसी पदार्थमे उनकी आसक्ति नही थी । पर देखो, भगवान् को वह यश प्राप्त नही । क्या वह वैरागी नही थे ? अस्तु, सम्यग्दृष्टिकी महिमा ही विलक्षण है, उसकी परिणति वही जाने, अज्ञानियो को उसका भेद मालूम ही नही होता ।

शुद्ध दृष्टि अपनी होनी चाहिये । वाह्य नानाप्रकार के आडम्बर किया करो, कुछ नही होता । गधीके सौ बच्चे होते हुए भी भार ढोती रहती है और सिंहनीके एक बच्चा होता हुआ भी निर्भय सोती रहती है ।

एक मनुष्य था । वह हीरोकी खानमे काम करता था । वह आदमी था तो लखपती, पर परिस्थिति वश गरीब हो गया था । एक दिन खदान मे काम करते-करते कुछ नही मिला, एक छोटी शिला मिल गई । वह उसे लेकर घर आया । उसकी स्त्री उस पर मसाला पीस लिया करती थी। एक दिन एक जोहरीको उसने निमन्त्रण दिया । वह आया और शिलाको देखकर बोला तुम इसके सौ रुपये ले लो । वह आदमी अपनी स्त्रीसे पूछने गया । स्त्री बोली, अरे, वेचकर क्या करोगे ? मसाला पीसनेके काम आ जाती है । वह सौ रुपये देता था । अब बोला, यह लो मुझसे १०००) रु० के गहने । इसे बेच डालो । वह आदमी जोहरीके पास आकर बोला स्त्री नही वेचने देती । मैं क्या करूँ । तब जोहरीने कहा यह लो २०००) रु० अच्छा ३०००) रु० ले लो । वह समझ गया और उसने नही दी । उसने उसी समय सिलावटको बुलाकर उसके दो टुकडे करवाये । टुकडे करवाते ही हीरे निकल पडे । मालामाल हो गया । तो देखा यह आत्मा कर्मोके आवरणसे ढका पडा है । वह हीरेकी ज्योतिके समान है । जब वह निवारण हो जाता है तो अपना पूर्ण प्रकाश विकीर्ण करता है । हीरेकी ज्योति भी उसके सामने कुछ नही । उस आत्माका केवल ज्ञायक स्वभाव ही है । सम्यग्दृष्टि उसी ज्ञायक स्वभावको अपनाकर कर्मोके ठाट को कटाकसे उडाकर परात्मस्थिति तक क्रमश पहुँच जाता है और सुखार्णव मे डूबा हुआ भी अघाता नही ।

अब कहते है कि एक टकोत्कीर्ण शुद्ध आत्मा ही पद है । इसके बिना और सब अपद है । वह शुद्ध आत्मा कैसा है ? ज्ञानमय एव परमानन्दस्वरूप है । ज्ञानके द्वारा ही ससारका व्यवहार होता है । ज्ञान न हो तो देख लो कुछ नही । यह वस्तु त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है—इसकी व्यवस्था करानेवाला कौन है ? एक ज्ञान ही तो है ।

वास्तव मे अपना स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है । केवल देखना एव जानना मात्र है । यदि देखने मात्र ही से पाप

होता है तो मै कहूँगा कि परमात्मा सबसे बडा पापी है, क्योकि वह तो चराचर वस्तुओको युगपत् देखता और जानता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि देखना और जानना पाप नही, पाप तो अन्तरगका विकार है। यदि स्त्री के रूप को देख लिया तो कोई हर्ज नही, पर उसको देखकर राग करना यही पाप है। जो यह पर्दे की प्रथा चली, इसका मूल कारण यही कि लोगो के हृदय मे विकार पैदा हो जाता था। इन लम्बे-लम्बे घूघटोमे क्या रखा है ? आत्माका स्वरूप ही ज्ञाता दृष्टा है। नेत्र इन्द्रियका काम ही पदार्थोको दिखाना है। दर्शक बनकर दृष्टा बने रहो तो कुछ विशेष हानि नही, किन्तु यदि उनमे मनोनीत कल्पना करना, राग करना तो फँसना है। रागसे ही बन्ध है। परमात्माका नाम जपे जाओ "ॐ नम वीतरागाय।" इससे क्या होता है। कोरा जापमात्र जपनेसे उद्धार नही होता। उद्धार तो होता है परमात्माने जो कार्य किए राग को छोडा—ससार को त्यागा, तुम भी वैसा ही करो। सीधी सादी सी बात है। दो पहलवान है। एकको तेलका मर्दन है दूसरे को नही। जब वे दोनो अखाडे मे लडे तो एकको मिट्टी चिपक गई, दूसरेको नही। अत रागकी चिकनाहट ही बन्ध कराने वाली है। देखो, दो परमाणु मिले, एक स्कन्ध हो गया। अकेला परमाणु नभी नही बँधता। आत्माका ज्ञानगुण बन्धका कारण नही। बन्धका कारण उसमे रागादिककी चिकनाहट है।

ससारके सब पदार्थ जुदे जुदे है। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थसे बँधता नही है। इस शरीरकी ही देखो। कितने स्कन्धोका बना हुआ है ? जब स्कन्ध जुदे जुदे परमाणुमात्र रह जाय तो सब स्वतन्त्र है। अनादिनिधन है। केवल अपने माननेमे ही भूल पडी हुई है। उस भूलको मिटा दो, चलो छुट्टी पाई। और क्या धरा है ? ज्ञानका काम तो केवल पदार्थोको जताना मात्र है। यदि उस ज्ञानमे इष्टानिष्ट कल्पना करो, तो बताओ किसका दोष है ? शरीरको आत्मा जान लो किसका दोष है ? पर शरीर कभी आत्मा होता नही। जैसे बहुत दूर सीप पडी है और तुम उसे चाँदी मान लो तो क्या सीप चाँदी हो जायगी ? वैसे ही शरीर कभी आत्मा होता नही। अपने विकल्प किया करो, क्या होता है ? पदार्थ तो जैसेका तैसा ही है। लेकिन माननेमे ही गलती है कि 'इद मम' यह मेरी है। उस भूलको मिटा दो शरीरको शरीर और आत्माको आत्मा जानो यही तो भेद विज्ञान है। और क्या है ? बताओ।

अत उस ज्ञायकस्वभाव को वेदन करो। सोना जड़ है वह अपने स्वरूपको नही जानता। लेकिन आत्मा शुद्ध चैतन्य-धातु-मय पिंड है, वह उसको जानता है। उस ज्ञायक स्वभावमयी आत्मामे जैसे जैसे विशेश ज्ञान हुआ वह उसके लिए साधक है या बाधक ? देखिये, जैसे सूर्य मेघ-पटलोसे आच्छादित था। मेघ-पटल जैसे-जैसे दूर हुए वैसे-वैसे उसकी ज्योति प्रकट होती गई। अब बताओ वह ज्योति जितनी प्रगट हुई वह उसके लिए साधक है या बाधक ? दरिद्रीके पास पाँच रुपये आये वह उसके लिए साधक है या बाधक ? हम आपसे पूछते है। अरे, साधक ही है। वैसे ही इस आत्माके जैसे-जैसे ज्ञानावरण हटे, मति श्रुतादि विशेष ज्ञान प्रकट हुए, वह उसके लिए साधक ही है। अत ज्ञानार्जनका निरन्तर प्रयास करता रहे।

मनुष्योको पदार्थोंके हटानेका प्रयत्न न करना चाहिये बल्कि उनमे राग-द्वेषादिके जो विकल्प उठते है, उन्हे दूर करने का प्रयत्न करे। मान लिया, स्त्री खराब होती है ? नही हटी तो बेचैनी बढे। परन्तु उसे हटा सकना कठिन है ? अतः स्त्रीको नही हटा सकते तो मत हटाओ। उसके प्रति जो तुम्हारी रागबुद्धि लगी है उसे हटानेका प्रयत्न करो। यदि रागबुद्धि हट गई तो फिर स्त्री को हटानेमे कोई बडी बात नही है। पदार्थ किसीका बुरा भला नही करते। बुरा भलापन केवल हमारे अन्तरग परिणामोपर निर्भर है। कोई पदार्थ अपने अनुकूल हुआ उससे राग कर लिया और यदि प्रतिकूल हुआ उससे द्वेष। किसीने अपना कहना मान लिया तो वाह वा, बडा अच्छा है और कदाचित् नही माना तो बडा बुरा है। दृष्टिसे विचारो तो वह मनुष्य न तो बुरा है और न भला। वह तो केवल निमित्तमात्र है। निमित्त कभी अच्छे बुरे होते नही। यह तो उस मनुष्यकी

आत्माकी दुर्बलता है जो अच्छे बुरेकी कल्पना करता है। कोई कहता है—"स्त्री मुझे नही छोडती, पुत्र मुझे नही छोडता, क्या करूँ धन नही छोडने देता।" अरे मूर्ख, यो क्यो नही कहता कि मेरे हृदयमे राग है वह नही छोडने देता ? यदि इस रागको अपने हृदयसे निकाल दे तो देखे कौन तुझे नही छोडने देता ? कौन तुझे विरक्त होनेसे रोकता है ? अपने दोपको नही देखता। मै रागी हूँ ऐसा अनुभव नही करता। यदि ऐसा हो जाए तो ससारसे पार होनेमे क्या देर लगे ? यह पहले ही कह चुके है कि पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे है। किसी पदार्थके आधीन नही, केवल मोही जीव ही सशक हुआ उनमे इष्ट-निष्टकी कल्पना कर अपने स्वरूपसे च्युत हो निरन्तर बँधता रहता है। अत हमारी समझ मे तो शान्तिका वैभव रागादिको के अभावमे ही है।

निर्भयता—

ससारमे सात भय होते है। उनमेसे सम्यग्दृष्टिको किसी प्रकारका भय नही।

१. लोकभय—

सम्यग्दृष्टिको इस लोकका भय नही होता। वह अपनी आत्माके चेतनालोकमे रहता है। और लोक क्या कहलाता है ? जो नेत्रोसे सबको दीख रहा है। उसे इस लोकसे कोई मतलब नही रहता। वह तो अपने चेतनालोकमे ही रमण करता है। इस लोकमे भी तभी भय होता है जब हम किसीकी चीज चुराएँ। परमार्थ दृष्टिसे हम सब चोर है जो पर द्रव्योको अपनाए हुए है। अपना मान बैठते है। सम्यग्दृष्टि परमाणुमात्र को अपना नही समझता। इसलिये उसे भी किसी प्रकार इस लोकका भय नही।

२. परलोकभय

उसे स्वर्ग नरक का भय नही। वह तो अपने कर्त्तव्यपथ पर आरूढ है। उसे कोई भी उस मार्गसे च्युत नही कर सकता। वह तो नित्यानन्दमयी अपनी ज्ञानात्माका ही अवलोकन करता है। यदि सम्यक्त्वके पहले नरकायुका वन्ध कर लिया हो तो नरककी वेदना भी सहन कर लेता है। वह अपने स्वरूपको समझ गया है। अत उसे परलोक का भी भय नही होता।

३. वेदनाभय

वह अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे शरीरको जुदा समझता है और वेदनाको समतासे भोग लेता है। जानता है कि आत्मा मे तो कोई वेदना है ही नही इसलिये खेद-खिन्न नही होता। इस प्रकार उसे वेदनका भय नही होता।

४. अरक्षाभय

वह किसीको भी अपनी रक्षाके योग्य नही समझता। अरे इस आत्माकी रक्षा कौन करे ? आत्माकी रक्षा आत्मा ही स्वय कर सकता है। वह जानता है कि गढ, कोट, किले आदि कोई भी यहाँ तक कि तीनो लोकोमे भी इस आत्माका कोई शरण स्थान नही। गुफा, मसान, शैल, कोटरमे वह निशक रहता है। शेर, चीते, व्याघ्रो आदिका भी वह भय नही करता। आत्माकी परपदार्थो से रक्षा हो ही नही सकती। अत उसे अरक्षा-भय भी नही।

५. अगुप्तिभय

व्यवहार मे माल असबाब के लुट जाने का भय रहता है तो सम्यक्त्वी निश्चयसे विचार करता है कि मेरा ज्ञान धन कोई चुरा नहीं सकता। मैं तो एक अखण्ड ज्ञानका पिण्ड हूँ। जैसे नमक खारेका पिण्ड है। खारेके सिवाय उसमे और चमत्कार ही क्या है ? यह चेतना हर समयमे मौजूद बनी रहती है। ऐसा ज्ञानी अपनी ज्ञानात्माके ज्ञान मे ही चिन्तवन करता रहता है।

६. आकस्मिकभय

वह किसी भी आकस्मिक विपत्तिका भय नही करता। भय तो तब करे जब भयकी आशका हो। उसका आत्मा निरन्तर निर्भय रहता है। अत उसे आकस्मिक भय भी नही होता।

७. मरणभय

मरण क्या है ? दस प्राणोका वियोग हो जाना ही तो मरण है। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, एक आयु और एक

श्वासोच्छ्‌वास इनका वियोग होते ही मरण होता है। परन्तु वह अनाद्यनन्त, नित्योद्योत और ज्ञानस्वरूपी अपने को चिन्तवन करता है। एक चेतना ही उसका प्राण है। तीन कालमे उसका वियोग नही होता। अत चेतनामयी ज्ञानात्माके ध्यानसे उसे मरणका भी भय नही होता। इस प्रकार सात भयोमे से वह किसी प्रकारका भय नही करता। अत· सम्यग्दृष्टि पूर्णतया निर्भय है।

अङ्गपरिपूर्णता—

अब सम्यक्त्वके अष्ट अगोका वर्णन करते हुए बतलाते है कि सम्यक्त्वीके ये अग भी पूर्णतया होते है।

१. निःशंकित अङ्ग

उसे किसी प्रकारकी शका नही होती। वह निधडक होकर अपने ज्ञानमे ही रमण करता है। सुकौशल स्वामी को व्याघ्र भक्षण करता रहा, पर वह निशक होकर अन्त-मुहूर्तमे केवलज्ञानी बने। शकाको तो उसके पास स्थान ही नही रहता। उसे आत्माका स्वरूप भासमान हो जाता है। अतः नि.शकित है।

२. निकांक्षित अङ्ग

आकाक्षा करे तो क्या भोगोकी, जिनको वर्तमानमे ही दुखदायी समझ रहा है। वह क्या लक्ष्मीकी चाहना करेगा ? अरे, क्या लक्ष्मी कही भी स्थिर होकर रही है ? तुम देख लो, जिस जीवके अनुकूल निमित्त हुए उसीके पास दौड़ी चली गई। अत ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्न मे भी नही चाहते। वे तो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रमयी आत्माका ही सेवन करते हैं।

३. निर्विचिकित्सा अङ्ग

सम्यग्दृष्टिको ग्लानि तो होती ही नहीं। अरे, वह क्या मलसे ग्लानि करे ? मल तो प्रत्येक शरीरमे भरा पडा है। तनिक शरीरको काटो तो सिवाय मलके कुछ नही। वह किस पदार्थसे ग्लानि करे। सब परमाणु स्वतन्त्र है। मुनि भी देखो, किसी मुनिको वमन करते देखकर ग्लानि नही करते। अत सम्यग्दृष्टि इस निर्वि-चिकित्सा अगका भी पूर्णतया पालन करता है।

४. अमूढ़दृष्टि अङ्ग

मूढदृष्टि तो तभी है जब पदार्थोके स्वरूपको न समझे —अनात्मामे आत्मबुद्धि रक्खे—पर सम्यक्त्वीके यह अङ्ग भी पूर्णतया पलता है उसकी अनात्मबुद्धि नही होती; क्योकि उसे भेद-विज्ञान प्रकट हो गया है।

५. उपगूहन अङ्ग

सम्यग्दृष्टि अपने दोषोको नही छिपाता। अमोघवर्ष राजाने लिखा है कि प्रछन्न (गुप्त) पाप ही सबसे बडा दोष है जिससे वह निरन्तर सशकित बना रहता है। प्रछन्न पाप बड़ा दुखदाई होता है। जो पाप किये है उन्हे सामने प्रकट कर देने पर उतना दु ख नही होता। सम्य-ग्दृष्टि अपने दोषो को एक एक करके निकाल फेकता है और एक निर्दोष आत्माको ही ध्याता है।

६. स्थितीकरण अङ्ग

जब अपने ऊपर कोई विपत्ति आ जाय अथवा आधि-व्याधि हो जाय और रत्नत्रयसे अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पडे, तब अपने स्वरूपका चिन्तवन करले और पुन. अपनेको उसमे स्थिर करे। व्यवहार मे परको चिगने से सँभाले। इस अङ्गको भी सम्यक्त्वी विस्मरण नही करता।

७. वात्सल्य अङ्ग

गौ और वत्स का वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाइयोसे करे। सच्चा वात्सल्य तो अपनी आत्माका ही है। सम्यक्त्वी समस्त प्राणियोसे मैत्रीभाव रखता है। उसके सदा जीव-मात्रके रक्षाके भाव होते हैं। एक जगह लिखा है —

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्
उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह वस्तु पराई है अथवा निजकी है ऐसी गणना क्षुद्रचित्त वालोके होती है। जिनका चरित्र उदार है उनके तो पृथ्वी ही कुटुम्ब है।' सम्यग्दृष्टि भगवानकी प्रतिमाके दर्शन करता है पर उसमे भी वह अपने स्वरूपकी ही झलक देखता है। जैसा उनका स्वरूपचतुष्टय है वैसा

मेरा भी है। वह अपने आत्मासे अगाढ वात्सल्य रखता है।

८. प्रभावना अङ्ग

सच्ची प्रभावना तो वह अपनी आत्माकी ही करता है पर व्यवहारमे उत्सव करना, उपवास करना आदि द्वारा प्रभावना करता है। हम दूसरोको धर्मात्मा बनाने का उपदेश करते है पर स्वय धर्मात्मा बननेकी कोशिश नही करते। यह हमारी कितनी भूल है ? अरे, पहले अपनेको धर्मात्मा बनाओ। दूसरेकी चिन्ता मत करो। वह तो स्वय अपने आप हो जायगा। ऐसी प्रभावना करो जिससे दूसरे कहने लगे कि ये सच्चे धर्मात्मा है। भगवान-को ही देखो ! उन्होने पहले अपनेको बनाया। दूसरेको बनानेकी परवाह उन्होने कभी नही की।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि उक्त अष्ट अङ्गो का पूर्णतया पालन करता हुआ अपनी आत्मा की निरन्तर विशुद्धि करता रहता है। अत सम्यग्दृष्टि बनो। समताको लानेका प्रयत्न करो। समता और तामस ये दो ही तो शब्द है। चाहे समताको अपना लो या चाहे तामसको। समतामे सुख है तो तामसमे दु ख है। समता यदि आ जायगी तो तुम्हारी आत्मामे भी शान्ति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो।

मिथ्यादृष्टि—

जो आत्मा और अनात्माके भेदको नही जानता वह मिथ्यात्वी है। वास्तवमे देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीव का भयकर शत्रु है। यही चतुर्गति मे रुलानेका कारण है। दो मनुष्य है। पहिलेको पूर्वकी ओर जाना है और दूसरेको पश्चिमकी ओर। जब वे दोनो एक स्थानपर आए तो पहले को दिग्भ्रम हो गया और दूसरे को लकवा लग गया। पहले वालेको जहाँ पूर्वकी ओर जाना चाहिये था। वहा दिग्भ्रम होनेसे वह पश्चिमको जाने लगा। वह तो समझता है कि मै पूर्वकी ओर जा रहा हूँ पर वास्तवमे वह उस दिशासे उतना ही दूर होता जा रहा है। और दूसरे लकवे वालेको हाला की पश्चिमकी ओर जानेमे उतनी दिक्कत नही है, क्यो कि उसे दिशा परिज्ञान है। वह धीरे-धीरे अभीष्ट स्थान पर पहुँच ही जायगा। परन्तु पहले वाले को तो हो गया है दिग्भ्रम। अत ज्यो ज्यो वह जाता है त्यो त्यो उसके लिए वह स्थान दूर होता जाता है। उसी तरह यह मोह मिथ्यात्व मोक्षमार्गसे दूर ला पटकता है। शेष तीन घातिया कर्म तो जीवके उतने घातक नही। वे तो इस मोहके नाश हो जानेसे शनै शनै क्षयको प्राप्त हो जाते है पर बलवान है तो यह मोह मिथ्यात्व। जिसके द्वारा पदार्थोका स्वरूप विपरीत भासता है। जैसे किसी-को कामला रोग हो जाय तो उसे अपने चारो ओर पीला ही पीला दिखाई देता है। उसी प्रकार मिथ्या-दृष्टिके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होने से पदार्थ दूसरे रूपमे दिखलाई देता है।

मिथ्यादृष्टि शरीरके मरणमे अपना मरण, शरीरके जन्ममे अपना जन्म और शरीरकी स्थितिमे अपनी स्थिति मान लेता है। कदाचित् गुरुका उपदेश भी मिल जाय तो उसे विपरीत भासता है। इन्द्रियोके सुखमे ही अपना सच्चा सुख समझता है। पुण्य भी करता है तो आगामी भोगोकी वाञ्छासे। ससारमे वह पूर्ण आसक्त रहता है और इसीलिये बहिरात्मा कहलाता है।

अत मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई अहितकर नही। इसके सामने कोई बडा पाप नही। यही तो कर्मरूपी नावमे जलके आने का सबसे बडा छिद्र है जो आत्मरूपी नावको ससाररूपी नदीमे डुबोता है। इसीके ही प्रसादसे कर्तृत्वबुद्धि होती है इसीलिए यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो इस महान अनर्थकारी विपरीत बुद्धिको त्यागो। पदार्थोका यथावत् श्रद्धान् करो। देहमे आपा मानना ही देहधारण करने का बीज है।

सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी मे अन्तर—

(क) लक्ष्यकी अपेक्षा

सम्यक्त्वी का लक्ष्य केवल शुद्धोपयोगमे ही रहता है वह बाह्यमे वैसा ही प्रवर्तन करता है जैसा मिथ्यादृष्टि, परन्तु दोनोके अन्तरङ्ग अभिप्राय प्रकाश और तमके समान सर्वथा भिन्न है।

मिथ्यादृष्टि भी वही भोग भोगता है और सम्यक्त्वी भी। बाह्यमे देखो तो दोनो की क्रियाएँ समान है परन्तु

मिथ्यात्वी रागमे मस्त हो झूम जाता है और सम्यक्त्वी उसी रागको हेय जानता है। यही कारण है कि मिथ्या-दृष्टिके भोग बन्धन के कारण है और सम्यक्त्वी के निर्जराके लिये है।

(ख) निर्मल अभिप्राय की अपेक्षा

सम्यक्त्वी बाह्यमे मिथ्यादृष्टि जैसा प्रवर्तन करता हुआ भी श्रद्धामे रागद्वेषादिके महत्त्वका अभाव होनेसे अबन्ध है और मिथ्यादृष्टि रागद्वेषादिके स्वामित्वके सद्भावसे निरन्तर बँधता ही रहता है, क्योकि आन्तरिक अभिप्रायकी निर्मलतामे दोनोके जमीन आकाशसा अन्तर है।

(ग) दृष्टिकी अपेक्षा

सम्यक्त्वी की अन्तरग दृष्टि होती है तो मिथ्यात्वीकी वहिर्दृष्टि। सम्यक्त्वी ससारमे रहता है पर मिथ्यात्वीके हृदयमे ससार रहता है। जलके ऊपर जबतक नाव है तब तो कोई विशेष हानि नही; पर जब नावके अन्दर जल बढ जाता है तो वह डूब जाती है। एक रईस है तो दूसरा सईस। रईसके लिए बग्गी होती है तो बग्गीके लिए सईस। मिथ्यात्वी शरीरके लिए होता है तो सम्यक्त्वीके लिए शरीर। दोनो बहिरे होते है, वह उसकी बात नही सुनता और वह उसकी नही सुनता। वैसे ही मिथ्यात्वी सम्यक्त्वीकी बात नही समझता और सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी की। वह अपने स्वरूपमे मग्न है और वह अपने रगमे मस्त हे।

(घ) भेद-विज्ञानकी अपेक्षा

देखिए, जो आत्मा और अनात्माके भेदको नही जानता वह आगममे पापी ही बतलाया है। द्रव्यलिंगी मुनिको ही देखो, वह बाह्यमे सब प्रकारकी क्रिया कर रहा है। अट्ठाईस मूलगुणो को भी पाल रहा है। बड़े बड़े राजे-महाराजे नमस्कार कर रहे हैं। कषाय इतनी मद है कि घानीमे भी पेल दो तो त्राहि न करे। पर क्या है? इतना होते हुए भी यदि आत्मा और अनात्माका भेद नही मालूम हुआ तो वह पापी ही है। अवश्य मुनि है पर अन्तरङ्गकी अपेक्षासे मिथ्यात्वी ही है। उसकी गति नव ग्रैवेयिकके आगे नही। ग्रैवेयिकसे च्युत हुआ और फिर वही पहुँचा फिर आया फिर गया। इस तरह उसकी गति होती रहती है।

द्रव्यलिंगी चढता उतरता रहता है पर भावलिंगी अल्पभवमे ही मोक्ष चला जाता है। तो कहनेका प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्वी उस अनादिकालीन ग्रन्थीको, जो आत्मा और अनात्माके वीच पडी हुई थी, अपनी प्रज्ञारूपी छैनीसे छेद डालता है। वह सबको अपनेसे जुदा समझता हुआ अन्तरङ्गमे विचार करता है "मै एकमात्र सहजशुद्ध ज्ञान और आनन्द स्वभाव हूँ। एक परमाणुमात्र भी मेरा नही है।" उसकी गति ऐसी ही हो जाती है जैसे जहाजका पक्षी—उडकर जाय तो बताओ कहाँ जाय। इस ही को एकत्व एव अद्वैत कहते है। 'ससारमे यावत् (जितने) पदार्थ है वह अपने स्वभावसे भिन्न है।' ऐसा चिन्तवन करना यही तो अन्यत्वभावना है। अत: सम्यक्त्वी अपनी दृष्टि को पूर्णरूपेण स्वात्मा पर ही केन्द्रित कर देता है।

(च.) सहनशीलताकी अपेक्षा

देखिये, मुनि जब दिगम्बर हो जाते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि कैसे परीषह सहन करते होगे? पर हम रागी और वे वैरागी। उनसे हमारी क्या समता? उनके सुखको हम रागी जीव नही पा सकते। सुकुमाल-स्वामीको ही देखिये, स्यालिनीने उनका उदर विदारण करके अपने क्रोधकी पराकाष्ठाका परिचय दिया, किन्तु वे स्वामी उस भयकर उपसर्गसे विचलित न होकर उपशमश्रेणीद्वारा सर्वार्थसिद्धिके पात्र हुए। तो देखो यह सब अन्तरङ्गकी बात है। लोग कहते है कि भरतजी घर ही मे वैरागी थे। अरे, वह घरमे वैरागी थे तो तुम्हे क्या मिल गया? उनको शान्ति मिली तो क्या तुम्हे मिल गई? उसने लड्डू खाये तो क्या तुम्हारा पेट भर गया? अरे, यो नही 'हम भी घरमे वैरागी' ऐसी रटना लगाओ। यदि तुम घरमे वैरागी बनकर रहोगे तो तुम्हे शान्ति मिलेगी। उनकी रटना लगाए रहे तो बताओ तुमने क्या तत्त्व निकाला? तत्त्व तो तभी है जब तुम वैसे बनोगे। ज्ञानार्णवमे लिखा है कि सम्यग्-दृष्टि दो तीन ही है। तो दूसरा कहता है कि अरे, दो

तीन बहुत कह दिए, यदि एक ही होता तो हमारा कहना है कि हम ही सम्यग्दृष्टि है। अतः अपनेको सम्यग्दृष्टि बनाओ। ऊपरसे छल कपट किया तो क्या फायदा ? अपनेको माने सम्यग्ज्ञानी और बने स्वेच्छाचारी, यह तो अन्याय हुआ। सम्यग्दृष्टि निरन्तर अपने अभिप्रायोपर दृष्टिपात करता है। भयङ्कर से भयङ्कर उपसर्गमे भी वह अपने श्रद्धानसे विचलित नही होता, सम्यक्त्वीको कितनी भी बाधा आये तो भी वह अपनेको मोक्षमार्गका पथिक ही मानता है।

—वर्णी-वाणी . १ / ३४५-३६६

✲

"यदि कोई कहे, रागादिकोके सद्भावमे तो दुःख हुए बिना नही रहता। यह भी हमारी मिथ्याज्ञानकी भूल है। यदि किसीका हमने ऋण लिया है और वह वादे पर माँग कर हमको अनृण बना दे तब क्या हमको साहूकारके इस व्यवहारसे दुखी होना चाहिये ? कदापि नही, यदि हम दुखी होते हैं तब मिथ्याज्ञानी है। इसी तरह औदयिकभाव जिस समय हो उस समय उसे कर्मकृत जान समता भाव से भोग लेना ही हमारी वीरताका परिचायक है। निमित्तकी अपेक्षा औदयिक रागादिक अनात्मीय ही हैं। इसकी तो कथा ही क्या ? सम्यग्ज्ञानी क्षयोपशम भावोंका भी सद्भाव नही चाहता। क्योंकि वह भी कर्मके क्षयोपशमसे होता है। अब विचारने की बात है। जहाँ ज्ञानी आत्मगत भावो की अपेक्षा करके बल रूप होनेकी चेष्टामे तन्मय रहता है। भला वह ज्ञानी इन अनात्मीय दुःखकर ससारजनक रागादिकोकी अपेक्षा करेगा—बुद्धिमे नही आता।

अध्यात्म पत्रावली ३०

मोह महाविष

१. मोह मदारी—

मनुष्यका मोह बडा प्रबल होता है। यह सारा ससार मोहका ठाट है। यदि मोह न होय तो आया करो आस्रव, वह कभी भी बन्धनको प्राप्त नही होता। जिनेन्द्र भगवान् जब १३ वें गुणस्थान (सयोगकेवली) मे चारो घातिया कर्मोंका नाशकर चुकते है, तब वहा योग रह जाता है। योगसे कर्मोका आस्रव होता है, परन्तु मोहनीय कर्मका अभाव होनेसे वे कभी भी बँधते नही। क्योकि आस्रवको आश्रय देनेवाला जो मोह कर्म था, उसका वे भगवान् सर्वथा नाश कर चुके है। अरे, यदि गारा नही, तो ईटोको चुनते चले जाओ, कभी भी स्थिरताको प्राप्त नही होगी। इसको दृष्टान्तपूर्वक यो समझना चाहिए कि जैसे कीचड मिश्रित पानी है, उसमे कतकफल डाल दिया तो गँदला पानी नीचे बैठ गया और ऊपर स्वच्छ जल हो गया। उसे नितराकर भाजनान्तर अर्थात् स्फटिकमणिके बर्तनमे रखनेसे गँदलापन तो नही होगा, किन्तु उसमे जो कम्पन होगा अर्थात् लहरे उठेगी वह शुद्ध ही तो होगी, सो योग हुआ करो। योगशक्ति उतनी घातक नही, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि मोहकी कलुषता चली जाय, तब वह स्वच्छतामे उपद्रव नही कर सकती, और उस बन्धको जिसमे स्थिति और अनुभाग होता है नही कर सकती, इसलिए अबन्ध है। वस्तु-स्थिति भी ऐसी ही है कि जिस समय आत्माके अन्तरङ्ग से मोह-रूप पिशाच निकल जाता है, तो और शेष अघातिया कर्म जली जेवरीवत् रह जाते है। इससे सिद्ध हुआ कि इन सब कर्मोमे जबरदस्त कर्म मोहनीय ही है। यही कर्म मनुष्योको नाना नाच नचाता है।

२. मोह-मदिरा—

एक कोरी था। वह मदिरामे मस्त हुआ कही चला जा रहा था। उधरसे हाथीपर बैठा हुआ राजा आ रहा था। कोरीने कहा 'अबे, हाथी बेचता है।' राजा बडा क्रोधित हुआ और मन्त्रीसे झल्लाकर कहा 'यह क्या बकता है?' मन्त्री तुरन्त समझ गया और विनयपूर्वक बोला महाराज! यह नही बोलता। इस समय मदिरा बोलती है और जैसे तैसे समझा बुझाकर राजाको महलोमे ले गया। दूसरे दिन सभामे कोरीको बुलाकर राजाने पूछा—"क्यो? हाथी लेता है।" उसने कहा—"अन्न-दाता मैने कब कहा था? आप राजा हो और मैं एक गरीब आदमी हूँ। आजीविकाका निर्वाह ही तो कठिनता से कर पाता हूँ। मै क्या आपका हाथी खरीद सकता हूँ? आप न्यायप्रिय हो, मेरा न्याय करो!" राजाने मन्त्रीकी ओर देखा। मन्त्री बोला—'महाराज? मैने तो पहिले ही कहा था कि यह नही बोलता, इस समय मदिरा बोलती है।" राजा बडा आश्चर्य-चकित हुआ वैसे ही हम भी मोहरूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए झूम रहे है।

३. मोहकी दीवालपर मनोरथका महल—

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते है। अरे, उनमेसे एक मनोरथ मुक्तिका भी सही। वास्तवमे हमारे सब मनोरथ बालूके मकान (बच्चोके घरघूले) जैसे ढह जाते है, यह सब मोहोदय की विचित्रता है।

दीवाल गिरी कि महल भी गया, मोह गला कि मनोरथ भी समाप्त हो गया। हम रात्रि-दिन पापाचार करते है और भगवानसे प्रार्थना करते है कि भगवान हमारे पाप क्षमा करो। पाप करो तुम, भगवान् क्षमा करे। यह भी कहीका न्याय है? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल उसको ही भुगतना पड़ेगा। भगवान तुम्हे कोई मुक्ति नही पहुँचा देगे। मुक्ति जाओगे तुम

अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाए तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था। उसकी स्त्री का अकस्मात् देहान्त हो गया। वह बडा दुखी हुआ। एक आदमीने उससे कहा अरे, 'बहुतोकी स्त्रियाँ मरती है तू इतना बेचैन क्यो होता है ? वह बोला तुम समझते नही हो। उसमे मेरी शुभ बुद्धि लगी है इसलिए मैं दुखी हूँ। दुनियाँकी स्त्रियाँ मरती है तो उनसे मेरी मुहब्बत नही,—इसमे ही मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला, 'अरे' तुझमे जब अहबुद्धि है। तभी तो ममबुद्धि करता है। यदि तेरेमे अहबुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे ? अहबुद्धि और ममबुद्धिको मिटाओ, पर अहबुद्धि और ममबुद्धि जिसमे होती है उसे तो जानो। देखो, लोकमे वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो अपना नाम, अपने गाँवका नाम, अपने व्यवसायका नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थसे वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिये अपनेको जानो। तुम हो जभी तो सारा ससार है। आँख मीच लो तो कुछ नही। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पडा रह जाता है और फिर पचेन्द्रिया अपने अपने विषयो मे क्यो नही प्रवर्तती ? इससे मालूम पडता है कि उस आत्मामे एक चेतनाका ही चमत्कार है। उस चेतनाको जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ है।

मोहमे ही इन सबको हम अपना मानते है। एक आदमीने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढिया भोजन बनाओ, हम अभी खानेको आते है, जरा बाजार हो आएँ। मार्गमे चले तो वहाँ मुनिराजका समागम हो गया। उपदेश पाते ही वह भी मुनि हो गया। और वही मुनि बनकर आहारके वास्ते वहां आगए तो देखो उस समय कैसा अभिप्राय था, अब कैसे भाव हो गए। चक्रवर्तीको ही देखो। वह छह खण्डको मोहमे ही तो पकडे है। जब वैराग्यका उदय होता है तब सारी विभूतिको छोड वन-वासी बन जाता है। देखो, उस इच्छाको ही तो वह मिटा देता है कि 'इद मम' यह मेरी है। इच्छा मिट गई, अब छह खडको बताओ कौन सँभाले ? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे ? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके दिया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज ही नही है। तुम कदाचित् यह जानते हो कि यदि हम दान न देवे तो उसे कौन दे ? अरे उसके अनुकूलता होगी तो दूसरा दान दे देगा। फिर ममत्वबुद्धि रखके क्यो दान देता है ? वास्तवमे कोई किसीकी वस्तु नही है। व्यर्थ ही अभिमान करता है। अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरेकी चीजको अपनी मानकर कब तक सुखी रह सकता है ? जो चीज तुम्हारी है उसीमे सुख मानो।

उस केवलज्ञानकी इतनी बडी महिमा है कि जिसमे तीनो लोकोकी चराचर वस्तुएँ भासमान होने लगती है। हाथीके पैरमे बताओ किसका पैर नही समाता—ऊँटका, घोड़का सभी का पैर समा जाता है। अत उस ज्ञानकी बडी शक्ति है और वह ज्ञान तभी पैदा होता है जब हम अपनेको जानें। पर पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अपनेमे सयोजित करे। देखो, समुद्रसे मानसून उठते है और बादल बनकर पानीके रूपमे बरस पडते है। पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलता है। पानी जब बरसता है तब देखो रावी, चिनाव, झेलम, सतलजमे से होता हुआ फिर उसी समुद्रमे जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमे जो यत्र तत्र चतुर्दिक भ्रमण कर रहा था, ज्यो ही मोह मिटा त्यो ही वह आत्मा अपनेमे सिकुडकर अपने मे ही समा जाता है। यो ही केवलज्ञान होता है। ज्ञानको सब पर पदार्थोंसे हटाकर अपनेमे ही सयोजित कर दिया—बस केवलज्ञान हो गया। और क्या है ?

४. महापराक्रमी मोह—

मोहमे मनुष्य पागल हो जाता है। इसके नशेमे यह जीव क्या क्या उपहासास्पद कार्य नही करता ? देखिए; जब आदिनाथ भगवानने ८३ लाख पूर्व गृहस्थीमे रहकर बिता दिए, तब इन्द्रने विचार किया कि किसी प्रकार प्रभुको भोगोसे विरक्त करना चाहिए, जिससे अनेक भव्य प्राणियोका कल्याण हो। इस कारण उसने एक नीलाञ्जना

अप्सरा—जिसकी आयु बहुत ही अल्प थी, सभामे नृत्य करनेके वास्ते खडी करदी। वह अप्सरा नृत्य करते करते विलय गई। इन्द्रने तुरन्त उसी वेश-भूषाकी दूसरी अप्सरा खडी करदी। भगवान् तीन ज्ञान सयुक्त तुरन्त उस दृश्य-को ताड गए और मनमे उसी अवसर पर वैराग्यका चिन्तवन करने लगे। "धिक्कार है इस दुखमय संसार को, जिसमे रहकर मनुष्य भोगोमे बेसुध होकर किस प्रकार अपनी स्वल्प आयु व्यर्थ व्यतीत कर देता है।" इतना चिन्तवन करना था कि उसी समय लौकान्तिक देव (वैराग्यमे सने हुए जीव) आ गये और प्रभुके वैराग्यकी दृढताके हेतु स्तुति करते हुए बोले—हे प्रभो! धन्य है आपको, आपने यह अच्छा विचार किया। आप जयवंत होओ। हे त्रिलोकीनाथ! आप चारित्रमोहके उपशमसे वैराग्यरूप भए हो। आप धन्य हो।" इस प्रकार स्तवन कर वे लौकान्तिक देव तो अपने स्थानको चले जाते है, परन्तु मोही इन्द्र फिर प्रभुको आभूषण पहनाने लगता है और पालकी सजाने लगता है। अरे, जब विरक्त कर-वानेका ही उसका विचार था तो फिर आभूषणोके पहिनानेकी क्या आवश्यकता थी। विरक्त भी करवाता जारहा है और आभूषण भी पहिनाता जा रहा है, यह भी क्या न्याय है? पर मोही जीव बताओ और क्या करे। मोहमे तो मोहकी सी बाते सूझती है। उसमे ऐसा ही होता है।

५. संसार चक्रचालक मोह—

वास्तवमे यदि देखा जाय तो विदित हो जायगा कि जगतका चक्र केवल एक मोहके द्वारा घूम रहा है। यदि मोह क्षीण हो जाय तो आज ही जगतका अन्त आ जाय। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे रेहटकी चक्की। एक आठ पहियोकी चक्की होती है। उसको खीचनेवाले दो बैल होते है और उनको चलानेवाला मनुष्य होता है। उसी तरह मनुष्य है मोह और दोनो बैल है राग-द्वेष। उनसे यह अष्ट कर्मोका ससार बना है जिससे चतुर्गतिरूप ससारमे यह प्राणी भटकता है।

मनुष्य शेख-चिल्लीसी नाना प्रकारकी कल्पनाएँ किया करता है। यह सब मोहके उदयकी बलवत्ता है। जहाँ मोह नही है वहाँ एक भी मनोरथ नही रह जाता। अतः मोहकी कथा अकथनीय और शक्ति अजेय है।

मोहका प्रपञ्च ही अखिल संसार है। आप देखिए, आदिनाथ स्वामीके दो ही तो स्त्रियाँ थी नन्दा और सुनन्दा। उन दोनोको त्यागकर वनमे भागना पडा। क्या घरमे नही रह सकते थे। अरे, क्या घरमे कल्याण नही कर सकते थे? नही। स्त्रियोका जो निमित्त था। कल्याण कैसे कर लेते, मोहकी सत्ता जो विद्य-मान है। वह तो चुलबुली मचाए दे रहा है। कहता है– "जाओ वनमे, छह महीनोका मौन धारण करो, एक शब्द नही बोल सकते।" और छह महीनेका अन्तराय हुआ यह सब क्या मोहकी महिमा नही! अच्छा, वहाँ घरमे तो दो ही स्त्रियाँ छोडी और समवशरणमे हजारो लाखो स्त्रियाँ बैठी है, तब वहाँसे नही भागे? क्यो? इसका कारण यही कि यहाँ मोह नही था। और वहाँ मोह था, तो जाओ बनमे, धरो छह महीनेका योग। अत मोहकी विलक्षण महिमा है।

मोहसे ही ससारका चक्र चल रहा है। यह कर्म ही मनुष्यो-पर सर्वत्र अपना रौब गालिब किए हुए है। इसके नशेमे मनुष्य क्या-क्या बेढब कार्य नही करता। यहाँ तक कि प्राणान्त तक कर लेता है। जब स्वर्गमे इन्द्र अपनी सभामे देवोसे यह कह रहा था कि इस समय भरतक्षेत्रमे राम और लक्ष्मणके समान स्नेह और किसीका नही। उसी समय एक देव उनकी परीक्षाके हेतु अयोध्यामे आया। वहाँ उसने ऐसी विक्रिया व्याप्त की कि नगरका सारा जनसमूह शोकाकुल दिखाई पडने लगा। नर-नारियोका करुणा-क्रन्दन नगरके शान्त वातावरणको अशान्त करता हुआ आकाशमे प्रतिध्वनित होने लगा! प्रतीत होता था श्री रामचन्द्रजी का देहावसान हो गया! जब यह भनक लक्ष्मणजीके कर्णपुटमे पडी तो अचानक लक्ष्मणके मुखसे "हा राम!" भी पूर्ण नही निकला कि उनका प्राणान्त हो गया! यह सब मोहकी विलक्षण महिमा ही है। यह ऐसा है, वैसा नही है, यह ऐसा पीछे है, वैसा पीछे नही था। ऐसा आगे है, वैसा आगे नही होगा। मोहमे ही करता है। यही मनुष्यका भयकर शत्रु है। मोक्षमार्गसे

विपरीत परिणमन करता है। अत यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो भूरिश विकल्पजालोको त्यागो। मोहको जैसे बने कम करनेका उद्यम करो। यदि पञ्चेन्द्रियके विषयोके सेवनमे मोह कम होता है तो वह भी उपादेय है और यदि पूजा दानादि करनेमे मोह बढता है तो वह भी उस दृष्टि-से हेय है। दुनियाँ मोह करे, करने दो। तुम कभी इसमे मत फँसो। कोई भी तुम्हे मोहमे न फँसा सके। सीताजी-के जीवने सोलहवे स्वर्गसे आकर श्रीरामचन्द्रजीको कितना लुभाया पर वह मोहको नाशकर मोक्ष को गए।

६. मोह विषकी औषधि—

अत इससे भिन्न अपनी ज्ञानरूपी आत्माको जानो। 'तुष-माष भिन्न' इतनेसे मुनिको आत्मा और अनात्मका भेद मालूम पड गया देखलो केबली हो गये। द्वादशागका तो यही सार है कि अपने स्वरूपको पहिचानो और उसमे अपनेको ऐसे रमालो जैसे नमककी डली पानीमे घुल-मिल जाती है। उपयोगमे दत्तचित्त हो जाओ—यहाँ तक कि अपने तन मनकी भी सुध-बुध न रहे। क्योकि उपयोगका ही सारा खेल है। अपने उपयोगको कही न कही स्थिर रखना चाहिये। जिस मनुष्यका उपयोग डावाडोल रहता है वह कदापि मोक्षमार्गमे प्रर्वतन नही कर सकता। एक मनुष्यने दूसरेसे कहा कि मेरा धर्ममे मन नही लगता तब दूसरेने पूछा कि तेरा मन कहाँ और किसमे लगता है ? वह बोला मेरा मन खानेमे अधिक लगता है। तो दूसरा कहता है—अरे, कही पर लगता तो है। मैं कहता हूँ कि मनुष्यका आर्त-रौद्र परिणामोमे ही मन लगा रहे। कही लगा तो रहता है। अरे, जिसका आर्त परिणामोमे मन लगता है वही किसी दिन धर्ममे भी मन लगा सकता है। उपयोगका पलटना मात्र ही तो है। जैसा उपयोग अन्य कार्योमे लगता है वैसा यदि आत्मामे लग जाय तो कल्याण होनेमे विलम्ब न लगे।

७. मोहजयी महाविजयी—

यह अच्छा है, यह जघन्य है। अमुक स्थान इसके उपयोगी है, अमुक अनुपयोगी है, कुटुम्ब बाधक है, साधुवर्ग साधक हैं। यह सब मोहोदय की कल्लोलमाला है। मोहोदयमे जो कल्पनाएँ न हो, वे थोडी है। देखो, जब स्त्री पुरुषका विवाह होता है तब वह पुरुष स्त्रीसे कहता है कि मैं तुम्हारा जन्म पर्यन्त निर्वाह करूँगा। वह स्त्री भी पुरुषसे कहती हैकि मैं भी तुम्हारी जन्मपर्यन्त परिचर्या करूँगी। इस तरह जब विवाह हो जाता है तो घर छोडकर विरक्त हो जाते है। स्त्री विरक्त हुई तो आर्यिका हो जाती है और पुरुष को विरक्ति हुई तो मुनि हो जाता है। तो अब बतलाइए कि वे विवाहके समय जो एक दूसरेसे वचनवद्ध हुए थे उसका निर्वाह कहाँ रहा ? इससे सिद्ध हुआ कि यह सब मोहनीय कर्मका प्रबल उदय था। जब तक वह कर्मोदय है तभी तक सारा परिवार और ससार है। जहाँ इस कर्मका शमन हुआ तो वही परिवार फिर बुरा लगने लगता है।

जब सीताजी का लोकापवाद हुआ और रामने सीता से अग्नि-परीक्षा देनेको कहा और सीता अपने पतिकी आज्ञा शिरोधार्य कर जब अग्निकुण्डसे निष्कलंक हो, देवो द्वारा अर्चित होती है तब सीताको ससार, शरीर और भोगोसे अत्यन्त विरक्ति आजाती है। उस समय राम आकर कहते है कि हे सीते ! तुम निरपराध हो, धन्य हो, देवो द्वारा पूजनीय हो। आज मेरे हृदयके आँसू नेत्रोमे छलक आए है। प्रासादोको चलकर पवित्र करो। अथवा अपने लक्ष्मणकी ओर दृष्टिपात करो। अथवा हनुमान पर करुणा करो जिसने सकटके समय सहायता पहुँचाई। अथवा अपने पुत्र लवाकुश की ओर तो देखो। तब सीताजी कहती हैं "नाथ ! आप यह कैसी बात कर रहे हैं ! आप तो स्वय ज्ञानी है। ससारसे आप विरक्त होते नही और मेरे विरक्त होनेमे बाधा करते है ! क्या विवेक चला गया ?"

मोहकी विडम्बनाको तो जरा अवलोकन कीजिये। एक दिन था जब सीता रावणके यहाँ रामके दर्शनार्थ खाना-पीना विसर्जन कर देती थी। आँसुओसे सदा मुँह धोये रहती थी। रामके विवेकमे विश्वास रखती थी। वही सीता रामसे कहती है। "क्या विवेक चला गया ?" कैसी विचित्र मोहमाया है ? राम जैसे महापुरुष भी इसके फन्देसे न बच सके ! जब सीताजी हरी गई तो पुरुषोत्तम रामजी उसके विरहमे इतने व्याकुल रहे कि

वृक्षोसे पूछते हैं 'अरे तुमने कही हमारी सीता देखी है ? यही नही बल्कि वही पुरुषोत्तम रामजी श्रीलक्ष्मणके मृत शरीरको छह मास लेकर सामान्य मनुष्योकी तरह भ्रमण करते रहे। क्या यह मोहका जादू नही है ? बाहरे मोह राजा ! तूने सचमुच जगतको अपने वशवर्ती कर लिया। तेरा प्रभाव अचिन्त्य है। तेरी लीला भी अपरम्पार है। कोई भी तीन लोकमे ऐसा स्थान नही, जहाँ तूने अपनी विजयपताका न फहराई हो। जब महारानी सीता और राजा राम जैसे महापुरुषोंकी यह गति हुई तब अन्य रक पुरुषोकी क्या कथा ? धन्य है तू और तेरी विचित्र लीला।

जिसने मोहपर विजय पाई वही सच्चा विजयी है, उसीकी डगमगाती जर्जर जीवन-नैया ससार-सागर से पार होनेके सन्मुख है।

—वर्णी-वाणी १ / ३३४-३४४

अब तो एसी परिणति बनाओ जो हमारा और तुम्हारा विकल्प मिटे। यह भला, वह बुरा, यह वासना मिट जावे, यही वासना बंधकी जान है। आजतक इन्ही पदार्थोमे ऐसी कल्पना करते-करते ससार ही के पात्र रहे। बहुत प्रयास किया तो इन बाह्यवस्तुओंको छोड़ दिया। किन्तु इनसे कोई तत्त्व न निकला। निकले कहाँसे ? वस्तु तो वस्तुमें है। परमे कहाँसे आवे ? परके त्यागसे क्या ? क्योंकि यह तो स्वय पृथक् है। उसका चतुष्टय स्वयं पृथक्। किन्तु विभावदशामे जिसके साथ अपना चतुष्टय तद्रूप हो रहा है उस पर्यायका त्याग ही शुद्ध स्वचतुष्टयका उत्पादक है। अतः उसकी ओर दृष्टि-पात करो, लौकिक चर्चाको तिलांजलि दो। आजन्म से वही आलाप तो रहा, अब एक बार निज आलापकी तान लगाकर तानसेन हो जावो। अनायास सर्व दु खकी सत्ताका अभाव हो जावेगा। विशेष क्या कहा जाय ?

अध्यात्म-पत्रावली—७१

संसार-चक्र

संसार—

ससारमे बहुत विचित्रता है, यह अकारणिका नही। इसपर बडे बडे महानुभावोने गम्भीर विचार किये, किन्तु यह सभीने स्वीकार किया कि ससार दो पदार्थोंके मेलसे निष्पन्न एक तृतीय अवस्थाको धारण करने वाला हे। जहाँ दो पदार्थोका विलक्षण सयोग होता है वही अवस्था बन्धभावको धारण करती है। जैसे चार आने भर सुवर्ण और चार आने भर चाँदी दोनोको गलाकर एक पिण्ड बना दीजिये उस पिण्डमे दोनो पदार्थ उतने ही है जितने पहिले थे परन्तु जब वह एक पिण्ड हो गये तब न तो वह शुद्ध सोना है और न शुद्ध चाँदी है। एक तृतीय अवस्था हो गई और उसे खोटे सोनेके नामसे लोग व्यवहार करते है। इसी प्रकार आत्मा और पुद्‌गलका अनादिकालसे सम्बन्ध चला आ रहा है। उसे लोग मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी शब्दसे व्यवहार करते है। सुवर्ण चाँदी दोनो सजातीय द्रव्य है। यहाँ विजातीय दो द्रव्योका सम्बन्ध है। एक चेतन द्रव्य है दूसरा अचेतन। इनके विलक्षण सम्बन्ध ही का नाम ससार है। यहाँपर जो पर्यायमे अपनेको मनुष्य और इतर पर्यायमे अपनेको देवादि मानने लगता है। जिस पर्यायमे जाता है उसी पर्यायके अनुकूल अपनी परिणति बना लेता है।

ससार एक विचित्र जाल है, इस जाल मे प्राय सभी फँसे है। जो इससे निकल जावे प्रशसा उसी की है।

यह संसार वास्तवमे आत्माकी विभाव परिणतिका है। यह जो दृश्यमान जगत है वह तो विभावपरिणति का कार्य है। इसको जो जगत कहते है वह उपचारसे जगत कहलाता है। आत्मामे जब तक विभावपरिणति है तब तक सर्व जगत है। जब आत्मासे विभावपरिणति चली जाती है तब नूतन कर्मबन्ध नही होता। नूतन कर्मबन्धके अभावमे कर्मका अभाव हो जाता है।

ससार एक विशाल कारागृह है। इसका सरक्षक कौन है? यह दृष्टिगोचर तो नही फिर भी अन्तरङ्गसे सहज ही इसका पता चल जाता है। ससार पर्याय-दृष्टिसे तो अनित्य है और इसका सरक्षक मोह है। इसके दो मन्त्री है जो इसकी रक्षा करते है। उनका नाम राग और द्वेष है। इनके द्वारा आत्मामे क्रोध, मान, माया तथा लोभ का प्रकोप होता है। क्रोधादिकोके आवेगमे यह नाना प्रकारके अनर्थ करता है।

क्रोध—

जब क्रोधका आवेग आता है तब नानाप्रकारके कष्ट देना, अनिष्ट करना, तथा परसे कराना सूझता है। उसका स्वयमेव अनिष्ट होता हो तब आनन्दमे मग्न हो जाता हे। यद्यपि उसके अनिष्ट होनेसे कुछ भी लाभ नही परन्तु क्या करे? लाचार है। यदि उसका पुण्योदय हो और इसके अभिप्रायके अनुकूल उसका कुछ भी वाँका न हो तो दाहमे दुखी होता रहता है। यहाँ तक देखा गया है कि अभिप्रायके अनुरूप कार्य न होनेपर मरण तक कर लेता है।

मान—

मानके उदयमे यह इच्छा होती है कि दूसरा मेरी प्रतिष्ठा करे, उच्च माने। जैसे उच्चता लोकमे हो, उसके अर्थ परकी निन्दा, अपनी प्रशसा करे। परमे जो गुण विद्यमान हो उनका लोप करे। अपनेमे जो गुण नही उन्हे अपनेमे बतलानेकी चेष्टा करे। मानके लिये बहुत कष्टसे उपार्जन किये धनको व्यय करनेमे सकोच न करे। यदि मानकी रक्षा न हो तब बहुत दुखी होता है।

अपघात तक करनेमे सकोच नही करता । यदि किसीने जैसी अपनी इच्छा थी वैसा मान लिया तब फूलकर कुप्पा हो जाता है कि हमारा मान रह गया । मूर्ख यह विचार नही करता कि हमारा मान नष्ट हो गया । यदि नष्ट न होता तो वह भाव बना रहता । उसके जाने से ही तो आनन्द आया ।

माया—

माया कषाय भी जीवको इतने प्रपञ्चोमे फँसा देती है कि मनमे तो और है, वचनसे कुछ कहता है, कार्य अन्य ही करता है । मायाचारी आदमीके द्वारा महान् अनर्थ होते है । ऊपरसे तो सरल दीखता है परन्तु उसके भीतर अत्यन्त वक्र परिणति होती है । जैसे बगुला ऊपरसे शनै शनै पैरो द्वारा गमन करता है और भीतरसे जहा मछलीकी आहट सुनी कि उसे चोचसे पकड लेता है । मायाचारके वशीभूत होकर जीव जो न करे सो अल्प है ।

लोभ—

लोभके वशीभूत होकर जो जो अनर्थ ससारमे होते है वह किसीसे अविदित नही । आज जो सहस्रावधि मनुष्योका सहार हो रहा है, लोभ ही की बदौलत तो है । आज एक राज्य दूसरेको हडपना चाहता है । वर्षोसे शान्तिपरिषद् हो रही है, लाखो रुपये बरबाद हो गये, परन्तु मामला टस से मस न हुआ । शतश. नीतिके विद्वानोने गभीर विचार किये । अन्तमे परिग्रही मनुष्योने एक भी विषय निर्णीत न होने दिया । लोभ कषायकी प्रबलता कुछ नही होने देती । सभी मिल जावे परन्तु जबतक अन्तरङ्गमे लोभ है एक भी बात तय न होगी । **राजाओसे प्रजाका पिण्ड छुड़ाया परन्तु अधिकारी वर्ग ऐसा मिला कि उनसे बदतर दशा मनुष्योकी हो गई ।** यह सब लोभकी महिमा हे । अत. जहाँ तक बने लोभको कृश करो ।

चार संज्ञाएँ और मिथ्यात्व—

जिस शिक्षासे पारमार्थिक हित होता है उस ओर ध्यान नही और न हो भी सकता है । प्रत्यक्ष सुखके साधनकी प्राप्ति जिससे हो उसे छोड लोग अपनेको अन्य साधनोमे नही लगाना चाहते । इसका कारण अनादिकालसे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह सज्ञाके जालमे इतने उलझे हैं कि वहासे निकलना शहदमे उलझी मक्खीके सदृश कठिन है । जिसका महाभाग्य हो वही इस जालसे अपनी रक्षा कर सकता है । यह जाल अन्य द्वारा नही बनाया गया है । हमने स्वय इसका सृजन किया है । आहारादि सज्ञा मुनिके भी होती है । प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त मुनि भी तो आहार ग्रहण करते है । प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त असाताकी उदीरणा है । तथा जिसे कबलाहार कहते है उसे प्रमत्तगुणस्थान तक ही लेते है । इसके बाद अप्रमत्त गुणस्थानमे कर्म नोकर्म -वर्गणाहीका ग्रहण होता है । कबलाहार छूट जाता है । भय, वेद, परिग्रह, नवम गुणस्थान पर्यन्त होता है । लोभ परिग्रह दशम गुणस्थान पर्यन्त होता है, किन्तु जब इस जीवके मिथ्याभाव छूट जाता हे फिर होते हुए भी परिग्रहादि दोष आत्माको अनन्त ससारका बन्धन नही करा सकते । अत. सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्यको सबसे पहिले अनन्त ससारका पितामह मिथ्यात्व त्यागना चाहिये ।

वहुतसे मनुष्य हिंसादि पञ्च पापोको ही पाप समझते है । सबसे प्रबलतम पाप जो मिथ्यादर्शन है उसको पाप नही समझते । सब पापोका जनक अनादिसे आता हुआ स्वपरभेदका बाधक यह मिथ्यात्व है । हिंसादिक तो चारित्रमोहसे होते हैं । जब मिथ्या पाप गया परमार्थसे तो उसी समय इसके कर्तृत्व निकल गया । केवल उदयसे औदयिक भाव होता है । यह उसका कर्ता नही बनता । कर्ता न बननेसे आगामी कर्मबन्ध वहुत ही अल्प होता है । कुछ कालमे ऐसी परिणति इसकी हो जाती है कि सब कर्मोकी जड जो मोह है उसका बन्ध नही होता । जैसे जब मिथ्यादर्शन चला जाता है, मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतिका बन्ध नही होता । इस तरह क्रमसे गुणस्थान आरोहण करता है । जिस समय दशम गुणस्थान होता है उस कालमे मोहनीय कर्म तथा आयुको छोडकर छह कर्मोका ही बन्ध होता है । उसके अभावमे ज्ञानावरणादि अस्वामिक रहकर बारहवे गुणस्थानमे अन्तर्मुहूर्तमे स्वयमेव नष्ट हो जाते है ।

अनादिसे यह जीव शरीरको निज मान रहा है तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह यह चार सज्ञाएँ इसके साथ है । निरन्तर इसी परिपाटीसे निकलना कठिन है । प्रथम तो आहारके अर्थ अनेक उपाय करता है । भय होनेपर

भागनेकी इच्छा करता है। वेदके उदयमे गुण-दोष देखने की इच्छा होती है। विषयकी लिप्सासे जो जो अनर्थ होते है वह किसीसे गुप्त नही। यह लिप्सा इतनी भयकर है कि यदि इसकी पूर्ति न हो तब मृत्यु तकका पात्र हो जाता है। इनका लोभी जिनको लोकमे निन्द्यकर्म कहते हैं उन कर्मोंको भी करनेमे सकोच नही करता। यहां तक देखा गया है कि पिताका सम्बन्ध साक्षात् पुत्रीसे हो गया। उत्तमसे उत्तम राजपत्नी नीचोके साथ ससर्ग करनेमे सकोच नही करती। जिसने इस कामपर विजय प्राप्त करली वही महापुरुष है, यो तो सभी उत्पन्न होते और मरते है।

स्वार्थी कुटुम्ब—

पुत्रको मनुष्य बहुत ही प्रेमदृष्टिसे देखता है किन्तु बात उसके विपरीत ही है। मनुष्यका सबसे अधिक प्रेम स्वस्त्रीसे रहता है, इसीसे उसका नाम 'प्राणप्रिया' रक्खा। 'मेरी प्राणवल्लभा' आदि नामसे उसे सम्बोधित करता है। वह इसकी आज्ञाकारिणी रहती है। पहिले पतिको भोजन कराती है तब आप भोजन करती है। उसको शयन कराके शयन करती है। उसका वैयावृत्य करनेमे किसी प्रकारका सकोच नही करती। पुत्रके होते ही वह बात नही रहती। यदि भोजनमे विलम्ब हो गया तब पति कहता है 'विलम्ब क्यो हुआ ?' तब यही उत्तर तो मिलता है कि 'पुत्रका काम करूँ या आपका ?' इत्यादि। तथा जब पुत्र वृद्धिको प्राप्त होता है और पिता ह्रासको प्राप्त होता है तब समर्थ होनेपर पुत्र अर्थका स्वामी बन जाता है। वह स्वामित्व स्वय सौपता है, 'लो सँभालो अब तक हमने रक्षा की।' यहाँ तक देखा गया कि यदि दान देनेका प्रकरण आजावे तब लोगोसे कहता है कि भाई! हम तो दूसरेकी धरोहर की रक्षा कर रहे है। हमे इसके व्यय करनेका अधिकार नही। अब आप लोग स्वयं निर्णय कर लो पुत्र मित्र है या शत्रु ? कहाँ तक कहूँ, मोही जीवको मोहके नशेमे अपने आपका बोध नही होता।

मोहजन्य अज्ञानता—

"आचक्ष्व शृणु वा तात ! नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ।।"

चाहे तो आजन्म शास्त्रश्रवण करो, चाहे आजन्म शास्त्रोका व्याख्यान करो तथापि जबतक सबको न भूल जाओगे तबतक तुम्हारा कल्याण नही, क्योकि आत्मा सब पदार्थोसे भिन्न है। इसका एक भी अंश न तो अन्यत्र जाता हे और न अन्यका अश इसमे आता है। हम अपनी ही अज्ञानतासे परको अपना मानते है। पर पदार्थोमे किसीको तो दु खका कारण मान लेते हैं। जैसे विष, कटक, शत्रु पदार्थोको दुखका कारण मान उनमे अप्रीति करते है, और किन्ही स्त्री पुत्रादिकोको सुखका कारण मान उनसे प्रेम करने लगते है। किन्ही पदार्थोंको परलोकमे सुखका कारण जान उनमे रुचिपूर्वक भक्ति करने लगते है, किन्तु प्रयोजन केवल लौकिक सुखका ही रहता है। इस तरहसे अनादि सतानसे इस ससारमे चतुर्गति नारक, तिर्यक् मनुष्य तथा देवगतिमे भ्रमणकर ससार-बन्धनसे मुक्त नही होते। बन्धनसे मुक्त होनेका कारण तो तब मिले जब कि इस ससारके कारणोंसे विरक्त हो। ससार के कारणोंसे कब विरक्त हो ? जब कि इसे हेय समझे, सो तो समझते नही।

"नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्ध· आसीद्या जीविते स्पृहा ।।"

न तो मैं देह हूँ और न मेरे देह है। और न मैं जीव हूँ, मै तो चित् स्वरूप हूँ, यदि मेरे जीवनमे स्पृहा है तो यही बन्ध है।

"एको दृष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो दृष्टार पश्यसितराम् ।।"

यद्यपि आत्मा एक है, स्वतन्त्र है, तथा प्राय मुक्त ही है, किन्तु भ्रमसे परको अपना मान रहा है। यही तेरे बन्धका कारण है कि आत्मासे अतिरिक्त पदार्थोको दृष्टा मान लेता है। आत्मासे भिन्न यह जो पदार्थ है वह तेरे नही, और न तूँ उनका है। उन्हे अपने मानकर स्वय अपनी भूलसे बँधा हुआ है, कोई अन्य बँधाने वाला नही। जैसे कुत्ता दर्पणमे अपना मुख देख अपनेसे भिन्न प्रतिबिम्ब को दूसरा कुत्ता मानकर भौकता है और उस दर्पणमे मुखकी ठोकर दे आप स्वय चोटसे दुखी होता है। कोई अन्य चोट देने वाला नही। अपना ही आत्मीय बोध न होनेसे स्वयमेव दु खका पात्र होता है। इसी तरह यह

आत्मा अपने स्वरूपको भूल स्वयं पर पदार्थोमे निजत्व कल्पना कर दुःखका पात्र होता है—

"अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायो।
ज्यों शुक नभचाल बिसर, नलिनी लटकायो ।।"

सत्य यह है कि—

"उदेति भावतो विश्वं वारिधेरिव बुद्‌बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमात्मन्येव लयं व्रज ।।"

यह जो विश्व उदयको प्राप्त होता है सो आत्मासे ही होता है। अर्थात् जो जगत दृश्यमान है यह आत्माके रागादि परिणामसे ही तो होता है। जैसे वारिधिसे बुद्‌बुद् होते, वह यद्यपि वारिधिका स्वभाव नहीं है फिर भी उस समुद्रमे परिणमनकी शक्ति है। वायुके निमित्तको पाकर लहरे उत्पन्न होती है तथा बुद्‌बुद् आदि अनेक प्रकारके विकारभाव उसमे उत्पन्न होते है। अन्तमे उसी समुद्रमे लय हो जाते हैं। ऐसा जानकर जो दृश्यमान जगत है वह तेरा ही परिणमन विशेष है। अन्तमे तुझ हीमे लीन हो जाता है।

यहाँ यह शका होती है कि आत्मा तो अमूर्तिक द्रव्य है, उसका यह जगत् विकार है, यह समझमे नही आता? आपका कहना ठीक है, वास्तवमे परमार्थ दृष्टिसे तो आत्मा अमूर्तिक है परन्तु अनादिकालसे इसका सम्पर्क पुद्‌गलके साथ हो रहा है। इन असमान जातीय द्रव्यो का ऐसा विलक्षण सम्बन्ध है कि पुद्‌गल कर्मके विपाकसे आत्मामे रागादिक परिणाम होते है, और वे परिणाम मोह रागद्वेष रूप हैं। इन्हीके विशेष मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन कषाय, प्रत्येक कषायमे क्रोध, मान, माया लोभ चार चार ४×४ भेद होकर सोलह प्रकार कषायके भेद हो जाते है। तथा नौ प्रकारके ईषत्‌कषाय होते है। जिनके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुँसक वेद नाम है। इस तरहसे पच्चीस भेद मोहके होते है इसीका परिवार सकल ससार है। संसारमे इन भावोको छोड़ और कुछ नही। जिन महापुरुषोने इन पर विजय प्राप्त कर ली वे इस ससारसे उत्तीर्ण हो गये। सबसे प्रबल शत्रु मोह है। जिसके सद्भावमे यह जीव आप और परको नहीं जानता। जहाँपर आत्मा और पर का विवेक नही वहाँ अन्यकी क्या कथा? जबतक हमे अपना ही विवेक नही वहाँ हिंसादिक पापोसे मुक्तिका उपाय कौन करे?

भेदज्ञानकी आवश्यकता—

"न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च हीनता।
नाश्चर्यं नैव क्षोभश्च क्षीणसंसरणे नरे ।।"

लेकिन जिस महापुरुषका ससार क्षीण हो गया है उससे न तो किसीकी हिंसा होती है, न करुणा होती है। न उद्धत्ता होती है, न हीनता होती है। न क्षोभ होता है, और न आश्चर्य ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब मनुष्यके भेदज्ञान हो जाता है उस समय यह परको पर और अपनेको भिन्न जानता है। जब परको पर जाना तब उसमे निजत्वकी कल्पना विलीन हो जाती है। जब निजकी कल्पना मिट गई तब उसमे राग व द्वेष दोनो विलय हो जाते हैं। उनके जाने पर सुतरा, दया और हिंसाके भाव विलय जाते है। आत्माका स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है। जानने वाला और देखने वाला है। शेष जो भाव होते हैं वह उपाधिजन्य एव विकारज है। इसके स्वभाव नही। अतः स्वयमेव विलीन हो जाते है। जो धर्म आगन्तुक होता है वह मर्यादाके बाद नही रहता, पर्याये स्वाभाविक एव वैभाविक दो प्रकारकी होती है। **वैकारिक पर्याय कारणके अभावमे नहीं रहती।**

"सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशय.।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ।।"

सब अवस्थाओमे जिसका आशय निर्मल हो गया है, स्वस्थ रहता है, समस्त वासनाओसे जो मुक्त है, वही मुक्त है। वही आत्मा सर्वत्र शोभायमान होता है। जब रज्जुका ज्ञान हो जाता है उस समय सर्पका ज्ञान नही होता। इस जगत्‌मे अनादिकालसे जीवका कर्मोके साथ सम्बन्ध चला आया है जिससे आत्मा मलिन हो रहा है। परन्तु जब भेदज्ञान हो जायगा, कर्मबन्धनके कारणोका अभाव होनेसे सुतरा उस निर्मलताको प्राप्त होगा, जिससे संसार परिभ्रमणका यह चक्र सदाको नष्ट हो जायगा।

—वर्णी-वाणी : ३ / २४४-२५४

✻

शांति कहाँ ?

शान्ति के बाधक कारण,

१. हमारी अज्ञानता—

शान्तिका मूल कारण चित्तकी निश्चलता है परन्तु निश्चलता होती नही। इसका मूल कारण यह कि हमारी बुद्धि परको अपना मानती है और जब परको अपना माना तब उसके रक्षणका भाव निरन्तर रहता है। उसका रक्षण हमारे अधीन नही, क्योकि उस पर-पदार्थकी अनेक अवस्थाएँ होती है। उनमे किसी अवस्थाको हम इष्ट और किसीको अनिष्ट होनेकी कल्पना करते है। हमारे अनुकूल जो परिणमन हो गया, उसको हम चाहते है। उसके रखनेका सतत प्रयत्न करते है। किन्तु वह परिणमन समय पाकर अन्यरूप हो जाता हे, तब हम अत्यन्त व्याकुल हो जाते है। यही हमारी महती अज्ञानता है। हमने यह प्रयत्न नही किया कि पर-पदार्थ न कभी अपना हुआ, न था और न भविष्यमे होगा ही, यह निश्चित है। फिरभी मोहके आवेशमे निरन्तर विपरीत परिणमन करनेकी प्रकृति बना रखी है। अन्यकी कथा छोडो, जो लावण्यता बाल्यकालमे मनुष्यमे विद्यमान होती है कुछ काल उपरान्त वह चली जाती है। तब इसे युवक कहने लगते है। अनन्तर वृद्ध हो जाता हे, दन्त भग्न हो जाते है, नेत्र मन्दज्योति हो जाते है, पग चलनेसे इन्कार कर देते है, हाथ कोई कार्य करनेमे अग्रसर नही होते। जो बालक प्रेमसे गोदमे खेलते है, वे स्पर्श करनेकी कथा छोडो, देखना भी नही चाहते। यह सब प्रपञ्च देखकर भी हम आत्महितसे वञ्चित रहते है, इसका मूलकारण मोह है।

२. मोह-मदिरा—

मोह-मदिरा केनशामे विह्वल मनुष्यकी दशा मद्यपान करनेवालेके सदृश रहतीहै। एकबार मैं गिरिराज (सम्मेद-शिखर) जी क्षेत्रके पार्श्वभाग ईसरीमे निवास करता था। एक दिन सायकाल भ्रमणार्थ गया। एक आधा फर्लाङ्ग पर ही एक मद्यकी दुकान थी, उसके सामनेसे गया। वहाँ जाकर देखा कि बहुतसे मनुष्य मद्यके नशामे उन्मत्त होकर नाना अवाच्य शब्द बोलते तथा नाना प्रकारकी कुचेष्टा कर रहे हैं। यहाँ तक कि मुँहमे मक्खियाँ जा रही हैं, कूकर शरीर पर मूत्र कर रहे है, परन्तु वे इसकी कुछभी परवा नही करते और न इनके निवारणका कुछ प्रयास ही करते है। इतनेमे नवीन शराब पीनेवाले आये और मद्यविक्रेता से कहने लगे कि 'बढिया शराब देना'। विक्रेताने उत्तर दिया कि 'देखते नही, तुम्हारे दादा सामने ही लोट रहे है ?

मदिरा के नशामे आदमीकी दशा उन्मत्त हो जाती है। यही अवस्था मोही जीवोकी जाननी चाहिये।

३. स्वार्थी संसार—

जीव एकाकी माँ के गर्भमे आता है और नवमास पर्यन्त अधोमुख होकर बिताता है। वहाँसे जब निर्गत होता है उन दुःखोका अनुभव वही जानता है। अन्य कोई तो जान ही क्या सकेगा ? जो माता उसे अपने उदरमे धारण करती है, उसे भी उस बालकके दुःखोका पता नही।

जब निर्गत हुआ तब बाल्यावस्थामे शक्ति व्यक्त न होनेसे, इच्छाके अनुकूल कार्य न होनेसे जो कष्ट उसे होते है उनके वर्णन करनेमे अन्य किसीका सामर्थ्य नही। उसे तो भूख लगी है। दुग्धपान करना चाहता है, परन्तु माँ अफीम पान कराकर सुलानेकी चेष्टा करती है। वह सोना चाहता है माँ कहती है बेटा! दुग्ध पान करलो! कहनेका तात्पर्य यह कि सब तरहसे प्रतिकूल कार्योंमे ही बाल्यावस्थाके कालको पूर्ण करना चाहता है। जहाँ पाँच

वर्ष का हुआ माता पिता बालकको पढानेका प्रयत्न करते हैं। ऐसी विद्या अर्जन कराते है जिससे लौकिक उन्नति हो, यद्यपि लौकिक उन्नतिमे शाति नही मिलती तथापि माता-पिताको जैसी परम्परासे पद्धति चली आ रही है तदनुकूल ही उनका बालकके प्रति भाव रहेगा। जिस शिक्षासे आत्माको शान्ति मिले उस ओर लक्ष्य ही नही। गुरुसे कहेगे जिसमे बालक खान-पानके योग्य द्रव्यार्जन कर सके ऐसी ही शिक्षा देना।

जहाँ १५, १६ वर्षका हो गया, माता पिताने दृष्टि बदली और यह सकल्प करने लगे कि 'कब बालकका विवाह हो जावे ?' इसी चिन्तामे मग्न रहने लगे। कहाँ तक कहा जावे, विवाह के लिये लड़कीकी खोज करने लगे। अन्ततोगत्वा अपने तुल्य ही बालकको बनाकर ससारवृद्धि का ही उपदेश देते है। इस तरह यह ससार चक्रचल रहा है, इसमे कोई विरला ही महानुभाव होगा जो अपने बालकको ब्रह्मचारी बनाकर स्वपरके उपकारमे आयु पूर्ण करे। आजसे २००० वर्ष पहले श्रमणसस्कृति थी तब बालकगण मुनियोके पास रहकर विद्याध्ययन करते थे। कोई तो मुनिवेषमे अध्ययन करते थे, कोई ब्रह्मचारी वेषमे ही अध्ययन करते थे, कोई साधारण वेषमे अध्ययन करते थे। स्नातक होनेके अनन्तर कोई तो गृहस्थावस्थाको त्यागकर मुनि हो जाते थे, कोई आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, कोई गृहस्थ बनकर ही अपना जीवननिर्वाह करते थे। परन्तु अब तो गृहस्थावस्था छोडकर कोई भी त्याग करना नही चाहता। सतत गृहस्थधर्म मे जन्म गमाते है।

४. निरीहवृत्तिका अभाव—

कल्याणका मार्ग तो निरीहवृत्तिमे है। निरीहता तभी आवे जब पर-पदार्थोसे ममता छूटे। यहाँ तो परको अपना मानना ही ध्येय बना रक्खा है। सारा ससार देखा, जिसने सतोष न पाया उसे सतोष मिलनेका मार्ग [illegible] कठिन है, क्योकि समता हृदयमे नही। समताके [illegible] यह है कि इन पर-पदार्थोमे रागद्वेष कल्पना [illegible]. [illegible] जाओ, जिससे बात करो, केवल फँसानेका [illegible] है। व्यर्थके जल्पवादमे और मानसिक [illegible] [illegible] के अनर्थक व्यापारो द्वारा यह जीवन चला जाता है। कल्याणके लिये न तो विशिष्ट तपकी आवश्यता है और न विशिष्ट ज्ञानकी ही आवश्यकता है। आवश्यकता है तो केवल निरीहवृत्ति की। निरीहवृत्ति उसीकी हो सकती है जो इन परपदार्थो को अपनाना त्याग देवे।

५. परमें निजकी मान्यता—

परको निज मानना ही अनर्थकी जड़ है। जैसे कोई रज्जुमे सर्प मान लेवे तब सिवाय भयके और क्या लाभ ? परकी परिणति कभी आपरूप नही होती। ससारमे जितने पदार्थ है वह चाहे चेतन हो, चाहे अचेतन हो। चेतन पदार्थ चेतनद्रव्य और चेतन गुणोमे व्याप्त होकर रहेगे। अचेतन पदार्थ अचेतनद्रव्य और तन गुणोमे व्याप्त होकर स्वभावसे रहेगे। जैसे कुम्भकारके द्वारा घट बनाया जाता है किन्तु न तो घटमे कुम्भकारका द्रव्य जाता है और न गुण जाता है क्योकि वस्तुकी मर्यादा अनादिनिधन है, इसका परिवर्तन नही हो सकता। द्रव्यान्तरके सकमण बिना एक पदार्थ अन्यका परिणमन करने वाला नहीं हो सकता। इसी तरह पुद्गलमय [illegible] ज्ञानवरणादि कर्म है उनमे न तो जीवका द्रव्य है और न गुण है, क्योकि द्रव्यान्तर-सक्रमण वस्तुओ [illegible] से ही निषिद्ध है। अत: परमार्थसे आत्मा [illegible] का कर्त्ता नही, फिर भी ऐसा निमित्त[illegible] अनादि से चला आ रहा है [illegible] रागादिरूप परिणमता है [illegible] कार्मणरूप आत्माके [illegible] है वह ज्ञानावरणादि [illegible] हो जाती हैं। जो [illegible] कारण हैं, [illegible] कालान्तरमे उदयमें आकर [illegible] निमित्तकारण हो जाते हैं। [illegible] के फलस्वरूप [illegible] है। [illegible]

परिणाम होते है,इनका कोई न कोई कारण होना चाहिये। वह क्या है ? सो दीखता नही । किन्तु ऐसा नियम है जो कार्य होता है वह उपादान और निमित्तसे होता है । उपादान तो हम ही है, निमित्त कारण जो है वे रागादि उत्पादक कोई होना चाहिये, स्त्री आदि तो नियामक नही ।

६. आत्मज्ञानका अभाव––

जबतक मोह रहता है तबतक तो आत्मदृष्टिका उदय ही नही, अपने अस्तित्वहीका परिचय नही, काहेकी शान्ति ? यह जीव अनादिकालसे अपनेको नही जानता, क्योकि जो अपनी सत्ता है वह यद्यपि प्रतिसमय ज्ञानमे आती है परन्तु उस ओर लक्ष्य नही । जब भूख लगती है, प्यास सताती है, शीघ्र ही हमे बोध होता है कि हम भूखे है, प्यासे है । यही बोध तो हमारा परिचायक है । इससे अधिक ज्ञान आत्माका और कौन करा देगा ? परन्तु हम उस ओर दृष्टि नही देते; क्योकि यह प्रक्रिया प्रतिदिन की है । यही परिचय अवज्ञा का कारण हो जाता है । आत्माका परिचय प्राणिमात्रको है परन्तु उस ओर लक्ष्य नही । आत्मज्ञान न हो तो कुछ भी कार्य नही हो सकता । आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये जो चार सज्ञाएँ जिसके होती है वही तो आत्मा है । यद्यपि आत्मा अमूर्त पदार्थ है । मूर्त पदार्थका परसे सम्बन्ध नही हो सकता । परन्तु अनादिकालसे इस जीवके मोहका सम्बन्ध है, इससे परको निज मानता है । जब परको निज माना तब परकी रक्षाके अर्थ नाना प्रकारके प्रयास करने पडते है । शरीर जिन पुद्गल द्रव्योसे बना है, उनकी जब त्रुटि होने लगती है तब यह जीव उनकी पूर्तिका प्रयास करता है । उसी तरह जब क्रोधादि कषायोका उदय होता है तब किसीके अनिष्ट करनेका भाव होता है । किसीसे अपनी प्रशसा चाहता है । किसी पदार्थको इष्ट मान ग्रहण करना चाहता है । मायाचारीके वशीभूत होकर अन्यथा परिणमन करता है । इसी तरह जब हास्यादि कषायका उदय होता है, तब हास्यादि रूप परिणमन करता है । इसी तरह इस जीव की नाना दशा होती है । यह सब जजाल परको निज मानने मे है । जिस कालमे यह परको पर, आपको आप, मानकर केवल ज्ञाता दृष्टा बना रहे अनायास यह सब परिणमन शान्त हो जावेगा ।

७. परसम्पर्क—

दो पदार्थोंका सम्पर्क जबतक है तबतक यह दुरवस्था है । जहाँ सम्बन्ध छूटा कि सब गया । जितना अधिक जनसम्पर्क होगा उतना ही ससारबन्धन वृद्धिको प्राप्त होगा । जितने मनुष्य मिलते है अपनी रामकथाको अलापकर चक्रमे डालनेकी चेष्टा करते है । परन्तु आवश्यक यह है कि निज उपयोगको स्वच्छ रक्खो । उपयोगका स्वभाव है कि जो पदार्थ उसमे आवेगा जता देवेगा । प्रथम तो इन्द्रियजन्य ही तुम्हारे ज्ञान है । इसके द्वारा रूप-रस-गन्ध-स्पर्श ही तो तुम्हारे ज्ञानके विषय है । इससे अधिक इन्द्रियज्ञानकी शक्ति नही । तुम निज कषायके अनुसार किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट होनेकी कल्पना करते हो । इष्टके सग्रह और अनिष्टके त्यागमे प्रयत्नशील रहते हो । इसमे भी कोई नियम नही कि इष्ट पदार्थ सर्वदा इष्ट रहे । जो वस्तु पहिले इष्ट है वही वस्तु कालान्तरमे अनिष्ट लगती देखी जाती है । शीतस्पर्श शिशिर ऋतुमे इष्ट नही और वही शीतल स्पर्श ग्रीष्म कालमे इष्ट देखा जाता है । जो ऊनी वस्त्र शीतकालमे सुखद देखा जाता है वही वस्त्र गर्मीके दिनोमे असुखद देखा जाता है । जो रस शीतकालमे इष्ट होता है वही गर्मीके दिनोमे अनिष्ट देखा जाता है । जो गाली अपने ग्राममे अनिष्ट होती है वही गाली ससुरालमे इष्ट मालूम होती है । अत. उचित है कि परका सम्पर्क त्यागे।

—**वर्णी-वाणी : ३ / २५४-२६०**

✲

वर्णी जयन्ती

स्तुति का अर्थ थोडी चीजको बहुत बढाकर वर्णन कर देना, जिसका कोई पारावार नही। थोडी-सी बातको बहुत कहना, तो इसमे रज करनेकी बात ही क्या है, पर मोह तो ऐसी चीज है कि वो रज करा ही देता है। मुख्तार सा० ने कहा कि प्रशसा सुनकर हम नीचे-नीचे हो जाते है तो विचार करके यह भी मनमे आता है कि अरे ये लोग भी कैसे है कि हम तो कुछ हैई नही और ये लोग बना-बनाके कहते है। पर अच्छी बात है। देखा जाय तो हमारा देश तो भारतवर्ष है भैया। इतना बड़ा देश है भैया कि पत्थरमे कल्पना करके ये मोक्षमार्ग निकाल लेते है। देख लो, भगवान् पार्श्वनाथको, मोक्षको जाने वाले मगध, उनकी स्थापना करके और मोक्षमार्गमे चल रहे नही अपन लोग ? विष्णु भगवानकी पत्थरकी प्रतिमामे आरोपण करके अपना कल्याण कर लेते हैं। अगर हममे जो गुणोका आरोपण कर लेवे तो इनकी मनकी बात है, हम मना करने वाले कौन ?

हमारी बात मानो तो जितने है सभी बडे है सबकी आत्माके अन्दर वह ज्ञानकी ताकत सब बाते सबके अन्दर विद्यमान है। हम उनका अनुभव न करे, यह बात दूसरी है। अगर उसकी तरफ दृष्टिपात कर देवे, तो हम कल्याणके पात्र हो जावे।

विश्व क्या है—

मोहकी महिमा है कि यह संसार चल रहा है। अगर मोह चला गया तो 'मम इदम्, अहमस्यम्' अज्ञान करके मोहित नही होगे। अज्ञानमे 'हम इसके, ये हमारा, हम इसके पहले थे, अब ये हमारा होगा, इस प्रकार अज्ञान-बुद्धिसे ससारमे भ्रमण कब तक होगा कि

"कम्मे णोकमम्मि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥"

जबतक कर्म—नोकर्ममे हम है और हमारेमे कर्म नोकर्म है तबतक यह अज्ञान है, तब तक ससार है। यथा एक घट होता है, पुद्गलका परिणाम है। यथा घटादिषु पुद्गलपर्यायेषु सो .... अहम्। ये शरीरमे रागादिक हुए, ये और हमारा यह भ्रम कि हममे ये नोकर्म आदि है इनमे हम है तभी तक हम अज्ञानी है।

दैवयोगसे किन्ही ज्ञानी गुरुओका समागम मिल जाय, अज्ञान मिट जाय, तो यथा दर्पणे . ज्वालाग्नि." दुनिया जानती है, दर्पणमे अग्नि प्रतिभासित होती है, अग्निकी ज्वाला दर्पणमे भासमान होती है तो उसकी उष्णता और ज्वाला दर्पणमे नही। यहाँ सिगडी रखी है, उसका प्रतिबिम्ब दर्पणमे पडता है पर यदि किसी स्त्रीसे दाल बनानेको कहा जाय तो बटलोई दर्पण पर रखेगी कि सिगडीकी आगपर, तो उसे भी इसका ज्ञान होता है, इसलिए पुद्गलकर्मसे भिन्न अरूपी जो आत्मा है उसमे जानपना है, ज्ञातृपना है उसमे कर्म और नोकर्म नही है। आप हमारे ज्ञानमे आ गए एतावता इसका अर्थ नही कि आप हममे आ गए। आपका एक अश भी हमारे ज्ञानमे नही आया। जब अंश भी हमारे ज्ञानमे नही आया तो आपसे स्नेह क्या करे कैसे, करे।

पुद्गलके रूप, रस, गन्ध, वर्णका अंशमात्र भी हमारे ज्ञानमे नही है। अगर हमारी कोई भी बात उनमें होती तो स्नेह करते।

तो जब तक हम इन पर पदार्थोंको अपना रहे है तब

तक हमारे अनन्त ससारमे कोई शक नही। हम व्याख्यान क्या करे, पर हमारी समझमे इन लोगोने (पडित लोगोने) जो व्याख्यान किया कि परके लिए अपना समय छोड दो। अरे समय छोड दे तो व्याख्यान क्या दे। इससे मालूम होता है कि मोह ही तो व्याख्यान दिला रहा है। पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्रव्याकरण और समाधिशतक बनाया तो वो पूज्यपाद स्वामी कहते है—उन्मत्त-चेष्टितम् .. ये जो हमारी उन्मत्त चेष्टा है सो उन्मत्तो की कहे चाहे पागलोकी कहे, पागल कहे तो उल्लू कहावे सो उन्मत्त ही हम कहते हे। गुरु का नाम भी भगवानने प्रमत्त रखा है। गुरु-शिष्यका व्यवहार ही जब प्रमत्तो की चेष्टा है तो महाराज आप क्यो लिख रहे? तो इससे मालूम होता है कि सब मोहकी चेष्टा है। मोह महा बुरी चीज है। मगर एक मोह ऐसा होता है कि ससारमे डुबो देता है और एक मोह ऐसा होता हे कि ससारसे उद्धार कर देता हे। प्रात. के सूर्योदयमे गगनमे लालिमा होती है सायकालीन सूर्योदयमे भी लालिमा होती है पर एक लालिमासे सूर्यका प्रकाश फैलने वाला हे और उस शामकी लालिमासे प्रकाशका नाश होने वाला हे। तो इसी प्रकार वह जो मोह हैं ससारी उपादानोका, वह सायंकालकी लालिमाकी तरह उत्तरकालमे अधकारका कारण है और वह जो राग हे धर्मशास्त्रो आदिका, वह उत्तरकालमे प्राचीकी लालिमा की तरह प्रकाशका कारण हे। जो वह शुभ राग जो है वह उत्तरकालमे उन प्राणियोके संसारसे छूटनेका कारण और उनके लिए भी उत्तरकालमे कर्मनाशका कारण हुआ। हम तो ये समझते है कि सम्यग्ज्ञानियोकी जो चेष्टा है सो सारी चेष्टा मोह रागको निकालनेकी चेष्टा होती है।

हम आचार्योकी बात क्या कहे, हम तो आप लोगोकी बात कहते है कि आप लोगोके कौन मोह है। यदि आपके सम्यग्दर्शन है तो स्त्रियोका भी मोह, बच्चो का मोह और ससारका मोह यह आपके ससारका नाशका कारण है।

किसी मनुष्यको जब ज्वर[१] आता है तो उसे चिरायता पीना पडता है तो क्या वह इस शौकसे पीता है कि फिर ऐसा ज्वर आवे और चिरायता पीना पडे। सम्यग्दृष्टि भोग को चिरायता समझता है। विषयसेवन से दुख होता है, पर क्या करे उसे फिर पीनेकी आशा क्यो करेगा।

हमे तो विश्वास है कि सम्यग्दृष्टि विषयको भोगकर उसे चिरायता जैसा उपचार मानता है इसलिए मुनिपद यदि मोक्षमार्ग है तो हम भी मोक्षमार्गी है। उनके सज्वलन है तो हमारे अप्रत्याख्यानावरण का योग है। उनके हजारो शिष्य हो जाते है तो हमारे ४—ही ६ लडके होते है। पचास कुटुम्बी है। ४—४ हजार शिष्योके रहते जब वो मोही नही होते तो हम ४ के रहते कैसे मोही होवें, जैसा चदावाईने कहा था कि 'बद्धा ये किल केचिन'।

भेदविज्ञान जिन्हे मिल गया वे तिर गए और जो डूबे वो भेदविज्ञानके अभावमे डूबे।

ससारके प्रकरणमे आचार्य कहते हे कि हम क्यो डूबे। ससारके अन्दर विचार करो तो दो प्रकारका योग होता है, एक शुभ, एक अशुभ। उसका मूल कारण राग-द्वेष है। हमारी आत्मा जो राग-द्वेषके कारण उत्पन्न हुए रागमे विद्यमान हे हमी तो उसको ले जाने वाले हे। हमी भिन्न कर सकते ह। अपनी आत्माको अपने आत्माके द्वारा रोककर अपनी आत्मामे लगाकर पर द्रव्यमेसे इच्छाको हटा ले तो परद्रव्य का समागम छूट जाय। खातावही नकली तो वह बनावे जिसके व्यापार होता हो, किन्तु धधा ही जो न करे तो वह खातावही क्या बनावे।

तब जब सगरहित हो गया तो आत्माकी चीजका आत्माके द्वारा ध्यान करता हुआ शुद्ध ज्ञान दर्शन मय आत्माको प्राप्त करता है। मोक्षमार्गको प्राप्त होता है। आप लोग जो इधर आए हो सो इतनी बात मानना कि और कुछ छोडो, चाहे न छोडो मोह छोड जाओ। बस यही कल्याण का मार्ग है।

—वर्णी वाणी ३/ २३१-२३५

✲

१

प्रज्ञा

आत्मा मोहोदय के कारण पर-पदार्थों मे आत्मबुद्धि कर दुखी हो रहा है। एक प्रज्ञा ही ऐसी प्रबल छैनी है कि जिसके पडते ही बन्ध और आत्मा जुदे-जुदे हो जाते हैं। आत्मा और अनात्मा का ज्ञान कराना प्रज्ञा के अधीन है। जब आत्मा और अनात्मा का ज्ञान होगा तब ही तो मोक्ष हो सकेगा, परन्तु इस प्रज्ञा-रूपी छैनी का प्रयोग बडी सावधानी से करना चाहिये। बुद्धि मे निज का अश छूटकर पर मे न मिल जाय और पर का अश निज मे न रह जाय यही सावधानी का मतलब है।

धन-धान्यादि जुदे हैं, स्त्री पुत्रादि जुदे है, शरीर जुदा है, रागादि भावकर्म जुदे है, द्रव्यकर्म जुदे है, मतिज्ञानादिक क्षायोपशमिक ज्ञान जुदे है। यहाँ तक कि ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होने वाले ज्ञेय के आकार भी जुदे है। इस प्रकार स्वलक्षण के बल से भेद करते करते अन्त मे जो शुद्ध चैतन्य भाव बाकी रह जाता है वही निज का अश है, वही उपादेय है। उसी मे स्थिर हो जाना मोक्ष है। प्रज्ञा के द्वारा जिसका ग्रहण होता है वही चैतन्य रूप 'मै' हू। इसके सिवाय अन्य जितने भाव है निश्चय से वे पर-द्रव्य है-पर-पदार्थ है। प्रज्ञा के द्वारा जाना जाता है कि आत्मा ज्ञाता है, द्रष्टा है। वास्तव मे ज्ञाता द्रष्टा होना ही आत्मा का स्वभाव है पर इसके साथ जो मोह की पुट लग जाती है वही समस्त दु खो का मूल है। अन्य कर्म के उदय से तो आत्मा का गुण रुक जाता है पर मोह का उदय इसे विपरीत परिणमा देता है। अभी केवलज्ञानावरण का उदय है। उसके फलस्वरूप केवल-ज्ञान प्रकट नही हो रहा है, परन्तु मिथ्यात्व के उदय से आत्मा का आस्तिक्य गुण अन्यथा-रूप परिणम रहा है। आत्मा का गुण रुक जाय इसमे हानि नही, पर मिथ्यारूप हो जाने मे महती हानि है। एक आदमी को पश्चिम की ओर जाना था, कुछ दूर चलने पर उसे दिशा-भ्रान्ति हो गई। वह पूर्व को पश्चिम समझकर चलता जा रहा है, उसके चलने मे बाधा नही आई, पर ज्यो ज्यो चलता जाता है त्यो त्यो अपने लक्ष्य से दूर होता जाता है। दूसरे आदमी को दिशा-भ्रान्ति तो नही हुई पर पैर मे लकवा मार गया इससे चलते नही बनता। वह अचल होकर एक स्थान पर बैठा रहता है, पर अपने लक्ष्य का बोध होने से वह उससे दूर तो नही हुआ, कालान्तर मे ठीक होने से शीघ्र ही ठिकाने पर पहुँच जावेगा।

एक को आँख मे कामला रोग हो गया जिससे उसका देखना बन्द तो नही हुआ, देखता है; पर सभी वस्तुएँ पीली पीली दिखती है। उससे वर्ण का वास्तविक बोध नही हो पाता। एक आदमी परदेश गया, वहाँ उसे कामला रोग हो गया। घर पर स्त्री थी, उसका रङ्ग काला था। जब वह परदेश से लौटा और घर आया तो उसे स्त्री पीली दिखी। उसने उसे भगा दिया। कहा कि मेरी स्त्री तो काली थी, तू यहाँ कहाँ से आई? वह कामला रोग होने से अपनी ही स्त्री को पराई समझने लगा। इसी प्रकार मोह के उदय मे यह जीव कभी कभी अपनी चीज को पराई समझने लगता है और कभी कभी पराई को अपनी। यही विभ्रम ससार का कारण है, इसलिये ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे पाप का बाप यह मोह, आत्मा से निकल जाय। हिंसादि पाँच पाप है अवश्य, पर वे मोह के समान अहितकर नही है। पाप का बाप यही मोह-कर्म है। यही दुनियाँ को नाच नचाता है। मोह दूर हो जाय और आत्मा

के परिणाम निर्मल हो जाँय तो ससार से आज छुट्टी मिल जाय। पर हो तब न। सस्कार तो अनादिकाल से इस जाति के बना रक्खे है कि जिससे उसका छूटना कठिन दिखने लगता है।

ज्ञान के भीतर जो अनेक विकल्प उठते है उसका कारण मोह ही है। किसी व्यक्ति को आपने देखा, यदि आपके हृदय मे उसके प्रति मोह नही है तो कुछ भी विकल्प उठने का नही। आपको उसका ज्ञान भर हो जायगा, पर जिसके हृदय मे उसके प्रति मोह है उसके हृदय मे अनेक विकल्प उठते है। यह विद्वान् है,यह अमुक कार्य करता है, इसने अभी भोजन किया है या नही ? आदि। बिना मोह के कौन पूछने चला कि इसने अभी खाया है या नही ? मोह के निमित्त से ही आत्मा मे एक पदार्थ को जानकर दूसरा पदार्थ जानने की इच्छा होती है। जिसके मोह निकल जाता है उसे एक आत्मा ही आत्मा का बोध होने लगता है। उसकी दृष्टि बाह्य ज्ञेय की ओर जाती नही है। ऐसी दशा मे आत्मा, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिये, आत्मा से आत्मा मे ही जानने लगता है। एक आत्मा ही षट्कारक रूप हो जाता है। सीधी बात यह है कि उसके सामने से कर्ता, कर्म, करण आदि का विकल्प हट जाता है।

चेतना यद्यपि एक-रूप है फिर भी वह सामान्य विशेष के भेद से दर्शन और ज्ञान रूप हो जाती है। जबकि सामान्य और विशेष, पदार्थ मात्र का स्वरूप है, तब चेतना उसका त्याग कैसे कर सकती है ? यदि वह उसे भी छोड दे तब तो अपना अस्तित्व भी खो बैठे और इस रूप मे वह जडरूप होकर आत्मा का भी अन्त कर दे सकती है, इसलिये चेतना का द्विविध परिणाम होता ही है। हाँ, चेतना के अतिरिक्त अन्य भाव आत्मा के नही है। इसका यह अर्थ नही समझने लगना कि आत्मा मे सुख, वीर्य आदि गुण नही है। उसमे तो अनन्त गुण विद्यमान हैं और हमेशा रहेगे, परन्तु अपना और उन सबका परिचायक होने से मुख्यता चेतना को ही दी जाती। जिस प्रकार पुद्‌गल मे रूप रसादि गुण अपनी अपनी सत्ता लिये हुये विद्यमान रहते है उसी प्रकार आत्मा मे भी ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुण अपनी अपनी सत्ता लिए हुये विद्यमान रहते है। इस प्रकार चेतनातिरिक्त पदार्थों को पर-रूप जानता हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान है जो कहे कि ये मेरे है। शुद्ध आत्मा को जानने वाले के ये भाव तो कदापि नही हो सकते।

जो चोरी आदि अपराध करता है वह शकित होकर घूमता है। उसे हमेशा शङ्का रहती है कि कोई मुझे चोर जानकर बाँध न ले, पर जो अपराध नही करता है वह सर्वत्र नि शङ्क होकर घूमता है। 'मै बाँधा न जाऊँ' इस प्रकार की चिन्ता ही उसे उत्पन्न नही होती। इसी प्रकार जो आत्मा परभावो को ग्रहण कर चोर बनता है वह हमेशा शङ्कित ही रहेगा और ससार के बधन मे बँधेगा। सिद्धि का न होना अपराध है। अपराधी मनुष्य सदा शङ्कित रहता है, अत यदि निरपराधी बनना है तो आत्मा की सिद्धि करो। आत्मा से परभावो को जुदा करो। अमृतचद्र स्वामी कहते हैं कि मोक्षार्थी पुरुषो को सदा इस सिद्धान्त की सेवा करना चाहिये कि मैं शुद्ध चैतन्य ज्योति-रूप हूँ और जो ये अनेक भाव प्रतिक्षण उल्लसित होते है वे सब मेरे नही है, स्पष्ट ही पर द्रव्य है।

—समयसार मोक्षाधिकार के प्रवचन का अश।

इस काल मे ज्ञानार्जन ही आत्मगुण का पोषक है। यदि ज्ञान के सद्‌भाव मे मोह का उपशमन नही हुआ तब उस ज्ञान की कोई प्रतिष्ठा नही, जीवन बिना शरीर के तुल्य है, हम तो उसी को उत्तम समझते हैं जो ससारदु ख से भीरु है। यदि बहुत कायक्लेश कर शरीर को कृश किया और मोहादि को कृश न किया, तब व्यर्थ ही प्रयास किया। अतएव अपना समय ज्ञानार्जन मे लगाकर मोह कृश करने का ध्येय रखना ही मानव का कर्त्तव्य है।

—वर्णी अध्यात्म-पत्रावली।

२

रक्षा–बन्धन

यह पर्व सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अङ्ग का महत्त्व दिखलाने वाला है। सम्यग्दृष्टि का स्नेह धर्म से होता है और धर्म बिना धर्मी के रह नही सकता, इसलिये धर्मी के साथ उसका स्नेह होता है। जिस प्रकार गौ का बछडे के साथ जो स्नेह होता है उसमे गौ को बछडे की ओर से होने वाले प्रत्युपकार की गन्ध भी नही होती उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा से स्नेह करता है तो उसके बदले वह उससे किसी प्रत्युपकार की आकाक्षा नही करता। कोई माता अपने शिशु से स्नेह इसलिये करती है कि यह वृद्धावस्था मे हमारी रक्षा करेगा, पर गौ को ऐसी कोई इच्छा नही रहती क्योकि बडा होने पर बछडा कही जाता है और गौ कही। फिर भी गौ बछडे की रक्षा के लिये अपने प्राणो की बाजी भी लगा देती है। सम्यग्दृष्टि यदि किसी का उपकार करे और उसके बदले उससे कुछ इच्छा रक्खे तो यह एक प्रकार का विनिमय हो गया। इसमे धर्म का अश कहा रहा ? धर्म का अश तो निस्पृह होकर सेवा करने का भाव है। विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियो की रक्षा करने के लिये अपने आपको एकदम समर्पित कर दिया—अपनी वर्षों की तपश्चर्या पर ध्यान नही दिया और धर्मानुराग से प्रेरित हो, छल से वामन का रूप धर बालि का अभिमान चूर किया। यद्यपि पीछे चलकर इन्होने भी अपने गुरु के पास जाकर छेदोपस्थापना की, अर्थात् फिर से नवीन दीक्षा धारण की, क्योकि उन्होने जो कार्य किया था वह मुनिपद के योग्य नही था तथापि सहधर्मी मुनियो की उन्होने उपेक्षा नही की। किसी सहधर्मी भाई को भोजन वस्त्रादि की कमी हो तो उसकी पूर्ति हो जाय ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। यह लौकिक स्नेह है। सम्यग्दृष्टि का पारमार्थिक स्नेह इससे भिन्न रहता है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य हमेशा इस बात का विचार रखता है कि यह हमारा सहधर्मी भाई सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र रूप जो आत्मा का धर्म है उससे कभी च्युत न हो जाय, तथा अनन्त ससार के भ्रमण का पात्र न बन जाय। दूसरे के विषय मे ही यह चिन्ता करता हो सो बात नही, अपने आपके प्रति भी यही भाव रखता है। सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित आदि आठ अग जिस प्रकार पर के विषय मे होते है उसी प्रकार स्व के विषय मे भी होते हैं। रक्षाबधन रक्षा का पर्व है, पर की रक्षा वही कर सकता है जो स्वयं रक्षित हो। जो स्वय आत्मा की रक्षा करने मे असमर्थ है वह क्या पर का कल्याण कर सकता है ? रक्षा से तात्पर्य आत्मा को पाप से पृथक् करो, पाप ही ससार की जड है। जिसने इसे दूर कर दिया उसके समान भाग्यशाली और कौन है ?

आज जैन समाज से वात्सल्य अङ्ग का महत्त्व कम होता जा रहा है। अपने स्वार्थ के समक्ष आज का मनुष्य किसी के हानि लाभ को नही देखता। हम और हमारे बच्चे आनन्द से रहे, परन्तु पडौस की झोपडी मे क्या हो रहा है इसका पता लोगो को नही। महल मे रहने वालो को पास मे बनी झोपडियो की भी रक्षा करनी होती है अन्यथा उनमे लगी आग उनके महल को भी भस्मसात् कर देती है। एक समय तो वह था कि जब मनुष्य बड़े

की शरण मे रहना चाहते थे। उनका ख्याल रहता था कि बडो के आश्रय मे रहने से हमारी रक्षा रहेगी, पर आज का मनुष्य बडो के आश्रय से दूर रहने की चेष्टा करता है, क्योकि उसका ख्याल बन गया है कि जिस प्रकार एक बडा वृक्ष अपनी छाह मे दूसरे छोटे पौवे को नही पनपने देता है, उसी प्रकार बडा आदमी समीपवर्ती—शरणागत अन्य मनुष्यो को नही पनपने देता। अस्तु रक्षाबन्धन पर्व हमे सदा यही शिक्षा देता है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिन.' अर्थात् सब सुखी रहे।

—श्रावण शुक्ला पूर्णिमा संवत् २००७, इटावा

समय के सदुपयोग से ही समय की प्राप्ति होती है। आज तक इस जीव ने स्व-समय की प्राप्ति के लिये पर-समय का आलम्बन लेकर ही प्रयत्न किया। प्रयत्न वह सफलीभूत होता है जो यथार्थ हो। आत्मतत्त्व की यथार्थता इसी मे है कि जो उसमे नैमित्तिक-भाव होते हैं उन्हे सर्वथा निज न मान ले। जैसे मोहज भाव रागादिक है वे आत्मा ही के अस्तित्व मे होते हैं परन्तु विकारी है, अत त्याज्य है, जैसे जल अग्नि का निमित्त प्राप्तकर उष्ण होता है। और वर्तमान मे उष्ण ही है। अत उष्णता त्याज्य ही है। क्योकि उसके स्वरूप की विघातक है, तथा रागादिक परिणाम आत्मा के चरित्र गुण का ही विकार-परिणमन है परन्तु आत्मा का जो दृष्टा-ज्ञाता स्वरूप है, उसके घातक है, अत. त्याज्य हैं, जिस समय रागादिक होते है उस काल मे ज्ञान केवल जानना क्रिया नही करता साथ मे इष्टानिष्ट की भी कल्पना जानन क्रिया मे अनुभव करने लगता है। यद्यपि जानन-क्रिया मे इष्टानिष्ट कल्पना तद्रूपा नही हो जाती है, फिर भी अज्ञान से वैसा भासने लगता है। जैसे रस्सी मे सर्प का बोध होने से रस्सी सर्प नही हो जाती, ज्ञान ही मे सर्प भासता है। परन्तु उस काल मे भय का होना अनिवार्य हो जाता है। जाग्रत की कथा तो दूर रहो स्वाप्निक दशा मे भी कल्पित पदार्थो को हम अपना मानकर रागद्वेष के दश से नही बच सकते हैं। कुछ नही। इसी तरह इस मिथ्याभाव के सहकार से जो हमारी दशा होती है वह कैसी भयानक दु ख करने वाली है? इसका अनुभव हमे प्रतिक्षण होता है। फिर भी तो चेतते नही।

—वर्णी अध्यात्म-पत्रावली—४४।

३

अशान्ति

ससार के चक्र मे जीव उलझ रहा है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन सज्ञाओ के अधीन होकर आत्मीय स्वरूप से अपरिचित रहता है। आत्मा मे ज्ञायक-शक्ति है जिससे वह स्वपर को जानता है परन्तु अनादिकाल से मोह-मद का ऐसा प्रभाव है कि आपापर की ज्ञप्ति से वञ्चित हो रहा है। ससार एक अशान्ति का भण्डार है। इसमे शान्ति का अत्यन्त अनादर है। वास्तव मे अशान्ति का अभाव ही शान्ति का उत्पादक है। अशान्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् व्याकुल है। अशान्ति का वाच्यार्थ अनेक प्रकार की इच्छाये है। ये ही हमारे शान्त स्वरूप मे बाधक है। जब हम किसी विषय की अभिलाषा करते है तब आकुलित हो जाते है। जब तक इच्छित विषय का लाभ न हो तब तक दुखी रहते है। अन्तरङ्ग से यदि यह बात उत्पन्न हो जाय कि प्रत्येक द्रव्य स्व मे परिपूर्ण है उसे पर पदार्थ की आवश्यकता नही—जब तक परपदार्थ की आवश्यकता अनुभव मे आती है तब तक इसे स्वद्रव्य की पूर्णता मे विश्वास नही—तो परकी आकाक्षा मिट जाय और परकी आकाक्षा मिटी कि अशान्ति ने कूच किया। जो मनुष्य शान्ति चाहते है वे परजनो के ससर्ग से सुरक्षित रहे। पर के संसर्ग से बुद्धि मे विकार आता है और विकार से चित्त मे आकुलता होती है। जहाँ आकुलता है वहाँ शान्ति नही, शान्ति बिना सुख नही और सुख के अर्थ ही सर्व प्रयास मनुष्य करता है। अनादि से हमारी मान्यता इतनी दूषित है कि निज को जानना ही असम्भव है। जैसे खिचडी खाने वाला मनुष्य केवल चावल का स्वाद नही बता सकता, वैसे ही मोही जीव शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वाद नही बता सकता। मोह के उदय मे जो ज्ञान होता है उसमे परज्ञेय को निज मानने की मुख्यता रहती है। यद्यपि पर निज नही परन्तु क्या किया जावे। जो निर्मल दृष्टि है वह मोह के सम्बन्ध से इतनी मलिन हो गई है कि निज की ओर जाती ही नही। इसी के सद्भाव मे जीव की यह दशा हो रही है। उन्मत्तक (धतूरा) पान करने वाले की तरह अन्यथा प्रवृत्ति करता है, अतः इस चक्र से बचने के अर्थ पर से ममता त्यागो। केवल वचनो के व्यवहार करने से ही सतोष मत कर लो। जो मोह के साधक है, उन्हे त्यागो। जैसे पञ्चेन्द्रियो के विषय त्यागने से ही मनुष्य इन्द्रिय-विजयी होगा, कथा करने से कुछ तत्त्व नही निकलता। बात असल मे यह है कि हमारे इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है, इस ज्ञान मे जो पदार्थ भासमान होगा उसी ओर तो हमारा लक्ष्य जावेगा, उसी की सिद्धि के अर्थ तो हम प्रयास करेगे, चाहे वह अनर्थ की जड क्यो न हो। अनर्थ की जड बाह्य वस्तु नही, वह तो अध्यवसान मे विषय पडती है अतएव बाह्य वस्तु बन्ध का जनक नही। श्री कुन्दकुन्द देव ने लिखा है—

वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाण।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बधोत्थि ॥

पदार्थ को निमित्त पाकर जो अध्यवसान भाव जीवो को होता है वही बन्ध का कारण है। पदार्थ बन्ध का कारण नही है।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि ऐसा सिद्धान्त है तो बाह्य वस्तु का त्याग क्यो कराया जाता है? तो उसका उत्तर यही है कि अध्यवसान न होने के अर्थ ही कराया जाता है। यदि बाह्य पदार्थ के आश्रय बिना अध्यवसान भाव होने लगे तो जैसे यह अध्यवसान भाव होता है कि मै

रण मे वीरसू माता के पुत्र को मारूँगा, वहाँ यह भी अध्यवसान भाव होने लगे कि मैं वन्ध्यापुत्र को प्राणरहित करूँगा, परन्तु नही होता क्योकि मारणक्रिया का आश्रयभूत बन्ध्यासुत नही है। अत जिन्हे बन्ध न करना हो वे बाह्य वस्तु का परित्याग कर देवे। परमार्थ से अन्तरङ्ग मूर्छा का त्याग ही बन्ध की निवृत्ति का कारण है। मिथ्या विकल्पो को त्याग कर यथार्थ वस्तुस्वरूप के निर्णय मे अपने को तन्मय करो अन्यथा इसी भवचक्र के पात्र रहोगे। तुम विश्व से भिन्न हो, फिर भी विश्व को अपनाते हो इसमे मूलजड मोह है। जिनके वह नही, वह मुनि हैं। ये अध्यवसान आदि भाव जिनके नही वे ही महामुनि है। वे ही शुभ अशुभ कर्म से लिप्त नही होते।

जिस जीव को यह निश्चय हो गया कि मैं पर से भिन्न हूँ वह कदापि परके सयोग मे प्रसन्न और विषादी नही हो सकता। प्रसन्नता और अप्रसन्नता मोहमूलक हैं। मोह ही एक ऐसा महान शत्रु इस जीव का है कि जिसकी उपमा नही की जा सकती, उसी के प्रभाव से चौरासी लाख योनियो मे जीव का भ्रमण हो रहा है, अत जिन्हे यह भ्रमण इष्ट नही, उन्हे उसका त्याग करना चाहिये।

खेद करो मत आतमा, खेद पाप का मूल।
खेद किये कुछ ना मिलै, खेद करहु निर्मूल ॥

खेद पाप की जड है अत हे आत्मन्! खेद करना श्रेयस्कर नही किन्तु खेद के जो कारण है उनसे निवृत्ति पाना श्रेयस्कर है। मैं अनादिकाल से ससार मे भटक कर दुखी हो रहा हूँ ऐसा विचार कर कोई खेद करने बैठ जाय तो क्या वह दु ख से छूट जायगा ? नही दु ख से तो तभी छूटेगा जब ससार-भ्रमण के कारण मोह-भाव से जुदा होगा।

इस प्राणी को मोहोदय मे शान्ति नही आती, और यह उपाय भी मोह के दूर होने के नही करता। केवल बाह्य कारणो मे निरन्तर शुभोपयोग के संग्रह करने मे अपने समय का उपयोग कर अपने को मोक्षमार्गी मान लेता है। जो पदार्थ है चाहे शुद्ध हो, चाहे अशुद्ध हो, उनसे हित और अहित की कल्पना करना सुसगत नही। कुम्भकार मृत्तिका द्वारा कलश-पर्याय की उत्पत्ति मे निमित्त होता है। एतावता कलशरूप नही हो जाता। यहाँ पर कुम्भकार का जो दृष्टान्त है सो उसमे तो मोह और योग द्वारा आत्मा की परिणति होती है। अतः वह निमित्त कर्त्ता भी बन सकता है। परन्तु भगवान् अर्हन्त और सिद्ध तो इस प्रकार के भी निमित्त कर्त्ता नही। वह तो आकाशादि की तरह उदासीन हेतु है। उचित तो यह है जितना पुरुषार्थ बने रागादिक के पृथक् करने मे किया जाये। शुभोपयोग सम्यग्ज्ञानी को इष्ट नही। जब शुभोपयोग इष्ट नही तब अशुभोपयोग की कथा तो दूर की रही।"

—वर्णी अध्यात्म पत्रावली—४६।

४

कर्मबन्ध का कारण

"रत्तो बधदि कम्म, मुचदि जीवो विरागसजुत्तो" आदि गाथा से यह सिद्ध है—कि मिथ्यात्व, अज्ञान तथा अविरतरूप जो त्रिविध भाव है यही शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त है, क्योकि यह स्वय अज्ञानादि रूप हैं। यही दिखाते है—

जैसे जब यह अध्यवसान भाव होता है कि 'इद हिनस्मि' मै इसे मारता हूँ तब यह अध्यवसानभाव अज्ञान भाव है क्योकि जो आत्मा सत् है, अहेतुक है तथा ज्ञप्तिरूप एक क्रियावाला है उसका और रागद्वेष के विपाक से जायमान हननादि क्रियाओ का विशेष भेदज्ञान न होने से भिन्न आत्मा का ज्ञान नही होता अत अज्ञान ही रहता है। भिन्न आत्मदर्शन न होने से मिथ्यादर्शन रहता है और भिन्न आत्मा का चारित्र न होने से मिथ्याचारित्र का ही सद्भाव रहता है। इस तरह मोहकर्म के निमित्त से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सद्भाव आत्मा मे है। इन्ही के कारण कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध होता है।

यदि परमार्थ से विचारा जावे तो आत्मा स्वतन्त्र है और यह जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाला पुद्गलद्रव्य है वह स्वतन्त्र है। इन दोनो के परिणमन भी अनादिकाल से स्वतन्त्र है। परन्तु इन दोनो मे जीवद्रव्य चेतनगुण वाला है और उसमे यह शक्ति है कि जो पदार्थ उसके सामने आता है वह उसमे झलकता है—प्रतिभासित होता है। पुद्गल मे भी एक परिणमन इस तरह का है कि जिससे उसमे भी रूपी पदार्थ झलकता है पर मेरे मे यह प्रतिभासित है ऐसा उसे ज्ञान नही। इसके विपरीत आत्मा मे जो पदार्थ प्रतिभासमान होता है, उसे यह भाव होता है कि ये पदार्थ मेरे ज्ञान मे आये। यही आपत्ति का मूल है, क्योकि इस ज्ञान के साथ मे जब मोह का सम्बन्ध रहता है तब यह जीव उन प्रतिभासित पदार्थों को अपनाने का प्रयास करने लगता है। यही कारण अनन्त संसार का होता है।

प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि पर-पदार्थ का एक अश भी ज्ञान मे नही आता फिर न जाने क्यो उसे अपनाता है? यही महती अज्ञानता है। अत जहा तक सभव हो आत्मद्रव्य को आत्मद्रव्य ही रहने दो। उसे अन्य-रूप मे करने का जो प्रयास है वही अनन्त ससार का कारण है। एसा कौन बुद्धिमान होगा? जो परद्रव्य को आत्मीय द्रव्य कहेगा। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका भाव होता है वह उसका स्वधन है। जिसका जो स्व है वह उसका स्वामी है अत. यह निष्कर्ष निकला कि जब अन्य द्रव्य अन्य का स्व नही तब अन्य द्रव्य अन्य का स्वामी कैसे हो सकता है? यही कारण है कि ज्ञानी जीव पर को नही ग्रहण करता। मै भी ज्ञानी हूँ अत मै भी पर को ग्रहण नही करूगा यदि मै परद्रव्य को ग्रहण करू तो यह अजीव मेरा स्व हो जावे और मै अजीव का स्वामी हो जाऊगा। अजीव का स्वामी अजीव ही होगा अतः हमे बलात्कार अजीव होना पडेगा, परन्तु ऐसा नही, मै तो ज्ञाता द्रष्टा हूँ अत. परद्रव्य को ग्रहण नही करूंगा। जब परद्रव्य मेरा नही तब वह छिद जावे, भिद जावे कोई ले जावे अथवा जिस तिस अवस्था को प्राप्त हो, पर मै उसे ग्रहण नही करूगा। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानी, धर्म, अधर्म, अशन, पान आदि को नही चाहता। ज्ञानमय ज्ञायकभाव के सद्भाव से वह धर्म का केवल ज्ञाता द्रष्टा रहता है।

जब ज्ञानी जीव के धर्म का ही परिग्रह नही तब अधर्म का परिग्रह तो सर्वथा असंभव है। इसी तरह से न अशन का परिग्रह है और न पान का परिग्रह है, क्योकि इच्छा परिग्रह है, ज्ञानी जीव के इच्छा का परिग्रह नही। इनको आदि देकर जितने प्रकार के परद्रव्य के भाव हैं तथा परद्रव्य के निमित्त से आत्मा मे जो भाव होते हैं, उन सबको ज्ञानी जीव नही चाहता। इस पद्धति से जिसने सर्व अज्ञान भावो का वमन कर दिया तथा सर्व पदार्थों के आलम्बन को त्याग दिया, केवल टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव का अनुभव करता है, उसके बन्ध नही होता। योग के निमित्त से यद्यपि बन्ध होता है पर वह स्थिति और अनुभाग से रहित होने के कारण अकिंचित्कर है। जिस प्रकार चूना आदि के श्लेष के बिना केवल ईंटो के समुदाय से महल नही बनता उसी प्रकार रागादि परिणाम के बिना केवल मन वचन काय के व्यापार से बन्ध नही होता। अत प्रयत्न कर इन रागादि विकारो के जाल से बचना चाहिये।

मैं शरीरादि से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा लक्षण वाला स्वतन्त्र द्रव्य हूँ। मेरी जीवन मे जो स्पृहा है वही बन्ध का कारण है। अनादिकाल से जीव और पुद्गल का सम्बन्ध हो रहा है, इससे दोनो ही अपने अपने स्वरूप से च्युत हो अन्य अवस्था को धारण कर रहे है।

हेयोपादेय तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान आगम के अभ्यास से होता है परन्तु हम लोग उस ओर से विमुख हो रहे हैं। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने तो यहा तक लिखा है कि—

आगमचक्खू साहू, इदियचक्खू य सव्वभूदाणि ।
देवा हि ओहिचक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।।

अर्थात् साधु का चक्षु आगम है, ससार के समस्त प्राणियो का चक्षु इन्द्रिय है, देवो का चक्षु अवधिज्ञान है और सिद्ध परमेष्ठी का चक्षु सर्वदर्शी केवलज्ञान है। इसलिये अवसर पाया है तो अहर्निश आगम का अभ्यास करो।

———

आत्मा और पुद्गल को छोडकर शेष ४ द्रव्य शुद्ध है। जीव और पुद्गल ही २ द्रव्य है, जिनमे विभावशक्ति है। और इन दोनो मे ही अनादि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध द्वारा विकार्य्य और विकारक भाव हुआ करते है। जिस काल मे मोहादिकर्म के उदय मे रागादि रूप परिणमता है, उस काल मे स्वय विकार्य हो जाता है। और इसके रागादिक परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल मोहादि कर्मरूप परिणमता है, अत उसका विकारक भी है। इसका यह आशय है, जीव के परिणाम को निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप होते हैं और पुद्गल कर्म का निमित्त पाकर जीव स्वय रागादिरूप परिणम जाता है। अत आत्मा आस्रव होने योग्य भी है और आस्रव का करने वाला भी है। इसी तरह जब आत्मा मे रागादि नही होते उस काल मे आत्मा स्वय सम्वार्य्य और सवर का करने वाला भी है। अर्थात् आत्मा के रागादि निमित्त को पाकर जो पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप होते थे अब रागादि के बिना स्वय तद्रूप नही होते, अत. सवारक भी है।

—वर्णी अध्यात्म–पत्रावली ७३।

५

त्याग की विडम्बना

फिरोजाबाद के व्रती सम्मेलन मे पूज्यवर्णी जी ने कहा-"आज का व्रती-वर्ग चाहे मुनि हो, चाहे श्रावक, स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है, यह उचित नही है। मुनियो मे तो उस मुनि के लिये एकाविहारी होने की आज्ञा है, जो गुरु के सान्निध्य मे रहकर अपने आचार विचार मे पूर्ण दक्ष हो तथा धर्मप्रचार की भावना से गुरु जिसे एकाकी विहार करने की आज्ञा दे दें। आज यह देखा जाता है कि जिस गुरु से दीक्षा लेते हैं उसी गुरु की आज्ञा पालन मे अपने को असमर्थ देख नवदीक्षित मुनि स्वय एकाकी विहार करने लगते है। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियो के साथ विहार करने मे इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम के विरुद्ध होगी तो लोग हमे बुरा कहेगे। गुरु प्रायश्चित्त देंगे। पर एकल विहारी होने पर किसका भय रहा ? जनता भोली है इसलिये कुछ कहती नही यदि कहती है तो उसे धर्मनिन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है। किसी मुनि को दक्षिण और उत्तर का विकल्प सता रहा है, तो किसी को बीसपथ और तेरहपंथ का। किसी को दस्सा बहिष्कार की धुन है, तो कोई शूद्रजलत्याग के पीछे पडा है। कोई स्त्री-प्रक्षाल के पक्ष मे मस्त है, तो कोई जनेऊ पहिराने और कटि मे धागा बँधवाने मे व्यस्त है। कोई ग्रन्थमालाओ के सचालक बने हुये है तो कोई ग्रन्थ छपवाने की चिन्ता मे गृहस्थो के घर घर से चन्दा माँगते फिरते है। किन्ही के साथ मोटरे चलती है तो किन्ही के साथ गृहस्थजन दुर्लभ कीमती चटाइयाँ और आसन के पाटे तथा छोलदारियाँ चलती है। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपने लिये आश्रय पा उनकी सेवा मे लीन रहते है। 'बहती गंगा में हाथ धोने से क्यो चूके' इस भावना से कितने ही विद्वान् उनके अनुयायी बन आँख मीच चुप बैठ जाते है। या हाँ मे हाँ मिला गुरुभक्ति का प्रमाणपत्र प्राप्त करने मे सलग्न रहते है। ये अपने परिणामो की गति को देखते नही हैं। चारित्र और कषाय का सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकार के समान है। जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नही। और जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाश नही। इसी प्रकार जहाँ चारित्र है वहाँ कषाय नही और जहाँ कषाय है वहाँ चारित्र नही। पर तुलना करने पर बाजे बाजे व्रतियो की कषाय तो गृहस्थो से कही अधिक निकलती है। व्रती के लिये शास्त्र मे नि शल्य बताया है। शल्यो मे एक माया भी शल्य होती है। उसका तात्पर्य यही है कि भीतर कुछ रूप रखना और बाहर कुछ रूप दिखाना। व्रती मे ऐसी बात नही होना चाहिये। वह तो भीतर बाहर मनसा, वाचा, कर्मणा एक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है उस ओर दृष्टिपात करो और अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाओ। उत्सूत्र प्रवृत्ति से व्रत की शोभा नही।"

महाराज की उक्त देशना का हमारे हृदय पर बहुत प्रभाव पडा। इसी व्रती सम्मेलन मे एक विषय यह आया कि क्या क्षुल्लक वाहन-पर बैठ सकता है ? महाराज ने कहा कि जब क्षुल्लक पैसे का त्याग कर चुका है तथा ईर्या समिति से चलने का अभ्यास कर रहा है तब वह वाहन पर कैसे बैठ सकता है ? पैसे के लिये उसे किसी से याचना करना पडेगी तथा पैसो की प्रतिनिधि जो टिकिट आदि है वह अपने साथ रखना पड़ेगी। आखिर विचार करो

मनुष्य क्षुल्लक हुआ क्यो ? इसीलिये तो कि इच्छाए कम हो ? यातायात कम हो, सीमित स्थान मे विहार हो। फिर क्षुल्लक बनने पर भी इन सब बातो मे कमी नही आई तो क्षुल्लक पद किसलिये रखा ? अमुक जगह जाकर धर्मोपदेश देंगे, अमुक जगह जाकर अमुक कार्य करेगे ? यह सब छल क्षुल्लक होकर भी क्यो नही छूट रहा है ? तुम्हे यह कषाय क्यो सता रही है कि अमुक जगह उपदेश देगे ? अरे, जिन्हे तुम्हारा उपदेश सुनना अपेक्षित होगा वे स्वय तुम्हारे पास चले आवेगे। तुम दूसरे के हित को व्याज बनाकर स्वय क्यो दौडे जा रहे हो ? यथार्थ मे जो कौतुकभाव क्षुल्लक होने के पहले था वह अब भी गया नही। यदि नही गया तो कौन कहने गया था कि तुम क्षुल्लक हो जाओ ? अपनी कषाय की मन्दता या तीव्रता देखकर ही कार्य करना था। यह कहना कि 'पञ्चमकाल है इसलिये यहाँ ऐसे कार्य होते है" यह मार्ग का अवर्णवाद है। अस्सी तोले का सेर होता है पर इस पञ्चमकाल मे आप पौने अस्सी तोले के सेर से किसी वस्तु को ग्रहण कर लोगे ? नही, यहाँ तो चाहते हो अस्सी तोले से दो रत्ती ज्यादा ही हो। पर धर्माचरण मे पञ्चमकाल का छल ग्रहण करते हो। लोग कहते हैं कि दक्षिण के क्षुल्लक तो वाहन पर बैठते है ? पर उनके बैठने से क्या वस्तुतत्त्व का निर्णय हो जावेगा? वस्तु का स्वरूप तो जो है वही रहेगा। दक्षिण और उत्तर का प्रश्न बीच मे खडा कर देना हित की बात नही। अस्तु।

फिरोजाबाद का व्रती सम्मेलन

शान्ति का उपाय प्राय प्रत्येक प्राणी चाहता है, परन्तु मोह के वशीभूत होकर विरुद्ध उपाय करता है। अत शान्ति की शीतल छाया के विरुद्ध रागादिक ताप की उष्णता ही इसे निरन्तर आकुलित बनाए रखती है। इससे बचने का यही मूल उपाय है जो तात्त्विक शान्ति का कारण अन्यत्र न खोजे। जितने भी परपदार्थ है चाहे वह शुद्ध हो चाहे वह अशुद्ध हों, जब तक हमारे उपयोग मे उनसे सुख-प्राप्ति की आशा है, हमको कभी भी सुख नही हो सकता। मेरा तो दृढ विश्वास है जैसे बाह्य सुख मे रूपादिक विषय नियमरूप कारण नही वैसे अभ्यन्तर सुख मे शुद्ध पदार्थ भी नियमरूप हेतु नही। जब ऐसी वस्तु की स्थिति है, तब हमे अपने ही अन्त स्थल मे अपनी शान्ति को देखकर परपदार्थ मे निजत्व का त्याग कर श्रेयो-मार्ग की प्राप्ति का पात्र होना चाहिये।"

—वर्णी अध्यात्म-पत्रावली ४७.

६

अनेक समस्याओं का हल—स्त्री-शिक्षा

पुरुषवर्ग ने स्त्रीसमाज पर ऐसे प्रतिबन्ध लगा रक्खे है कि उन्हे मुखको निरावरण करने मे भी सकोच का अनुभव होता है। कहा तक कहा जावे ? मन्दिर मे जब वे भी देवाधिदेव के दर्शन करती है तब मुख पर वस्त्र का आवरण रहने से वे पूर्णरूप से दर्शन का लाभ नही ले सकती। यद्वा तद्वा दर्शन करने के अनन्तर यदि शास्त्र-प्रवचन मे पहुँच गईं तो वहाँ पर भी वक्ता के वचनो का पूर्णरूप से कर्णो तक पहुँचना कठिन है। प्रथम तो कर्णो पर वस्त्र का आवरण रहता है तथा पुरुषो से दूरवर्ती उनका क्षेत्र रहता है। दैवयोग से किसी की गोद मे बालक हुआ और उसने क्षुधातुर हो रोना प्रारम्भ कर दिया तो क्या कहे ? सुनना तो एक ओर रहा वक्ता प्रभृति मनुष्यो के वाग्वाणो का प्रहार होने लगता है—चुप नही करती बच्चे को ?·· क्यो लेकर आती है ?·· सबका नुकसान करती हैं,·· बाहर क्यो नही चली जाती इन वचनो को श्रवण कर शास्त्रश्रवण की जिज्ञासा विलीन हो जाती है। अत पुरुषवर्ग को उचित है कि वह जिससे जन्मा है वह स्त्री ही तो है, उसके प्रति इतना अन्याय न करे। प्रत्युत सबसे उत्तम स्थान उन्हे प्रवचन मे सुरक्षित रखे। उनकी अशिक्षा ही उन्हे सदा अपमानित करती है।

मेरा तो ख्याल है कि यदि स्त्रीवर्ग शिक्षित होकर सदाचारी हो जावे तो आज भारत क्या जितना जगत् मनुष्यो के गम्य है वह सभ्य हो सकता है। आज जिस समस्या का हल उत्तम से उत्तम मस्तिष्क वाले नही कर सकते उसका हल अनायास हो जायगा। इस समय सब से कठिन समस्या 'जनसख्या की वृद्धि किस प्रकार से रोकी जाय' है। शिक्षित स्त्रीवर्ग इस समस्या को अनायास हल कर सकता है। जिस कार्य के करने मे राजसत्ता भी हार मान कर परास्त हो गई उसे सदाचारिणी स्त्री सहज ही कर सकती है। वह अपने पतियो को यह उपदेश देकर सुमार्ग पर ला सकती है कि जब बालक गर्भ मे आ जावे तबसे आप और हमारा कर्त्तव्य है कि यह बालक उत्पन्न होकर जब तक ५ वर्ष का न हो जाये तब तक विषय-वासना को त्याग देवे। ऐसा ही प्रत्येक स्त्री सभ्य व्यवहार करे इस प्रकार की प्रणाली से सुतरा वृद्धि रुक जावेगी। इसके होने से जो लाखो रुपया डाक्टर तथा वैद्यो के यहाँ जाता है वह बच जावेगा तथा जो टी बी के चिकित्सागृह है वे स्वयमेव धराशायी हो जावेगे। अन्न की जो त्रुटि है वह भी न होगी। दुग्ध पुष्कल मिलने लगेगा। गृहवास की पुष्कलता हो जावेगी। अत स्त्रीसमाज को सभ्य बनाने की आवश्यकता है। यदि स्त्रीवर्ग चाहे तो बडे-बडे मिलवालो को चक्र में डाल सकता है। उत्तम से उत्तम जो धोतियाँ मिलो से निकलती है यदि स्त्रिया उन्हे पहिनना बन्द कर देवे तो मिलवालो की क्या दशा होगी ? सो उन्हे पता चल जावेगा। करोडो का माल यो ही बरबाद हो जायेगा। यह कथा छोडो आज स्त्री काच की चूडी पहिनना छोड़ दे और उसके स्थान पर चाँदी सुवर्ण की चूडी का व्यवहार करने लगे तो चूडी वालो की क्या दशा होगी ? रोने को

मजदूर न मिलेगा। आज स्त्रीसमाज चटक मटक के आभूषणो को पहिनना छोड दें तो सहस्रो सुनारो की दशा कौन कह सकता है ? इसी तरह वे पावडर लगाना छोड दे तो विदेश की पावडर बनाने वाली कम्पनियो को अपना पावडर समुद्र मे फेकना पडे। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रीसमाज के शिक्षित और सदाचार से सपन्न होते ही ससार के अनेक उत्पात बन्द हो सकते हैं। पञ्चमकाल मे चतुर्थकाल का दृश्य यदि देखना है तो स्त्री-समाज की उपेक्षा न कर उसे सुशिक्षित बनाओ। सुशिक्षित से तात्पर्य उस शिक्षा से है जिससे वे अपने कर्त्तब्य का निर्णय स्वय कर सके।

हम लोग केवल निमित्तकारणों की मुख्यता से वास्तविक धर्म से दूर जा रहे है। जहाँ पर मन, वचन, कायके व्यापार की गति नही वह पदप्राप्ति आत्मबोध के बिना हो जावे, बुद्धि मे नही आता। यह क्रिया जो उभयद्रव्य के सयोग से उत्पन्न हुई है, कदापि स्वकीय कल्याण मे सहायक नही हो सकती। अतएव औदयिक भाव तो बन्ध का कारण है ही। किन्तु क्षयोपशम और उपशमभाव भी कथचित् परद्रव्य के निमित्त से माने गये हैं। अत जहाँ तक परपदार्थ की सपर्कता आत्मा के साथ रहेगी वहाँ तक साक्षात् मोक्षमार्ग प्राप्ति दुर्लभा ही नही किन्तु असम्भवा है। अत अन्तरङ्ग से अपने ही अन्तरग मे, अपने ही द्वारा, अपने ही अर्थ, अपने को गभीर दृष्टि से परामर्श करना चाहिये, क्योकि मोक्षमार्ग एक ही है नाना नही।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिश ध्यायेच्च तं चेतसि।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्य समयस्य सारमचिरान्नित्योदय विन्दति ॥

मोक्षमार्ग तो दर्शनज्ञानचारित्रात्मक ही है, उसी मे स्थिति करो और निरन्तर उसका ध्यान करो, उसी का निरन्तर चितवन करो, उसी मे निरन्तर विहार करो, तथा द्रव्यान्तर को स्पर्श न करो, ऐसा जो करता है वही मोक्षमार्ग पाता है। इसका यह अर्थ नही कि स्वच्छन्द होकर आत्मद्रव्य से भ्रष्ट हो जावो। किन्तु अन्तरग तत्त्व की यथार्थ प्रतीति करना ही हमारा कर्त्तव्य है। व्यवहार-क्रिया मे मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।"

— वर्णी अध्यात्म-पत्रावली— ५६.

७

दस–लक्षण धर्म

उत्तम क्षमा धर्म—

आज पर्वका प्रथम दिन है। ३५० दिन बाद यह पर्व आया है। क्षमा सबसे उत्तम धर्म है। जिसके क्षमा धर्म प्रकट हो गया उसके मार्दव, आर्जव और शौच धर्म भी अवश्यमेव प्रकट हो जावेंगे। क्रोधके अभावसे आत्मामे शान्ति गुण प्रकट होता है। वैसे तो आत्मामे शान्ति सदा विद्यमान रहती है क्योकि वह आत्माका स्वभाव है—गुण है। गुण गुणीसे दूर कैसे हो सकता है? परन्तु निमित्त मिलनेपर वह कुछ समयके लिए तिरोहित हो जाता है। स्फटिक स्वभावत. स्वच्छ होता है, पर उपाधिके संसर्गसे अन्यरूप हो जाता है। हो जाओ, पर क्या वह उसका स्वभाव कहलाने लगेगा? नही। अग्निका ससर्ग पाकर जल उष्ण हो जाता है पर वह उसका स्वभाव तो नही कहलाता। स्वभाव तो शीतलता ही है। जहाँ अग्निका सम्बन्ध दूर हुआ कि फिर शीतलका शीतल। क्या बतलावे। पदार्थ का स्वरूप इतना स्पष्ट और सरल है परन्तु अनादिकालीन मोहके कारण वह दुरूह हो रहा है।

क्रोधके निमित्तसे आदमी पागल हो जाता है और इतना पागल कि अपने स्वरूप तकको भूल जाता है। वस्तुकी यथार्थता उसकी दृष्टिसे लुप्त हो जाती है। एकने एक को घूसा मार दिया। वह उसका घूसा काटनेको तैयार हो गया पर इससे क्या? घूसा मारनेका जो निमित्त था उसे दूर करना था। वह मनुष्य कुक्कुर-वृत्ति पर उतारू हुआ है। कोई कुत्तेको लाठी मारता है तो वह लाठीको दातोसे चबाने लगता है, पर सिंह बन्दूक की ओर न झपट कर बन्दूक मारनेवालेकी ओर झपटता है। विवेकी मनुष्यकी दृष्टि सिंहकी तरह होती है। वह मूल कारणको दूर करनेका प्रयत्न करता है। आज हम क्रोधका फल प्रत्यक्ष देख रहे है। लाखो निरपराध प्राणी मारे गये और मारे जा रहे है। क्रोध चारित्रमोहकी प्रकृति है। उससे आत्माके सयम गुणका घात होता है। क्रोधके अभावमे प्रकट होनेवाला क्षमागुण सयम है, चारित्र है। राग द्वेषके अभाव को ही तो चारित्र कहते है।

ज्ञानसूर्योदय नाटककी प्रारम्भिक भूमिकामे सूत्रधार नटीसे कहता है कि आज की यह सभा अत्यन्त शान्त है। इसलिये कोई अपूर्व कार्य इसे दिखलाना चाहिये। वास्तवमे शान्तिके समय कौनसा अपूर्व कार्य नही होता? मोक्षमार्गमे प्रवेश होना ही अपूर्व कार्य है। शान्तिके समय उसकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। आप लोग प्रयत्न कीजिये कि मोक्षमार्ग प्रवेश हो और ससारके अनादि बन्धन खुल जायँ। आजके दिन जिसने क्षमा धारण नही की वह अन्तिम दिन क्षमावणी क्या करेगा? 'मै तो आज क्षमा चाहता हूँ' इस वाचनिक क्षमाकी आवश्यकता नही है। हार्दिक क्षमासे ही आत्माका कल्याण हो सकता है। क्षमाके अभावमे अच्छेसे अच्छे आदमी बरबाद हो जाते है।

मै नदिया (नवद्वीप) मे दुलारझाके पास न्याय पढता था। वे न्यायशास्त्रके बडे भारी विद्वान् थे। उन्होने अपने जीवनमे २५ वर्ष न्याय ही न्याय पढा था। वे व्याकरण प्राय. नही जानते थे। एक दिन उन्होने किसी प्रकरणमे अपने गुरुजीसे कहा कि जैसा 'वक्ति' होता है वैसा 'व्रीति' क्यो नही होता? उनके गुरु उनकी मूर्खता पर बहुत क्रुद्ध हुए और बोले कि तू बैल है, भाग जा यहाँसे। दुलारझाको बहुत बुरा लगा। उनका एक साथी था जो व्याकरण अच्छा

जानता था और न्याय पढता था । दुलारझाने कहा कि यहाँ क्या पढते हो ? चलो हम तुम्हे घर पर न्याय वढिया पढा देगे । साथी इनके गाँवको चला गया । वहाँ उन्होने उससे एक सालमे तमाम व्याकरण पढ डाला और एक साल बाद अपने गुरुके पास आकर क्रोधसे कहा कि तुम्हारे बापको धूल दी, पूछले व्याकरण कहाँ पूछना है ? गुरु ने हँसकर कहा—आओ बेटा ! मै यही तो चाहता था कि तुम इसी तरह निर्भीक बनो । मै तुम्हारी निर्भीकतासे बहुत सतुष्ट हुआ, पर मेरी एक बात याद रक्खो—

अपराधिनि चेत्क्रोधः, क्रोधे क्रोधः कथ न हि ।
धर्मार्थकाममोक्षाणा, चतुर्णां परिपन्थिनि ।।

दुलारझा अपने गुरुकी क्षमाको देखकर नतमस्तक रह गये । क्षमासे क्या नही होता ? अच्छे-अच्छे मनुष्योका मान नष्ट हो जाता है । दरभगामें दो भाई थे । दोनो इतिहासके विद्वान् थे । एक बोला कि आल्हा पहले हुआ है और दूसरा बोला कि ऊदल पहले हुआ है । इसीपर दोनो मे लडाई हो गई । आखिर मुकदमा चला और जागीरदारसे किसानकी हालतमे आ गये । क्षमा सर्वगुणोकी भूमि है इसमे सब कुछ सरलतासे विकसित हो जाते हैं । क्षमासे भूमिकी शुद्धि होती है । जिसने भूमिको शुद्ध कर लिया उसने सब कुछ कर लिया । एक गावमे दो आदमी थे—एक चित्रकार और दूसरा अचित्रकार । अचित्रकार चित्र बनाना तो नही जानता था पर था प्रतिभाशाली । चित्रकार बोला कि मेरे समान कोई चित्र नही बना सकता । दूसरेको उसकी गर्वोक्ति सह्य नही हुई अतः उसने झटसे कह दिया कि मै तुमसे अच्छा चित्र बना सकता हूँ । विवाद चल पडा । अपना-अपना कौशल दिखानेके लिये दोनो तुल पडे । तय हुआ कि दोनो चित्र बनावे फिर अन्य परीक्षकोसे परीक्षा कराई जावे । एक कमरेकी आमने सामनेकी दीवालोपर दोनो चित्र बनानेको तैयार हुए । कोई किसीका देख न ले इसलिये बीचमे परदा डाल दिया गया । चित्रकारने कहा कि मै १५ दिनमे चित्र तैयार कर लूगा । इतने ही समयमे तुझे भी करना पडेगा । उसने कहा — मैं पौने पन्द्रह दिनमे कर दूँगा, घबडाते क्यो हो ? चित्रकार चित्र बनानेमे लग गया और दूसरा दीवाल साफ करनेमे । उसने १५ दिनमे दीवाल इतनी साफ कर दी कि काँचके समान स्वच्छ हो गई । १५ दिन बाद लोगोके सामने बीचका परदा हटाया गया । चित्रकारका पूरा चित्र उस स्वच्छ दीवालमे प्रतिबिम्बित हो गया और इस तरह कि उसे स्वय मुहसे कहना पडा कि तेरा चित्र अच्छा है । क्या उसने चित्र बनाया था ? नही, केवल जमीन ही स्वच्छकी थी, पर उसका चित्र बन गया और प्रतिद्वन्दीकी अपेक्षा अच्छा रहा । आप लोग क्षमा धारण करें, चाहे उपवास एकाशन आदि न करे । क्षमा ही धर्म है और धर्म ही चारित्र हैं । कुन्दकुन्द स्वामीका वचन है—

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ।।

यह जीव अनादि कालसे पर पदार्थको अपना समझकर व्यर्थ ही सुखी दुखी होता है । जिसे यह सुख समझता है वह सुख नही है । वह ऊँचाई नही जहाँ से फिर पतन हो । वह सुख नही जहाँ फिर दुखकी प्राप्ति हो । यह वैषयिक सुख पराधीन है, बाधासहित है, उतने पर भी नष्ट हो जानेवाला है और आगामी दु खका कारण है । कौन समझदार इसे सुख कहेगा ? इस शरीरसे आप स्नेह करते है पर इस शरीरमे है क्या ? आप ही बताओ । माता पिताके रज-वीर्यसे इसकी उत्पत्ति हुई । यह हड्डी, मास, रुधिर आदिका स्थान है । उसीकी फुलेवारी है । यह मनुष्य पर्याय साटेके समान है । साटेकी जड तो सडी होने से फेक दी जाती है, वाड भी बेकाम होता है और मध्य मे कीडा लग जाने से बेस्वाद हो जाता है । इसी प्रकार इस मनुष्य की वृद्ध अवस्था शरीर शिथिल हो जाने से बेकार है । बाल अवस्था अज्ञानी की अवस्था है और मध्यदशा अनेक रोग सकटो से भरी हुई है । उसमे कितने भोग भोगे जा सकेगे ? पर यह जीव अपनी हीरा सी पर्याय व्यर्थ ही खो देता है । जिस प्रकार बात की व्याधि से मनुष्य के अङ्ग अङ्ग दुखने लगते है । कषायसे विषयेच्छासे इसकी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश दुखी हो रहा है । यह दूसरे पदार्थ को जब तक अपना समझता है तभी तक उसे अपनाए रहता है । उसकी रक्षा आदि मे व्यग्र रहता है पर ज्यो ही उसे पर मे परकीय बुद्धि हो जाती है, उसका

त्याग करने मे उसे देर नही लगती। एक बार एक धोबी के यहा दो मनुष्यो ने कपडे धुलाने दिये। दोनो के कपडे एक समान थे, धोबी भूल गया। वह बदल कर दूसरे का कपडा दूसरे को दे आया। एक खास परीक्षा किये बिना दुपट्टा को अपना समझ ओढ कर सो गया, पर दूसरे ने परीक्षा की तो उसे अपना दुपट्टा बदला हुआ मालूम हुआ। उसने धोबी से कहा। धोबी ने गलती स्वीकार कर उसका कारण बतलाया और झटसे उस सोते हुए मनुष्य के दुपट्टे का अंचल खीचकर कहा—जरा जागिये, आपका कपडा बदल गया है। आपका यह है वह मुझे दीजिये। धोबी के कहने पर ज्यो ही उसने लक्षण मिलाये त्यो ही उसे धोबीकी बात ठीक जँची। अब उसे उस दुपट्टे से जिसे वह अपना समझ मुह पर डाले हुए था, घृणा होने लगी और तत्काल उसने उसे धोबी को वापिस कर दिया। आपके शुद्ध चैतन्यभाव को छोडकर सभी तो आपमे परपदार्थ हैं, परन्तु आप नीद मे मस्त हो उन्हे अपना समझ रहे है। स्वपरस्वरूपोपादानापोहनके द्वारा अपने को अपना समझो और पर को पर। फिर कल्याण तुम्हारा निश्चित है।

आप लोग कल्याण के अर्थ सही प्रयास तो करना नही चाहते और कल्याण की इच्छा करते है सो कैसे हो सकता है ? जैनधर्म यह तो मानता नही है कि किसी के वरदान से किसी का कल्याण हो जाता है। यहाँ तो कल्याण के इच्छुक जन को प्रयत्न स्वय करना होगा। कल्याण कल्याण के ही मार्ग से होगा। मुझे एक कहानी याद आती है। वह यह कि एक बार महादेवजी ने अपने भक्त पर प्रसन्न होकर कहा—बोल तू क्या चाहता है ? उसके लडका नही था अतः उसने लडका ही माँगा। महादेवजी ने 'तथास्तु' कह दिया। घर आनेपर उसने स्त्री से कहा—आज सब काम बन गया, साक्षात् महादेव जी ने वरदान दे दिया कि तेरे लडका हो जायगा। भगवान् के वचन तो झूठ होते नही। अब कोई पाप क्यो किया जाय ? हम दोनो ब्रह्मचर्य से रहे। स्त्री ने पति की बात मान ली। पर ब्रह्मचारी के संतान कहाँ ? वर्षों पर वर्ष व्यतीत हो गयी परन्तु सन्तान नही। स्त्री ने कहा भगवान् ने तुम्हे धोखा दिया। पुरुष बेचारा लाचार था। वह फिर महादेवजी के पास पहुँचा और बोला भगवन्! दुनिया झूठ बोले सो तो ठीक है पर आप भी झूठ बोलने लगे। आपको वरदान दिये १२ वर्ष हो गये आजतक लडका नही हुआ। ठगने के लिये मै ही मिला। महादेवजी ने कहा—तुमने लडका पाने के लिये क्या किया ? पुरुष ने कहा—हम लोग तो आपके वरदान का भरोसाकर ब्रह्मचर्य से रहे। महादेवजी ने हँसकर कहा—भाई! मैने वरदान दिया था सो सच दिया था पर लड़का लडके के रास्ते होगा। ब्रह्मचारी के सतान कैसे होगी ? तू ही बता, मै आकाश से तो गिरा नही देता। ऐसा ही हाल हम लोगो का है, कल्याण कल्याण के मार्ग से ही होगा।

यह मोह दुखदायी है—शास्त्रो मे लिखा है, आचार्यों ने कहा है, हम भी कहते है, पर वह झूठा तो है ही नही, प्रयत्न जो हमारे अधूरे होते है। पूज्यपाद स्वामी समाधितन्त्र मे कहते है कि—

यन्मया दृश्यते रूपं, तन्न जानाति सर्वथा।
यज्जानाति न तद् दृश्यं, केन साकं ब्रवीम्यहम्॥

जो दिखता है वह जानता नही है और जो जानता है वह दिखता नही फिर मै किसके साथ बातचीत करूँ ? अर्थात् किसी के साथ बोलना नहीं चाहिये यह आत्मा का कर्तव्य है। वे ऐसा लिखते है पर स्वय बोलते है, स्वयं दूसरोको ऐसा करनेका उपदेश देते है। तत्त्वार्थसूत्रका प्रवचन आपने सुना। उसकी भूमिकामे उसके बननेके दो तीन कारण बतलाये है, पर राजवार्तिकमे अकलकदेवने जो लिखा है वह बहुत ही ग्राह्य है। वे लिखते है कि इस सूत्रकी रचनामे गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अपेक्षित नही है, किन्तु अनन्त ससारमे निमजते जीवोका अभ्युद्धार करनेकी इच्छासे प्रेरित हो आचार्य ने स्वय वैसा प्रयास किया है। कहनेका तात्पर्य है कि मोह चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, किसीको नही छोडता। भगवान् ऋषभदेव तो युगके महान् पुरुष थे पर उन्होने भी मोहके उदयमे अपनी आयुके ८३ लाख पूर्व बिता दिये। आखिर, इन्द्रका इस ओर ध्यान गया कि १८ कोड़ा-कोडी सागरके बाद इस महापुरुषका जन्म हुआ और यह सामान्य जीवोकी तरह ससार मे फँस रहा है, स्त्रियो और पुत्रोके स्नेहमे डूब रहा है। संसारके प्राणियो का कल्याण कैसे होगा ?

सोचकर नीलाञ्जनाके नृत्यका आयोजन किया और उस निमित्तसे भगवान्‌का मोह दूर हुआ। जब मोह दूर हुआ तब ही उनका और उनके द्वारा अनन्त ससारी प्राणियोका कल्याण हुआ। रामचन्द्रजी सीताके स्नेहमे कितने भटके, लडाई लडी, अनेकोका सहार किया पर जब स्नेह दूर हो गया तब सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितना प्रयत्न किया उन्हे तपसे विचलित करनेका। पर क्या वह विचलित हुये ? मोह ही ससारका कारण है मेरा यही अटल श्रद्धान है।

हम मोहके कारण ही अपने आपको दुनियाँका कर्ता-धर्ता मानते हैं पर यथार्थ मे पूछो तो कौन कहाँका ? कहाँ की स्त्री ? कहाँ का पुत्र ? कौन किसको अपनी इच्छानुसार परिणमा सकता है ? 'कही की ईंट कही का रोरा, भानमती ने कुनवा जोडा' ठीक हम लोग भी भानमती के समान ही कुरमा जोड रहे है। नही तो कहाँ का मनुष्य ! कहाँ का क्या ! इसलिये जो ससार के बन्धन से छूटना चाहते है उन्हें मोह को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। आप लोग बिना कुछ किये कल्याण चाहते हो पर वह इस तरह होने का नही। आपका हाल ऐसा है कि 'अम्मा मै तैरना सीखूँगा, पर पानी का स्पर्श नही करूँगा'।

---

२ : उत्तम मार्दव धर्म

मार्दवका अर्थ कोमलता है। कोमलतामे अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर जमीनमे बीज डाला जाय तो व्यर्थ चला जायगा। पानी की वारिसमे जो जमीन कोमल हो जाती है उसीमे बीज जमता है। बच्चो को प्रारम्भ मे पढाया जाता है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं तत. सुखम्॥

विद्या विनयको देती है, विनयसे पात्रता आती है, पात्रतासे धन मिलता है। धनसे धर्म और धर्मसे सुख प्राप्त होता है। जिसने अपने हृदयमे विनय धारण नही किया वह धर्मका अधिकारी कैसे हो सकता है ? विनयी छात्रपर गुरुका इतना आकर्षण रहता है कि वह उसे एक साथ सब कुछ बतलानेको तैयार रहता हैं।

एक स्थानपर एक पण्डितजी रहते थे। पहले गुरुओ के घर पर ही छात्र रहा करते थे तथा गुरु उनपर पुत्रवत् स्नेह रखते थे। पण्डितजी का एक छात्रपर विशेष स्नेह था, पण्डितानी उनसे बार बार कहा करती कि सभी लडके तो आपकी विनय करते हैं, आपको मानते हैं फिर आप इसी एककी क्यो प्रशसा करते हैं। पण्डितजी ने कहा कि इस जैसा कोई मुझे नही चाहता। यदि तुम इसकी परीक्षा ही करना चाहती हो तो मेरे पास बैठ जाओ। आमका सीजन था, गुरुने अपने हाथपर एक पट्टीके भीतर आम बाँध लिया। और दुखी जैसी सूरत बना कराहने लगे। समस्त छात्र गुरुजी के पास दौड आये। गुरुने कहा दुर्भाग्य वश भारी फोडा हो गया है। छात्रोने कहा मैं अभी वैद्य लाता हूँ, ठीक हो जावेगा। गुरुने कहा बेटो ! यह वैद्यसे अच्छा नही होता—एक बार पहले भी भी मुझे हुआ था। तब मेरे पिताने इसे चूसकर अच्छा किया था, यह चूसने ही से अच्छा हो सकता है। मवादसे भरा फोडा कौन चूसे ? सब ठिठक कर रह गये। इतनेमे वह छात्र आ गया जिसकी गुरु बहुत प्रशसा किया करते थे। आकर बोला—गुरुजी क्या कष्ट है ? बेटा ! फोडा है, चूसनेसे ही अच्छा होगा गुरु ने कहा। गुरुजीके कहने की देर थी कि उस छात्रने उसे अपने मुहमे ले लिया। फोडा तो था ही नही आम था। पण्डितानीको अपने पतिके

वचनोपर विश्वास हुआ। आजका छात्र तो गुरुको नौकर समझ उसका बहुत ही अनादर करता है। यही कारण है कि उसके हृदयमे विद्याका वास्तविक प्रवेश नही हो रहा है। क्या कहे आजकी वात ? आज तो विनय रह ही नही गया। सभी अपने आपको वडेसे बडा अनुभव करते है। मेरा मान नही चला जाय इसकी फिकरमे सब पडे हैं, पर इस तरह किसका मान रहा है ? आप किसीको हाथ जोड-कर या सिर झुकाकर उसका उपकार नही करते वल्कि अपने हृदय से मान रूपी शत्रुको हराकर अपने आपका उपकार करते है। किसीने किसीकी वात मान ली, उसे हाथ जोड लिये, शिर झुका दिया, उतने से ही वह खुश हो जाता है और कहता है कि इसने हमारा मान रख लिया। अरे मान रख क्या लिया ? अपितु खो दिया। आपके हृदयमे जो अहंकार था उसने उसे अपनी शारीरिक क्रिया से दूर कर दिया ?

दिल्ली मे पञ्च कल्याणक हुआ था। पञ्च कल्याणक के वाद लाडू बाँटनेकी प्रथा वहाँ थी। लाला हरमुखरायजीने नौकरके हाथ सबके घर लाडू भेजा, लोगोने सानन्द लाडू ले लिया पर एक गरीब आदमी ने, जो चना गुड़ आदिकी दुकान किये था, यह विचार कर लाडू लेना अस्वीकृत कर दिया कि मैं कभी लालाजीको पानी नही पिला सकता तब उनके लाडूका व्यवहार कैसे पूर्ण कर सकूगा ? शामके समय जब लालाजीको पता चला तो दूसरे दिन वे स्वयं लाडू लेकर नौकर के साथ गाडीपर सवार हो उसकी दूकानपर पहुचे और बडी विनय से दूकानपर बैठकर उसकी डालीमे से कुछ चने और गुड उठाकर खाने लगे। खानेके वाद वोले लाओ पानी पिलाओ। पानी पिया, तद-नन्तर वोले कि भाई अब तो मैं तुम्हारा पानी पी चुका अब तो तुम्हे हमारा लाडू लेना अस्वीकृत नही करना चाहिये। दूकानदार अपने व्यवहार और लालाजीकी सौज-न्यपूर्ण प्रवृत्तिसे दङ्ग रह गया। लाडू लिया और आँखो से आँसू गिराने लगा कि इनकी महत्ता तो देखो कि मुझ जैसे तुच्छ व्यक्तिको भी ये नही भुला सके। आजका वड़ा आदमी क्या कभी किसी गरीबका इस प्रकार ध्यान रख सकता है।

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, वल, ऋद्धि, तप और शरीर की सुन्दरता इन आठ वातो को लेकर मनुष्य गर्व करता है, पर जिनका वह गर्व करता है क्या वे इसकी हैं ? सदा इसके पास रहनेवाली हैं ? क्षायोपशमिक ज्ञान आज है, कल इन्द्रियोमे विकार आ जाने से नष्ट हो जाना है। जहाँ चक्रवर्तीकी भी पूजा स्थिर नही रह सकी वहाँ अन्य लोगोकी पूजा स्थिर रह सकेगी यह सम्भव नही है। कुल और जातिका अहङ्कार क्या है ? सबकी खान निगोद राशि है। आज कोई कितना ही बडा क्यो न वना हो पर निश्चित है कि वह किसी न किसी समय निगोदसे ही निकला है। उसका मूल निवास निगोदमे ही था। बलका अहकार क्या ? आज शरीर तगडा है पर जोरका मलेरिया आ जाय तथा चार-छह लघनें हो जावें तो सूरत बदल जाय, उठते न वने। धन सम्पदाका अभिमान थोथा अभिमान है, मनुष्यकी सम्पत्ति जाते देर नहीं लगती। इसी प्रकार तप और शरीरके सौन्दर्यका अभि-मान करना व्यर्थ है।

कलके दिन प्रथमाध्यायमे आपने सम्यग्दर्शनका वर्णन सुना था। जिस प्रकार अन्य लोगोके यहाँ ईश्वर या खुदा का माहात्म्य है वैसा ही जैनधर्ममे सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है। सम्यग्दर्शनका अर्थ आत्मलब्धि है। आत्मीक स्वरूपका ठीक ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्म-लब्धिके सामने सब सुख धूल हैं। सम्यग्दर्शन से आत्मा का महान् गुण जागृत होता है, विवेक शक्ति जागृत होती है। आज कल लोग हर एक बातमे क्यो ? क्यो ?' करने लगते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनमे श्रद्धा नही है। श्रद्धाके न होनेसे ही हर एक वात पर कुतर्क उठा करते है। एक आदमी को 'क्यो' का रोग हो गया। उससे वेचारा वडा परेशान हुआ। पूछने पर किसी भले आदमी ने सलाह दी कि तू इसे किसी को वेच डाल, भले ही सौ पचास लग जायँ। वीमार आदमी इस विचार मे पड़ा कि यह रोग किसे वेचा जाय ? किसी ने सलाह दी कि स्कूल के लडके वडे चालाक होते हैं, ५०) देकर किसी लड़के को वेच दे। उसने ऐसा ही किया। एक लडकेने ५०) लेकर उसका वह रोग ले लिया। सब लड़कोने मिल कर ५०) की मिठाई खाई। जब लडका मास्टरके सामने गया और मास्टरने पूछा कि कलका सबक सुनाओ, तब

लडका वोला—क्यो ? मास्टरने कान पकड कर लडकेको वाहर निकाल दिया। लडका समझा कि 'क्यो' का रोग तो वडा खराव है, वह उसको वापिस कर आया। अवकी बार रोगी ने सोचा कि चलो अस्पतालके किसी मरीजको वेच दिया जाय तो अच्छा है। ये लोग तो पलग पर पडे पडे आनन्द करते ही है। ऐसा ही किया, एक मरीजको वेच आया। दूसरे दिन डाक्टर आये। पूछा—तुम्हारा क्या हाल है ? मरीजने कहा—क्यो ? डाक्टरने उसे अस्पतालसे वाहर कर दिया। उसने भी समझा कि दर असल यह रोग तो वडा खराब है। वह भी वापिस कर आया। अवकी बार उसने सोचा कि अदालती आदमी वडे टच होते है, उन्हीको वेचा जाय। निदान, एक आदमीको वेच दिया। वह मजिस्ट्रेटके सामने गया। मजिस्ट्रेटने कहा कि तुम्हारी नालिशका ठीक-ठीक मतलव क्या है ? आदमीने कहा–क्यो ? मजिस्ट्रेटने मुकद्दमा खारिज कर कहा कि घरकी राह लो। यह तो कहानी है, पर विचार कर देखा जाय तो हर एक वातमे कुतर्कसे काम नही चलता। युक्तिके वलसे सभी वातोका निर्णय नही किया जा सकता। कितनी ही वाते ऐसी है जिनका आगम से निर्णय होता है और कितनी ही वाते ऐसी है जिनका युक्तिसे निर्णय होता है। यदि आपको धर्ममे श्रद्धा न होती तो हजारोकी सख्यामे क्यो आते ?

आचार्योंने सवसे पहले यही कहा कि 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षका मार्ग है। आचार्यकी करुणा वुद्धि तो देखो। अरे, मोक्ष तो तव हो जव पहले वन्ध हो। यहाँ पहले वन्धका मार्ग वतलाना था फिर मोक्षका, परन्तु उन्होने मोक्षमार्गका पहले वर्णन किया है। उसका कारण यही है कि ये प्राणी अनादिकालसे बन्ध जनित दुःखका अनुभव करते करते घबरा गये हैं अत पहले इन्हे मोक्षका मार्ग वतलाना चाहिये। जैसे जो कारागारमे पड कर दुःखी होता है वह यह नही जानना चाहता है कि मै कारागारमे क्यो पडा ? वह तो यह जानना चाहता है कि मै इस कारागारसे छूटूँ कैसे ? यही सोच कर आचार्यने पहले मोक्षका मार्ग वतलाया है। सम्यग्दर्शनके रहनेसे विवेक शक्ति सदा जागृत रहती है। वह विपत्ति मे पडने पर भी कभी अन्यायको न्याय नही समझता। रामचन्द्रजी सीताको छुडानेके लिये लङ्का गये थे। लङ्काके चारो ओर उनका कटक पडा था। हनुमान् आदिने रामचन्द्रजीको खवर दी कि रावण जिनमन्दिरमे वहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है। यदि उसे यह विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये कि जिससे हम लोग उसकी विद्यासिद्धिमे विघ्न करे। रामचन्द्रजीने कहा कि हम क्षत्रिय है, कोई धर्म करे और हम उसमे विघ्न डालें यह हमारा कर्तव्य नही है। 'सीता फिर दुर्लभ हो जायगी' यह हनुमानने कहा। रामचन्द्रजीने जोरदार शब्दोमे उत्तर दिया—हो जाय, एक सीता नही सव कुछ दुर्लभ हो जाय पर मैं अन्याय करने की आज्ञा नही दे सकता। रामचन्द्रजीमे जो इतना विवेक था उसका कारण क्या था ? कारण था उनका सम्यग्दर्शन—विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन।

सीताको तीर्थयात्राके वहाने कृतान्तवक्र सेनापति जगलमे छोड़ने गया। क्या उसका हृदय वैसा करना चाहता था ? नही, वह तो स्वामीकी परतन्त्रतासे गया था। उस वक्त कृतान्तवक्रको अपनी पराधीनता काफी खली। जव वह निर्दोष सीताको जगलमे छोड अपने अपराधकी क्षमा माँग वापिस आने लगा तव सीता उससे कहती है—सेनापते ! मेरा एक सदेश उनसे कह देना। वह यह, कि जिस प्रकार लोकापवादके भयसे आपने मुझे त्यागा है इस प्रकार लोकापवादके भयसे जैनधर्मको नही छोड देना। उस निराश्रित अपमानित स्त्रीको इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था ? उसका सम्यग्दर्शन। आज कलकी स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानता-के अधिकार बताती। इतना ही नही, सीता जब नारदजीके आयोजन द्वारा लवणाकुशके साथ अयोध्या आती है, एक वीरता पूर्ण युद्धके बाद पिता-पुत्रका मिलाप होता है, सीता लज्जासे भरी हुई राजदरबारमे पहुचती है। उसे देखकर रामचन्द्रजी कह उठते है कि दुष्टे ! तू बिना शपथ दिये–बिना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ ? तुझे लज्जा नही आई ? सीताने विवेक और धैर्यके साथ उत्तर दिया कि मै समझी थी कि आपका हृदय कोमल है पर क्या कहूँ ? आप मेरी जिस प्रकार चाहे शपथ ले ले। रामचन्द्रजीने उत्तेजनामे आकर कह दिया कि अच्छा अग्नि मे कूद कर अपनी सचाईकी परीक्षा दो। वडे भारी जलते हुए अग्नि कुण्डमे

कूदनेके लिये सीता तैयार हुई। रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते है कि सीता जल न जाय। लक्ष्मणने कुछ रोषपूर्ण शब्दोमे उत्तर दिया कि यह आज्ञा देते समय न सोचा? यह सती है, निर्दोष है। आज आप इसके अखण्ड शीलकी महिमा देखिये। इसी समय दो देव केवलीकी वन्दनासे लौट रहे थे। उनका ध्यान सीताका उपसर्ग दूर करनेकी ओर गया। सीता अग्नि कुण्डमे कूद पडी और कूदते ही साथ जो अतिशय हुआ सो सब जानते हो। सीताके चित्त-मे रामचन्द्रजीके कठोर शब्द सुन कर ससारसे वैराग्य हो चुका था। पर, 'नि.शल्यो व्रती' व्रतीको नि शल्य होना चाहिये। यदि विना परीक्षा दिये मै व्रत लेती हू तो यह शल्य निरन्तर बनी रहेगी। इसलिये उसने दीक्षा लेनेसे पहले परीक्षा देना आवश्यक समझा था। परीक्षामे वह पास हो गई, रामचन्द्रजी उससे कहते है—देवि! घर चलो। अब तक हमारा स्नेह हृदय मे था पर अब आँखो मे आ गया है। सीताने नीरस स्वर मे कहा —

कहि सीता सुन रामचन्द्र ससार महादु ख वृक्षकद।
तुम जानत पर कछु करत नाहि · ·· ।।

रामचन्द्रजी! यह घर दु खरूपी वृक्ष की जड है। अब मैं इसमे न रहूँगी। सच्चा सुख इसके त्यागमे ही हे। रामचन्द्रजी ने बहुत कुछ कहा—यदि मै अपराधी हूँ तो लक्ष्मणकी ओर देखो, यदि यह भी अपराधी हे तो अपने बच्चो लवणाँकुशकी ओर देखो और एक बार पुन घर मे प्रवेश करो। परन्तु सीता अपनी दृढतासे च्युत नहीं हुई। उसने उसी वक्त केश उखाड कर रामचन्द्रजी के सामने फेक दिये और जङ्गलमे जाकर आर्या हो गई। यह सब काम सम्यग्दर्शनका है। यदि उसे अपने कर्मपर, भाग्यपर विश्वास न होता तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती?

अब रामचन्द्रजीका विवेक देखिये। जो रामचन्द्र सीताके पीछे पागल हो रहे थे, वृक्षो से पूछते थे—क्या तुमने मेरी सीता देखी है? वही जब तपश्चर्यामे लीन थे तब सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितने उपसर्ग किये, पर वह अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुए। शुक्ल ध्यान धारणकर केवली अवस्था को प्राप्त हुए।

सम्यग्दर्शनसे आत्मामे प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होते है जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी है। यदि आपमे ये गुण प्रकट हुए है तो समझ लो हम सम्यग्दृष्टि है। कोई क्या बतलायगा कि तुम सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि? अप्रत्याख्यानावरणी कषायका सस्कार छह माहसे ज्यादा नही चलता। यदि आपकी किसीसे लडाई होनेपर छह माहसे अधिक कालतक बदला लेने की भावना रहती है तो समझ लो कि अभी हम मिथ्यादृष्टि है। कषाय के असख्यात लोकप्रमाण स्थान है। उनमे मनका स्वरूपसे ही शिथिल हो जाना प्रशम गुण है। मिथ्यादृष्टि अवस्थामे इस जीवकी विषय कषायमे जैसी स्वच्छन्द प्रवृति होती है वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नही होती। यह दूसरी बात है कि चारित्रमोहके उदयसे यह उसे छोड नही सकता हो पर प्रवृत्तिमे शैथिल्य अवश्य आ जाता है। प्रशमका एक अर्थ यह भी है जो पूर्वकी अपेक्षा अधिक ग्राह्य है। वह यह कि सद्य कृतापराध जीवोपर भी रोप उत्पन्न नही होना प्रशम कहलाता है। बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्रजीने रावणपर जो रोष नही किया था वह इसका उत्तम उदाहरण है। प्रशम गुण तब तक नही हो सकता जब तक अनन्तानुबधी क्रोध विद्य-मान रहता है। उसके छूटते ही प्रशम गुण प्रकट हो जाता हे। क्रोध ही क्यो अनन्तानुबन्धी सम्बन्धीमान माया लोभ सभी कषाय प्रशमगुणके घातक है। ससारसे भय उत्पन्न होना सवेग है। विवेकी मनुष्य जब चतुर्गतिरूप ससारके दु खोका चिन्तन करता है तब उसकी आत्मा भयभीत हो जाती है तथा दु खके कारणोसे निवृत होजाती है। दु खी मनुष्यको देखकर हृदयमे कम्पन उत्पन्न हो जाना अनुकम्पा है। मिथ्यादृष्टि की अनुकम्पा और सम्यग्दृष्टिकी अनुकम्पामे अन्तर होता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य जब किसी आत्माको क्रोधादि कषायोसे अभिभूत तथा भोगासक्त देखता है तब उसके मनमे करुणाभाव उत्पन्न होता है कि देखो बेचारा कषायके भारसे कितना दब रहा है? इसका कल्याण किस प्रकार हो सकेगा? आप्त व्रत श्रुत तत्त्वपर तथा लोक आदि पर श्रद्धापूर्ण भावका होना आस्तिक्य भाव हे। ये गुण सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हे। यद्यपि मिथ्यात्वकी मन्दतामे भी ये हो जाते है तथापि वे यथार्थ गुण नही किन्तु गुणाभास कहलाते है।

३ : उत्तम आर्जव धर्म

आज आर्जव धर्म है। आर्जवका अर्थ सरलता है और सरलता के मायने मन वचन कायकी एकता है। मनमे जो विचार आया हो उसे वचनसे कहा जाय और जो वचनसे कहा जाय उसी के अनुसार कायसे प्रवृत्ति की जाय। जब इन तीनो योगो की प्रवृत्तिमे विषमता आ जाती है तब माया कहलाने लगती है। यह माया शल्य की तरह हृदय मे सदा चुभती रहती है। इसके रहते हुये मनुष्य के हृदय मे स्थिरता नही रहती और स्थिरता के अभाव मे उसका कोई भी कार्य यथार्थरूप मे सिद्ध नही हो पाता।

मान और लोभ के बीच मे माया का पाठ आया है सो उसका कारण यह है कि माया मान और लोभ—दोनो के साथ सपर्क रखती है। दोनो से उसकी उत्पत्ति होती है। मानके निमित्तसे मनुष्यको यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मेरे वडप्पन मे कोई प्रकार की कमी न आ जाय, परन्तु शक्ति की न्यूनतासे वडप्पन का कार्य करने मे असमर्थ रहता है इसलिये मायाचाररूपी प्रवृत्ति कर अपनी हार्दिक कमजोरी को छिपाये रखता है। मनुष्य जिस रूप मे वस्तुत है, उसी रूप मे उसे अपने आपको प्रगट करना चाहिये। इसके विपरीत जब वह अपनी दुर्बलता को छिपाकर बडा बनने का प्रयत्न करता है तब मायाकी परिणति उसके सामने आती है। यही दम्भ है, माया है। जिनागम तो यह कहता है कि जितनी शक्ति हो उतना कार्य करो और अपने असली रूप मे प्रगट होओ। लोभ के वशीभूत होकर जीव नाना प्रकार के कष्ट भोगता है तथा इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए निरन्तर अध्यवसाय करता है। वह तरह-तरह की छल-क्षुद्रताओ को करता है। मोहकी महिमा विचित्र है। आपने पद्मपुराण मे त्रिलोकमण्डन हाथी के पूर्व भव श्रवण किये होगे। एक मुनिने एक स्थान पर मासोपवास किये। व्रत पूर्ण होने पर वे तो कही अन्यत्र विहार कर गये पर उनके स्थान पर अन्यत्र से विहार करते हुये दूसरे मुनि आ गये। नगरके लोग उन्हे ही मासोपवासी मुनि समझ उनकी प्रभावना करने लगे, पर उन आगन्तुक मुनि को यह भाव नही हुआ कि कह दें—मैं मासोपवासी नही हूँ। महान् न होनेपर भी महान् बनने की आकाक्षाने उनकी आत्मा को मायाचार से भर दिया और उसका परिणाम क्या हुआ सो आप जानते है। मनुष्य अपने पापको छिपाने का प्रयत्न करता है वह रुई मे लपेटी आगके समान स्वयमेव प्रकट हो जाता है। किसी का जल्दी प्रकट हो जाता है और किसी का विलम्बसे, पर यह निश्चित है कि प्रकट अवश्य होता है। पाप के प्रगट होने पर मनुष्यका सारा बडप्पन समाप्त हो जाता है और छिपाने के कारण सक्लेश रूप परिणामोसे जो खोटे कर्मो का आस्रव करता रहा उसका फल व्यर्थ ही भोगना पडता है। बाँस की जड, मेढे के सीग, गोमूत्र तथा खुरपी के समान माया चार प्रकार की होती है। यह चारो प्रकार की माया दु:खदायी है। मायाचारी मनुष्य का कोई विश्वास नही करता और विश्वासके न होनेसे उसे जीवन भर कष्ट उठाना पडते है। जब कि सरल मनुष्य इसके विरुद्ध अनेक सम्पत्तियो का स्वामी होता है। आपने पूजा मे पढा होगा—

कपट न कीजे कोय चोरनके पुर ना बसे।
सरल स्वाभावी होय ताके घर बहु सम्पदा ॥

अर्थात् किसी को कपट नही करना चाहिये क्योकि चोरो के कभी गाँव वसे नही देखे गये। जीवन भर चोर चोरी करते हैं पर अन्त मे उन्हे कफनके लिये परमुखापेक्षी होना पड़ता है। इसके विपरीत सरल मनुष्य अधिक सम्पत्तिशाली होता है। माया से मनुष्य की सब सुजनता नष्ट हो जाती है। मायावी मनुष्य ऐसी मुद्रा बनाता है कि देखने मे बडा भद्र मालूम होता है पर उसका अन्त करण अत्यन्त कलुषित रहता है। वनवासके समय जब रामचन्द्रजी पम्पा सरोवर के किनारे पहुँचे तब एक बगला बडी शान्त मुद्रामे बैठा था। उसे देख रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं कि-लक्ष्मण! देखो कैसा शान्त तपस्वी बैठा है? उसी समय एक मच्छ की आवाज आती है कि-महाराज! इसकी शान्त वृत्ति का हाल तो मुझसे पूछिये। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य येन केन प्रकारेण अपना ऐहिक प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं, पर पारलौकिक प्रयोजन की ओर उनकी दृष्टि नही है। साँप

लहराता हुआ चलता है पर जब वह अपने बिल मे घुसने लगता है तब उसे सीधा ही चलना पडता है। इसी प्रकार मनुष्य जब स्वरूपमे लीन होना चाहता है तब उसे सरल व्यवहार ही करना पडता है। सरल व्यवहार के बिना स्वस्वभाव मे स्थिरता कहाँ हो सकती है ?

जहाँ पर स्वस्वभावरूप परिणमन है वहाँ पर कपटमय व्यवहार नही, और जहाँ कपट व्यवहार है वहाँ स्वस्वभाव परिणमन मे विकार है। इसीसे इसको विभाव कहते है। विभाव ही ससारका कारण है। प्राय ससार मे प्रत्येक मनुष्य की यह अभिलाषा रहती है कि मै लोगो के द्वारा प्रशसा पाऊ—लोग मुझे अच्छा समझे यही भाव जीव के दु.ख के कारण हैं। ये भाव जिनके नही होते वे ही सुजन है। उनके जो भी भाव होते है वे ही सुस्वभाव कहलाते है। जिन जीवोके अपने कषाय पोषणके परिणाम नही वही सुजन है। उनकी जो परिणति है वही सुजनता है। यहाँ तक उनकी निर्मल परिणति हो जाती है कि वे परोपकारादि करके भी अपनी प्रशसा नही चाहते। किसी कार्यके कर्त्ता नही बनते। मेरा तो विश्वास है कि ऐसे महान् पुरुष पुण्य को बन्धका कारण समझते हैं। यदि उसे बन्धका कारण न समझते तो उसके कर्तृत्वको क्यो न अपनाते ? वे कर्मोदयमे विषयादि कार्य भी बलात् करते है परन्तु उसमे विरक्त रहते है। जो पुण्य कार्य करने मे भी उपेक्षा करते है वे पाप कार्य करने मे अपेक्षा करें, यह बुद्धि मे नही आता। सुजन मनुष्य की चेष्टा अगम्य है। उनका जो भी कार्य है वह कर्त्तव्य से शून्य है। इसीसे वे लौकिक सुखो और दु ख के होनेपर हर्ष और विषाद भाव के पात्र नही होते। वे उन कार्योंको कर्मकृत जान उनसे उपेक्षित रहते है। वे जो दानादि करते हैं उनमे भी उनके प्रशसादि के भाव नही होते। यही कारण है कि वे अल्प कालमे ससार के दुःखो से बच जाते है।

सुजनता की गन्ध भी मनुष्य के लग जावे तो वह अधर्म कार्यो से बच जावे। वर्तमान युगमे मनुष्य प्राय विषयलम्पटी हो गये हैं। इससे सम्पूर्ण ससार दु खमय हो रहा है। पहले मनुष्य विद्यार्जन इसलिये करते थे कि हम ससारके कष्टोसे बचे तथा परको भी बचावें। हमारे सचयमे जो वस्तु हो उससे परको भी लाभ पहुचे। पहले लोग ज्ञानदान द्वारा अज्ञानीको सुज्ञानी बनानेका प्रयत्न करते थे परन्तु अब तो विद्याध्ययनका लक्ष्य परिग्रह पिशाचके अर्जनका रह गया है। यह बात पहले ही लक्ष्यमे रखते हैं कि इस विद्याध्ययनके बाद हमको कितना मासिक मिलेगा ? पारलौकिक लाभका लक्ष्य नही। पाश्चात्य विद्याका लक्ष्य ही यह है कि विज्ञानके द्वारा ऐसे ऐसे आविष्कार करना जो किसी तरह द्रव्य का अर्जन हो, प्राणियो का सहार हो, सहस्त्रो जीवोका जीवन खतरे मे पड जावे। ऐसे आविष्कार किये जावे कि एक अणुबमके द्वारा लाखो मनुष्यो का स्वाहा हो जावे। अथवा ऐसे ऐसे सिनेमा दिखाये जावे। यद्यपि कोई कोई सिनेमा भलाईके है तो भी वे विष मिश्रित भोजनके समान है। अस्तु, यह सब इस निकृष्ट कालकी महिमा है। इस युगमे भी कई ऐसे सुजन है जो इन उपद्रवोसे सुरक्षित है और उन्हीके प्रतापसे आज कुछ शान्ति देखी जाती है। जिस दिन उन महात्माओ का अभाव हो जायगा उस दिन सर्वत्र ही अराजकताका साम्राज्य हो जावेगा। आजकल प्राचीन आर्यपद्धति के परम्परागत नियमोकी अवहेलना की जाती है और नये नये नियमोका निर्माण किया जा रहा है। प्राचीन नियम यदि दोष पूर्ण हो तो उन्हे त्याग दो। इसमे कोई भी आपत्ति नही, परन्तु अब तो प्राचीन महात्माओंकी बात सुननेसे मनुष्य उबल उठते है। मेरा तो विश्वास है कि परिग्रहके पिशाचसे पीडित आत्मा कितने ही ज्ञानी क्यो न हो उनके द्वारा जो भी कार्य किया जावेगा उससे कदापि साधारण मनुष्यो को लाभ नही पहुँच सकता, क्योकि वे स्वय परिग्रहसे पीडित है। प्राचीन समय मे वीतराग साधुओके द्वारा ससारमात्रकी भलाईके नियम बनाये जाते थे अत जिन्हे ससारके कल्याण करनेकी अभिलाषा है वे पहले स्वय सुजन बने। सुजन मायने भले मनुष्य। भले मनुष्यका अर्थ है जिनका आचार निर्मल हो। निर्मल आचारके द्वारा वे आत्मकल्याण भी कर सकते है और उनके आचारको देखकर ससारी मनुष्य स्वय कल्याण कर सकता है। यदि पिता सदाचारी है तो उसकी संतान स्वयं सदाचारी बन जाती है। यदि पिता बोड़ी पीता है तो वेटा सिगरेट पीवेगा और पिता भग पीता है तो वेटा मदिरा पान करेगा। इसलिए निर्मल आचारके धारक सुजन बनो

तथा निश्छल प्रवृति करो ।

आपने तृतीयाध्यायमे नरक लोकका वर्णन सुना, वहाँके स्वाभाविक तथा परकृत दु खोका जब ध्यान आता है तब शरीरमे रोमाञ्च उठ आते है । हृदयमे विचार करो कि इन दु खोका मूल कारण क्या हे ? इन दु खो का मूल कारण मिथ्यात्वकी प्रबलता है । मिथ्यात्वकी प्रबलतासे यह जीव अपने स्वभावसे च्युत हो, पर पदार्थों को सुखका कारण मानने लगता है । इसलिये परिग्रहमे तथा उसके उपार्जनमे इसकी आसक्ति बढ जाती है और यह परिग्रह तथा आरम्भ सम्बन्धी आसक्ति ही इस जीव को नरक के दु खोका पात्र बना देती हे । नरक गतिमे यह जीव दश हजार वर्षसे लेकर तेतीस सागर तक विद्यमान रहता है । वहाँसे असमयमे निकलना भी नही होता अर्थात् जो जीव जितनी आयु लेकर नरकमे जहाँ पहुँचता हे उसे वहाँ उतनी आयु तक रहना ही पडता है । नरक दु खका कारण हैं परन्तु वहाँ भी यदि किन्ही जीवोकी काललब्धि आजाती है तो वे सम्यग्दृष्टि बन जाते है । सम्यग्दृष्टि बनते ही उनकी अन्तरात्मा आत्मसुख का स्वाद लेने लगती है ।

चिनमूरति दृग्धारीकी मोहि रीति लगत है अटापटी ।
बाहर नारक कृत दुःख भोगे अन्तर सुख रस गटागटी ।।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी नारकी बाह्यमे यद्यपि पूर्वकी भाँति ही दुःख भोगता हे तथापि अन्तरगमे उसे मोहाभाव जन्य सुखका अनुभव होने लगता है । वह समझता है कि नारकियोके द्वारा दिया हुआ दु ख हमारे पुराकृत कर्मोका फल है जिसे भोगना अनिवार्य हे परन्तु यह दु ख हमारा निज स्वभाव नही है । मेरा निज स्वभाव तो चैतन्यमूर्ति तथा अनन्त सुखका भण्डार है । मोहके कारण मेरा स्वभाव वर्तमान मे अन्यथा परिणमन कर रहा है पर जब मोहका विकार आत्मासे निकल जायगा तब आत्मा निजस्वभावमे लीन हो जाएगा ।

मध्यम लोकके वर्णनसे यह चिन्तवन करना चाहिये कि इस लोकमे ऐसा कोई स्थान नही बचा जिसमे मै अनत बार उपजा-मरा न होऊँ । धर्म रूढि नही है प्रत्युत आत्माकी निर्मल परिणति है । उसे जीवनमे उतारनेसे ही आत्माका कल्याण हो सकता है ।

४ : उत्तम शौच धर्म

आज शौचधर्म है । शौचका अर्थ पवित्रता हे । यह पवित्रता लोभ कपायके अभावमे प्रकट होती है । लोभके कारण ही ससारके यावन्मात्र प्राणी दुखी हो रहे हैं । आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासनमे लिखा है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ।।

अर्थात् यह आशारूपी गर्त प्रत्येक प्राणीके सामने बना है । ऐसा गर्त कि जिसमे समस्त ससार का वैभव परमाणु के समान है । फिर किसके भागमे कितना आवे अत विषयोकी वान्छा करना व्यर्थ है । इस आशारूपी गर्तको जैसे-जैसे भरा जाता है वैसे-वैसे ही यह गहरा होता जाता हे । पृथिवीके अन्य गर्त तो भर देनेसे भर जाते हैं, पर यह आशागर्त भरनेसे और भी गहरा हो जाता है । किसी आदमीको हजारकी आशा थी, हजार उसे मिल भी गये, पर अब आशा दस हजारकी हो गई । अर्थात् आशारूपी गर्त पहलेसे दसगुना गहरा हो गया । भाग्यवश दस हजार भी मिल गये पर अब एक लाखकी आशा हो गई । अर्थात् आशागर्त पहलेसे सौ गुना गहरा हो गया । यह केवल कहनेकी बात नही है । इसे आप लोग रात दिन अपने जीवनमे उतार रहे है । तृष्णाके वशीभूत हुआ प्राणी क्या-क्या नही करता है ? वह इष्ट व्यक्तिका प्राणान्त करनेमे भी पीछे नही हटता । आजका मानव निरन्तर 'और और' चिल्लाता रहता है । उसके मुखसे कभी 'बस' नही निकलता । बिना सन्तोपके बस कैसे निकले? एक समय था कि जब लडका कार्य सम्भालने योग्य हो जाता था तब वृद्ध पिता सम्पत्ति से 'मोह' छोड दीक्षा ले लेता था । पर आज वृद्ध पिता और उनके भी पिता हो तो वह भी सम्पत्तिसे मोह नही छोडना चाहते, फिर लडका तो लडका ही है । वह सम्पत्तिसे मोह नही छोड रहा है इसमे आश्चर्य ही क्या है ? कपडा बुननेवाला कुविन्द कपडा बुनते बुनते अन्तिम छीरा छोड देता है पर हम उस अन्तिम छीरे तक बुनना चाहते है । इस तृष्णाका भी कभी अन्त होगा ?

लोभ मीठा शत्रु है । यह दशम गुणस्थान तक मनुष्य

का पिण्ड नही छोड़ता। अन्य कषाय यद्यपि उसके पहले ही नष्ट हो जाती है पर लोभकषाय सबसे अन्त तक चलती जाती है। लोभके निमित्तसे आत्मा मे अपवित्रता आती है। लोभसे ही समस्त पापोमे इस प्राणीकी प्रवृति होती है। आचार्योंने लोभको ही पापका बाप बतलाया है। एक बार एक आदमी काशी पढने गया। उस समय छोटी अवस्थामे विवाह हो जाता था इसलिये उसका भी विवाह हो गया था। वह स्त्रीको घर छोड गया। ५-६ वर्ष काशीमे पढनेके बाद जब घर लौटा तब गाँवके लोगोने उसका बडा सत्कार किया। जब वह अपनी स्त्रीके पास पहुँचा तब स्त्री ने कहा कि आप मुझे अकेली छोड काशी गये थे। अब आप मेरे एक प्रश्नका उत्तर यदि दे सके तो मै अपने घरके भीतर पैर रखने दूँगी, अन्यथा नही। उसने कहा कि अपना प्रश्न कहो। स्त्रीने कहा कि बताओ 'पाप-का बाप क्या है? अद्भुत प्रश्न सुनकर वह बहुत घबराया। रामायण महाभारत भागवत आदि सब ग्रन्थ देख डाले पर कही पाप का बाप नही मिला। उसे चुप देख स्त्रीने कहा अब पुन काशी जाइये और यह पढकर आइये। काशी बहुत दूर थी इसलिए उसने सोचा कि यदि कोई यही पापका बाप बता दे तो काशी न जाना पडे। अन्तमे वह पागलकी भाति नगरकी सडको पर पापका बाप क्या है? पापका बाप क्या है? यह चिल्लाता हुआ भ्रमण करने लगा। एक दिन एक वेश्याने अपने घरकी छपरीसे उसे ऊपर बुलाया और कहा कि यहाँ आओ, पाप का बाप मै बताती हूँ। वह आदमी सीढियोसे जब ऊपर पहुँचा तो उसे वेश्या जान बडा दुखी हुआ और झटसे नीचे उतरने लगा। वेश्याने कहा—महाराज! ठहरिये तो सही; आप जिस सडकसे चल रहे थे उस सडकपर तो वेश्या आदि सभी अधम प्राणी चलते है, फिर हमारा यह मकान उस सडकसे तो अच्छा है। आप इतनी घृणा क्यो करते है? आपने हमारा घर अपनी चरणरजसे पवित्र किया इसलिए एक मुहर आपको चढाती हूँ। यह कहकर वेश्या ने एक मुहर उसे दे दी। मुहर देख उसने सोचा कि यह ठीक तो कह रही है। आखिर यह मकान सडक से तो अच्छा है। कुछ देर ठहरनेके बाद वह जाने लगा तब वेश्या ने कहा महाराज! दो मुहरे देती हूँ। यह सामने पसारीकी दूकान है, इससे सीधा बुलाकर भोजन बना लीजिये, फिर जाइये। दो मुहरो का लाभ देख उसने सोचा कि मै भी तो इसी पसारीकी दूकानसे खाद्य सामग्री लेता हू। इसलिए वेश्या का इसके साथ क्या सम्बन्ध है? २ मुहरे लेकर उसने भोजन बनाना शुरू किया। जब भोजन बन चुका तब वेश्या ने कहा महाराज! मैने जीवन भर पाप किये है। यदि आपके लिए अपने हाथ से भोजन परोस सकू तो मै पाप से निर्मुक्त हो जाऊँ। इस कार्य के लिए मै पाँच मुहरे आपके चरणो मे चढाती हूँ। पाँच मुहरोका नाम सुनते ही उसके मुँहमे पानी आ गया। उसने सोचा कि भोजन तो मेरे हाथ का बनाया है। यदि वेश्या छूकर इसे मेरी थाली मे रख देती है तो इसमे कौन-सा अधर्म हुआ जाता है? यह विचारकर उसने वेश्या को परोसने की आज्ञा दे दी। वेश्याने उत्तम थाली मे भोजन परोस दिया। पश्चात् वेश्या बोली—महाराज! एक भावना बाकी और रह गई है। मै चाहती हूँ कि मै एक ग्रास थालीसे उठाकर आपके मुखमे दे दूँ तो मेरे जन्म जन्म के पाप कट जावे। इस कार्य के लिए मै दस मुहरे चढाती हूँ। दस मुहरो का लाभ देख उसने वेश्याके हाथसे भोजन करना स्वीकृत कर लिया। वेश्याने जो ग्रास मुख मे देने के लिए उठाया था उसे मुखतक ले जानेके बाद छोड दिया और उसके गालमे जोर की थप्पड मारते हुए कहा कि समझे, पापका बाप क्या है? पापका बाप लोभ है। कहाँ तो आप वेश्याके घर आनेपर ग्लानिसे नीचे उतरने लगे थे और कहाँ उसके हाथ का ग्रास खानेके लिये तैयार हो गये? यह सब महिमा लोभ की है। मुहरोके लोभने आपको धर्म-कर्मसे भ्रष्ट कर दिया है।

शौच पवित्रता को कहते है और यह पवित्रता बाह्य आभ्यन्तर के भेदसे दो प्रकार की है। अपने-अपने पदके अनुसार लौकिक शुद्धि का विचार रखना बाह्य शुद्धि है, और अन्तरङ्ग मे लोभादि कषायो का कम करना आभ्यन्तर शुद्धि है। 'गङ्गास्नानान्मुक्ति'—गङ्गा स्नान से मुक्ति होती है इसे जिन शासन नही मानता। उससे शरीर का मल छूट जाने के कारण लौकिक शुद्धि हो सकती है पर वास्तविक शुद्धि तो आत्मामे लोभादि कार्योके कृश करने से ही होती है। अर्जुनके प्रति उपदेश है—

आत्मा नदी सयमपुण्यतीर्था:
सत्योदका शीलतटा दयोर्मि: ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ।

सयम ही जिसका पवित्र घाट है, सत्य ही जिसमे पानी भरा है, शील ही जिसके तट है और दया रूप भवरें जिसमे उठ रही है, ऐसी आत्मारूपी नदीमे हे अर्जुन ! अभिषेक करो, क्योकि पानीमात्रसे अन्तरात्मा शुद्ध नही होती ? आत्मा को निर्मल बनाने का जिसने अभ्यास कर लिया उसने सब कुछ कर लिया । 'आतमके अहित विषय कषाय'—आत्माके सबसे बडे शत्रु विषय और कषाय हैं । इनसे जिसने अपने आपकी रक्षा कर ली उसने जग जीत लिया, अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लिया ।

लोभ केवल रुपया पैसाका ही हो सो बात नही । मान प्रतिष्ठा आदिकी आकाक्षा रखना भी लोभ का ही रूप है । जब रामका रावणके साथ लङ्कामे युद्ध हो रहा था तब राम रावणको मारते थे तो वह बहुरूपिणी विद्या से दूसरा रूप बना कर सामने आ जाता था । इसी प्रकार हम लोभ को छोडने का प्रयत्न करते है । घर गृहस्थी, बाल बच्चे छोड़ कर जगल मे जाते है पर वहाँ शिष्य सग्रह, धर्म प्रचार, आदि का लोभ सामने आ जाता है । पहले घर के कुछ लोगोके भरण-पोषण का ही लोभ था । अब अनेको शिष्यो के भरण-पोषण तथा शिक्षा—दीक्षा आदिका लोभ सामने आ गया । लोभ नष्ट कहाँ हुआ ? वह तो वेष बदल कर आपके सामने आ गया है । यदि वास्तवमे लोभ नष्ट हो जाता तो इस परिकर की क्या आवश्यकता थी ? 'इसका कल्याण करूँ उसका कल्याण करूँ' ऐसे विकल्पजाल निरन्तर आत्मा मे क्यो उठते ? अत प्रयत्न ऐसा करो कि जिससे यह लोभ समूल नष्ट हो जाय । यह रोग छूटने के बाद यदि दूसरा रोग दवाईसे होता है तो वह दवाई दवाई नही । दवाई तो वह है जिससे वर्तमान रोग नष्ट हो जाय और उसके बदले कोई दूसरा रोग उत्पन्न न हो । विषय कषायका सेवन करते करते अनन्तकाल बीत गया पर आत्मामे सतोष उत्पन्न नही हुआ । इससे जान पडता है कि यह सब सतोषके मार्ग नही हैं । समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

तृष्णार्चिष.परिदहन्ति न शान्तिरासा—
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।।

अर्थात् तृष्णारूपी ज्वालाए इस जीवको निरन्तर जला रही है । यह जीव इद्रियोके इष्ट विषय एकत्रित कर उनसे इन तृष्णा रूपी ज्वालाओको शान्त करनेका प्रयत्न करता है पर उनसे इसकी शान्ति नही होती, प्रत्युत वृद्धि ही होती है । जिस प्रकार घृतकी आहुतिसे अग्निकी ज्वाला शान्त होनेके बदले प्रज्वलित ही होती है उसी प्रकार विषय सामग्रीसे तृष्णारूप ज्वाला शान्त होनेके बदले प्रज्वलित ही अधिक होती है ।

चतुर्थ अध्यायमे देवलोकका वर्णन आपने सुना । देवपर्यायके दीर्घ काल तक स्थिर रहनेवाले सुखोसे भी इस जीवको तृप्ति नही हुई फिर मनुष्य लोकके अल्पकालीन सुखोसे इसे तृप्ति हो जायगी यह सभव नही । सागरो पर्यन्त स्वर्गके सुख यह जीव भोगता है पर अन्तमे जब माला मुरझा जाती है तो दुखी होता है कि हाय अब यह सामग्री अन्यत्र कहाँ मिलेगी ? इसी आर्तध्यानसे मरकर कितने ही देव एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं । नरकसे निकलकर एकेन्द्रिय पर्याय नही मिलती पर देवसे निकल कर यह जीव एकेन्द्रिय तक हो जाता है । परिणामो की विचित्रता है । देवोके वर्णनमे आपने सुना है कि उनमे 'स्थिति-प्रभाव-सुख--द्युति-लेश्या–विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिका' और 'गति शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीना अर्थात् स्थिति, प्रभाव, सुख, कान्ति, लेश्याकी विशुद्धता, इन्द्रिय और अवधिज्ञानके विषयकी अपेक्षा अधिकता है तथा गति, शरीर परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा हीनता है । ऊपर ऊपरके देवोमे सुखकी मात्रा तो अधिक है परन्तु परिग्रहकी अल्पता है । इससे सिद्ध होता है कि परिग्रह सुखका कारण नही है किन्तु परिग्रहकी आकाक्षा न होना ही सुखका कारण है । यह प्राणी मोहोदयके कारण परिग्रहको सुखका कारण मान रहा है इसीलिये रातदिन उसीके सचयमे तन्मय हो रहा है । पासका परिग्रह नष्ट न हो जाय यह लोभ है, और नवीन परिग्रह प्राप्त हो जाय यह तृष्णा है । इस प्रकार आज मनुष्य इन लोभ और तृष्णा दोनोके चक्रमे फसकर दुखी हो रहा है ।

५ : उत्तम सत्य धर्म

जो पदार्थ जैसा है उसका उसी रूप कथन करना सत्य है। भगवान् उमास्वामीने असत्य पापका लक्षण लिखा है—'असदभिधानमनृतम्' अर्थात् प्रमादके योगसे जो कुछ असत्का कथन किया जाता है उसको अनृत या असत्य कहते है। इसके चार भेद हैं। जो वस्तु अपने द्रव्यादि चतुष्टय कर है, उसका अपलाप करना यह प्रथम असत्य है। जैसे देवदत्तके रहने पर भी कहना कि यहाँ पर देवदत्त नही है। वस्तु अपने चतुष्टय कर नही है वहाँ उसका सद्भाव स्थापना द्वितीय असत्य है। जैसे जहाँ पर घट नही है वहाँ पर कहना कि घट है। जो वस्तु अपने स्वरूपसे है उसे पर रूपसे कहना तृतीय असत्य है जैसे गौको अश्व कहना। तथा पैशुन्य, हास्य, कर्कश, असमजस, प्रलाप तथा उत्सूत्ररूप जो वचन है वह चतुर्थ असत्य है। इन चार भेदोमे ही सब प्रकारके असत्य आ जाते है। इन चार भेदोके विपरीत जो वचन हैं वे चार प्रकारके सत्य हैं। असत्य भाषणके प्रमुख कारण दो है—एक अज्ञान और दूसरा कषाय। अज्ञानके कारण मनुष्य असत्य बोलता है और कषायके वशीभूत होकर कुछका कुछ बोलता है। यदि अज्ञान जन्य असत्यके साथ कषायकी पुट नही है तो उससे आत्माका अहित नही होता क्योकि वहाँ वक्ता अज्ञानसे विवश है। ऐसा अज्ञान जन्य असत्यवचनयोग तो आगममे बारहवे गुणस्थान तक बतलाता है परन्तु जहा कषायकी पुट रहती है वह असत्य आत्माके लिए अहितकारक है। ससारमे राजा वसुका नाम असत्यवादियोमे प्रसिद्ध हो गया, उसका खास कारण यही था कि वह कषाय जन्य था। पर्वतकी माताके चक्रमे पड़कर उसने 'अजैर्यष्टव्यम्' वाक्यका मिथ्या अर्थ किया था इसलिये उसका तत्काल पतन हो गया, और वह दुर्गतिका पात्र हुआ। कषायवान् मनुष्य अपने स्वार्थके कारण पदार्थका स्वरूप उस रीतिसे कहनेका प्रयत्न करते हैं जिससे उनके स्वार्थमे बाधा न पड जाय। महाभारतमे एक गृद्ध और गोमायुका सवाद आया है। किसीका पुत्र मर गया, उस मृतक पुत्रको लेकर उसके परिवारके लोग श्मशानमे गये। जब श्मसानमे गये तब सूर्यास्त होनेमे कुछ बिलम्ब था। उसी श्मसानमे एक गृध्र तथा एक गोमायु-शृगाल विद्यमान थे। गृध्र रातमे नही खाता इसलिये वह चाहता था कि ये लोग मृत बालकको छोडकर जल्दी ही यहाँसे चले जावे तो मैं इसे खा लू और गोमायु यह चाहता था कि ये लोग यहाँ सूर्यास्त होने तक विद्यमान रहे जिससे सूर्यास्त होनेके बाद इसे गृध्र खा नही सकेगा तब केवल मेरा ही यह भोज्य हो जावेगा। अपने अभिप्रायके अनुसार गृध्र कहता है।

> अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले ।
> कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयकरे ।।
> न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागत ।
> प्रियो वा यदि वा द्वेष्य प्राणिनां गतिरीदृशी ।।

अर्थात् गृध्र तथा शृगालोसे भरे और समस्त प्राणियो को भय उत्पन्न करनेवाले श्मशानेमे ठहरना व्यर्थ है। मृत्युको प्राप्त हुआ कोई भी प्राणी यहाँ आकर जीवित नही हुआ। चाहे प्रिय हो चाहे अप्रिय हो, प्राणियोकी रीति ही ऐसी है।

गृध्र वचनोका प्रभाव मृत बालकके बन्धुजनो पर न पड जाय इस भावनासे गोमायु कहता है—

> आदित्योऽयं स्थितो मूढा. स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
> बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ।।
> अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
> गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किता ।।

अर्थात अरे मूर्ख! अभी यह सूर्य विद्यमान है। तुम लोग बालकसे स्नेह करो। यह मुहूर्त अनेक विघ्नो से भरा है। कदाचित् तुम्हारा बालक जीवित हो जाय। जो स्वर्ण के समान कान्तिमान है तथा जिसका यौवन नही आ पाया ऐसे बालकको गृध्रके कहनेसे आप लोग नि.शङ्क हो क्यो छोड रहे हो ?

प्रकरण लम्बा है पर उसका अभिप्राय देखिये कि मनुष्य अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार पदार्थके यथार्थ स्वरूपको कैसा छिन्न-भिन्न करते हैं। इस छिन्न-भिन्न करने का कारण मनुष्यके हृदयमे विद्यमान प्रमादयोग या कषाय-परिणति ही है। उस पर विजय होजाय तो फिर मुखसे एक भी असत्य शब्द न निकले। मनुष्यकी शोभा या प्रामाणिकता उसके वचनोसे है। वचनोकी प्रामाणिकता नष्ट हुई कि सब कुछ नष्ट हो गया। असत्यवादी के वचन

रथ्यापुरुषके वचनके समान अप्रमाणिक होते है। उनपर कोई ध्यान नही देता पर सत्यवादी मनुष्यके वचन सुनने के लिए लोग घण्टो पहलेसे उत्सुक रहते है। वचनोमे बल सत्यभाषणसे ही आता है, असत्य भाषणसे नही। एक सत्यभाषण ही मनुष्यकी अन्य पापोसे रक्षा कर देता है।

एक राजपुत्रको चोरी की आदत पड़ गई। जब राजाको उसका व्यवहार सह्य नही हुआ तब उसने घरसे निकाल दिया। अब वह खुले रूपमे चोरी करने लगा। एक दिन उसने किन्ही मुनिराज के उपदेशसे प्रभावित होकर असत्य बोलनेका त्याग कर दिया। अब वह एक राजाके यहाँ चोरी करनेके लिये गया। पहरे पर खडे लोगोने पूछा कि कहाँ जाते हो? उसने कहा चोरी करनेके लिये जाता हूँ। राजपुत्र था इसलिये शरीरका सुन्दर था। पहरे पर खडे लोगो ने सोचा कि यह कोई महापुरुष राजाका स्नेही व्यक्ति है। कही चोर यह कहते नही देखे गये कि मै चोरीके लिए जाता हूँ। यह तो हम लोगोसे हँसी कर रहा है। ऐसा विचारकर उन्होने उसे रोका नही चोरी करनेके बाद वह वही एक स्थानपर सो गया। प्रात काल जब लोगोकी दृष्टि पडी तब उससे पूछा गया तो उसने यही कहा कि मै चोर हूँ, चोरी करनेके लिए आया हूँ। फिर भी लोगोको विश्वास नही हुआ। राजपुत्र सोचता है कि देखो सत्य वचनमे कितना गुण है कि चोर होने पर भी किसीको विश्वास ही नही होता कि मै चोर हूँ। जब एक पापके छोडने मे इतना गुण है तब समस्त पापोके छोडनेमे कितना गुण न होगा? यह विचार कर उसने मुनिराजके पास जाकर समस्त पापो का परित्यागकर दीक्षा धारण करली। अस्तु,

मै आज तक नही समझा कि असत्य भी कुछ है। क्योकि जिसे आप असत्य कहते हे वह वस्तु भी तो आत्मीय स्वरूपसे सत है। तब मेरी बुद्धिमे तो यह आता है कि जो पदार्थ आत्माको दु खकर हो उसको त्यागना ही सत्य है। जैसे शरीरको आत्मा मानना असत्य है शरीर असत्य नही है किन्तु जिस रूपसे वह है उससे अन्यरूप मानना असत्य है। शरीर पुद्गल द्रव्यका विकार है। उसे आत्मद्रव्य मानना मिथ्या है। यह विपरीत मान्यता मिथ्यात्वके कारण उत्पन्न होती है इसलिये सर्व प्रथम इसे ही त्यागना चाहिये।

पञ्चमाध्यायमे षड् द्रव्योका वर्णन आपने सुना है। उसमे प्रमुख जीव द्रव्य है। उसीका सब खेल है, वैभव है—

अहं प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
'एको दरिद्र एकः श्रीमनिति च कर्मणा।।

'मै सुखी हूँ, दुखी हूँ इत्यादि प्रत्ययसे जीवके अस्तित्व का साक्षात्कार होता हे तथा अन्वयसे भी इसका प्रत्यय होता है। यह वही देवदत्त है जिसे मैने मथुरामे देखा था, अब यहाँ देख रहा हूँ। इस प्रत्ययसे भी आत्माके अस्तित्वका निर्णय होता हे तथा कोई तो श्रीमान् देखा जाता है और कोई दरिद्र देखा जाता है इस विभिन्नतामे भी कोई कारण होना चाहिये। यह विभिन्नता - विषमता निर्हेतुक नही। जो हेतु हे उसीको कर्म नामसे कहा जाता है। नाममे विवाद नही—चाहे कर्म कहो, अदृष्ट कहो, ईश्वर कहो, खुदा कहो, विधाता कहो, जो आपको रुचिकर हो। परन्तु यह अवश्य मानना कि यह विभिन्नता निर्मूल नही। साथ ही यह भी मानना पडेगा कि जो यह दृश्यमान जगत् है वह केवल एक जीवका परिणाम नही। केवल एक पदार्थ हो तो उसमे नानात्व कहाँसे आया? नानात्वका नियामक द्रव्यान्तर होना चाहिये। केवल पुद्गलमे शब्द बन्धादि पर्याये नही होती। जब पुद्गल परमाणुओ की बन्धावस्था हो जाती है तभी यह पर्याये होती है। उस अवस्थामे पुद्गल परमाणुओकी सत्ता द्रव्यरूपसे अबाधित रहती हे। एतावता शब्दादि पर्याये केवल परमाणुओकी नही किन्तु स्कन्ध पर्यायापन्न परमाणुओ की हैं। इसी तरह जो रागादि पर्याय है वह उदयावस्थापन्न कर्मोके सद्भाव मे ही जीवके होती है। यदि ऐसा न माना जावे तो रागादि परिणाम जीवका पारिणामिक भाव हो जावेगा, और ऐसा होनेसे ससारका अभाव हो जावेगा, जो कि किसीको इष्ट नही। रागादिक भावोका प्रत्यक्षमे सद्भाव देखा जाता है। इससे यही तत्त्व निर्गत होता है कि रागादि भाव औपाधिक है। जैसे स्फटिकमणि स्वच्छ है किन्तु जब स्फटिकमणिके साथ जपापुष्पका सम्बन्ध होता है तब उसमे लालिमा प्रतीत होती है। यद्यपि स्फटिकमणि स्वय रक्त नही किन्तु निमित्त को पाकर रक्तिमामय प्रत्ययका

विषय होता है। इससे यह समझमे आता है कि स्फटिकमणि निमित्त को पाकर लाल जान पड़ती है। यह लालिमा सर्वथा असत्य नही। ऐसा सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस कालमे जिस रूप परिणमती है वह उस कालमे तन्मय हो जाती है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने स्वय प्रवचनसार मे लिखा है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तन्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणादो आदा धम्मो मुणेदव्वो॥

इस सिद्धान्तमे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा जिस समय रागादिरूप परिणमेगा उस समय नियमसे उसी रूप होगा तथा पर्याय दृष्टिसे उन्ही रागादिका उस कालमे अस्तित्व रहेगा। जो भाव करेगा उसीका वर्तमान मे अनुभव होगा।

जल शीत है परन्तु अग्निके सम्बन्धसे उष्ण पर्यायको प्राप्त करता है। यद्यपि उसमे शक्ति अपेक्षा शीत होनेकी योग्यता है तथापि वर्तमानमे शीत नही। यदि कोई उसे शीत मानकर पान करे तो दग्ध ही होगा। इसी प्रकार आत्मा यदि वर्तमानमे रागरूप है तो रागी ही है। इस अवस्थामे वीतरागका अनुभव होना असभव है—इस कालमे आत्माको रागादि रहित मानना मिथ्या है। यद्यपि रागादि परिणाम परनिमित्तक है अतएव औपाधिक है—नशनशील है तथापि वर्तमानमे तो औष्ण्य परिणत अयपिण्डवत् आत्मा तन्मय हो रहा है। अर्थात् उन परिणामोके साथ आत्माका तादात्म्य हो रहा है। इसीका नाम अनित्य तादात्म्य है। यह अलीक कथन नही। एक मनुष्यने मद्यपान किया और उसके नशासे वह उन्मत्त होगया। हम पूछते है कि क्या वह वर्तमानमे उन्मत्त नही है ? अवश्य उन्मत्त है किन्तु किसीसे आप प्रश्न करे कि मनुष्यका क्या लक्षण है ? इसके उत्तरमे उत्तर देनेवाला क्या यह कह सकता है कि उन्मत्तता मनुष्यका लक्षण है ? नही, यह उत्तर ठीक नही। क्योकि मनुष्यकी सर्व अवस्थाओं मे उन्मत्तताकी व्याप्ति नही। इसी तरह आत्मामे रागादिभाव होनेपर भी आत्माका लक्षण रागादि नही हो सकता क्योकि आत्माकी अनेक अवस्थाओमे रागादिभाव व्यापकरूपसे नही रहता। अत. यह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। लक्षण वह होता है जो सर्व अवस्थाओमे पाया जावे। ऐसा लक्षण चेतना ही है। यद्यपि रागादि परिणाम तथा केवलज्ञानादि भी आत्मामे ही होते है। तथापि उन्हे लक्षण नही माना जाता। क्योकि वे जीवकी पर्यायविशेष है, व्यापक रूपसे नही रहती। अन्ततोगत्वा चेतना ही आत्माका एक ऐसा गुण है जो आत्माकी सर्व दशाओमे व्यापकरूपसे रहता है। आत्माकी दो अवस्थाएँ है। ससारी और मुक्त। इन दोनोमे चेतना रहती है। उसीसे अमृत चन्द्र स्वामीने लिखा है कि—

अनाद्यमनन्तमचलं स्वसवेद्यमिह स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥

जीव नामक जो पदार्थ है वह स्वय सिद्ध है तथा परनिरपेक्ष अपने आप अतिशय कर चकचकायमान हो रहा है। कैसा है ? अनादि है। कोई इसका उत्पादक नही अतएव अनादि है, अतएव अकारण है। वस्तु अनादि अकारणक है। वह अनन्त भी है तथा अचल है। ऐसे अनादि, अनन्त तथा अचल-अजीव द्रव्य भी है, इससे इसका लक्षण स्वसवेद्य भी है यह स्पष्ट है। जीव नामक पदार्थमे अन्य अजीवोकी अपेक्षा चेतनागुण ही भेद करनेवाला है। वही गुण इसमे ऐसा विशद् है कि सर्व पदार्थोंकी तथा निजकी व्यवस्था कर रहा है।

इस गुणको सब मानते है परन्तु कोई उस गुणको जीव से सर्वथा भिन्न मानते है। कोई गुणसे अतिरिक्त अन्य द्रव्य नही—गुण-गुणी सर्वथा एक है ऐसा मानते है। कोई चेतना तो जीवमे मानते है परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेदसे पराङ्मुख रहता है ऐसा अङ्गीकार करते हैं। प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसमे चेतनाके ससर्गसे जानपना आता है। कोईका कहना है कि पदार्थ नाना नही एक ही अद्वैत तत्त्व है। वह जब मायावच्छिन्न होता है तब यह संसार होता है। किसीका कहना है कि जीव नामक स्वतन्त्र पदार्थकी सत्ता नहीं किन्तु पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश इनकी [illegible] समय विलक्षण अवस्था होती है उसी समय [illegible] अवस्था हो जाती है। ये जितने मत हैं [illegible] नहीं। जैनदर्शनमे अनन्त गुणोका [illegible]

सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। वह आत्मीय स्वरूप की अपेक्षा भिन्न भिन्न है, परन्तु कोई ऐसा उपाय नही कि उनमेसे एक भी गुण पृथक हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्यमे रूप रस गन्ध स्पर्श गुण है। चक्षुरादि इन्द्रियोसे पृथक् पृथक् ज्ञानमे आते है परन्तु उनमेसे कोई पृथक् करना चाहे तो नही कर सकता। वे सब अखण्डरूपसे विद्यमान है। उन सर्व गुणोकी जो अभिन्न प्रदेशता है उसीका नाम द्रव्य है। अतएव प्रवचनसारमे श्री कुन्दकुन्ददेवने लिखा है—

णत्थि विण परिणाम अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिप्पण्णो ॥

परिणामके विना अर्थकी सत्ता नही तथा अर्थके विना परिणाम नही। जैसे दुग्ध, दधि, घी, छाछ इनके विना गोरस कुछ भी सत्ता नही रखता इसी तरह गोरस न हो तो इन दुग्धादिकी भी सत्ता नही। एव यदि आत्माके ज्ञानादि गुण न हो तो आत्माके अस्तित्व की सिद्धि नही हो सकती। तथा आत्माके विना ज्ञानादि गुणोका कोई आस्तित्व नही। विना परिणामीके परिणमनका नियामक कोई नही। हाँ, यह अवश्य है कि ये गुण सदा परिणमन-शील है, किन्तु अनादिसे आत्मा कर्मोसे सम्बद्ध है, इससे इसके ज्ञानादि गुणोका विकास, निमित्त कारणोके सहकारसे होता है। होता उसीमे है परन्तु जैसे घटोत्पत्तिकी योग्यता मृत्तिकामे ही होती है, किन्तु कुम्भकारके बिना घट नही बनता। यद्यपि घटकी उत्पत्ति योग्य व्यापार कुम्भकारमे ही होगा फिर भी मृत्तिका अपने व्यापारसे घटरूप होगी, कुम्भकार घटरूप न होगा। उपादानको मुख्य मानने-वालोका कहना है कि जब मृत्तिकामे घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है तब वहाँ कुम्भकारकी उपस्थिति स्वयमेव हो जाती है। यहाँपर यह कहना है कि घटोत्पत्ति स्वमेव मृत्तिकामे होती है। इसका क्या अर्थ है ? जिस काल मृत्तिकामे घट होता है उस कालमे क्या कुम्भकारादि निर-पेक्ष घट होता है या सापेक्ष ? यदि निरपेक्ष घटोत्पत्ति होती हो तो एक भी उदाहरण ऐसा बताओ कि मृत्तिकामे कुम्भकारके बिना घट हुआ हो, सो तो देखा नही जाता। यदि सापेक्ष पक्षको अङ्गीकार करोगे तो स्वयमेव आ गया कि कुम्भकारके व्यापार बिना घटकी उत्पत्ति नही होती। इसका अर्थ यह है कि कुम्भकार घटोत्पत्तिमे सहकारी निमित्त है। जैसे आत्मामे रागादि परिणाम होते हैं। यद्यपि आत्मा ही उनका उपादान कर्ता है परन्तु चारित्रमोहके उदय विना रागादि नही होते। होते आत्मामे ही है परन्तु बिना कर्मोदयके यह भाव नही होते। यदि निमित्तके बिना यह हो तब तो आत्माका त्रिकाल अबाधित स्वभाव हो जावे, सो ऐसा यह भाव नही। इसका विनाश हो जाता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि यह आत्माका निज भाव नही। इसका यह अर्थ नही कि यह भाव आत्मामे होता ही नही। होता तो है परन्तु निमित्त कारणकी अपेक्षासे होता है। यदि निमित्त कारणकी अपेक्षासे नही है ऐसा कहोगे तो आत्मामे मतिज्ञानादि जो चार ज्ञान उत्पन्न होते है वे भी तो नैमित्तिक है, उनको भी आत्माके मत मानो। यह भी हमे इष्ट है, हम तो यहा तक माननेको प्रस्तुत हैं कि क्षायोपशमिक औदयिक, औपशमिक जितने भी भाव हैं वे आत्माके अस्तित्व मे सर्वदा नही होते। उनकी कथा छोडो, क्षायिक भाव भी तो क्षयसे होते है वे भी अबाधित रूपसे त्रिकालमे नही रहते अत वे भी आत्माके लक्षण नही। केवल चेतना ही आत्माका लक्षण है। यही अबाधित त्रिकालमे रहता है। इसी भावको पुष्ट करनेवाला श्लोक अष्टावक्र गीतामे अष्टावक्र ऋषिने लिखा है—

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धो या स्यज्जीविते स्पृहा ॥

अर्थात् मैं देह नही हू और न मेरा देह है, न मै जीव हूँ, मै तो चित् हू चैतन्यगुणवाला हूँ। यदि ऐसा वस्तुका निज स्वरूप है तो आत्माको बन्ध क्यो होता है ? इसका कारण हमारी इस जीवमे स्पृहा है। यह तो इद्रिय मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास तथा आयुप्राणवाले पुतलेमे हमारी स्पृहा है यही तो बन्धका मूल कारण है। हम जिस पर्यायमे जाते है उसीको निज मान बैठते है। उसके अस्तित्वसे अपना अस्तित्व मान कर पर्याय बुद्धि हो पर्यायके अनुरूप ही समस्त व्यवहार कर पर्यायान्तरको प्राप्त होते हैं। इससे यही तो निकला कि हम पर्यायबुद्धि-

से ही अपनी जीवनलीला पूर्ण करते है। अस्तु विषय लम्बा हो गया है।

६ : उत्तम संयम धर्म

स्पर्शनादि पाच इन्द्रियो तथा मनके विषयो और षट्कायिक जीवोकी हिंसासे विरत होना संयम कहलाता है। इन्द्रिय विषयोके आधीन हुआ प्राणी उत्तर कालमे प्राप्त होनेवाले दु खोको अपनी दृष्टिसे ओझल कर देता है। यही कारण है कि वह तदात्व सुखमे निमग्न हो आत्महितसे वञ्चित हो जाता है। इन्द्रिय विषयोके आधीन हुआ वनका हाथी अपनी सारी स्वतन्त्रता नष्ट कर देता है। रसनेन्द्रिय वशमे पडा मीन धीवरकी वशीमे अपना कण्ठ छिदा देता है। नासिकाके आधीन रहनेवाला भ्रमर सन्ध्याके समय यह सोचकर कमलमे बन्द हो जाता है कि रात्रि व्यतीत होगी, प्रात.काल होगा, कमल फूलेगा तब मै निकल जाऊँगा। अभी रात भर तो मकरन्दका रसास्वादन करू। पर प्रात'काल होनेके पहले ही एक हाथी आकर उस कमलिनी को उखाड कर चबा जाता है। भ्रमरके विचार उसके जीवनके साथ ही समाप्त हो जाते है। कहा है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचारयत्यब्जगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनी गज उज्जहार ।।

नेत्रेन्द्रियके वशीभूत हुए पतग दीपको पर अपने प्राण न्योछावर कर देते है और कर्णेन्द्रियके आधीन हो हरिण बहेलियोके द्वारा मारे जाते है। ये तो पञ्चेन्द्रियोमे एक-एक इन्द्रियके आधीन रहनेवाले जीवोकी बात कही पर जो पाँचो ही इन्द्रियोके वशीभूत है उनकी तो कथा ही क्या है। पञ्चेन्द्रियोमे स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया अधिक प्रबल है। वट्टकेर स्वामीने मूलाचारमे कहा है कि चतुरङ्गुल प्रमाण स्पर्शन और रसना इन्द्रियने ससारको पटरा कर दिया—नष्ट कर दिया। इन इन्द्रियोकी विषय-दाहको सहन करनेके लिये जब प्राणी असमर्थ हो जाता है तब वह इनमे प्रवृत्ति करता है। कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचनसारमे यहाँ तक लिखा है कि ससारके साधारण मनुष्योकी तो कथा ही क्या है? हरि, हर हलधर, चक्रधर तथा देवेन्द्र आदिक भी इन्द्रियोकी विषय दाहको न सहकर उनमे झम्पापात करते है। इसका अर्थ यह नही कि बडे बडे पुरुष इनमे झम्पापात करते है, अत ये त्याज्य नही हैं। विष तो विष ही है, चाहे उसे छोटे पुरुष पान करें चाहे बडे पुरुष। हरि-हरादिककी विषयोमे प्रवृत्ति हुई सही परन्तु जब उनके चारित्रमोहका उदय दूर हुआ तब उन्होने उस विषयमार्गको हेय समझ कर त्याग दिया। भगवान् ऋषभदेव अपने राज्य पाट भोग विलासमे निमग्न थे। परन्तु नीलाञ्जनाका विलय देख विषयोसे विरक्त हो गये। जब तक चारित्रमोहका उदय उनकी आत्मामे विद्यमान रहा तब तक उनका भाव विषयोसे विरक्त नही हुआ। उन्होने समस्त राज्य वैभव छोड कर दिगम्बर दीक्षा धारण की। इससे यही तो अर्थ निकला कि यह विषयका मार्ग श्रेयस्कर नही। यदि श्रेयस्कर होता तो तीर्थंकर आदि इसे क्यो छोडते। अत अन्तरङ्गसे विषयेच्छाको दूर कर आत्महितका प्रयत्न करना चाहिये।

वज्रदन्त चक्रवर्ती सभामे विराजमान थे। मालीने एक सहस्त्रदल कमल उनकी सेवामे भेट किया। सूँघनेके बाद जब उन्होने कमलके अन्दर मृत भ्रमरको देखा तो उनके हृदयके नेत्र खुल गये। वे विचार करने लगे कि देखो नासा इन्द्रियके वशीभूत हो इस भ्रमरने अपने प्राण गँवाये हैं। यह विषयासक्ति ही जन्म-मरणका कारण है। ऐसा विचार कर उन्होने दीक्षा लेनेका विचार कर लिया। चक्रवर्ती थे इसलिये राज्यका भार बड़े पुत्रको देने लगे। पुत्रके भी परिणाम देखो, उसने कहा पिताजी! यह राज्यवैभव अच्छा है या बुरा? यदि अच्छा है तो आप ही इसे क्यो छोड़ रहे है? यदि बुरा है तो फिर मैं तो आपका प्रीतिपात्र हूँ—स्नेह भाजन हूँ। यह बुरी चीज मुझे ही क्यो दे रहे है। किसी शत्रुको दीजिये। चक्रवर्ती निरुत्तर हो गये। दूसरे पुत्रको राज्य देना चाहा, उसने भी लेनेसे इनकार कर दिया। तब पुण्डरीक नामका छोटा सा बालक जो कि बड़े पुत्रका लडका था उसका राज्याभिषेक कर वन को चले गये। उनके मनमे यह भी विकल्प न उठा कि षट्खण्डके राज्यको छोटा सा बालक

कैसे सभालेगा ? सभाले या न संभाले, इसका विकल्प ही उन्हे नही उठा। यही सच्चा वैराग्य कहलाता है। हम लोग तो 'आलसी बानिया अपशकुनकी वाट जोहै' वाली कहावत चरितार्थ कर रहे है। जरा जरासे कामके लिये वहाना खोजा करते है पर यह निश्चित समझो, ये बहाना एक भी काम न आवेगे। मनुष्य जीवनका भरोसा क्या है। अभी आराम से बैठे हो पर हार्ट फैल हो जाय तो पर्याय समाप्त होते देर न लगे, इसलिये समय रहते, सावधान हो जाना विवेकका कार्य है। 'सुरग-नरक पशु-गतिमे नाही' यह सयम देव, नरक तथा पशुगतिमे प्राप्त नही होता। यद्यपि पशुगतिमे सयमासमयरूप थोडा सा सयम प्रकट हो जाता है पर वह उत्कृष्ट सयमके समक्ष नगण्य ही है। यह सयम कर्मभूमिके मनुष्यके ही हो सकता है, अत मनुष्य पर्याय पाकर इसे अवश्य धारण करना चाहिये। अपनी शक्तिको लोग भूलकर दीन हीन हो रहे है। कहते है कि हमसे अमुक काम नही बनता, अमुक विषय नही छोडा जाता। यदि राजाज्ञा होने पर बलात् यह काम करना पडे तो फिर शक्ति कहाँसे आवेगी। आत्मामे अचिन्त्य शक्ति है। यह प्राणी उसे भूल, पर पदार्थका आलम्बन ग्रहण करता फिरता है परन्तु यह निश्चित है कि जब तक यह परका आलम्बन छोड अपनी स्वतन्त्र शक्तिकी ओर दृष्टिपात न करेगा तब तक इसका कल्याण नही होगा।

आजका मनुष्य इच्छाओका कितना दास हो गया है ? न उसके रहन-सहनमे विवेक रह गया है, न खान-पानमे भक्ष्या भयका विचार शेप रहा है। स्त्री-पुरुषोकी वेष-भूषा ऐसी हो गई है कि जिससे कुलीन और अकुलीन-का अन्तर ही नही मालूम होता है। पुरुष स्वय विषयोका दास हो गया है जिससे वह स्त्रियोको नाना प्रकारके उत्तेजक वस्त्राभूषणोसे सुसज्जित देख प्रसन्नताका अनुभव करता है। यदि पुरुषके अन्दर थोडा विवेक रहे तो वही अपने घरके वातावरणको सभाल सकता है। आजके प्राणी जिह्वा इन्द्रियके इतने दास होगये है कि उन्हे भक्ष्य अभक्ष्य-का कुछ भी विचार नही रह गया है। जिन चीजोमे प्रत्यक्ष त्रसघात अथवा बहुस्थावरघात होता है उन्हे खाते हुए वे सुखका अनुभव करते है। वे यह भूल जाते है कि हमारे अल्प स्वादके पीछे अनन्त जीवोकी जीवन लीला समाप्त हो रही है। आज खाते समय लोग दिन-रातका विकल्प छोड बैठे है। उन्हे जब मिलता है तभी खाने लगते है। आशाधरजीने कहा है कि उत्तम मनुष्य दिनमे एक बार, मध्यम मनुष्य दो बार और अधम मनुष्य पशुके समान चाहे जब भाजन करते है। जैसे पशुके सामने जब भी घासका पूला डाला जाता है वह तभी उसे खाने लगता है। वैसे ही आजका मनुष्य जब भी भोजन सामने आता है तभी खाने लगता है।

छठवे अध्यायमे आपने आस्रवतत्त्वका वर्णन सुना है। मेरी दृष्टिमे यह अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हम कर्मबन्धनसे बचना तो चाहते है, पर कर्म किन कारणोसे बँधते है यह न जाने तो कैसे बच सकते है ? बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक ऐसे बहुतसे कार्य हम लोगोसे होते रहते है जिनसे कर्मका बन्ध जारी रहता है। जो वैद्य रोगके निदानको ठीक ठीक समझ लेता है उसकी दवा तत्काल लाभ पहुँचा देती है पर जो निदानको समझे विना उपचार करता है उसकी दवा महीनो सेवन करनेपर भी लाभ नही पहुँचाती।

'आओ चोर चोरी कर ले गओ मोरी मूदत मुगध फिरे'

सीधा साधा पद है। किसीके घर चोर आया और चोरी कर लेगया। पर उस मूर्खको यह पता नही चला कि चोर किस रास्तेसे आया था अत वह मुहरी-पानी आने जानेके मार्गको-चोरका मार्ग समझ कर मूदता फिरता है। दूसरी रात फिर चोर आते है। यही दशा ससारी प्राणीकी है कि जिन भावोसे कर्मोका आस्रव होता है-कर्मरूपी चोर आत्मामे घुसते है—उन भावोका इसे पता नही रहता इसलिये अन्य प्रयत्न कर्मोका आस्रव रोकनेके लिये करता है। पर कर्मोका आस्रव रुकता नही है। यही कारण है कि यह अनन्तबार मुनिलिङ्ग धारण कर नवम ग्रैवेयक तक उत्पन्न हुआ, परन्तु ससार बन्धनसे मुक्त नही हो सका। जान पडता है कि उसे कर्मों के आस्रवका बोध ही नही हुआ। आत्माकी विकृत परिणतिसे होनेवाले आस्रवको उसने केवल शरीराश्रित क्रियाकाण्डसे रोकना चाहा सो कैसे रुक सकता था ? आगममे लिखा है कि अज्ञानी जीव करोडो जन्मकी तपस्याके द्वारा भी जिस

कर्मको नही खिपा सकता। ज्ञानी जीव उसे क्षणमात्रमे खिपा देता है। तालेकी जो कुजी है उसीसे तो वह खुलेगा। दूसरी कुजीसे दूसरा ताला घटो परिश्रम करनेपर भी नही खुल सकता, और कुजीका ठीक ठीक बोध हो जानेपर जरासी देरमे खुल जाता है। यही बात यहाँपर है। जो कर्म जिस भावसे आता है उस भावके विरुद्ध भाव जब आत्मामे उत्पन्न हो तब उस कर्मका आना रुक सकता है। आपने सुना है 'सकषायाकपाययो साम्परायिकेर्यापथयो' अर्थात् योग सकषाय जीवोके साम्परायिक तथा कषाय-रहित जीवोके ईर्यापथ आस्रवका कारण है। जिस आस्रव-का प्रयोजन ससार है उसे साम्परायिक आस्रव कहते है और जिसमे स्थिति तथा अनुभाग बन्ध नही पडता उसे ईर्यापथ आस्रव कहते है। साम्परायिक आस्रव आत्माका अत्यन्त अहित करनेवाला है। यह कषाय सहित जीवके ही होता है। जिस प्रकार शरीरमे तेल लगाकर मिट्टीमे खेलनेवाले पुरुपके मिट्टीका सम्बन्ध सातिशय होता है और तेल रहित मनुष्यके नाममात्रका होता है उसी प्रकार कषाय सहित जीवका आस्रव सातिशय होता है—स्थिति और अनुभागसे सहित होता है—परन्तु कपाय रहित जीव-के नाममात्रका होता हे, अर्थात् समर्थमात्र स्थित रहकर निर्जीर्ण हो जानेवाले कर्मप्रदेशोका आस्रव उसके होता है। इस तरह आत्माकी सकषाय अवस्था ही आस्रव है—बन्धका कारण है, अत. उससे बचना चाहिये। जिस प्रकार फिटकरी आदिके ससर्गसे जो वस्त्र सकपाय हो गया है उसपर रगका सम्बन्ध अच्छा होता है परन्तु जो वस्त्र फिटकरी आदिके ससर्गसे रहित होनेके कारण अकपाय है उसपर रङ्गका सम्बन्ध स्थायी नही होता उसी प्रकार प्रकृतमे भी समझना चाहिये।

नामकर्मकी ९३ प्रकृतियोमे तीर्थकर प्रकृति सातिशय पुण्य—प्रकृति है, इसलिये उसके आस्रव आचार्यने अलगसे बतलाये है। दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओके चिन्तनसे उसका आस्रव होता है। इन सभीमे दर्शनविशुद्धि प्रमुख है। यदि यह नही है और बाकी सब है तब भी तीर्थंकर प्रकृतिका आस्रव नही हो सकता और यह है तथा बाकीकी नही है तब भी उसका आस्रव हो सकता है। दर्शनविशुद्धिका अर्थ है अपायविचय धर्मध्यानमे वैठकर करुणापूर्ण हृदयसे यह विचार करना कि ये ससारके प्राणी मोहके वशीभूत हो मार्गसे भ्रष्ट हो कितना दु ख उठा रहे है। इनका दु ख किस प्रकार दूर कर सकू। इस लोक-कल्याणकी भावनाके समय जो शुभ राग होता है उसीसे तीर्थकर प्रकृतिका आस्रव होता है। सम्यग्दर्शनकी विशु-द्धता तो मोक्षका कारण है। उसके द्वारा कर्मबन्ध किस प्रकार हो सकता है ?

७ : उत्तम तप धर्म

'तपसा निर्जरा च' आचार्य उमास्वामीने लिखा है कि तपके द्वारा सवर तथा निर्जरा दोनो ही होते है। मोक्ष उपादेय तत्त्व है और सवर तथा निर्जरा उसके साधक तत्त्व है। इनके बिना मोक्ष होना सभव नही। तप चारित्रका ही विशेप रूप है। चारित्रमोहका अभाव होने पर मनुष्यकी विरक्तिरूप अवस्था होती है, और उस विरक्ति अवस्थामे जो कार्य होता है वह तप कहलाता हे। विरक्ति रूप अवस्थामे इच्छाओका निरोध सुतरा हो जाता है इसलिये 'इच्छानिरोधस्तप', इच्छाको रोकना तप है यह तपका लक्षण प्रसिद्ध हो गया है। रागके उदयमे यह जीव वाह्य वैभवको पकडे रहता है पर जब अन्तरङ्गसे राग छूट जाता है तब उस वैभवको छोडते इसे देर नही लगती। वडे-बडे पुरुप ससारसे विरक्त न हो सके पर छोटे पुरुष विरक्त होकर आत्मकल्याण कर जाते है। प्रद्युम्नको वैराग्य आया-दीक्षा लेनेका भाव उसका हुआ अत राज्यसभामे बलदेव तथा श्रीकृष्णसे आज्ञा लेने गया। वहाँ जाकर जब उसने अपना अभिप्राय प्रकट किया तब बलदेव तथा श्रीकृष्ण कहते है कि बेटा! अभी तेरी अवस्था ही क्या है? तूने संसारका सार जाना ही क्या है? जो दीक्षा लेना चाहता है। अभी हम तुझसे बडे बूढे विद्यमान है। हम लोगोके रहते तू यह क्या विचार कर रहा है? सुनकर प्रद्युम्नने उत्तर दिया कि आप लोग संसारके स्तम्भ हो, अत. राज्य करो। मेरी तो इच्छा दीक्षा धारण करनेकी है। इस ससारमे सार है ही क्या जिसे जाना जाय। इस प्रकार राज्यसभासे विदा लेकर अपने अत पुरमे पहुँचा और स्त्रीसे कहता है—प्रिये! मेरा दीक्षा लेनेका भाव है। स्त्री

पहलेसे ही विरक्त बैठी थी। वह कहती है जब दीक्षा लेनेका भाव है तब 'प्रिये' ! सम्बोधनकी क्या आवश्यकता है ? क्या स्त्रीसे पूछ-कर दीक्षा ली जाती है। आप दीक्षा ले या न लें, मै तो जाकर अभी लेती हूँ। यह कहकर वह प्रद्युम्नसे पहले निकल गई। दोनोने दीक्षा धारण कर आत्मकल्याण किया और श्रीकृष्ण तथा बलदेव ससारके चक्रमे फँसे रहे। एक समय था कि जब लोग थोडा सा निमित्त पाकर संसारसे विरक्त हो जाते थे। सिरमे एक सफेद बाल देखा कि वैराग्य आ गया पर आज एक दो नही समस्त बाल सफेद हो जाते है पर वैराग्यका नाम नही आता उसका कारण यही है कि मोहका सस्कार बडा प्रबल है। जिस प्रकार चिकने घडे पर पानीकी बूँद नही ठहरती उसी प्रकार मोही जीवोपर वैराग्यवर्धक उपदेशोका प्रभाव नही ठहरता। थोडा बहुत वैराग्य जब कभी आता भी है तो श्मशान वैराग्यके समान थोडी ही देरमे साफ हो जाता है।

बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारके हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप है। इन्हे बाह्य पुरुष भी कर सकते हैं तथा इनका प्रवृत्त्यश बाह्यमे दृष्टिगोचर होता है इसलिये इन्हे बाह्य तप कहते है। और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। इनका सीधा सम्बन्ध आभ्यन्तर—अन्तरात्मासे है तथा इन्हे बाह्य पुरुष नही कर सकते इसलिये ये अभ्यन्तर तप कहलाते है। इन सभी तपोमे इच्छाका न्यूनाधिक रूपसे नियन्त्रण किया जाता है। इसीलिये इनसे नवीन कर्मोका बन्ध रुकता है और पूर्वके बँधे कर्म निर्जीर्ण हो जाते है। 'कर्मशैलको वज्रसमाना' यह तप कर्मरूपी पर्वतको गिराने के लिये वज्रके समान है। जिस प्रकार वज्रपातसे पर्वतके शिखर चूर-चूर हो जाते हैं उसी प्रकार तपश्चरणसे कर्म चूर चूर हो जाते है। जिन कर्मोके फल देनेका समय नही आया ऐसे कर्म भी तपके प्रभावसे असमयमे ही गिर जाते हैं। अविपाक निर्जराका मूल कारण तप ही है। तपके द्वारा किसी सासारिक फलकी आकाक्षा नही करना चाहिये। जैनसिद्धान्त सम्मत तप तथा अन्य लोगोके तपमे अन्तर बताते हुए श्री समन्तभद्र स्वामीने लिखा है—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान् पुनर्जन्म-जराजिहासया
त्रयी प्रवृत्ति समधीरनारुणत् ॥

हे भगवन् ! कितने ही लोग सतान प्राप्त करने के लिये, कितने ही धन प्राप्त करने के लिये तथा कितने ही मरणोत्तर कालमे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादिकी तृष्णासे तपश्चरण करते हैं परन्तु आप जन्म और जराकी बाधाका परित्याग करनेकी इच्छासे इष्टानिष्ट पदार्थोमे मध्यस्थ हो मन वचन कायकी प्रवृत्तिको रोकते है। अन्यत्र तपका प्रयोजन ससार है तो यहाँ तपका प्रयोजन मोक्ष है। परमार्थ से तप मोक्षका ही साधन है। उसमे यदि कोई न्यूनता रह जाती है तो सासारिक सुखका भी कारण हो जाता है। जैसे खेती का उद्देश्य अनाज प्राप्त करना है। यदि पाला आदि पडने से अनाज प्राप्त करने मे कुछ कमी हो जाय दो पलाल कौन ले गया, वह तो प्राप्त होगा ही। इसी प्रकार तपश्चरणसे मोक्ष मिलता है। यदि कदाचित् उसकी प्राप्ति न हो सकी तो स्वर्गका वैभव कौन छीन लेगा ? वह तो प्राप्त होगा ही।

पद्मपुराणमे विशल्याकी महिमा आपने सुनी होगी। उसके पास आते ही लक्ष्मणके वक्ष स्थलसे देवोपुनीत शक्ति निकलकर दूर हो गई। इसमे विशल्याका पूर्व जन्मने किया हुआ तपश्चरण ही कारण था। निर्जन वनमे उसने तीन हजार वर्ष तक कठिन तपश्चरण किया था। तपश्चर्याके प्रभावसे मुनियो के शरीरमे नाना प्रकारकी ऋद्धिया उत्पन्न होती है पर वे उनकी ओरसे निर्मान ही रहते है। विष्णुकुमार मुनिको विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न थी पर उन्हे इसका पता ही नही था। क्षुल्लकके कहनेसे उनका उस ओर ध्यान गया। सनत्कुमार चक्रवर्ती तपश्चरण करते थे। दुष्कर्मके उदयसे उनके शरीरमे नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो गये फिर भी उस ओर उनका ध्यान नही गया। एक बार इन्द्र की सभामे इसकी चर्चा हुई तो एक देव इनकी परीक्षा करने के लिये आया। जहा वे तप करते थे वहाँ वह देव एक वैद्यका रूप धरकर

चक्कर लगाने लगा तथा उनके शरीर पर जो रोग दिख रहे थे उन सबकी औषधि अपने पास होनेकी टेर लगाने लगा। एक दो दिन हो गये। मुनि विचार करते है कि यदि यह वैद्य है तो नगरमे क्यो नही जाता ? यहाँ क्या झाड-झखाडोकी औषधि करने आया है ? उन्होने उसे बुलाया और पूछा कि तुम्हारे पास क्या क्या औषधियाँ है ? उसने जो रोग उनके शरीर पर दिख रहे थे उन सबकी औषधियाँ बता दी। मुनिराजने कहा कि भाई ! ये रोग तो मुझे है नही। ये सब शरीरमे अवश्य है पर उसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? मै तो आत्मद्रव्य हूँ जो कि इससे सर्वथा भिन्न है। उसे इन रोगोमेसे एक भी रोग नही है। हॉ, उसे जन्म-मरणका रोग है। यदि तुम्हारे झोलामे उसकी औषधि हो तो देदो। वैद्य असली रूपमे प्रकट हो चरणो मे गिर कर कहता है कि भगवन् ! इस रोगकी औषधि तो आपके ही पास है। हम देव लोग तो इसकी औषधि जो तप है उससे वञ्चित ही रहते है। चाहते हैं कि तप करें पर हमारा यह वैक्रियिक शरीर उसमे बाधक है। कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी तरह गृहस्थीके जालसे छुटकारा मिला है तो दूसरे जालमे नही फँसना चाहिये और निर्द्वन्द होकर आत्माका कल्याण करना चाहिये।

अन्तरङ्ग तपोमे स्वाध्यायको भी तप बताया है। स्वाध्यायसे आत्मा और अनात्माका बोध होता है इसलिये प्रमाद छोडकर स्वाध्यायमे प्रवृत्ति करना चाहिये। आचार्योंकी बुद्धि तो देखो, उन्होने शास्त्र पढनेके लिये 'स्वाध्याय' यह कितना सुन्दर शब्द चुना है। अरे शास्त्र पढते हो तो उसके लिये 'शास्त्राध्याय' शब्द चुनते पर उन्होने स्वाध्याय शब्द चुना है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्र पढकर स्व को पढो, अपने आपको पहचानो। यदि ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वको पढ़नेके बाद भी स्व को नही पढ सके तो उस भारभूत ज्ञानसे कौनसा लाभ होनेवाला है ? इतना ज्ञान तो इस जीवने अनन्तबार प्राप्त किया परन्तु ससार सागरसे पार नही हो सका। जैन सिद्धान्तमे अनेक शास्त्रोको जाननेकी प्रतिष्ठा नही है किंतु सम्यग्ज्ञानकी प्रतिष्ठा है। यहाँ तो मात्र तुपमाषको भिन्नभिन्न जाननेवाले मुनिको केवल ज्ञानकी प्राप्ति बताकर मोक्ष पहुँचनेकी बात लिखी है। अत ज्ञान थोडा भी हो तो हानि नही परन्तु मिथ्या न हो इस बातका ध्यान रक्खो।

सप्तम अध्याय मे आप ने शुभास्रव का वर्णन सुनते समय अहिंसादि पॉच व्रतो का वर्णन सुना है। उसमे उन्होने व्रतो की स्थिरता के लिए पॉच पॉच भावनाओ का वर्णन किया है, उस पर ध्यान दीजिये। जिन कामो से व्रत मे बाधा होती दिखी उन्ही उन्ही कामो पर आचार्यने पहरा बैठा दिया है। जैसे मनुष्य हिंसा करता है तो किन किन कार्यों से करता है ? १ वचनसे कुछ बोलकर, २ मनसे कुछ विचार, ३ शरीरसे चलकर, ४ किन्ही वस्तुओको रख तथा उठाकर और ५ भोजन ग्रहणकर। इन पॉच कार्योंसे ही करता है। आचार्यने इन पॉचो कार्योपर पहरा बैठाते हुए लिखा है—

'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च' अर्थात् वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकितपानभोजन इन पाच कार्योंसे अहिसा व्रतकी रक्षा होती है। इसी प्रकार सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत और परिग्रहत्यागव्रतकी बात समझना चाहिये।

उन्होने एक बात और लिखी है 'नि शल्यो व्रती' अर्थात् व्रतीको नि शल्य होना चाहिये। माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य है। ये काटेकी तरह सदा चुभती रहती है इसलिये व्रतीको इनसे दूर रहना चाहिये। मायाका अर्थ है भीतर कुछ और बाहर कुछ। व्रतीको ऐसा कभी नही होना चाहिये। कितने ही व्रती अन्तरङ्गमे कुछ है और लोक व्यवहारमे कुछ और ही प्रवृत्ति करते है। जिसकी ऐसी प्रपञ्चसे भरी वृत्ति है वह व्रती कैसे हो सकता है ? हृदय यदि दुर्बल है तो कठिन व्रत कभी धारण नही करो तथा हृदय की दुर्बलता छिपाकर बाह्य प्रवृत्तिके द्वारा उन्नत बननेकी भावना निन्द्य भावना है। इससे व्रतीको सदा यह भय बना रहता है कि कही मेरी हृदयकी दुर्बलता कोई जान न जावे। इसी तरह जिस व्रतको धारण किया है उसमे पूर्ण श्रद्धा होना चाहिये। उसके बिना मिथ्यात्व अवस्था रहेगी तथा श्रद्धाकी दृढता

न होने से आचार भी निर्मल नही रह सकेगा। इसलिये जितना आचरण किया जाय उनका विवेक और श्रद्धाके साथ किया। जाय यदि व्रती के विवेक नही होगा तो वह उत्सूत्र प्रवृत्ति करेगा और अपनी उस प्रवृत्तिसे जनतापर आतक जमाने की चेष्टा करेगा। यदि भाग्यवश जनता विवेकवती हुई और उसने उसकी उत्सूत्र प्रवृत्तिकी आलोचना शुरू कर दी तो इससे हृदयमे क्षोभ उत्पन्न हो जायगा जो निरन्तर अशान्तिका कारण होगा। इसके सिवाय व्रतीको व्रत धारण कर उसके फलस्वरूप किसी भोगोपभोगकी आकाक्षा नही रखनी चाहिये, क्योकि ऐसा करनेके कारण उसकी आत्मामे निर्मलता नही आ सकेगी। जहाँ स्वार्थकी गन्ध है वहाँ निर्मलता कैसी ? व्रतीको तो केवल यह भावना रखना चाहिये कि पापका परित्याग करना हमारा कर्तव्य है जिसे मैं कर रहा हूँ। इससे क्या फलकी प्राप्ति होगी ? इस प्रपञ्चमे पडनेकी आवश्यकता नही। एक बार सही मार्गपर चलना शुरू कर दिया तो लक्ष्य स्थानकी प्राप्ति अवश्य होगी उसमे सन्देहकी बात नही है।

८ : उत्तम त्याग धर्म

त्याग का अर्थ छोडना है, पर जब ग्रहण हो तभी न छोडना बने। ससार के समस्त पदार्थ अपना-अपना चतुष्टय लिये स्वतन्त्र विद्यमान है। किसी को ग्रहण करने की किसी मे सामर्थ्य नही। हमारा कमण्डलु वहाँ रक्खा और मै यहाँ बैठा, मैने कमण्डलु को क्या ग्रहण कर लिया ? आपकी सम्पत्ति आपके घर है। आप यहाँ बैठे है। आपने सम्पत्ति को क्या ग्रहण कर लिया ? जब ग्रहण ही नही किया तब त्यागना कैसा ? बाह्य मे तो ऐसा ही है परन्तु मोह के कारण यह जीव उन पदार्थों मे 'ये मेरे है' 'मै इनका स्वामी हूँ', इस प्रकार का मूर्च्छाभाव लिये बैठा है। वही मूर्च्छाभाव छोडने का नाम त्याग है। जिसका यह मूर्च्छाभाव छूट गया उसकी आत्मा नि शल्य हो गई। यह मनुष्य पर-पदार्थ को अपना मान उसके इष्ट अनिष्ट परिणमन से व्यर्थ ही हर्ष-विषाद का अनुभव करता है। यदि पर मे परत्व और निज मे निजत्व बुद्धि हो जावे तो त्याग का आनन्द उपलब्ध हो जावे। इस तरह निश्चय से ममता भाव को छोडना त्याग कहलाता है। बहिरङ्ग मे आहार औषधि, ज्ञान तथा अभय से त्याग के चार भेद है। जब यहाँ भोगभूमि थी तब सब की एक सी दशा थी, कल्पवृक्षो से सबकी इच्छाएँ पूर्ण होती थी इसलिये किसी से किसी को कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नही थी। मुनिमार्ग का भी अभाव था इसलिये आहारादि देना अनावश्यक था परन्तु जब से कर्मभूमि प्रचलित हुई और विषमता को लिए हुये मनुष्य यहाँ उत्पन्न होने लगे तबसे पारस्परिक सहयोगकी आवश्यकता हुई। मुनिमार्गका भी प्रचलन हुआ इसलिये आहारादि देना आवश्यक हो गया। फलस्वरूप उसी समय से त्याग धर्म का आविर्भाव हुआ। दाता को हृदय से जब तक लोभ कषाय की निवृत्ति नही तब वह किसी के लिये एक कपर्दिका भी देने के लिये तैयार नही होता, पर जब अन्तरङ्ग से लोभ निकल जाता है तब छह-खण्ड का वैभव भी दूसरे के लिये सौपने मे देर नही लगती। मुनि ने श्रावक से आहार लिया, श्रावक ने भक्तिपूर्वक दिया, इसमे दोनो का कल्याण हुआ। दाता का तो इसलिये हुआ कि उसकी आत्मा से लोभकषाय की निवृत्ति हुई और मुनि का इसलिये हुआ कि आहार पाकर उसके औदारिक शरीर मे स्थिरता आई जिससे वह रत्नत्रय की वृद्धि करने मे समर्थ हुआ। मुनि अपने उपदेश से अनेक जीवो को सुमार्ग पर लगावेगे इस दृष्टि से अनेक जीवो का कल्याण हुआ। इस तरह विचार करने पर त्यागधर्म अत्यधिक स्वपर कल्याणकारी जान पडता है। मुनि अपने पद के अनुकूल निश्चय त्यागधर्म का पालन करते है और गृहस्थ बाह्य त्याग धर्मका पालन करते है। इतना निश्चित है कि ससार का समस्त व्यवहार त्याग से ही चल रहा है। अन्यथा जिसके पास जो है वह किसी के लिए कुछ न दे तो क्या ससार का व्यवहार चल जावेगा ?

एक बार एक साधु नदी के किनारे पहुँचा। दूसरी पार जाने के लिए नाव लगती थी। नाव का किराया दो पैसा था। साधु के पास पैसा का अभाव था इसलिए वह नदी के इस पार ही ठहरने का उद्यम करने लगा। इतने मे एक सेठ आया, बोला—बाबाजी ! रात्रि को यहाँ कहाँ ठहरेंगे। साधु ने कहा बेटा ! नाव मे बैठने के लिये

दो पैसा चाहिये। मेरे पास हैं नहीं अत. यहीं रात्रि बिताने का विचार किया है। सेठ ने कहा पैसों की कोई बात नहीं, आप नाव पर बैठिये। सेठ और साधु—दोनों नाव पर बैठ गये। सेठ ने चार पैसे नाव वाले को दिये। जब नाव से उतरकर दूसरी ओर दोनो पहुँच गये तब सेठ ने साधु से कहा बाबाजी आप बहुत त्याग का उपदेश देते हो। यदि आपके समान मैंने भी पैसे त्याग दिये होते तो आज क्या दशा होती ? अत त्याग की बात छोडो। साधु ने हँसकर कहा—बेटा ! यदि नदी पार हुई है तो चार पैसों के त्याग से ही हुई है। यदि तू ये पैसे अपनी अटी मे रखे रहता तो यह नाववाला तुझे कभी भी नदी से पार नही उतारता। सेठ चुप रह गया।

कहने का तात्पर्य यही है कि त्याग से ही ससार के सब काम चलते है।

पानी बाढ़े नाव मे घर में बाढे दाम।
दोनो हाथ उलीचिये यही सयानो काम ॥

यदि नाव मे पानी बढ रहा है तो दोनों हाथो से उलचकर उसे बाहिर करना ही बुद्धिमता है। इसी प्रकार यदि घर मे सम्पत्ति बढ रही है तो उसे दान के द्वारा उत्तम कार्य मे खर्च करना ही उसकी रक्षा का उपाय है। दान सम्मान के साथ देना चाहिये और उसके बदले किसी प्रकार का अभिमान हृदय मे उत्पन्न नहीं होना चाहिये, अन्यथा पैसा का पैसा जाता है और उसमे आत्मा को लाभ भी कुछ नही होता। दान मे लोभ कषाय से निवृत्ति होने के कारण दाता की आत्मा को लाभ होता है। यदि लोभ के बदले उसके दादा-मानका उदय आत्मा मे हो गया तो इससे क्या लाभ कहलाया। उत्तम पात्र के लिये दिया हुआ दान कभी व्यर्थ नही जाता। धन्यकुमार की कथा आप लोग जानते हैं। घर से निकलने पर उसे जो स्थान-स्थान पर अनायास ही लाभ हुआ था वह उसके पूर्व पर्याय मे दिये दान का ही फल था। समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है —

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार योग्य भूमि मे पड़ा हुआ बट का छोटा बीज कालान्तर में बडा वृक्ष बनकर छाया के विभव को प्रदान करता है उसी प्रकार योग्य पात्र के लिये दिया हुआ छोटा सा दान भी समय पाकर अपरिमित वैभव को प्रदान करता है।

जब बसन्त याचक भये दीने तरु मिल पात।
तातें नव पल्लव भये 'दिया व्यर्थ नहिं जात' ॥

एक कवि के सामने पूर्ति के लिये समस्या रखी गई 'दिया व्यर्थ नहिं जात' जिसकी उसने उक्त प्रकार पूर्ति की। कितना सुन्दर भाव इसके अन्दर भर दिया है। बसन्त ऋतु मे प्रथम पतझड आती है जिससे समस्त वृक्षो के पुराने पत्ते झड जाते है और उसके बाद उन वृक्षो मे नये लहलहाते पल्लव उत्पन्न होते है। कवि ने यही भाव इसमे अंकित किया है कि जब बसन्त ऋतु याचक हुआ अर्थात उसने वृक्षो से पत्तो की याचना की तब सब वृक्षो ने उसे अपने-अपने पत्ते दे दिये। उसी के फलस्वरूप उन्हे नये-नये पल्लवों की प्राप्ति होती है क्योकि दिया दान कभी व्यर्थ नही जाता है। मान बडाई के लिए जो दान दिया जाता है वह व्यर्थ जाता है। इसके लिए महाभारत मे एक उपकथा आती है।

युद्ध मे विजयोपरान्त युधिष्ठर महाराज ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमे हजारो ब्राह्मणो को भोजन कराया गया। जिस स्थान पर ब्राह्मणो को भोजन कराया गया उस स्थान पर युधिष्ठिर महाराज खडे हुए कुछ लोगो से वार्ता कर रहे थे। वहाँ एक नेवला जूठनमे बार-बार लोट रहा था। महाराज ने नेवला से कहा—यह क्या कर रहा है ? तब नेवला ने कहा महाराज ! एक गाँव मे एक वृद्ध ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री थी, एक लडका था और लडके की स्त्री थी। इस तरह चार आदमियों की उसकी गृहस्थी थी। बेचारे बहुत गरीब थे। खेतो पर से शिला बीनकर लाते और उससे अपनी गुजर करते थे। एक बार तीन दिन के अन्तर से उन्हे भोजन प्राप्त हुआ। शिला बीनकर जो अनाज उन्हें मिला उसमे वे आठ रोटियां बनाकर तथा दो-दो रोटियां अपने हिस्से की लेकर खाने बैठे। बैठे ही थे कि इतने मे एक गरीब आदमी चिल्लाता हुआ आया कि सात दिन से मुझ

मे अनाज का दाना भी नही गया, भूख के मारे प्राण निकले जा रहे है। उसकी दीन वाणी सुन ब्राह्मण को दया आ गई जिससे उसने यह विचार कर कि अभी मुझे तो दो तीन ही दिन हुए है, पर इस वेचारेको सात दिन हो गये हैं, अपनी रोटियाँ उसे दे दी। वह आदमी तृप्त नही हुआ। तब ब्राह्मण अपनी स्त्रीकी ओर देखने लगा। ब्राह्मणीने कहा कि आप भूखे रहे और मै भोजन करूँ यह कैसे हो सकता है ? यह कह उसने भी अपनी रोटियाँ उसे दे दी। वह फिर भी तृप्त नही हुआ। तव दोनो लडकोकी ओर देखने लगे। लडकेने कहा कि हमारे वृद्ध माता पिता भूखे रहे और मै भोजन करूँ यह कैसे हो सकता है ? यह कह उसने भी अपनी रोटियाँ उसे खिला दी। वह फिर भी तृप्त नही हुआ तब वे तीनो, लडकेकी स्त्रीकी ओर देखने लगे। उसने भी कहा कि यद्यपि मैं आपके घर उत्पन्न नही हुई हूँ तथापि आप लोगोके सहवाससे मुझमे भी कुछ-कुछ उदारता और दयालुता आई है। यह कहकर उसने भी अपनी रोटियाँ उसे खिला दी। वह भूखा आदमी तृप्त होकर आशीर्वाद देता हुआ चला गया। चारोके चारो भूखे रह गये। महाराज ! जिस स्थान पर उस गरीवने बैठकर भोजन किया था, मैं वहासे निकला तो मेरा नीचेका भाग स्वर्णमय हो गया। अब आधा स्वर्णमय और आधा चर्ममय होनेसे मुझे अपना रूप अच्छा नही लगता। इसी बीच मैने सुना कि महाराजके यहाँ यज्ञमे हजारो ब्राह्मणोका भोजन हुआ है। वहा जाकर लेटूँगा तो पूरा स्वर्णमय हो जाऊँगा। यही विचारकर मैं यहाँ आया और वडी देरसे जूँठनमे लोट रहा हूँ, परन्तु मेरा शेष शरीर स्वर्णमय नही हो रहा है। महाराज ! जान पडता है आपने यह ब्राह्मणभोजन करुणाबुद्धिसे नही कराया। केवल मान वडाईके लिये लोकव्यवहार देख कराया है। कथा तो कथा ही है पर इससे सार यही निकलता है कि मान बढाईके उद्देश्यसे दिया दान निष्फल जाता है। दान देते समय पात्रकी योग्यता और आवश्यकता पर भी दृष्टि डालना चाहिये। एक स्थान पर कहा है—

> **दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।**
> **व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधम् ।।**

अर्थात् हे युधिष्ठिर ! दरिद्रोका भरण पोषण करो, सम्पन्न व्यक्तियोको धन नही दो। रुग्ण मनुष्यके लिए औषधि हितकारी है, नीरोग मनुष्यको उससे क्या प्रयोजन ?

प्रसन्नताकी बात है कि जैन समाजमे दान देनेका प्रचार अन्य समाजोकी अपेक्षा अधिक है। प्रतिवर्ष लाखो रुपयोका दान समाजमे होता है और उससे समाजके उत्कर्पके अनेक कार्य हो रहे है। पिछले पचास वर्षोसे आपकी समाजमे जो प्रगति हुई है वह आपके दानका ही फल है।

अष्टम अध्यायमे आपने वन्धतत्त्वका वर्णन सुना है। वन्धका प्रमुख कारण मोहजन्य विकार है। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा वन्धहेतव' इस सूत्रमे जो वन्धके कारण वतलाये है उनमे योगको छोडकर शेप सव मोहजन्य विकार ही तो है। अन्य कर्मोके उदयसे जो भाव आत्मामे उत्पन्न होते है उनसे नवीन कर्म वन्ध नही होता। परन्तु मोह कर्मके उदयसे जो भाव होता है वह नवीन कर्मवन्धका कारण है। कुन्दकुन्द स्वामीने भी समयसारमे कहा है—

> **रत्तो वंधदि कम्मं मुचदि जीवो विरागसपत्तो ।**
> **एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।**

अर्थात् रागी प्राणी कर्मोको बाँधता है और राग रहित प्राणी कर्मोको छोडता है। वन्धके विषयमे जिनेन्द्र भगवान् का यही उपदेश है, अत कर्मोमे राग नही करो। इस रागसे बचनेका प्रयत्न करो। 'यह राग आग दहे सदा ताते समामृत सेइये' यह राग रूपी आग सदा जलाती रहती है इसलिये इससे बचनेके लिए सदा समताभावरूपी अमृतका सेवन करना चाहिये। यह ससारचक्र अनादि कालसे चला आ रहा है और सामान्यकी अपेक्षा अनन्त काल तक चलता रहेगा। पञ्चास्तिकायमे श्री कुन्दकुन्ददेवने लिखा है—

> **गदिमधिगदस्य देहो देहादिंदियाणि जायते ।**
> **जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तोदुहोदि परिणामो ।।**
> **परिणामादो कम्मं कम्मादो गदिसु होदि गदी ।**
> **गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायते ।।**

तेहि दु विषयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।
जायदि जीवस्सेवं भावो सचारचक्कवालम्मि ।।
इदि जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणोंवा ।

जो संसारमे रहनेवाले जीव है उनके स्निग्ध परिणाम होता है, परिणामोसे कर्मका वन्ध होता है, कर्मसे जीव एक गतिसे अन्य गतिमे जाता है, जहाँ जाता है वहाँ देहग्रहण करता है, देहसे इन्द्रियोका उत्पादन होता है, इन्द्रियोके द्वारा विषय ग्रहण करता है, विषय ग्रहणसे रागादि परिणामोकी उत्पत्ति होती है, फिर रागादिकसे कर्म, और कर्मसे गत्यन्तरगमन, फिर गत्यन्तरगमन से देह, देहसे इन्द्रियाँ, इन्द्रियोसे विषय ग्रहण, विषयो से स्निग्ध परिणाम, स्निग्धपरिणामोसे कर्म और कर्मसे वही प्रक्रिया । इस तरह यह ससार चक्र बराबर चला जाता है । यदि इसकोमिटाना है तो उक्त प्रक्रियाका अन्त करना पडेगा । इस प्रक्रियाका मूल कारण स्निग्ध परिणाम है । उसका अन्त करनाही इस भवचक्रके विध्वसका मूल हेतु है । इसको दूर करनेके उपाय बडे बडे महात्माओने बतलाए है । आज ससारमे धर्मके जितने आयतन दृष्टिपथ पर है वे इसी चक्रसे बचनेके साधन है, किन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि डालो तो ये सर्व उपाय पराश्रित है । केवल स्वाश्रित उपाय ही स्व द्वारा अर्जित ससारके विध्वसका कारण हो सकता है । जैसे शरीरमे यदि अन्न खाकर अजीर्ण हो गया है तो उसके दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय यही है कि उदरसे पर द्रव्यका सम्बन्ध पृथक् कर दिया जावे । उसकी प्रक्रिया यह है कि प्रथम तो नवीन भोजन त्यागो, तथा उदरमे जो विकार है वह या तो काल पाकर स्वयमेव निर्गत हो जावेगा या शीघ्र ही पृथक् करना है तो वमन-विरेचन द्वारा निकाल दिया जावे । ऐसा करनेसे निरोगताका लाभ अनायास हो सकता है । मोक्षमार्गमे भी यही प्रक्रिया है । बल्कि जितने कार्य हैं उन सर्वकी यही पद्धति है । यदि हमे ससार बन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो सबसे प्रथम हम कौन है ? क्या हमारा स्वरूप है ? वर्तमान क्या है ? तथा ससार क्यो अनिष्ट है ? इन सब बातो का निर्णय करना आवश्यक हे । जब तक उक्त बातोका निर्णय न हो जावे तब तक उसके अभावका प्रयत्न हो ही नही सकता । आत्मा अहम्प्रत्यवेद्य है । उसकी जो अवस्था हमे ससारी बना रही है उससे मुक्त होनेकी हमारी इच्छा है तब केवल इच्छा करनेसे मुक्तिके पात्र हम नही हो सकते । जैसे जल, अग्नि के निमित्तसे उष्ण होगया है । अब हम माला लेकर जपने लगे कि 'शीतस्पर्शवज्जलाय नमः' तो क्या इससे अनल्प कालमे भी जल शीत हो जायगा ? नही, वह तो उष्ण स्पर्शके दूर करनेसे ही शीत होगा । इसी तरह हमारी आत्मामे जो रागादि विभाव परिणाम है उनके दूर करनेके अर्थ 'श्री वीतरागाय नमः' यह जाप असख्य कल्प भी जपा जावे तो भी आत्मामे वीतरागता न आवेगी, किन्तु रागादि निवृत्तिसे अनायास वीतरागता आ जावेगी । वीतरागता नवीन पदार्थ नही, आत्माकी निर्मोह अवस्था ही वीतरागता है । जो कि शक्तिकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहती है । जिसके उदयसे परमे निजत्व बुद्धि होती है वही मोह है । परको निज मानना यह अज्ञान भाव है अर्थात् मिथ्याज्ञान है । इसका मूल कारण मोहका उदय है । ज्ञानवरणके क्षयोपशमसे ज्ञान तो होता है परन्तु विपर्यय होता है । जैसे शुक्तिकामे रजतका विभ्रम होता है । यद्यपि शुक्ति रजत नही हो गई तथापि दूरत्व एव चाकचक्यादि कारणोसेभ्रान्ति हो जाती है । यहा भ्रान्तिका कारण दूरत्वादि दोष है । जैसे कामला रोगी जब शङ्ख देखता है तब 'पीतः शङ्खः' ऐसी प्रतीति करता है । यद्यपि शङ्खमे पीतता नही, यह तो नेत्रमे कामला रोग होने से खङ्खमे पीतत्व भासमान है । यह पीतता कहासे आई ? तब यही कहना पडेगा कि नेत्रमेजो कामला रोग है वही इस पीतत्व का कारण है । इसी प्रकार आत्मामे जो रागादि होते है उनका मूल कारण मोहनीय कर्म है । उसके दो भेद है—१ दर्शनमोह और २ चारित्रमोह । उनमे दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व और चारित्रमोह के उदय से राग द्वेष होते हैं । उपयोग आत्माका ऐसा है कि उसके सामने जो आता है उसीका उसमे प्रतिभास होने लगता है । जैसे नेत्र के समक्ष जो पदार्थ आता है वह उसका ज्ञान करा देता है । यहा तक तो कोई आपत्ति नही, परन्तु जो पदार्थ ज्ञान में आवे उसे आत्मीय मान लेना आपत्ति जनक है । क्योकि वह मिथ्या अभिप्राय है । जो पर वस्तुको निज मानता

है, संसार मे लोग उसे ठग कहते है, परन्तु यह चोट्टापन छूटना सहज नही । अच्छे अच्छे जीव पर को निज मानते है और उन पदार्थों की रक्षा भी करते है किन्तु अभिप्राय मे यह है कि ये हमारे नही । इसीलिये उन्हे सम्यग्ज्ञानी कहते है । मिथ्यादृष्टि जीव उन्हे निज मान अनन्त ससार के पात्र होते है । अत सिद्ध होता है कि यह मोह परिणनि ही बन्ध का कारण है । इससे छुटकारा चाहते हो तो प्रथम मोह परिणतिको दूर कर आत्मस्वरूपमे स्थित होनेका प्रयास करो । इसीसे आत्मशान्ति प्राप्त होगो । परमार्थ से आत्मशान्तिका उपाय यही है कि परसे सम्बन्ध छोडा जाय और आत्मपरिणतिका विचार किया जाय । विचारका मूल कारण सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति आप्तश्रुतिसे होती है, आप्तश्रुति आप्ताधीन है, आप्त रागादि दोप रहित है अत रागादि दोपोको जानो, उनकी पारमार्थिक दशासे परिचय करो । रागादि दोषोका त्याग ही ससार बन्धनसे मुक्तिका उपाय है । रागादिकोका यथार्थ स्वरूप जान लेना ही उनसे विरक्त होनेका मूल उपाय है ।

९ : उत्तम अकिचन धर्म

त्याग करते करते अन्तमे आपके पास क्या बचेगा ? कुछ नही । जिसके पास कुछ नही बचा वह अकिञ्चन कहलाता है और अकिञ्चनका जो भाव है वही आकिञ्चन्य कहलाता है । परिग्रहका त्याग हो जानेपर ही पूर्ण आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है । सुख आत्माका गुण है । भले ही वह वर्तमानमे विपरीतरूप परिणमन कर रहा हो पर यह निश्चित है कि जब भी वह प्रकट होगा तव आत्मामे ही प्रकट होगा । यह ध्रुव सत्य है, परन्तु मोहके कारण यह जीव परिग्रहको सुखका कारण जान उसके सचयमे रात दिन एक कर रहा है । 'परितो गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रह ' जो आत्माको सब ओरसे पकड कर जकड कर रक्खे वह परिग्रह है । परमार्थसे विचार किया जाय तो यह परिग्रह ही इस जीवको समन्तात्—सब ओरसे जकडे हुए है । 'मूर्च्छा परिग्रह ' । आचार्य उमास्वामी महाराजने परिग्रहका लक्षण मूर्च्छा रक्खा है । मैं इसका स्वामी हूँ, ये मेरे स्व हैं इस प्रकारका भाव ही मूर्च्छा है । इस मूर्च्छाके रहते हुए पासमे कुछ भी न हो तब भी यह जीव परिग्रही कहलाता है और मूर्च्छाके अभावमे समवसरणरूप विभूतिके रहते हुए भी अपरिग्रह–परिग्रह रहित–कहलाता है । परिग्रह सबसे बडा पाप है जो दशम गुणस्थान तक इस जीवका पिन्ड नही छोडता । आज परिग्रहके कारण ससारमे त्राहि त्राहि मच रही है । जहाँ देखो वही परिग्रहकी पुकार है । जिनके पास है वे उमे अपने पाससे अन्यत्र नही जाने देना चाहते और जिनके पास नही है वे उमे प्राप्त करना चाहते है । इसीलिये ससारमे सघर्ष मचा हुआ है । यदि लोगोकी दृष्टिमे इतनी वात आ जाय कि परिग्रह निर्वाहका साधन है । जिस प्रकार हमे भोजन, वस्त्र और निवासके लिए परिग्रह की आवश्यकता है उसी प्रकार दूसरेके लिए भी इसकी आवश्यकता है, अत. हमे आवश्यकतासे अधिक अपने पास नही रोकना चाहिये, तो ससारका कल्याण हो जाय । यदि परिग्रहका कुछ भाग एक जगह अनावश्यक रुक जाता है तो दूसरी जगह उसके बिना कमी होनेसे सकट उत्पन्न हो जाता है । शरीर के अन्दर जबतक रक्तका सचार होता रहता है तबतक शरीरके प्रत्येक अग अपने कार्यमे दक्ष रहते है पर जहाँ कही रक्तका सचार रुक जाता है, वहाँ वह अङ्ग वेकार होजाता है और जहाँ रक्त रुक जाता है वहाँ मवाद पैदा हो जाता है । यही हाल परिग्रहका है । जहाँ यह नही पहुँचेगा वहाँ उसके बिना सकटापन्न स्थिति हो जायगी और जहाँ रुक जायगा वहाँ मद-मोह विभ्रम आदि दुर्गुण उत्पन्न कर देगा । इसलिये जैनागममे यह कहा गया है कि गृहस्थ अपनी आवश्यकताओके अनुसार परिग्रहका परिमाण करे और मुनि सर्वथा ही उसका परित्याग करे ।

आजके युगमे मनुष्यकी प्रतिष्ठा पैसेसे आँकी जाने लगी है इसलिये मनुष्य न्यायसे अन्यायसे जैसे बनता है वैसे पैसेका सचय कर अपनी प्रतिष्ठा बढाना चाहता है । प्रतिष्ठा किसे बुरी लगती है ? इस परिग्रहकी छीना-झपटीमे मनुष्य भाईका, पुत्र पिताका और पिता पुत्र तकका घात करता सुना गया है । इसके दुर्गुणोकी ओर जब दृष्टि जाती है, तब शरीरमे रोमाञ्च उठ आते है ।

चक्रवर्ती भरत ने अपने भाई बाहुबलिके ऊपर चक्र चला दिया। किसलिए ? परिग्रह के लिए। क्या वे यह नही सोच सकते थे कि आखिर यह भी तो उसी पिताकी सन्तान है जिसकी मैं हूँ। यह एक न वशमे हुआ–न सही, षट्खण्डके समस्त मानव तो वशमे आगये आज्ञाकारी हो गये। पर वहाँ तो मोहका भूत सवार था इसलिए सतोष कैसे हो सकता था ? वे मन्त्रियो द्वारा निर्णीत दृष्टियुद्ध, और मल्लयुद्धमे पराजित होनेपर भी उबल पडे—रोषमे आगये और भाईपर चक्ररत्न चलाकर शान्त हुए। उस समयके मन्त्रियोकी बुद्धिमानी देखो। वे समझते थे कि ये दोनो भाई चरम-शरीरी मोक्षगामी है। इनमेसे एकका भी विघात होनेका नही। यदि सेनाका युद्ध होता है तो हजारो निरपराध व्यक्ति मारे जावेगे, इसलिये अपनी बलवत्ता का निर्णय ये दोनो अपने ही युद्धोसे करे। और युद्ध भी कैसे, जिनमे घातक शस्त्रोका नाम भी नही ? यह उस समयके मन्त्री थे और आजके मन्त्रियोकी बात देखो। आप घरमेसे बाहर नही निकलेगे पर निरपराध प्रजाके लाखो मानवोका विध्वस करा देगे। कौरव और पाण्डवोका युद्ध किनिमित्तिक था ? इसी परिग्रह निमित्तक तो था। कौरव अधिक थे इसलिये सम्पत्तिका अधिक भाग चाहते थे। पाण्डव यदि यह सोच लेते कि हम थोडे है अत हमारा काम थोडेसे ही चल सकता है। अर्ध भागकी हमे आवश्यकता नही है तो क्या महाभारत होता ? नही, पर उन्हे तो आधा भाग चाहिये था। कितने निरपराध सैनिकोका विनाश हुआ, इस ओर दृष्टि नही गई। जावे कैसे ? परिग्रहका आवरण नेत्रके ऊपर ऐसी पट्टी बाँध देता है कि वह पदार्थका सही रूप देख ही नही पाता। ससारमे परिग्रह पापकी जड है। वह जहाँ जावेगा वही पर अनेक उपद्रव करावेगा। करावे किन्तु जिन्हे आत्महित करना है वे इसे त्याग करे। त्याग परिग्रहका नही मूर्च्छाका होना चाहिये।

कितने ही लोग ऐसा सोचते हैं कि अभी परिग्रहका अर्जन करो, पीछे दान आदि कार्योंमे व्यय कर पुण्यका सचय कर लेगे। परन्तु आचार्य कहते है कि 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनन वरम्' अर्थात कीचड धोनेकी अपेक्षा दूरसे ही उसका स्पर्श न करना ही अच्छा है। लक्ष्मीको अगीकार कर उसका त्याग करना कहाँकी बुद्धिमानी है ? कार्तिकेय मुनिने लिखा है कि वैसे तो सभी तीर्थङ्कर समान हैं परन्तु वासुपूज्य, मल्लि नेमि, पार्श्व और वर्धमान इन पाँच तीर्थङ्करोमे हमारी भक्ति विशेप है क्योकि इन्होने सपत्तिको अङ्गीकृत ही नही किया। जब कि अन्य तीर्थङ्करोने सामान्य मनुष्योकी तरह सम्पत्ति ग्रहण कर पीछे त्याग किया। परिग्रहवालोसे पूछो कि उन्हे परिग्रहसे कितना सुख है ? जिसके पास कुछ नही है वह सुखकी नीद तो सोता है पर परिग्रहवालोको यह नसीब नही।

एक गरीब आदमी था, महादेवजीका भक्त था। उसकी भक्तिसे प्रसन्न होकर एक दिन महादेवजी ने कहा–बोल क्या चाहता है ? महादेवजीको सामने खडा देख बेचारा घबरा गया। बोला—महाराज ! कल सवेरे माँग लूगा। महादेवजी ने कहा अच्छा। वह आदमी सायकालसे ही विचार करने बैठा कि महादेवजीसे क्या माँगा जाय। हमारे पास रहनेके लिये घर नही इसलिये यही माँगा जाय। फिर सोचता है जब महादेवजी मुह मागा वरदान देनेको तैयार है तब घर ही क्यो माँगा जाय ? देखो ये जमीदार हैं, गाँवके समस्त लोगो पर रौब गाँठते है, इसलिये हम भी जमीदार हो जावे तो अच्छा है। यह विचार कर उसने जमीदारी माँगनेका निर्णय किया। फिर सोचता है आखिर जब लगान भरनेका समय आता है तब ये तहसीलदारकी आरजू मिन्नत करते है। इसलिये इनसे बडा तो तहसीलदार है, वही क्यो न बन जाऊँ ? इस तरह विचार कर वह तहसीलदार बननेकी आकाक्षा करने लगा। कुछ देर बाद उसे जिलाधीशका स्मरण आया तो उसके सामने तहसीलदारका पद फीका दिखने लगा। इस प्रकार एकके बाद एक इच्छाए बढती गई और वह निर्णय नही कर पाया कि क्या माँगा जाय। सारी रात्रि विचार करते करते निकल गई। सवेरा हुआ, महादेवजीने पूछा—बोल क्या चाहता है ? वह उत्तर देता है—महाराज ! कुछ नही चाहिये ! क्यो ? क्यो क्या, जब पासमे संपत्ति आई नही, आनेकी आशामात्र दिखी तव तो रात्रिभर नीद नही। यदि कदाचित् आ गई तो फिर नीद तो एकदम विदा हो जायगी। इसलिये महाराज मै जैसा हूँ, वैसा ही अच्छा हूँ। उदाहरण है

अत. इससे सार ग्रहण कीजिये। सार इतना ही है कि परिग्रह जञ्जालका कारण है, अत इससे निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

नवम अध्यायमे सवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन आपने सुना है। वास्तवमे विचार करो तो मोक्षके साधक ये दो ही तत्त्व है। नवीन कर्मोका आस्रव रुक जाय यही सवर है और पूर्वबद्ध कर्मोका क्रम-क्रमसे खिर जाना निर्जरा है। 'सवर' गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्रके द्वारा होता है। इन कारणोमे आचार्य महाराजने सर्वसे प्रथम गुप्तिका उल्लेख किया है। समस्त आस्रवोका मूल कारण योग है। यदि योगो पर नियन्त्रण हो गया तो आस्रव अपने आप रुक जावेगे। इस तरह गुप्ति ही महासवर है। परन्तु गुप्तिका प्राप्त होना सहज नही। गुप्तिरूप अवस्था सतत नही हो सकती अत उसके अभावमे प्रवृत्ति करना पडती है। तव आचार्यने आदेश दिया कि भाई यदि प्रवृत्ति ही करना है तो प्रमाद रहित प्रवृत्ति करो। प्रमाद रहित प्रवृत्तिका नाम समिति है। मनुष्य चलता है, बोलता है, खाता है, किसी वस्तुको उठाता धरता है और मलमूत्रादिका त्याग करता है। इनके सिवाय यदि अन्य कर्म करता हो तो बताओ? उसके समस्त कार्य इन्ही पाँच कर्मोके अन्तर्गत हो जाते है। आचार्य महाराजने पाँच समितियोके द्वारा इन पाँचो कार्यो पर पहरा बैठा दिया फिर अनीति मे प्रवृत्ति हो तो कैसे हो?

१० : उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

आत्माका उपयोग आत्मामे स्थिर नही रहता इसका कारण परिग्रह है। परिग्रहके कारण ही उपयोगमे सदा चञ्चलता आती रहती है। आकिञ्चन्य धर्ममे परिग्रहका त्याग होनेसे आत्माका उपयोग अन्यत्र न जाकर ब्रह्म अर्थात् आत्मामे ही लीन होने लगता है। यथार्थमे यही ब्रह्मचर्य है। बाह्य ज्ञेयसे उपयोग हटकर आत्मस्वरूपमे ही लीन हो जाय तो इससे बढकर धर्म क्या होगा? इसी ब्रह्मचर्यको सबसे वडा धर्म माना है। ब्रह्मचर्यकी पूर्णता चौदहवे गुणस्थानमे होती है। आगममे वहाँ ही शीलके अठारह हजार भेदोकी पूर्णता बतलाई। यद्यपि निश्चय नयसे ब्रह्मचर्यका यही स्वरूप है तथापि व्यवहारसे स्त्री त्यागको ब्रह्मचर्य कहते है। स्वकीय तथा परकीय दोनो प्रकारकी स्त्रियोका त्याग हो जाना पूर्ण ब्रह्मचर्य है। और परकीय स्त्रीका त्यागकर स्वकीय स्त्रीमे सतोष रखना अथवा स्त्रीकी अपेक्षा स्वपुरुषमे सतोष रखना एक-देश ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यसे ही मनुष्यकी शोभा तथा प्रतिष्ठा है। चिरकालसे मनुष्योमे जो कौटुम्बिक व्यवस्था चली आ रही है उसका कारण मनुष्यका ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य का सवसे वडा वाधक कारण कुसङ्गति है। कुसगतिके चक्रमे पडकर ही मनुष्य बुरी आदतो मे पडता है इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षा चाहनेवाले मनुष्यको सर्व प्रथम कुसगति से बचना चाहिये। शुभचन्द्राचार्यने वृद्ध सवाको ब्रह्मचर्यका साधक मानकर ज्ञानार्णवमे इसका विशद वर्णन किया है। यहाँ जो उत्तमगुणोसे सहित हैं उन्हे वृद्ध कहा हैं। केवल अवस्थासे वृद्ध मनुष्योकी यहाँ विवक्षा नही हैं। मनुष्यके हृदयमे जब दुर्विचार उत्पन्न होते है तव उन्हे रोकनेके लिए लज्जा गुण बहुत कुछ प्रयत्न करता है। उत्तम मनुष्योकी सँगतिसे लज्जागुणको वल मिलता है। और वह मनुष्योके दुर्विचारो को परास्त कर देता है परन्तु जव नीच मनुष्योकी सगति रहती है तब लज्जागुण असहाय जैसा होकर स्वय परास्त हो जाता है। हृदयसे लज्जा गई फिर दुर्विचारोको रोकनेवाला कौन है?

आदर्श गृहस्थ वही हो सकता है जो अपनी स्त्रीमे सतोष रखता है। इस एकदेश ब्रह्मचर्यका भी कम माहात्म्य नही है। सुदर्शन सेठकी रक्षाके लिये देव दोडे आते है। सीताजीके अग्निकुण्डको जलकुण्ड बनानेके लिये देवोका ध्यान आकर्षित होता है। यह क्या है? एक शीलव्रतका ही अद्भुत महात्म्य है। इसके विरुद्ध जो कुशील पापमे प्रवृत्ति करते है वे देर सबेर नष्ट हो जाते हैं इसमे सदेह-की बात नही है। जिन घरोमे यह पाप आया वे घर बरवाद ही हो गये और पाप करनेवालोको अपने ही जीवनमे ऐसी दशा देखनी पडी कि जिसकी उन्हे स्वप्नमे भी सभावना नही थी। जिस पापके कारण रावणके भवनमे एक बच्चा भी नही बचा उसी पापको आज

लोगोने खिलौना बना रक्खा है ।

जाहि पाप रावणके छौना रह्यौ न भौंना माहि ।
ताही पाप लोगनने खिलौना करि राख्यौ है ।।

पाप पाप ही है । इसे जो भी करेगा वह दुःख उठावेगा । ब्रह्मचारी मनुष्यको अपने रहन, वेषभूषा आदि सब पर दृष्टि रखना पडती है । बाह्य परिकर भी उज्वल बनाना पडता है क्योकि इन सबका असर उसके ब्रह्मचर्यपर अच्छा नही पडता । आप भगवान् महावीर स्वामीके संबोधे हुए शिष्य है । भगवान् महावीर कौन थे ? बाल ब्रह्मचारी ही तो थे । अच्छा जाने दो उनकी बात, उनके पहले भगवान् पार्श्वनाथ कैसे थे ? वे भी बाल ब्रह्मचारी थे और उनके पहले कौन ? नेमिनाथ, वे भी ब्रह्मचारी थे । उनका ब्रह्मचर्य तो और भी आश्चर्यकारी है । बीच विवाहमे विरक्त हो दीक्षा उन्होने धारण की थी । इस तरह एक नही तीन तीन तीर्थंकरोने आपके सामने ब्रह्मचर्यका माहात्म्य प्रकट किया है । हम अपने आपको उनका शिष्य बतलाते है पर ब्रह्मचर्यकी ओर दृष्टि नही देते । जीवन विलासमय हो रहा है और उसके कारण सूरतपर बारह बज रहे है, फिर भी इस कमी को दूर करने की ओर लक्ष्य नही जाता । कीडे मकोड़े की तरह मनुष्य सख्या मे वृद्धि होती जा रही है । बल-वीर्यका अभाव शरीर मे होता जा रहा है फिर भी ध्यान इस ओर नही जाता । एक बच्चा माँ के पेट मे और एक अञ्चल के नीचे है फिर भी मनुष्य विषय से तृप्त नही होता । पशु मे तो कम से कम इतना विवेक होता है कि वह गर्भवती मादा से दूर रहता है पर हाय रे मनुष्य ! तू तो पशुसे भी अधम दशाको पहुँच रहा है । तुझे गर्भवती स्त्रीसे भी समागम करनेमे सकोच नही रहा । इस स्थितिमे जो तेरे सन्तान उत्पन्न होती है उसकी अवस्थापर भी थोडा विचार करो । किसीके लीवर बढ रहा है तो किसीके पक्षाघात हो रहा है । किसीकी आँख कमजोर है तो किसीके दाँत दुर्बल है । यह सर्व क्यो है ? एक ब्रह्मचर्यके महत्त्वको नही समझनेसे है । जब तक एक बच्चा माँका दुग्धपान करता है तब तक दूसरा बच्चा उत्पन्न न किया जाय तो बच्चे भी पुष्ट हो तथा माता पिता भी स्वस्थ रहे । आज तो स्त्रीके दो तीन बच्चे हुए नही कि उसके शरीर मे बुढापाके चिह्न प्रकट हो जाते है । पुरुषके नेत्रो पर चश्मा आ जाता है और मुँहमे पत्थरके दाँत लगवाने पडते है । जिस भारतवर्षमे पहले टी बी. का नाम नही था वहाँ आज लाखोकी संख्यामे इस रोगसे ग्रसित है । विवाहित स्त्री पुरुषोकी बात छोडिये अब तो अविवाहित बालक बालिकाये भी इस रोगकी शिकार हो रही है । इस स्थितिमे भगवान् ही देशकी रक्षा करें । एक राजा ज्योतिष विद्याका बडा प्रेमी था । वह मुहूर्त दिखाकर ही स्त्री समागम करता था । राजाका ज्योतिषी तीन सालमे एक बार मुहूर्त निकाल कर देता था । इससे राजाकी स्त्री बहुत कुढती रहती थी । एक दिन उसने राजासे कहा कि ज्योतिषी जी आपको तो तीन साल बाद मुहूर्त शोध कर देते है और स्वय निजके लिए चाहे जब मुहूर्त निकाल लेते है । उनका पोथी-पत्रा क्या जुदा है ? देखो न, उनके प्रति वर्ष बच्चे उत्पन्न हो रहे है । स्त्रीकी बात पर राजाने ध्यान दिया और ज्योतिषीको बुलाकर पूछा कि महाराज ! क्या आपका पोथी-पत्रा जुदा है ? ज्योतिषीने कहा— महाराज ! इसका उत्तर कल राजसभामे दूँगा ।

दूसरे दिन राजसभा लगी हुई थी । सिंहासन पर राजा आसीन थे । उनके दोनो ओर तीन तीन वर्षके अन्तरसे हुए दोनो बच्चे सुन्दर वेष-भूषामे बैठे थे । राजसभामे ज्योतिषी जी पहुँचे । प्रति वर्ष उत्पन्न होनेवाले बच्चोमेसे वे एकको कन्धेपर रखे थे, एकको बगलमे दाबे थे और एकको हाथसे पकडे थे । पहुँचने पर राजाने उत्तर पूछा । ज्योतिषीने कहा— महाराज ! मुहूर्तका बहाना तो मेरा छल था । यथार्थ बात यह है कि आप राजा है । आपकी सतान राज्यकी उत्तराधिकारी है । यदि आपके प्रतिवर्ष सतान पैदा होती तो वह हमारे इन बच्चोके समान होती । एकके नाक बह रही है, एककी आँखोमे कीचड लग रहा है, कोई ची कर रहा है, कोई पी कर रहा है । ऐसी सतानसे क्या राज्यकी रक्षा हो सकती है ? हम तो जाति के ब्राह्मण है । हमारे इन बच्चो को राज्य तो करना नही है, सिर्फ अपना पेट पालना है सो येन केन प्रकारेण पाल ही लेगे । आपके

ये दोनो बच्चे तीन तीन सालके अन्तरसे हुए है और ये हमारे बच्चे एक एक वर्षके अन्तरसे हुए हैं। दोनोकी सूरत मिलान कर लीजिये। राजा ज्योतिषीके उत्तरसे निरुत्तर हो गया तथा उसकी दूरदर्शितापर बहुत प्रसन्न हुआ। यह तो कथा रही, पर मै आपको एक प्रत्यक्ष घटना सुनाता हूं। मै पं० ठाकुरदासजीके पास पढता था। वह बहुत भारी विद्वान थे। उनकी स्त्री दूसरे विवाहकी थी पर उसकी परिणतिकी बात हम आपको क्या सुनावे ? एक बार पण्डित जी उसके लिए १००) सौ रुपयेकी साडी ले आये। सडी हाथ मे लेकर वह पण्डित जी से कहती है पण्डित जी ! यह साडी किसके लिये लाये हैं ? पण्डितजीने कहा कि तुम्हारे लिये लाया हूँ। उसने कहा कि अभी जो साडी मै रोज पहिनती हूँ वह क्या बुरी है ? बुरी तो नही है पर यह अच्छी लगेगी, पण्डितजीने कहा। यह सुन उसने उत्तर दिया कि मै अच्छी लगने के लिए वस्त्र नही पहनना चाहती। वस्त्रका उद्देश्य शरीरकी रक्षा है, सौन्दर्य वृद्धि नही, और सौन्दर्य वृद्धि कर मै किसे आकर्षित करू ? आपका प्रेम मुझपर है यही मेरे लिये बहुत है। उसने वह साडी अपनी नौकरानीको दे दी और कह दिया कि इसे पहिन कर खराब नही करना। कुछ बट्टे से वापिस होगी सो वापिस कर आ और रुपये अपने पास रख। समय पर काम आवेगे। जब पण्डितजीके दो सन्तान हो चुकी तब एक दिन उसने पण्डितजीसे कहा कि देखो अपने दो सतान, एक पुत्र और एक पुत्री हो चुकी। अब पापका कार्य बन्द कर देना चाहिये। पण्डितजी उसकी बात सुन कर कुछ हीला हवाला करने लगे तो वह स्वय उठ कर उनकी गोदमे जा बैठी और बोली कि अब तो आप मेरे पिता तुल्य हैं और मै आपकी बेटी हूँ। पण्डितजी गद्गद् स्वरसे बोले—बेटी ! तूने तो आज वह काम कर दिया जिसे मै जीवन भर अनेक शास्त्र पढकर भी नही कर पाया। उस समयसे दोनो ब्रह्मचर्यसे रहने लगे। यदि किसीकी लडकी या वधू विधवा हो जाती है तो लोग यह कह कर उसे रुलाते है कि हाय ! तेरी जिन्दगी कैसे कटेगी ? पर यह नही कहते कि बेटी ! तू अनन्त पापसे बच गई, तेरा जीवन बन्ध-मुक्त हो गया। अब तू आत्महित स्वतन्त्रतासे कर सकती है।

प्रथमानुयोगमे एक कथा आती है—किसी आदमीसे पानी छाननेके बाद जो जीवानी होती है वह लुढक गई। उसने मुनिराज से इसका प्रायश्चित्त पूछा तो उन्होने कहा कि असिधारा व्रत धारण करनेवाले स्त्री-पुरुषको भोजन कराओ। महाराज ! इसकी परीक्षा कैसे होगी ? ऐसा उसने पूछा तो मुनिराजने कहा कि जब तेरे घरमे ऐसे स्त्री-पुरुष भोजन कर जावेगे तब तेरे घरका मलिन चदेवा सफेद हो जावेगा। मुनिराजके कहे अनुसार वह स्त्री-पुरुषोको भोजन कराने लगा। एक दिन उसने एक स्त्री तथा पुरुषको भोजन कराया और देखा कि उनके भोजन करते करते मैला चदेवा सफेद हो गया है। आदमीको विश्वास हो गया कि ये ही असिधारा व्रतके धारक है। भोजनके बाद उसने पूछा तो उन्होने परिचय दिया कि जब हम दोनो का विवाह नही हुआ था, उसके पहले हमने शुक्ल पक्षमे और इसने कृष्ण पक्षमे ब्रह्मचर्य रखनेका नियम ले रखा था। अनजानमे हम दोनोका विवाह हो गया। शुक्लपक्षके बाद कृष्णपक्षमे जब हमने इसके प्रति कामेच्छा प्रकट की तो इसने उत्तर किया कि मेरे तो कृष्णपक्षमे ब्रह्मचर्य से रहने का जीवन पर्यन्त के लिये नियम है। मैं उत्तर सुनकर शान्त हो गया। तदनन्तर जब कृष्णपक्ष के बाद शुक्लपक्ष आया और इसने अपना अनुराग प्रकट किया तब मैने कहा कि मैंने शुक्लपक्ष मे ब्रह्मचर्य से रहने का नियम, जीवन पर्यन्त के लिये विवाह के पूर्व लिया है। स्त्री शान्त हो गई। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनो साथ साथ रहते हुए भी ब्रह्मचर्य से अपना जीवन बिता रहे है। देखो उनके सतोष की बात कि सामग्री पास मे रहते हुए भी उनके मन मे विकार उत्पन्न नही हुआ तथा जीवन भर उन्होने अपना अपना व्रत निभाया। अस्तु।

दशम अध्याय मे आपने मोक्ष तत्व का वर्णन सुना हे। इसमे आचार्य ने मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष' अर्थात् बन्ध के कारणो का अभाव और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होने से जो समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है वह मोक्ष कहलाता है। निश्चय से

तो सब द्रव्य स्वतन्त्र है। जीव स्वतन्त्र है और कर्मरूप पुद्गल द्रव्य भी स्वतन्त्र है। इनका बन्ध नही। जब बन्ध नही तब मोक्ष किसका ? इस तरह निश्चय की दृष्टि से तो बन्ध और मोक्ष का व्यवहार बनता नही है परन्तु व्यवहार की दृष्टि से जीव और कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का एकक्षेत्रावगाह हो रहा है, इसलिये दोनो का बन्ध कहा जाता है और जब दोनो का एक-क्षेत्रावगाह मिट जाता है तब मोक्ष कहलाने लगता है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्ते।
स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्त
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥

अर्थात् बन्ध मोक्ष, इनके कारण, जीव की बद्ध और मुक्त दशा तथा मुक्ति का प्रयोजन यह, सब हे नाथ ! आपके ही शासन मे सघटित होता है, क्योकि आप स्वाद्वाद से पदार्थ का निरूपण करते है, एकान्त दृष्टि से आप पदार्थ का उपदेश नही देते।

इस तरह परपदार्थ से भिन्न आत्मा की जो परिणति है वही मोक्ष है। इस परिणति के प्रकट होने मे सबसे अधिक बाधक मोह कर्म का उदय है, इसलिये आचार्य महाराज ने आज्ञा की है कि सर्व प्रथम मोह कर्म का क्षय कर तथा उसके बाद शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करो। उसके बाद ही अन्य अघातिया कर्मो का क्षय होने से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा। मोह के निकल जाने तथा केवलज्ञान के हो जाने पर भी यद्यपि पचासी प्रकृतियो का सद्भाव आगम मे बताया है तथापि वह जली हुई रस्सी के समान निर्बल है—

ध्यान कृपाण पाणि गहि नाशी त्रेशठ प्रकृति अरी।
शेष पचासी लाग रही हैं ज्यों जेवरी जरी ॥

परन्तु इतना निर्बल नही समझ लेना कि कुछ कर ही नही सकती है। निर्बल होने पर भी उनमे इतनी शक्ति है कि वे देशोन कोटि पूर्व तक इस आत्मा को केवलज्ञान हो जाने पर भी मनुष्य शरीर मे रोके रहती है। फिर निर्बल कहने का तात्पर्य यही है कि वे इस जीव को आगे के लिये बन्धन युक्त नही कर सकती। परम यथाख्यात चारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थान मे होती है। अतः वही शुक्लध्यान के चतुर्थ पाये के प्रभाव से उपान्त्य तथा अन्तिम समय मे बहत्तर और तेरह प्रकृतियो का क्षय कर यह जीव सदा के लिये मुक्त हो जाता है तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक समय मे सिद्धालय मे पहुँचकर विराजमान हो जाता है। यही जैनागम मे मोक्ष की व्याख्या है।

निरन्तर जैनधर्मके ग्रन्थोका स्वाध्याय करनेसे चित्तमे अपूर्व शान्ति होती है। शरीरकी रक्षा धर्मसाधनके अर्थ पापप्रद नही। विषयसे निवृत्ति होने पर तत्त्वज्ञानकी निरन्तर भावना ही कुछ कालमे ससार-लतिकाका छेदन कर देती है। केवल देह-शोषण मोक्षमार्ग नही। अन्तरग वासनाकी विशुद्धिसे ही कर्म निर्जीर्ण होते है। किसी पदार्थमे भीतरसे आसक्त नही होना चाहिये। अपनी भावना ही आपकी आत्माका सुधार करनेवाली है। जहाँतक बने, यही कार्य करनेमे समय बिताना।

—अध्यात्म पत्रावलि–५४

८

समाधिमरण पत्र-पुंज

ये पत्र स्व० उदासीन ब्र० मौजीलालजी सागर वालोके समाधिलाभार्थ उनके प्रत्युत्तरमे पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीके द्वारा लिखे गये थे। एक-एक पक्तिमे आत्मरसिकता झलक रही है। जब कभी मन स्थिर हो शान्ति-पूर्वक प्रत्येक वाक्यका परिशीलन करके उसके मन्तव्यको हृदयङ्गत करना चाहिये। पत्र नही, ये मोक्षमार्गमे प्रवेश करने के लिये वास्तविक दीपक है।

योग्य शिष्टाचार !

सत्य दान तो लोभका त्याग है और उसको मैं चारित्रका अश मानता हूँ। मूर्छाकी निवृत्ति ही चारित्र है। हमको द्रव्यत्यागमे पुण्यबधकी ओर दृष्टि न देनी चाहिये, किन्तु इस द्रव्यसे ममत्वनिवृत्ति द्वारा शुद्धोपयोग का वर्धक दान समझना चाहिये। वास्तविक तत्त्व ही निवृत्तिरूप है। जहाँ उभय पदार्थका बध है वही ससार है। और जहाँ दोनो वस्तु स्वकीय २ गुण-पर्यायोमे परिणमन करती है वही निवृत्ति है, यही सिद्धान्त है। कहा भी है—

श्लोक

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि.सेव्यता।
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमज्योतिस्सदैवास्म्यहम् ॥
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा. पृथग्लक्षणा-
स्तेऽह नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्य समग्रा अपि ॥

अर्थ—यह सिद्धान्त उदारचित्त और उदारचरित्र वाले मोक्षार्थियोको सेवन करना चाहिये कि मैं एक ही शुद्ध (कर्मरहित) चैतन्यस्वरूप परम ज्योति वाला सदैव हूँ। तथा ये जो भिन्न लक्षण वाले नाना प्रकार के भाव प्रकट होते है, वे मैं नही हूँ क्योकि वे सम्पूर्ण परद्रव्य है।

इस श्लोक का भाव इतना सुन्दर और रुचिकर है जो हृदय मे आते ही ससार का आताप कहाँ जाता है, पता नही लगता। आप जहाँ तक हो, अब इस समय शारीरिक अवस्था की ओर दृष्टि न देकर निजात्मा की ओर लक्ष्य देकर उसी के स्वास्थ्य की औषधि का प्रयत्न करना। शरीर परद्रव्य है, उसकी कोई भी अवस्था हो उसका ज्ञाता-दृष्टा ही रहना। सो ही समयसार मे कहा है—

गाथा

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इम हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियद वियाणंतो ॥

भावार्थ—'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसा ज्ञानी पण्डित नही कह सकता। क्योकि ज्ञानी जीव तो आत्मा को ही स्वकीय परिग्रह मानता या समझता है।

यद्यपि विजातीय दो द्रव्योसे मनुष्य पर्यायकी उत्पत्ति हुई है किन्तु विजातीय २ दो द्रव्य मिलकर सुधा-हरिद्रा-वत् एकरूप नही परिणमे हैं। वहा तो वर्ण गुण दोनोका एकरूप परिणमना कोई आपत्तिजनक नही है। किन्तु यहा पर एक चेतन और अन्य अचेतन द्रव्य है। इनका एकरूप परिणमना न्यायप्रतिकूल है। पुद्गलके निमित्त को प्राप्त होकर आत्मा रागादिकरूप परिणम जाता है, फिर भी रागादिक भाव औदयिक है अत बन्धजनक हैं। आत्मा को दु खजनक है, अत हेय है परन्तु शरीर का परिणमन आत्मा से भिन्न है, अतः न वह हेय है और न वह उपादेय है। इसही को समयसारमे श्री महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य ने निर्जराधिकार मे लिखा है—

गाथा

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलय ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ।।

अर्थ—यह शरीर छिद जावो अथवा भिद जावो अथवा ले जावो अथवा नाश हो जावो, जैसे तैसे हो जावो तो भी यह मेरा परिग्रह नही है ।

इसीमे सम्यग्दृष्टिके परद्रव्यके नाना प्रकारके परिणमन होते हुए भी हर्ष-विषाद नही होता । अत आपको भी इस समय शरीरकी क्षीण अवस्था होते हुए कोई भी विकल्प न कर तटस्थ ही रहना हितकर है ।

चरणानुयोगमे जो परद्रव्यो को शुभाशुभ मे निमित्तत्व की अपेक्षा हेयोपादेय की व्यवस्था की है, वह अल्पप्रज्ञके अर्थ हे । आप तो विज्ञ है । अध्यवसाय को ही बधका जनक समझ उसीके त्यागकी भावना करना और निरतर "एगो मे सासदो आदा णाणदसणलक्खणो" अर्थात् ज्ञान दर्शनात्मक जो आत्मा है वही उपादेय है । शेष जो बाह्य पदार्थ हे वे मेरे नही है । ऐसी भावना करना ।

मरण क्या वस्तु हे ? आयुके निषेक पूर्ण होने पर पर्यायका वियोग मरण, तथा आयुके सद्भावमे पर्यायका सवध सो ही जीवन । अव देखिये, जैसे जिस मन्दिरमे हम निवास करते हैं उसके सद्भाव असद्भावमे हमको किसी प्रकारका हानि-लाभ नही, तव क्यो हर्ष-विषादकर अपने पवित्र भावोको कलुपित किया जावे । जैसे कि कहा है—

श्लोक

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो ।
ज्ञानं सत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचिद् ।।
अस्यातो मरणं न किंचिद् भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो ।
नि. शङ्कः सतत स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।।

अर्थ—प्राणोके नाशको मरण कहते हैं । और प्राण इस आत्माका ज्ञान हे । वह ज्ञान सत् रूप स्वय ही नित्य होनेके कारण कभी नही नष्ट होता हे । अतः इस आत्मा का कुछ भी मरण नही है तो फिर ज्ञानीको मरणका भय कहासे हो सकता है । वह ज्ञानी स्वय निःशक होकर निरंतर स्वाभाविक ज्ञानको सदा प्राप्त करता है ।

इस प्रकार आप सानन्द ऐसे मरणका प्रयास करना जो परपरा मातास्तन्यपानसे वच जाओ । इतना सुन्दर अवसर हस्तगत हुवा है, अवश्य इससे लाभ लेना ।

आत्मा ही कल्याणका मन्दिर है, अत परपदार्थोकी किंचित् मात्र भी आप अपेक्षा न करे । अब पुस्तक द्वारा ज्ञानाभ्यास करनेकी आवश्यकता नही । अव तो पर्यायमे घोर परिश्रम कर, स्वरूपके अर्थ मोक्ष-मार्गका अभ्यास करना उचित है । अव उसी ज्ञान-शस्त्रको राग-द्वेप शत्रुओ के ऊपर निपात करनेकी आवश्यकता है । यह कार्य न तो उपदेष्टाका हे और न समाधिमरणमे सहायक पडितोका है । अब तो अन्य कथाओके श्रवण करनेमे समयको न देकर उस शत्रुसेनाके पराजय करनेमे सावधान होकर यत्नपर हो जावो ।

यद्यपि निमित्तको प्रधान मानने वाले तर्क द्वारा बहुत-सी आपत्ति इस विपयमे ला सकते है । फिर भी कार्य करना अन्तमे तो आपही का कर्त्तव्य होगा । अत जबतक आपकी चेतना सावधान है, निरतर स्वात्मस्वरूप-चितवन मे लगा दो ।

श्री परमेष्ठी का भी स्मरण करो किन्तु ज्ञायककी ओर ही लक्ष्य रखना, क्योकि मैं "ज्ञाता दृष्टा" हूँ, ज्ञेय भिन्न हैं, उनमे इष्टानिष्ट विकल्प न हो, यही पुरुषार्थ करना और अन्तरगमे मूर्छा न करना तथा रागादिक भावोको तथा उसके वक्ताओको दूर ही से त्यागना । मुझे आनन्द इस बात का है कि आप नि शल्य है । यही आपके कल्याणकी परमौषधि है ।

× × ×

महाशय,

योग्य शिष्टाचार ।

आपके शरीर की अवस्था प्रत्यहं क्षीण हो रही है । इसका ह्रास होना स्वाभाविक हे । इसके ह्रास और वृद्धि से हमारा कोई घात नही, क्योकि आपने निरंतर ज्ञानाभ्यास किया है, अत. आप इसे स्वयं जानते हैं । अथवा मान भी लो, शरीरके शैथिल्यसे तद् अवयवभूत इन्द्रियादिक भी

शिथिल हो जाती है तथा द्रव्येन्द्रियके विकृत भावसे भावेन्द्रिय स्वकीय कार्य करनेमे समर्थ नही होती है किन्तु मोहनीय-उपशम-जन्य सम्यक्त्वकी इसमे क्या विराधना हुई । मनुष्य शयन करता है उस काल जागृत अवस्थाके सदृश ज्ञान नही रहता किन्तु जो सम्यग्दर्शन गुण ससारका अन्तक है उसका आशिक भी घात नही होता । अतएव अपर्याप्ति अवस्थामे भी सम्यग्दर्शन माना है, जहाँ केवल तैजस कार्मण शरीर है, उत्तरकालीन शरीर की पूर्णता भी नही । तथा आहारादि वर्गणाके अभावमे भी सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहता है । अत आप इस वातकी रचमात्र आकुलता न करे कि हमारा शरीर क्षीण हो रहा है, क्योंकि शरीर पर-द्रव्य है , उसके सम्बन्ध से जो कोई कार्य होने वाला है वह हो, अथवा न हो, परन्तु जो वस्तु आत्माहीसे समन्वित है उसकी क्षति करने वाला कोई नही । उसकी रक्षा है तो ससारतट समीपही है । विशेष बात यह है कि चरणानुयोगकी पद्धतिसे समाधिके अर्थ वाह्य सयोग अच्छे होना विधेय है, किन्तु परमार्थ दृष्टिसे निज प्रबलतम श्रद्धान ही कार्यकर है । आप जानते हैं कि कितने ही प्रबल ज्ञानियोका समागम रहे, किन्तु समाधिकर्त्ताको उनके उपदेश श्रवणकर विचार तो स्वय ही करना पडेगा । जो मैं एक हू, रागादिक शून्य हूँ, यह जो सामग्री देख रहा हूँ परजन्य है, हेय है, उपादेय निज ही है । परमात्माके गुण-गानसे परमात्मा द्वारा परमात्म-पदकी प्राप्ति नही किन्तु परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलनेसे ही उस पदका लाभ निश्चित है । अत सर्व प्रकारके झझटोको छोडकर भाई साहव ! अब तो केवल वीतराग निर्दिष्ट पथपर ही आभ्यन्तर परिणामसे आरूढ हो जाओ । बाह्य त्यागकी वही तक मर्यादा है जहाँ तक निजभावमे बाधा न पहुँचे । अपने परिणामोके परिणमनको देख कर ही त्याग करना, क्योकि जैन सिद्धान्तमे सत्यपथ मूर्छात्याग वालेके ही होता है । अत. जो जन्मभर मोक्षमार्गका अध्ययन किया उसके फलका समय है, इसे सावधानतया उपयोगमे लाना । यदि कोई महानुभाव अन्तमे दिगम्बर पदकी सम्मति देवे तब अपनी आभ्यन्तर विचारधारासे कार्य लेना । वास्तव मे अन्तरग बुद्धिपूर्वक मूर्छा न हो तभी उस पदके पात्र वनना । इसका भी खेद न करना कि हम शक्तिहीन हो गये, अन्यथा अच्छी तरहसे यह कार्य सम्पन्न करते । हीन-शक्ति शरीरकी दुर्वलता है । आभ्यन्तर श्रद्धामे दुर्वलता न हो । अत निरन्तर यही भावना रखना —

एगो मे सासदो आदा, णाणदसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ।।"

अर्थ एक मेरी शाश्वत आत्मा ज्ञान-दर्शन लक्षण-मयी है शेप जो वाहरी भाव है, वे मेरे नही है सर्व सयोगी भाव है ।"

अत जहा तक बने, स्वय आप समाधानपूर्वक अन्यको समाधिका उपदेश करना कि समाधिस्थ आत्मा अनन्त शक्तिशाली है, तव यह कौनसा विशिष्ट कार्य हे । वह तो उन शत्रुओ को चूर्ण कर देता है जो अनन्त ससारके कारण है । इति ।

इस ससार समुद्रमे गोते खाने वाले जीवोको केवल जिनागम ही नौका है । उसका जिन भव्य प्राणियोंने आश्रय लिया है वे अवश्य एक दिन पार होगे । आपने लिखा कि हम मोक्षमार्गप्रकाशकी दो प्रति भेजते हैं सो स्वीकार करना । भला ऐसा कौन होगा जो इसे स्वीकार न करे । कोई तीव्र कपायी ही ऐसी उत्तम वस्तु अनगीकार करे तो करे, परतु हम तो शतश धन्यवाद देते हुए आपकी भेंटको स्वीकार करते है । परन्तु क्या करे ? निरन्तर इसी चिन्तामे रहते है कि कब ऐसा शुभ समय आवे जो वास्तव मे हम इसके पात्र हो । अभी हम इसके पात्र नही हुये, अन्यथा तुच्छ सी तुच्छ वातो मे नाना कल्पनाये करते हुए दुखी न होते । अब भाई साहब ? जहाँ तक बने, हमारा और आपका मुख्य कर्त्तव्य रागादिकके दूर करने का ही निरन्तर रहना चाहिये । क्योकि आगमज्ञान और श्रद्धा से बिना सयतत्व भावके मोक्षमार्ग की सिद्धि नही, अत सब प्रयत्नका यही सार होना चाहिये, जो रागादिक भावोका अस्तित्व आत्मामे न रहे । ज्ञान वस्तुका परिचय करा देता है अर्थात् अज्ञाननिवृत्ति ज्ञानका फल है, किन्तु ज्ञानका फल उपेक्षा नही, उपेक्षाफल चारित्रका है । ज्ञानमे आरोप-से वह फल कहा जाता है । जन्मभर मोक्षमार्ग विषयिक ज्ञान सपादन किया, अव एकवार उपयोगमे लाकर उसका आस्वाद लो । आज कल चरणानुयोगका अभिप्राय

लोगोने पर-वस्तुके त्याग और ग्रहणमे ही समझ रखा है, सो नही। चरणानुयोगका मुख्य प्रयोजन तो स्वकीय रागादिकके मेटने का है, परन्तु वह वस्तुके संबन्धसे होते हैं अर्थात् पर-वस्तु उसका नोकर्म होती है, अत उसको त्याग करते है। मेरा उपयोग अब इन बाह्य वस्तुओके सम्बन्धसे भयभीत रहता है। मैं तो किसीके समागमकी अभिलाषा नही करता हूँ। आपको भी सम्मति देता हू कि सबसे ममत्व हटानेकी चेष्टा करो, यही पार होने की नौका है। जब परमे ममत्वभाव घटेगा तब स्वयमेव निराश्रय अहबुद्धि घट जावेगी, क्योकि ममत्व और अहकारका अविनाभावी सम्बन्ध है, एकके बिना अन्य नही रहता। बाईजीके बाद मैने देखा कि अब तो स्वतत्र हूँ, दान मे सुख होता होगा, इसे करके देखू। ६०००) रुपया मेरे पास था, सर्व त्याग कर दिया परन्तु कुछ भी शान्तिका अश न पाया। उपवासादिक करके शाति न मिली, परकी निन्दा और आत्म-प्रशसासे भी आनन्दका अकुर न हुआ, भोजनादिकी प्रक्रियासे भी लेश शान्तिको न पाया। अत यही निश्चय किया कि रागादिक गये बिना शान्तिकी उद्भूति नही, अत सर्व व्यापार उसीके निवारणमे लगा देना ही शान्तिका उपाय है। वाग्जालके लिखनेसे कुछ भी सार नही।

× × ×

मै यदि अन्तरङ्गसे विचार करता तो जैसा आप लिखते है म उसका पात्र नही, क्योकि पात्रताका नियामक कुशलताका अभाव है। वह अभी कोसो दूर है। हाँ, यह अवश्य है यदि योग्य प्रयास किया जावेगा तब दुर्लभ भी नही। वक्तृत्वादि गुण तो आनुसगिक है। श्रेयोमार्गकी सन्निकटता जहाँ जहाँ होती है वह वस्तु पूज्य है। अत हम और आपको बाह्य वस्तुजालमे मूर्छाकी कृशता कर आत्म-तत्त्वको उत्कर्ष बनाना चाहिये। ग्रन्थाभ्यासका प्रयोजन केवल ज्ञानार्जन ही तक अवसान नही होता, साथहीमे पर पदार्थोंसे उपेक्षा होनी चाहिये। आगमज्ञानकी प्राप्ति और है किन्तु उसकी उपयोगिताका फल और ही है। मिश्रीकी प्राप्ति और स्वादुता मे महान् अन्तर है। यदि स्वादका अनुभव न हुआ तब मिश्री पदार्थका मिलना केवल अन्धेकी लालटेनके सदृश है, अत अब यावान् पुरुषार्थ है वह इसी मे कटिबद्ध होकर लगा देना ही श्रेयस्कर है, जो आगमज्ञानके साथ साथ उपेक्षारूप स्वादका लाभ हो जावे। आप जानते ही हैं मेरी प्रकृति अस्थिर है तथा प्रसिद्ध है, परन्तु जो अर्जित कर्म है उनका फल तो मुझे ही चखना पडेगा, अत कुछ भी विषाद नही।

विषाद इस बात का है जो वास्तविक आत्मतत्त्वका घातक है उसकी उपक्षीणता नही होती। उसके अर्थ निरन्तर प्रयास है। बाह्य पदार्थका छोडना कोई कठिन नही। किन्तु यह नियम नही, क्योकि अध्यवसानके कारण छूटकर भी अध्यवसानकी उत्पत्ति अन्तस्थलवासनासे होती है। उस वासना के विरुद्ध शस्त्र चलाकर उसका निपात करना यद्यपि उपाय निर्दिष्ट किया है, परन्तु फिर भी वह क्या है? केवल शब्दोकी सुन्दरताको छोडकर गम्य नही। दृष्टान्त तो स्पष्ट है, अग्निजन्य उष्णता जो जलमे है उसकी भिन्नता तो दृष्टिविषय है। यहाँ तो क्रोधसे जो क्षमाकी अप्रादुर्भूति है वह यावत् क्रोध न जावे तब तक कैसे व्यक्त हो। ऊपरसे क्रोध न करना क्षमाका साधक नही। आशय मे वह न रहे, यही तो कठिन बात है। रहा उपाय तत्त्व-ज्ञान, सो तो हम आप सर्व जानते ही है किन्तु फिर भी कुछ गूढ रहस्य है जो महानुभावोके समागमकी अपेक्षा रखता है, यदि वह न मिले तब आत्मा ही आत्मा है, उसकी सेवा करना ही उत्तम है। उसकी सेवा क्या है 'ज्ञाता दृष्टा", और जो कुछ अतिरिक्त है वह विकृत जानना।

× × ×

श्रीमान् वर्णीजी,

योग्य इच्छाकार !

पत्र न देनेका कारण उपेक्षा नही किन्तु अयोग्यता है। म जब अन्तरङ्गसे विचार करता हूँ तो उपदेश देनेकी कथा तो दूर रही, अभी म सुनने और बाँचनेका भी पात्र नही। वचनचतुरतासे किसी को मोहित कर लेना पाण्डित्यका परिचायक नही। श्रीकुंदकुदाचार्यने कहा है—

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त-उववासो
अज्झयणमोणपहुदी समदा-रहियस्स समणस्स ॥

अर्थ—समताके बिना वननिवास और कायक्लेश तथा नाना उपवास तथा अध्ययन, मौन आदि कोई उपयोगी

नही। अत इन वाह्य साधनो का मोह व्यर्थ ही है। दीनता और स्वकार्यमे अतत्परता ही मोक्षमार्गका घातक है। जहाँ तक हो, इस पराधीनताके भावोका उच्छेद करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। विशेष कुछ समभमे नही आता। भीतर बहुत कुछ इच्छा लिखनेकी होती है, परन्तु जब स्वकीय वास्तविक दिशा पर दृष्टि जाती है तब अश्रु-धाराका प्रवाह वहने लगता है। हा आत्मन्! तूने इस मानव-पर्यायको पाकर भी निजतत्त्वकी ओर लक्ष्य नही दिया। केवल इन वाह्य पचेन्द्रिय विषयोकी प्रवृत्तिमे ही सन्तोष मान कर ससारको क्या, अपने स्वरूपका अपहरण करके भी लज्जित न हुआ।

तद्विषयिक अभिलाषाकी अनुत्पत्ति ही चारित्र है। मोक्षमार्गमे सवर तत्त्व ही मुख्य है। तत्त्वकी महिमा इसके बिना स्याद्वादशून्य आगम, अथवा जीवनशून्य शरीर, अथवा नेत्रहीन मुखकी तरह है। अत जिन जीवोको मोक्ष रुचता है उनका यही मुख्य ध्येय होना चाहिये कि जो अभि-लाषाओके अनुत्पादक चरणानुयोग-पद्धति-प्रतिपादित साधनो की ओर लक्ष्य स्थिर कर, निरन्तर स्वात्मोत्थ सुखामृतके अभिलाषी होकर, रागादि शत्रुओकी प्रवल सेनाका विध्वस करनेमे भगीरथ प्रयत्न कर जन्म सार्थक किया जावे, किन्तु व्यर्थ न जावे, इसमे यत्नपर होना चाहिये। कहाँ तक प्रयत्न करना उचित है? जहाँ तक पूर्ण ज्ञानकी पूर्णता न होय।

"भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
यावत्तावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठितम्॥"

अर्थ—यह भेद-विज्ञान अखडधारासे भावो कि जब तक परद्रव्यसे रहित होकर ज्ञान ज्ञानमे (अपने स्वरूपमे) ठहरे।

क्योकि सिद्धिका मूलमत्र भेद-विज्ञान ही है। वही श्री आत्मतत्त्व-रसास्वादी अमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

"भेदविज्ञानत. सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन॥

अर्थ—जो कोई भी सिद्ध हुए है वे भेद-विज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे है वे भेद-विज्ञानके न होनेसे ही बन्धको प्राप्त हुए है।

अत अब इन परनिमित्तक श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके प्रयत्नमे समयका उपयोग न करके स्वावलम्बनकी ओर दृष्टि ही इस जर्जरावस्थामे महती उपयोगिनी रामवाणतुल्य अचूक औषधि है। तदुक्तम्—

इतो न किंचित् परतो न किंचित्,
यतो यतो यामि. ततो न किंचित्।
विचार्य पश्यामि. जगन्न किंचित्
स्वात्मावबोधादधिक. न किंचित्॥

अर्थ—इस तरफ कुछ नही है और दूसरी तरफ भी कुछ नही है तथा जहाँ-जहाँ मै जाता हूँ वहाँ वहाँ भी कुछ नही है। विचार करके देखता हूँ तो यह ससार भी कुछ नही है। स्वकीय आत्मज्ञानसे बढ कर कोई नही है।

इसका भाव विचार स्वावलम्बनका शरण ही ससार-बधनके मोचनका मुख्य उपाय है। मेरी तो यह श्रद्धा है जो सवर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका मूल है।

मिथ्यात्वकी अनुत्पत्तिका नाम ही तो सम्यग्दर्शन है। और अज्ञानकी अनुत्पत्तिका नाम सम्यग्ज्ञान तथा रागा-दिककी अनुत्पत्ति यथाख्यातचारित्र और योगानुत्पत्ति ही परम यथाख्यातचारित्र है। अत सवर ही दर्शनज्ञान-चारित्राराधना के व्यपदेश को प्राप्त करता है तथा इसीका नाम तप है। क्योकि इच्छानिरोधका नाम ही तप है।

मेरा तो दृढ विश्वास है कि जो इच्छाका न होना ही तप है। अत तप-आराधना भी यही है। इस प्रकार सवर ही चार आराधना है अत जहाँ परसे श्रेयोमार्गकी आकाक्षा का त्याग है वहाँ श्रेयोमार्ग है।

× × ×

श्रीयुत महानुभाव पं० दीपचन्दजी वर्णी

इच्छाकार!

अनुकूल कारणकूटके असद्भावमे पत्र नही दे सका। क्षमा करना। आपने जो पत्र लिखा वास्तविक पदार्थ ऐसा ही है। अब हमे आवश्यकता इस बातकी है कि प्रभुके उपदेशके अनुकूल प्रभुके पूर्वावस्थावत् आचरण द्वारा प्रभु इव प्रभुताके पात्र हो जावे। यद्यपि अध्यवसानभाव परनिमित्तक हैं; यथा—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन् निमित्तं परसग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।।

अर्थ—आत्मा, आत्मा सम्बन्धी रागादिककी उत्पत्तिमे स्वय कदाचित् निमित्तताको प्राप्त नही होता है अर्थात् आत्मा स्वकीय रागादिकके उत्पन्न होनेमे अपने आप निमित्त कारण नही है, किन्तु उनके होनेमे परवस्तु ही निमित्त है। जैसे अर्ककान्त-मणि स्वय अग्निरूप नही परणमता हे किन्तु सूर्यकिरण उस परिणमनमे कारण है। तथापि परमार्थ तत्त्वकी गवेषणामे वे निमित्त क्या बलात्कार अध्यवसान भावके उत्पादक हो जाते है? नही, किन्तु हम स्वय अध्यवसान द्वारा उन्हे विषय करते हे। जब ऐसी वस्तु-मर्यादा है तब पुरुषार्थ कर उन ससारजनक भावोके नाशका उद्यम करना ही हम लोगोको इष्ट होना चाहिये। चरणानुयोगकी पद्धतिमे निमित्तकी मुख्यतासे व्याख्यान होता है, और अध्यात्मशास्त्रमे पुरुषार्थकी मुख्यता और उपादानकी मुख्यतासे व्याख्यानपद्धति है। और प्राय हमे इसी परिपाटीका अनुसरण करना ही विशेष फलप्रद होगा। शरीरकी क्षीणता यद्यपि तत्त्वज्ञानमे बाह्य दृष्टिसे कुछ बाधक है तथापि सम्यग्ज्ञानियोकी प्रवृत्तिमे उतना बाधक नही हो सकती। यदि वेदनाकी अनुभूति मे विपरीतताकी कणिका न हो तब मेरी समझमे हमारी ज्ञानचेतनाकी कोई क्षति नही है।

विशेष नही लिख सका। आजकल यहाँ मलेरियाका प्रकोप है। प्रायः बहुतसे इसके लक्ष्य हो चुके हे। आप लोगोकी अनुकपासे मै अभीतक तो कोई आपत्तिका पात्र नही हुआ। कलकी दिव्यज्ञानी जाने। अवकाश पाकर विशेष पत्र लिखनेकी चेष्टा करूँगा।

× × ×

श्रीयुत महाशय दीपचन्दजी वर्णी,

योग्य इच्छाकार !

आपका पत्र आया। आपके पत्रसे मुझे हर्ष होता हे और आपको मेरे पत्रसे हर्ष होता है। यह केवल मोहज परिणामकी वासना है। आपके साहसने आपमे अपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न कर दी है। यही स्फूर्ति आपको ससार-यातनाओसे मुक्त करेगी। कहने, लिखने और वाक्चातुर्य्यमे मोक्षमार्ग नही। मोक्षमार्गका अंकुर तो अन्त करणसे निज पदार्थमे ही उदय होता है। उसे यह परजन्य मन, वचन, काय क्या जाने। यह तो पुद्गल द्रव्यके विलास हे। जहाँ पर उन पुद्गलकी पर्यायोने ही नाना प्रकारके नाटक दिखाकर उस ज्ञाता दृष्टाको इस ससारचक्रका पात्र बना रक्खा है। अत अब दीपसे तमोराशिको भेदकर और चन्द्रसे परपदार्थ जन्य आतापको शमन कर सुधा-समुद्रमे अवगाहनकर वास्तविक सच्चिदानन्द होनेकी योग्यताके पात्र बनिये। वह पात्रता आपमे हे। केवल साहस करनेका विलम्ब है। अब इस अनादि ससार-जननी कायरताको दग्ध करनेसे ही कार्य-सिद्धि होगी। निरन्तर चिन्ता करनेसे क्या लाभ? लाभ तो आभ्यन्तर विशुद्धिसे है। विशुद्धिका प्रयोजन भेदज्ञान है। भेदज्ञानका कारण निरन्तर अध्यात्म ग्रन्थोकी चिन्तना है। अत इस दशामे परमात्म-प्रकाश ग्रन्थ आपको अत्यन्त उपयोगी होगा। उपयोग सरल रीतिसे इस ग्रन्थमे सलग्न हो जाता हे। उपक्षीण कायमे विशेष परिश्रम करना स्वास्थ्यका बाधक होता है, अत आप सानन्द निराकुलतापूर्वक धर्मध्यानमे अपना समय-यापन कीजिये। शरीरकी दशा तो अब क्षीणता-सन्मुख हो रही हे। जो दशा आपकी है वही प्राय सबकी है। परन्तु कोई भीतरसे दुखी है तो कोई बाह्यसे दुखी हे। आपको शारीरिक व्याधि है जो वास्तवमे अघाति कर्म असाताजन्य हैं। वह आत्मगुण घातक नही। आभ्यन्तर व्याधि मोहजन्य होती है, जो कि आत्मगुण घातक हे। अत आप मेरी सम्मति अनुसार वास्तविक दु खके पात्र नही—अत आपको अब बडी प्रसन्नता इस तत्त्वकी होनी चाहिये, जो मैं आभ्यन्तर रोगसे मुक्त हूँ।

पं० छोटेलाल से दर्शनविशुद्धि। भाई सा० एक धर्मात्मा और साहसी वीर हैं। उनकी परिचर्या करना। वैयावृत्य तप है, जो निर्जराका हेतु है। हमारा इतना शुभोदय नही जो इतने धीर, वीर, वरवीर, दु खसीर बन्धुकी सेवा कर सके।

× × ×

श्रीयुत वर्णी जी,

योग्य इच्छाकार।

पत्र मिला। मैं बराबर आपकी स्मृति रखता हूँ, किन्तु ठीक पता न होनेसे पत्र न दे सका। क्षमा करना। पैदल

यात्रा आप धर्मात्माओके प्रसाद तथा पार्श्वनाथ प्रभुके चरणप्रसादसे बहुत ही उत्तम भावोसे हुई। मार्गमे अपूर्व शाति रही। कटक भी नही लगा। तथा आभ्यन्तरकी भी अशान्ति नही हुई। किसी दिन तो १९ मील तक चला। खेद इस बातका रहा कि आप और बाबाजी साथमे न रहे। यदि रहते तो वास्तविक आनन्द रहता। इतना पुण्य कहाँ? बन्धुवर! आप श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, समाधिशतक और समयसारका ही स्वाध्याय करिये। और विशेष त्यागके विकल्पमे न पडिये। केवल क्षमादिक परिणामोके द्वारा ही वास्तविक आत्माका हित होता है। काय कोई वस्तु नही तथा आपही स्वय कृश हो रही है। उसका क्या विकल्प। भोजन स्वयमेव न्यून हो गया है। जो कारण बाधक है आप बुद्धिपूर्वक स्वय त्याग रहे है। मेरी तो यही भावना है—"प्रभु पार्श्वनाथ आपकी आत्माको इस बधनके तोडनेमे अपूर्व सामर्थ्य दे।" आपके पत्रसे आपके भावोकी निर्मलताका अनुमान होता है। स्वतन्त्र भाव ही आत्मकल्याणका मूल मन्त्र है। क्योकि आत्मा वास्तविक दृष्टिसे तो सदा शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव वाला है। कर्मकलकसे ही मलीन हो रहा है। सो इसके पृथक् करनेकी जो विधि है उस पर आप आरूढ है। बाह्य क्रियाकी त्रुटि आत्मपरिणामका बाधक नही और न मानना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टि जो निन्दा तथा गर्हा करता है, वह अशुद्धोपयोगकी है न कि मन, वचन, कायके व्यापारकी। इस पर्यायमे हमारा आपका सम्बन्ध न भी हो। परन्तु मुझे अभी विश्वास है कि हम और आप जन्मान्तरमे अवश्य मिलेंगे। अपने स्वास्थ्य सम्बन्धी समाचार अवश्य एक मासमे एक बार दिया करे। मेरी आपके भाईसे दर्शन विशुद्धि।

× × ×

श्रीयुत पं० दीपचन्दजी धर्मरत्न,

इच्छामि।

पत्र पढकर सन्तोष हुआ। आपका अभिप्राय जितनी मण्डली थी सबको श्रवण प्रत्यक्ष करा दिया। सर्व लोग आपके आशिक रत्नत्रयकी भूरिश प्रशसा करते है।

आपने जो प० भूधरदासजीकी कविता लिखी सो ठीक है। परन्तु यह कविता आपके ऊपर नही घटती। आप शूर है। देहकी दशा जैसी कवितामे कविने प्रतिपादित की है तदनुरूप ही है परन्तु इसमे हमारा क्या घात हुआ? यह हमारे बुद्धिगोचर नही हुआ। घटके घातसे दीपकका घात नही होता। पदार्थका परिचायक ज्ञान है। अत ज्ञानमे ऐसी अवस्था शरीरकी प्रतिभासित होती है एतावत् क्या ज्ञान तद्रूप हो गया?

श्लोक

पूर्णकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयम्।
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीप प्रकाश्यादपि॥
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो।
रागद्वेषमया भवन्ति सहजा मुञ्चन्त्युदासीनताम्॥

अर्थ—पूर्ण, अद्वितीय, नही च्युत है शुद्धबोधकी महिमा जाकी, ऐसा जो बोद्धा है वह कभीभी बोध्य पदार्थके निमित्त से प्रकाश्य (घटादि) पदार्थसे प्रदीपकी तरह कोई भी विक्रियाको प्राप्त नही होता हे। इस मर्यादा विषयक बोधसे जिनकी बुद्धि वन्ध्या है वे अज्ञानी है। वे ही रागद्वेषादिक के पात्र होते है और स्वाभाविक जो उदासीनता है उसे त्याग देते है। आप विज्ञ है, कभी भी इस असत्य भावको आलम्बन न लेवेंगे। अनेकानेक मर चुके तथा मरते हैं और मरेंगे। इससे क्या आया। एक दिन हमारी भी पर्याय चली जावेगी। इसमे कौनसी आश्चर्यकी घटना है। इसका तो आपसे विज्ञ पुरुषोको विचार-कोटिसे पृथक् रखना ही श्रेयस्कर है। जो यह वेदना असाताके उदय आदि कारणकूट होनेपर उत्पन्न हुई और हमारे ज्ञानमे आयी। वेदना क्या वस्तु है? परमार्थसे विचारा जाय तो यह एक तरहसे सुखगुणमे विकृति हुई वह हमारे ध्यानमे आयी। उसे हम नही चाहते। इसमे कौनसी विपरीतता हुई? विपरीतता तो तब होती है जब हम उसे निज मान लेते। विकारज परिणतिको पृथक् करना अप्रशस्त नही, अप्रशस्तता तो हम उसीका निरन्तर चिंतवन करते रहे और निजत्वको विस्मरण हो जावे तब है।

अत. जितनी भी अनिष्ट सामग्री मिले, मिलने दो। उसके प्रति आदरभाव से व्यवहार कर ऋणमोचन पुरुष की तरह आनन्द से साधु की तरह प्रवृत्ति करना चाहिये।

निदान को छोड़कर आर्त्तत्रय षष्ठ गुणस्थान तक होते है। थोड़े समय तक अर्जित कर्म आया, फल देकर चला गया। अच्छा हुआ, आकर हलकापन कर गया। रोग का निकलना ही अच्छा है। मेरी सम्मति मे निकलना, रहने की अपेक्षा, प्रशस्त है। इसी प्रकार आपकी असाता यदि शरीर की जीर्ण शीर्ण अवस्था द्वारा निकल रही है तब आपको बहुत ही आनन्द मानना चाहिये। अन्यथा यदि वह अभी न निकलती तब क्या स्वर्ग मे निकलती ? मेरी दृष्टि मे केवल असाता ही नही निकल रही, साथ ही मोहकी अरति आदि प्रकृतियाँ भी निकल रही है। क्योकि आप इस असाता को सुखपूर्वक भोग रहे है। शाति-पूर्वक कर्मों के रस को भोगना आगामी दु खकर नही।

बहुत कुछ लिखना चाहता हूँ परन्तु ज्ञान की न्यूनता से लेखिनी रुक जाती है। बन्धुवर ! मैं एक बात की आपसे जिज्ञासा करता हूँ, जितने लिखने वाले और कथन करने वाले तथा कथन कर बाह्य चरणानुयोग के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाले तथा आर्ष वाक्यो पर श्रद्धालु यावत् व्यक्ति हुये है, अथवा है तथा होगे, क्या सर्व ही मोक्षमार्गी है ? मेरी तो श्रद्धा नही। अन्यथा श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है। हे प्रभो ! "हमारे शत्रुका भी द्रव्यलिग न हो" इस वाक्य की चरितार्थता न होती तो काहे को लिखते। अत: परकी प्रवृत्ति देख रचमात्र भी विकल्प को आश्रय न देना ही हमारे लिये हितकर है। आपके ऊपर कुछ भी आपत्ति नही, जो आत्महित करने वाले है वह शिर पर आग लगाने पर तथा सर्वाङ्ग-अग्निमय आभूषण धारण कराने पर तथा यत्रादि द्वारा उपद्रित होने पर भी मोक्षलक्ष्मी के पात्र होते है। मुझे तो इस आपकी असाता और श्रद्धा को देख कर इतनी प्रसन्नता होती है प्रभो ? यह अवसर सर्वको दे। आपकी केवल श्रद्धा ही नही किन्तु आचरण भी अन्यथा नही। क्या मुनिको जब तीव्र व्याधि का उदय होता है, तब बाह्य चरणानुयोग आचरण के असद्भाव मे क्या उनके छठवा गुणस्थान चला जाता है ? यदि ऐसा है तब उसे समाधिमरण के समय हे मुने ! इत्यादि सम्बोधन करके जो उपदेश दिया है वह किस प्रकार सगत होगा। पीडा आदिमे चित्त चचल रहता है इसका क्या यह आशय है पीड़ा का बारम्बार स्मरण हो जाता है, हो जाओ, स्मरण ज्ञान है, और जिसकी धारणा होती है उसका बाह्य निमित्त मिलने पर स्मरण होना अनिवार्य है। किन्तु साथमे यह भाव तो रहता है। यह चंचलता सम्यक् नही परन्तु मेरी समझ मे इस पर भी गभीर दृष्टि दीजिये। चचलता तो कुछ बाधक नही। साथ मे उसके अरति का उदय और असाता की उदीरणा से दु:खानुभव हो जाता है। उसे पृथक् करने की भावना रहती है। इसीसे इसे महर्षियोने आर्त्तध्यान की कोटि मे गणना की है। क्या इस भाव के होने से पचम गुणस्थान मिट जाता है ? यदि इस ध्यान के होने पर देशव्रत के विरुद्ध भाव का उदय श्रद्धा मे न हो तब मुझे तो दृढतम विश्वास है, गुणस्थान की कोई भी क्षति नही। तरतमता ही होती है। वह भी उसी गुणस्थान मे। ये बेचारे जिन्होने कुछ नही जाना कहाँ जावेगे, क्या करें इत्यादि विकल्पो के पात्र होते हैं। कही जाओ, हमे उसकी मीमासासे क्या लाभ ? हम बेचारे इस भाव से कहा जावेगे इस पर ही विचार करना चाहिये।

आपका सच्चिदानन्द, जैसा आपकी निर्मल दृष्टिने निर्णीत किया है, द्रव्यदृष्टिसे वैसा ही है। परन्तु द्रव्य तो भोग्य नही, भोग्य तो पर्याय है, अत उसके तात्त्विक स्वरूपके जो बाधक है उन्हे पृथक् करनेकी चेष्टा करना ही हमारा पुरुषार्थ है।

चोरकी सजा देखकर साधुको भय होना मेरे ज्ञान मे नही आता। अत मिथ्यात्वादि क्रिया सयुक्त प्राणियोका पतन देख, हमे भय होने-की कोई भी बात नही। हमको तो जब सम्यकरत्नत्रयकी तलवार हाथ मे आगई है और वह यद्यपि वर्तमानमे मौथरी धार वाली है परन्तु है तो असि। कर्मेन्धनको धीरे धीरे छेदेगी, परन्तु छेदेगी ही। बड़े आनन्दसे जीवनोत्सर्ग करना। अशमात्र भी आकुलता श्रद्धा मे न लाना। प्रभुने अच्छा ही देखा है। अन्यथा उसके मार्ग पर हम लोग न आते। समाधिमरणके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, क्या पर निमित्त ही है? नही। जहाँ अपने परिणामोमे शाति आई वही सर्व सामग्री है। अत: हे भाई ! आप सर्व उपद्रवोके हरणमे समर्थ और कल्याणपथके कारणोमे प्रमुख जो आपकी दृढतम श्रद्धा है, वह उपयोगिनी कर्मशत्रुवाहिनी को जयनशील

तीक्ष्ण असिधारा है। मैं तो आपके पत्र पढकर समाधिमरण की महिमा अपने ही द्वारा होती है, निश्चय कर चुका हूँ। क्या आप इससे लाभ न उठावेंगे ? अवश्य ही उठावेंगे।

नोट—मै विवश हो गया। अन्यथा अवश्य आपके समाधिमरण-मे सहकारी हो पुण्यलाभ करता। आप अच्छे स्थान पर ही जावेगे। परन्तु पचम काल है। अत हमारे सम्बोधनके लिये आपका उपयोग ही इस ओर न जावेगा। अथवा जावेगा ही तब कालकृत असमर्थता बाधक होकर आपको शाति देगी। इससे कुछ उत्तरकालकी याचना नही करता।

× × ×

श्रीयुत महाशय प० दीपचन्दजी वर्णी

योग्य इच्छाकार

बन्धुवर! आपका पत्र पढकर मेरी आत्मामे अपार हर्ष होता है कि आप इस रुग्णावस्थामे दृढश्रद्धालु हो गये है। यही ससार से उद्धारका प्रथम प्रयत्न है। कायकी क्षीणता कुछ आत्मतत्त्वकी क्षीणतामे निमित्त नही, इसको आप समीचीनतया जानते हैं। वास्तवमे आत्माके शत्रु तो राग, द्वेष और मोह है। जो इसे निरन्तर इस दु खमय ससारमे भ्रमण करा रहे है। अत आवश्यकता इसकी है कि जो राग-द्वेषके आधीन न होकर स्वात्मोत्थ परमानन्दकी ओर ही हमारा प्रयत्न सतत रहना ही श्रेयस्कर है।

औदयिक रागादि होवें, इसका कुछ भी रज नही करना चाहिये। रागादिकोका होना रुचिकर नहीं होना चाहिये। बडे-बडे ज्ञानी जनोके राग होता है। परन्तु उस रागमे रजकता के अभावसे अग्रे उसकी परिपाटी-रोधका आत्माको अनायास अवसर मिल जाता है। इस प्रकार औदयिक रागादिकोकी सन्तानका अपचय होते होते एक दिन समूलतलसे उसका अभाव हो जाता है और तब आत्मा अपने स्वच्छ स्वरूप होकर इस ससारकी वासनाओंका पात्र नही होता। मैं आपको क्या लिखूँ ? यही मेरी सम्मति है—जो अब विशेष विकल्पोको त्यागकर जिस उपायसे राग द्वेषका आशयमे अभाव हो वही आपका व मेरा कर्त्तव्य है। क्योकि पर्यायिका अवसान है। यद्यपि पर्यायिका अवसान तो होगा ही किन्तु फिर भी सम्बोधनके लिये कहा जाता है, तथा मूढोको वास्तविक पदार्थका परिचय न होनेसे बडा आश्चर्य मालूम पडता है।

विचारसे देखिये—तब आश्चर्यको स्थान नही। भौतिकपदार्थोंकी परिणति देखकर बहुतसे जन क्षुब्ध हो जाते है। भला जब पदार्थमात्र अनन्त शक्तियोके पुज है, तब क्या पुद्गलमे वह बात न हो, यह कहाँका न्याय है। आजकल विज्ञान के प्रभाव को देख लोगोकी श्रद्धा पुद्गल द्रव्यमे ही जाग्रत हो गई है। भला यह तो विचारिये, उसका उपयोग किसने किया ? जिसने किया उसको न मानना यही तो जडभाव है।

बिना रागादिकके कार्माण वर्गणा क्या कर्मादिरूप परिणमनको समर्थ हो सकती है ? तब यो कहिये—अपनी अनन्तशक्ति के विकासका बाधक आपही मोहकर्म द्वारा हो रहा है। फिर भी हम ऐसे अन्धे है जो मोहकी ही महिमा आलाप रहे है। मोहमे बलवत्ता देने वाली शक्तिमान वस्तुकी ओर दृष्टि-प्रसार कर देखो तो धन्य उसे अचिन्त्य प्रभाववाले पदार्थको कि जिसकी वक्रदृष्टिसे यह जगत् अनादिसे बन रहा है। और जहाँ उसने वक्र दृष्टिको सकोचकर एक समयमात्र सुदृष्टिका अवलम्बन किया कि इस ससारका अस्तित्व ही नही रहता। सो ही समयसार मे कहा है—

कलश

कषायकेलिरेकत. शान्तिरस्त्येकतो।
भवोपहतिरेकत स्पृशति मुक्तिरप्येकत ॥
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः।
स्वभावमहिमाऽऽत्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुत ॥

अर्थ—एक तरफसे कषाय कालिमा स्पर्श करती है और एक तरफसे शान्ति स्पर्श करती है। एक तरफ ससारका आघात है और एक तरफ मुक्ति है। एक तरफ तीनो लोक प्रकाशमान है और एक तरफ चेतन आत्मा प्रकाश कर रहा है। यह बडे आश्चर्यकी बात है कि आत्माकी स्वभाव महिमा अद्भुत से अद्भुत विजयको प्राप्त होती है। इत्यादि अनेक पद्यमय भावो से यही अन्तिम कर्ण-प्रतिभा का विषय होता है जो आत्मद्रव्य ही की विचित्र महिमा है। चाहे नाना दु खाकीर्ण जगतमे नानावेष धारणकर नटरूप

बहुरूपिया बने। चाहे स्वनिर्मित सम्पूर्ण लीलाको सम्वरण करके गगनवत् पारमार्थिक निर्मल स्वभावको धारणकर निश्चल तिष्ठे। यही कारण है। "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" अर्थ—यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म स्वरूप है। इसमे कोई सन्देह नही, यदि वेदान्ती एकान्त दुराग्रहको छोड़ देवें। तब जो कुछ कथन है अक्षरशः सत्य भासमान होने लगे। एकान्त-दृष्टि ही अन्धदृष्टि है। आप भी अल्प परिश्रमसे कुछ इस ओर आइये। भला यह जो पंच स्थावर और त्रसका समुदाय जगत् दृश्य हो रहा है, क्या है? क्या ब्रह्मका विकार नही? अथवा स्वमतकी ओर कुछ दृष्टिका प्रसार कीजिये। तब निमित्त कारणकी मुख्यतासे ये जो रागादिक परिणाम हो रहे है, क्या उन्हे पौद्गलिक नही कहा है? अथवा इन्हे छोडिये। जहाँ अवधिज्ञानका विषय निरूपण किया है, वहाँ क्षयोपशम भावको भी अवधिज्ञानका विषय कहा है। अर्थात्-पुद्गलद्रव्यसम्बन्धेन जायमानत्वात् क्षायोपशमिक भाव भी कथचित रूपी है। केवलज्ञान भाव अवधिज्ञानका विषय नही, क्योकि उसमे रूपी द्रव्यका सम्बन्ध नही। अतएव यह सिद्ध हुआ कि औदयिक भाववत् क्षायोपशमिक भाव भी कथचित् पुद्गलसम्बन्धेन जायमान होनेसे मूर्तिमान है न कि रूपरसादिमत्ता इनमे हे? तद्वत् अशुद्धताके सम्वन्धसे जायमान होनेसे यह भौतिक जगत भी कथचित् ब्रह्मका विकार है। कथचित् का यह अर्थ है—

जीवके रागादिक भावोके ही निमित्त को पाकर पुद्गल द्रव्य एकेन्द्रियादि रूप परिणमनको प्राप्त है। अत. यह जो मनुष्यादि पर्याय है, दो असमान जातीय द्रव्यके सम्बन्धसे निष्पन्न है। न केवल जीवकी है और न केवल पुद्गलकी है। किन्तु जीव और पुद्गलके सम्बन्ध से जायमान है। तथा यह जो रागादि परिणाम है जो न तो केवल जीवके ही है और न केवल पुद्गलके हैं किन्तु उपादान की अपेक्षा तो जीव के है और निमित्त कारणकी अपेक्षा पुद्गलके है। और द्रव्यदृष्टि कर देखे तो न पुद्गलके हैं और न जीवके है। शुद्ध द्रव्य के कथन मे पर्याय की मुख्यता नही रहती। अत' यह गौण हो जाते है। जैसे पुत्र पर्याय स्त्री पुरुष दोनो के द्वारा सम्पन्न होती है। अस्तु, इससे यह निष्कर्ष निकला, यह जो पर्याय है, वह केवल जीव की नही किन्तु पौद्गलिक मोहके उदयसे आत्माके चारित्र गुणमे विकार होता है। अतः हमे यह न समझना चाहिये कि हमारी इसमे क्या क्षति है। क्षति तो यह हुई जो आत्माकी वास्तविक परिणति थी वह विकृत भावको प्राप्त हो गई। यही तो क्षति है। परमार्थसे क्षतिका यह आशय है कि आत्माम़े रागादिक दोष हो जाते है, वह न होवे। तब जो उन दोषोके निमित्तसे यह जीव किसी पदार्थमे अनुकूलता और किसीमे प्रतिकूलताकी कल्पना करता था और उनके परिणमन द्वारा हर्ष विषाद कर वास्तविक निराकुलता (सुख) के अभावमे आकुलित रहता था, शान्तिके आस्वादकी कणिकाको भी नही पाता था। अब उन रागादिक दोषोके असद्भाव मे आत्मगुण चारित्रकी स्थिति अकम्प और निर्मल हो जाती है। उसके निर्मल निमित्तको अवलम्बन कर आत्माका चेतना नामक गुण है, वह स्वयमेव दृश्य और ज्ञेय पदार्थोंका तद्रूप हो दृष्टा और ज्ञाता शक्तिशाली होकर आगामी अनन्तकाल स्वाभाविक परिणमनशाली आकाशादिवत् अकम्प रहता है। इसीका नाम भावमुक्ति है। अब आत्मामे मोहनिमित्तक जो कलुषता थी वह सर्वथा निर्मल हो गई, किन्तु अभी जो योगनिमित्तक परिस्पन्दन है वह प्रदेशप्रकम्पनको करता ही रहता है। तथा तन्निमित्तक ईर्यापथास्रव भी साता वेदनीयका हुआ करता है। यद्यपि इसमे आत्माके स्वाभाविक भावकी क्षति नही। फिर भी निरपवर्त्य आयुके सद्भावमे यावत् आयुके निषेक है तावत् भवस्थितिको मेटनेको कोई भी क्षम नही। तब अन्तर्मुहूर्त आयुका अवसान रहता है। तथा शेष जो नामादिक कर्मकी स्थति अधिक रहती है, उस कालमे तृतीय शुक्लध्यानके प्रसादसे दड कपाटादि द्वारा शेष कर्मोंकी स्थितिको आयुसम कर चतुर्दश गुणस्थानका आरोहण कर, अयोग नामको प्राप्त करता हुआ, लघु पचाक्षरके उच्चारणके काल सम गुणस्थानका काल पूर्ण कर, चतुर्थ ध्यानके, प्रसादसे शेष प्रकृतियोको नाश कर, परम यथाख्यात चारित्रका लाभ करता हुआ एक समयमे द्रव्यमुक्ति व्यपदेशताको लाभकर मुक्ति-साम्राज्य-लक्ष्मीका भोक्ता होता हुआ लोकशिखरमे विराजमान, होकर तीर्थंकर प्रभुके ज्ञानका विषय होकर हमारे कल्याण मे सहायक हो। यही हम सबकी अन्तिम

प्रार्थना है ।

श्रीमान् बाबा भागीरथजी महाराज आगये, उनका आपको सस्नेह इच्छाकार। खेद इस बातका विभाजन्य हो जाता है जो आपकी उपस्थिति यहाँ न हुई। जो हमे भी आपकी वैयावृत्ति करनेका अवसर मिल जाता, परन्तु हमारा ऐसा भाग्य कहाँ ? जो सल्लेखनाधारी एक सम्यग्ज्ञानी पचम गुणस्थानवर्ती जीवकी प्राप्ति हो सके। आपके स्वास्थ्यमे आभ्यन्तर तो क्षति है नही, जो है सो बाह्य हे। उसे आप प्राय वेदन नही करते, यही सराहनीय है। धन्य है आपको—जो इस रुग्णावस्थामे भी सावधान है। होना ही श्रेयस्कर है। शरीरकी अवस्था अपस्मार वेगवत् वर्धमान हीयमान होनेसे अध्रुव और शीतदाह ज्वरावेश द्वारा अनित्य है, ज्ञानी जनको ऐसा जानना ही मोक्षमार्गका साधक है। कब ऐसा समय आवेगा जो इसमे वेदनाका अवसर ही न आवे। आशा है एक दिन आवेगा। जब आप निश्चल वृत्तिके पात्र होवेगे। अब अन्य कार्योसे गौण भाव धारणकर सल्लेखना के ऊपर ही दृष्टि दीजिये और यदि कुछ लिखनेकी चुलबुल उठे तब उसी पर लिखनेकी मनोवृत्तिकी चेष्टा कीजिये। मैं आपकी प्रशसा नही करता, किन्तु इस समय ऐसा भाव जैसा कि आपका है, प्रशस्त है।

ज्येष्ठ वदी १ से फाल्गुन सुदी ५ तक मौनका नियम कर लिया है। एक दिनमे एक घण्टा शास्त्रमे बोलूँगा।

पत्र मिल गया— पत्र न देने का अपराध क्षमा करना।

× × ×

श्रीयुत महाशय दीपचन्दजी वर्णी साहब,

योग्य इच्छाकार।

पत्रसे आपके शारीरिक समाचार जाने—अब यह जो शरीर पर है, शायद इससे अल्प ही कालमे आपकी पवित्र भावनापूर्ण आत्माका सम्बन्ध छूटकर, वैक्रियिक शरीरसे सम्बन्ध हो जावे। मुझे यह दृढ श्रद्धान है कि आपकी असावधानी शरीरमे होगी—न कि आत्मचिंतवन मे। असातोदयमे यद्यपि मोहके सद्भावसे विकलताकी सम्भावना है। तथापि आशिक भी प्रबल मोहके अभावमे वह आत्मचिंतनका बाधक नही हो सकती। मेरी तो दृढ श्रद्धा है कि आप अवश्य इसी पथ पर होगे। और अन्ततक दृढतम परिणामो द्वारा इन क्षुद्र बाधाओकी ओर ध्यान भी न देंगे। यही अवसर ससार-लतिकाके घात का है।

देखिये, जिस असातादि कर्मोकी उदीरणाके अर्थ महर्षि लोग उग्रोग्रतप धारण करते-करते शरीरको इतना कृश बना देते हैं, जो पूर्व लावण्यका अनुमान भी नही होता। परन्तु आत्म-दिव्यशक्तिसे भूषित ही रहते हैं। आपका धन्यभाग्य है, जो बिना ही निर्ग्रंथपद धारणके कर्मोका ऐसा लाघव हो रहा है जो स्वमेव उदयमे आकर पृथक् हो रहे हैं। इसका जितना हर्ष मुझे हे, नही कह सकता। वचनातीत है।

आपके ऊपरसे भार पृथक् हो रहा है, फिर आपके सुखकी अनुभूति तो आपही जाने। शातिका मूल कारण न साता है और न असाता, किन्तु साम्यभाव हैं। जो कि इस समय आपके हो रहे। अब केवल स्वात्मानुभव ही रसायन परमौषधि हे। कोई-कोई तो क्रम-क्रमसे अन्नादिका त्यागकर समाधिमरणका यत्न करते हैं। आपके पुण्योदय से स्वयमेव वह छूट गया। वही न छूटा, साथ-साथ असातोदय द्वारा दु खजनक सामग्रीका भी अभाव हो रहा है।

अत हे भाई! आप रचमात्र क्लेश न करना। जो वस्तु पूर्व अर्जित है यदि वह रस देकर स्वयमेव आत्माको लघु बना देती है तो इससे विशेष और आनन्द का क्या अवसर होगा। मुझे अन्तरगसे इस बात का पश्चात्ताप हो जाता है, जो अपने अन्तरग बन्धुकी ऐसी अवस्थामे वैयावृत्य न कर सका।

माघ वदी १४ स० १९९७, } आपका शुभचिंतक
गणेशप्रसाद वर्णी

एक ऐतिहासिक प्रवचन

(निमित्त-नैमित्तिक व्यवस्था; कार्य मे निमित्त-उपादान की भूमिका; शुभ-उपयोग तथा अर्हन्त-भक्ति की उपादेयता तथा सोनगढ की विचारधारा के सम्बन्ध मे पूज्य वर्णी जी का एक विशेष वक्तव्य)

प्रस्तावना

पूज्य श्री १०५ श्री क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीका प्रवचन, जो उन्होने उदासीन आश्रम ईशरीमे ता० ३१-३-५७ के मध्याह्न कालके समय आश्रमके ब्रह्मचारी एव ब्रह्मचारिणियो तथा विद्वानो के समक्ष किया था और जिसको रिकार्डिंग मशीनमे भर लिया गया था, उन्ही शब्दोमे लेखरूपमे यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

सोनगढके श्री कानजी स्वामी तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रार्थ ता० ६-३-५७ को पहुँचे, तथा उसी दिन पूज्य वर्णीजी से मिलने भी आये। पूज्य वर्णीजी भी ४-५ बार उनके पडालमे गये। दिनाँक १४-३-५७ को श्रीकानजी स्वामीने श्री समयसार ग्रन्थ की आस्रव तत्त्व की गाथा पर प्रवचन किया। इस दिनके प्रवचन पर पूज्य श्री वर्णीजी ने कहा कि —इस आस्रव तत्त्वके श्रीकानजी स्वामीके प्रवचनमे मेरे को कोई विपरीतता नही लगी, यह आगमोक्त है।

बस, फिर क्या था ? इसी बातको लेकर कुछ भाइयोंने कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, इन्दौर आदि जगहो पर जोरोसे प्रचार कर दिया कि पूज्य वर्णीजी ने श्री कानजी स्वामीकी मान्यताओको मजूर कर लिया है। बहुतसे भाई असमंजसमे पड गये, समाजमे एक भ्रान्ति पैदा कर दी गई जिसका निवारण करना अत्यावश्यक समझा गया। बहुतसे भाईयोमे यह भी कहा कि हम सैद्धान्तिक गूढ तत्त्वोको तो समझते नही है, हम लोगो की पूज्य वर्णीजी के प्रति श्रद्धा है—वे इस सम्बन्धमे जो कहेगे वह हमे मान्य है—इस कारण से भी यह आवश्यक समझा गया कि इस सम्बन्धमे पूज्य श्री वर्णीजी का स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है। इसलिए ता० ३०-३-५७ को श्री मागीलालजी पांड्या, श्री चाँदमलजी बडजात्या, श्री इन्द्रचन्द्र पाटनी, श्रीकल्याणचन्द्रजी पाटनी, श्रीनेमीचन्द्रजी छाबडा और मैं एवं श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार तथा श्री नेमीचन्द्रजी वकील सहारनपुर वाले, जो यहाँ आये हुये थे, ईशरी गये और पूज्य वर्णीजीके सामने सारी परस्थिति कह सुनाई। समाजमे फैलाये जाने वाले भ्रमके निवारणार्थ रेकार्डिंग मशीनके सामने अपना खुलासा कर देने की प्रार्थना उनसे की गई। पूज्य वर्णीजीने लोगो द्वारा किये जाने वाले ऐसे मिथ्या प्रचार पर आश्चर्य प्रकट किया। ता० ३१-३-५७ के दोपहरके समय अपना प्रवचन मशीनमे भर लेने की स्वीकारता उन्होने दे दी।

इस प्रकाशनमे उनके अपने शब्दोमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, कार्यमे उपादान की योग्यताके साथ निमित्त की सहायता की आवश्यकता, शुभोपयोग एव भगवान की भक्ति की आवश्यकता एवं साधनता के विषयमे दिगम्बर जैनागम की जो आज्ञा है उसे प्रकाशित किया गया है तथा श्री कानजी स्वामीके सम्बन्धमे भी प्रकाश डाला गया है। ज्यो का त्यो प्रकाशन होनेके कारण शब्दो की पुनरावृत्ति तथा बुन्देलखंड प्रान्त की बोलीमे मिश्रित होनेके कारण भाषा की दृष्टिसे कुछ अशुद्धिया रहना स्वाभाविक है पर इसमे पूज्य वर्णीजीके शब्दोसे एक अक्षर का भी अन्तर नही है।

आशा है, मिथ्या भ्रमके निवारणमे यह प्रकाशन सहायक होता हुआ सच्चे मार्गके अवलम्बनमे प्रेरक बनेगा।

कलकत्ता, ता० १५-४-५७

—बाबूलाल जैन जमादार

श्री वर्णीजी का प्रवचन, टेप रिकार्डिंग में प्रस्तावना—

मिती चैत्र कृष्ण ३० ता० ३१-३-५७ को दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ईशरीमे पूज्य १०५ क्षु० श्री गणेश-प्रसादजी वर्णी का टेप रिकार्ड किया हुआ प्रवचन :—

श्री नेमिचन्द्रजी बकील सहारनपुर—पूज्य श्री १०५ क्षु० श्री गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य का आज उदासीन आश्रम—दिग जैन उदासीन आश्रम ईशरी बाजारमे श्री समयसारजी की गाथा न० २७८, २७९ पर प्रवचन हो रहा है —

पूज्य क्षु० श्री वर्णी जी महाराज :—

**"रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोतिरिक्ता ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहु ॥**

यहा पर रागादिक बन्ध का कारण है, यह अमृतचन्द्र-सूरिने कहा है। रागादय -रागादिक कैसे है, शुद्ध चिन्मात्र-महोऽतिरिक्ता । शुद्ध चैतन्यमात्र-मह उससे अतिरिक्त। यहा पर शुद्धसे तात्पर्य 'केवल' का है। आत्मा उन रागादिकके होनेमे 'आत्मा परो वा किमु तद् निमित्त' ऐसा किसीने प्रश्न किया कि रागादिक होनेमे आत्मा निमित्त है या और कोई निमित्त है ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य उत्तर देते है —

**जह फलिहमणी शुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं ।
रगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥**

जैसे—स्फटिक मणि, केवल स्फटिक मणि स्वय शुद्ध है। रागादयो-रागादिरूप जो लाल परिणमन है उसका स्वय न परिणमन्ते, स्वय न परिणमन्ते इसका क्या अर्थ है, परिणमते स्वय ही है पर निमित्तमन्तरेण न परिणमन्ते इत्यर्थ.। स्फटिक मणि स्वय रागादिक रूप परिणमेगी, स्वय न परिणमते इसका क्या अर्थ है, परके सम्बन्ध बिना स्वय न परिणमते। परिणमे स्वय, पर परके निमित्त बिना नही— यथा मृत्तिका स्वय घटरूपेण, परिणमते। मट्टी ही घटरूप परिणमते। यह बात नही है कि मृत्तिका घटरूप परिणमन को प्राप्त नही होती परन्तु कुम्भकारादि-व्यापारमन्तरेण स्वय न परिणते इत्यर्थ.। कुम्भकार आदि व्यापारके बिना केवल अपने आप तद्रूप परिणम जाय यह बात नही है। इसी तरहसे आत्मा स्वय फलिह-मणि शुद्धो ण सय परिणमति रागमाईहिं। शुद्ध, शुद्धसे तात्पर्य 'केवल' का है। ज्ञानी का यह अर्थ नही लेना कि चौथे गुणस्थानसे सम्यग्ज्ञानी, सो नही। स्वय का अर्थ केवल स्वयं, केवल, केवल आत्मा जो है, अकेला एक। एक परमाणुमे बध नही होता। एक आत्मामे स्वय रागादि परिणमन नही होता। रागादि भी स्वय न परिणमन्ते। स्वय न परिणमन्ते इत्यस्य क अर्थ । स्वय परिणमन को प्राप्त नही हुये इसका क्या अर्थ है। अर्थात् रागादि कर्मभि सम्बन्धमतरा न स्वय परिणमन्ते। रागादि कर्मके सम्बन्धके बिना वह स्वय, केवल, अकेला नही परिणमता। परिणमता स्वय, पर रागादिसम्बन्धमतरा न परिणमते। उसीका अमृतचन्द्र स्वामी अर्थ करते है–न खलु केवलाः स्फटिकोपला. परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात्, रागादिभि स्वय न परिणमते। केवल स्फटिक को केवल, केवल माने अकेला शुद्ध, पदार्थान्तर सम्बन्धके विना, परिणाम स्वभावे सत्यपि, परिणमन-शील है परिणाम स्वभाव है। परन्तु स्वस्य माने केवल का शुद्ध स्वभावत्वेन रागादि निमित्तत्वाभावाद् रागादि निमितत्व का अभाव होनेसे रागादिभि स्वय न परिणमन्ते। स्फटिकोपला , रागादि करके स्वय न परिणमन्ते अर्थात् जपापुष्प सम्बन्धमन्तरेण, जपा पुष्पके सबधके बिना केवल न परिणमते, जपापुष्पके सम्बन्ध कहते स्वय स्फटिकोपलेव तुम्हारे रागादि भी परिणमते। पर द्रव्य नैव स्वय रागादिभावपरिणमतया। परद्रव्य, जपा-पुष्पादि परद्रव्य, उनके स्वय रागादिभाव परिणमतया। उनका स्वय रागादि परिणमन स्वभाव है। स्वस्य रागादि निमित्तभूतेन स्वस्य स्फटिकोपल को रागादिक का निमित्त भूत होने पर शुद्ध स्वभावत्वे प्रच्यवमानेन उसको शुद्ध स्वभावसे च्युत कराता हुआ रागादि भी परिणमते। कौन ? स्फटिकोपल रागादिरूप परिणम जाता है। यह तो दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त कहते है। तथा यथा स्फटिकोपल, जपापुष्प सम्बन्धेन रागादिरूप परिणमता

है एव, किल आत्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, परिणाम स्वभाव होने पर भी, यथा स्फटिकोपलपरिणाम स्वभाव होने पर जपापुष्पमन्तरेण रागादिरूप नही परिणमते तथा केवल आत्मा शुद्ध परिणाम स्वभाव होने पर भी स्वस्य,शुद्ध स्वभाव होने परभी, स्वय परद्रव्यनिरपेक्षतया रागादि कर्मनिरपेक्षतया स्वय अपने आप रागादिरूप नही परिणमता। पर द्रव्य नैव स्वय रागादि भाव परिणमतया, पर द्रव्य जो है स्वय रागादिभाव परिणमन होने से स्वस्य रागादि निमित्त-भूतेन, स्वय को रागादि निमित्तभूत होने पर, शुद्ध स्वभावसे च्युत कराता हुआ रागादिभि परिणमते—राग-द्वेषादिरूप परिणमन को प्राप्त हो जाती है। इति वस्तु-स्वभाव। इस सबका निचोड अमृतचन्द्र स्वामी एक श्लोकमे कहते है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्माऽऽत्मनो
याति यथाऽर्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावो-
ऽयमुदेति तावत् ॥

आत्मा कभी भी, याति माने कदाचित् भी अपने आप रागादिक का निमित्त होकर परिणमन को प्राप्त हो जाय सो बात नही है। यथा अर्ककान्त सूर्यकान्त मणि यथा सूर्यकिरणसम्बन्धमन्तरेण स्वय अपने आप अग्निरूप परिणमन को प्राप्त नही होता है। सूर्यकिरणसम्बन्ध प्राप्त। सूर्यकिरणके सम्बन्ध को पाकरके अग्निरूप परि-णमन जाता है। इस तरहसे आत्मा स्वयं केवल, अकेला पर सम्बन्धमन्तरेण रागादिकरूप स्वय न परिणमते। किन्तु तस्मिन् निमित्तम् परसग एव—उसके परिणमनमे निमित्त, परसग ही है, उसके निमित्त को पाकरके आत्मा रागादिरूप परिणम जाता है। यह वस्तु का स्वभाव उदेति-यह वस्तु का स्वभाव है। इस प्रकार जो वस्तुके स्वभाव को जानते हैं वह ज्ञानी है, वे अपनी आत्मा को रागादिक नही करके कारक नही होते और जो ज्ञानी नही है वे कारक होते है। इसका तो तात्पर्य यही है।

ससारके अन्दर पदार्थ दो है—जीव और अजीव, दो पदार्थ है—अजीव पदार्थके पाच भेद है। उसमे पुद्गल को छोड करके शेष चार जो अजीव है वे शुद्ध ही शुद्ध रहते है। दो जो पदार्थ है जीव और पुद्गल—इन पदार्थोमे दोनो प्रकार का परिणमन होता है—इनमे विभावशक्ति भी है। इन दोनो पदार्थोमे और अनन्तशक्ति भी है। वह विभावशक्ति यदि न होती तो एक चाल ही होती। विभावशक्ति ही एक ऐसी चीज है कि जिसके द्वारा आत्मामे परिणमन होता है। पर पदार्थ का सम्बन्ध रहता है। पदार्थ-पदार्थ का सम्बन्ध आज का नही है। अनादिकाल का है। अनादिकाल का सम्बन्ध होनेसे आत्मा का वह रागादिकरूप, द्वेषादिकरूप, क्रोधरूप, मानरूप, माया-लोभादिकरूप जितना भी परिणमन है आत्मा का स्वभाव नही है—विभावशक्ति का है। विभाव-शक्ति आत्माके अन्दर है सो ऐसा परिणमन हो जाय, परका निमित्त मिले तो उस रूप परिणम जाय, इस वास्ते हम सबको उचित है कि निमित्तकारणो को जो है, उतना ही आदर देवे जितनी कि आदर देने की जरूरत है। उपादान कारण पर भी उतना ही आदर देवें जितनी कि जरूरत है। **उसको अधिक मानो या इसको अधिक मानो यह तत्त्व नही है। दोनों अपने अपनेमें स्वतंत्र है। उपादान भी स्वतन्त्र है, वह कहे कि मै निमित्त बिना परिणम जाऊं तो कोई ताकत नहीं। केवल उपादान की ताकत नही है कि निमित्त न मिले और वह परिणम जाय, सो परिणमेगा वही परनिमित्त को पाकर के।** जैसे कुम्भकार घट को बनाता है। सब कोई जानता है कि कुम्भकार घट को बनाता है। अगर कुम्भकार नही होय तो घट परिणामके सम्मुख भी है और घट परिणाम की प्राप्तिके उन्मुख भी है। परन्तु कुम्भकारमन्तरेण बिना नही परिणम सकता। कुभकारादि निमित्त हो और बालू का पुज लगा हो तो घट का परिणमन हो जाय सो भी नही है। इस वास्ते **उपादान और निमित्त दोनों अपने अपनेमें बराबर की चीज है। कोई न्यूनाधिक उसमें माने सो नही है।** उसका कार्य उसमे होता है, इसका कार्य इसमे होता है। व्याप्य-व्यापक का भाव जो है, उपादान का, अपनी पर्यायके साथ होता है। निमित्त की पर्यायोके साथ नही होता। परन्तु ऐसा नही कि उसका कुछ भी सम्बन्ध न हो। यथा अन्तर व्याप्य-व्यापकभावेन मृत्तिकय

घटः । मृत्तिका के द्वारा घट बनता है । अन्तर-व्याप्यव्याप्येन मृत्तिकैव अनुभूयमाने, और मृत्तिका ही अनुभवन करती है और मृत्तिका मे ही उसका तादात्म्य-सम्बन्ध है । परन्तु बाह्य व्याप्य-व्यापक भाव कुछ नही सो बात नही है । व्याप्य-व्यापकभावेन, घटके अनुकूल व्यापार कुम्भकार करेगा तो घट होगा— तो व्यापार कुर्वाणः कुम्भकार जो है वह घट को बनाने वाला है । और घटसे जो तृप्ति हुई, जलादिक आकर जो तृप्ति हुई उसको अनुभवन करने वाला कौन है ? कुम्भ-कार ! इस कारण **अगर निमित्त नैमित्तिक भाव न होवे तो तुम्हारे यहाँ पर मृत्तिका मे घट नही बन सकता** बहि व्याप्यव्यापकभावेन उसके साथ सम्बन्ध है ही, अगर बहिर्व्याप्यव्यापकभाव अस्वीकार करो तो घटोत्पत्ति नही हो सकती । इसी तरहसे आत्मामे ज्ञानावरणादिक जो कर्म है सो पुद्गल द्रव्य स्वय ज्ञानावरणादिक कर्मरूप परिणमता है । और आत्माके मोहादिक परिणामोके निमित्त को पाकरके परिणमता है । अगर मोहादिक परिणाम निमित्त रूपमे न हो तो कभी भी तुम्हारे ज्ञाना-वरणादिक रूप पर्याय को प्राप्त नही होवे । इस वास्ते **निमित्तकारण की भी आवश्यकता है । उपादानकारण की भी आवश्यकता है ।**

प्रश्न—श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार सहारनपुर —

ज्ञानमे जो कमी हुई, जीवका स्वभाव तो केवलज्ञान है और वर्तमानमे जो हमारी ससारी अवस्थामे जितने भी जीव है, उनके ज्ञानमे जो कमी हुई, वह क्या कर्मके उदय की बजहसे हुई या बिना कर्मके उदयकी बजहसे हुई ।

उत्तर—पूज्य वर्णीजी महाराजः—

इसमे दोनो कारण है । कर्मका उदय कारण है और उपादान कारण आत्मा है । कर्मका उदय यदि न होय तो ज्ञान कभी भी न्यूनाधिक परिणमनको प्राप्त नही होगा ।

विभाव और बात है । यह तो ज्ञानावरणादिक कर्मका इस प्रकारका क्षयोपशम है । तत् तरतमभावसे आत्माका ज्ञानादिक विकास होता है । जितना उदय होता है उतना अज्ञान रहता है और जितना ज्ञानावरणादिक कर्मका उदय होगा उतना ही अज्ञान रहेगा । जितना ज्ञानावरणा-दिक कर्मका क्षयोपशम होगा उतना ज्ञान रहेगा ।

प्रश्न—श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार—

कानजी स्वामी यह कहते है, महाराज, ज्ञानावरणा-दिक कर्म कुछ नही करते । अपनी योग्यतासे ही ज्ञानमे कमी-वेसी होती है । महाराज, ज्ञानमे कमी होती है अपनी वजह से होती है, अपनी योग्यतासे होती है, कानजी स्वामी यह कहते है । ज्ञानावरणादिक कर्म कुछ नही करता तो, महाराज, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—पूज्य वर्णीजी महाराजः—

यह ठीक है ? आप ही समझो, कैसे ठीक है । **यह ठीक नही है । चाहे कोई भी कहे, हम तो कहते हैं कि अंगधारी भी कहे तो भी ठीक नही है ।**

प्रश्न—बाबू सुरेन्द्रनाथजीः—

महाराज, सम्यग्दृष्टिके पूजन, दान, व्रतादिकके आच-रण ये मोक्ष के कारण है या नही ?

उत्तर—पूज्य वर्णीजी महाराज —

मेरी तो यह श्रद्धा है कि सम्यग्दृष्टिके चाहे शुभोप-योग हो, चाहे अशुभोपयोग हो, केवल नही होता है उसमे शुद्धोपयोग । अनन्तानुबन्धी कषाय जानेसे शुद्धोपयोगका अश प्रकट हो जाता है । जहा शुद्धोपयोगका अश प्रकट हुआ तहाँ पूर्ण शुद्धोपयोग मोक्षका कारण है, तो अल्प शुद्धोपयोग भी मोक्षका कारण है । यानी कारणता तो उसमे आ गई, पूर्णत आवो या न आवो । प्रवचनसारमे अमृत-चन्द्र स्वामीने लिखा है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो है यह पूर्णताको प्राप्त होते है, तब वीतरागतासहित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, वीतरागचारित्र सहित मोक्षके ही मार्ग है । अतएव सरागात् अगर इनके अशमे जो राग मिला है तो जो राग है वह बध का कारण है । इस वास्ते जो राग है, सम्यग्दृष्टिका, जो उपयोग है, जितना शुभो-पयोग है वह बधका कारण है । और जो शुद्धोपयोग है वह निर्जरा और मोक्षका कारण है । **सम्यग्दृष्टिका शुभोपयोग सर्वथा ही बधका कारण हो, सो बात नही है ।**

प्रश्न—श्री रतनचन्द्रजी मुख्तारः—

महाराज ! जिसे मोक्षमार्ग रुचता है, उसे जिनेन्द्र देवकी भक्ति रुचती है या नही ?

उत्तर—पूज्य वर्णीजी महाराज —

मेरा तो विश्वास है कि जिसको मोक्षमार्ग रुचता है उसको जिनेन्द्रदेवकी भक्ति तो दूर रही, सम्यग्दृष्टिकी जो बाते है वह सब उसको रुचती हैं। ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वदे तद्गुणलब्धये। वडे आचार्य थे, उमास्वामी। मोक्षमार्गका निरूपण करना था, मगलाचरण क्या करते हैं—

मोक्षमार्गस्य नेत्तारं भेतारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तत्गुणलब्धये ॥

ज्ञातार विश्वतत्त्वाना, विश्वतत्त्वज्ञातार अहं वदे, काहेके लाने ? तद्गुण लब्धये, तद्गुणोकी लब्धिके लिए। तो उनमे जो भक्ति हुई, भगवानकी जो भक्ति हुई, स्तवन हुआ,—भगवानका जो स्तवन हुआ तो भक्ति स्तवन वगैरहका वर्णन किया—क्या चीज है ? गुणस्तोकं समुल्लघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुति'। वह स्तुति कहलाती है कि थोडे गुण को उल्लंघन करके उसकी बहुत कथा करना, उसका नाम स्तुति है। भगवानके अनन्त गुण है। वक्तुम् अशक्त्वात् उनके कथनको करने मे अशक्त है। अनन्त गुण है। भक्ति वह कहलाती है कि गुणोमे अनुराग हो, उसका नाम भक्ति है। भगवानके अनन्तगुण है, उनको कहने को हम अशक्त हैं, कह नही सकते। तो भी जैसे समुद्र का, कोई अमृतके समुद्रका अतस्तल स्पर्श करने मे असमर्थ है, अगर उसे स्पर्श भी हो जाय तो शातिका कारण है। तो भगवानके गुणोका वर्णन करना दूर रहा, उसका स्मरण भी हो जाय तो हमको ससारताप की व्युच्छित्तिका कारण है। इस वास्ते भगवानका जो स्तवन है वह गुणोमे अनुराग है। गुणोमे अनुराग कौन-सी कषायको पोषण करने वाला है ? जिस समय भगवानकी भक्ति करोगे अनन्त ज्ञानादिक गुणोंका स्मरण ही तो होगा। अनन्त ज्ञानादिक गुणोके स्मरण होनेमे कौन-सी कषाय पुष्टि हुई। क्या क्रोध पुष्ट हुआ, या मान पुष्ट हुआ, या माया पुष्ट हुई, या लोभ पुष्ट हुआ ? तो मेरा तो यह विश्वास है कि उन गुणोको स्मरण करने से नियमसे अरहतको द्रव्य, गुण, पर्याय करके जो जानता है यह परोक्ष मे अरहंत है, वह साक्षात् अरहत है। वह परोक्ष मे वही गुण तो स्मरण कर रहा है। तो भगवानकी भक्ति तो सम्यग्ज्ञानी ही कर सकते है। मिथ्यादृष्टि नही। परन्तु कवतक। तो पंचास्तिकायमे कहा कि भगवान की भक्ति मिथ्यादृष्टि भी करता है और सम्यग्दृष्टि भी करता है। परन्तु यह जो है, उपरितन गुणस्थान चढनेको असमर्थ है, इस वास्ते अस्थानरागादिक निवर्तन—अस्थान जो है कुदेवादिक, उनमे रागादिक न जाय, अथवा तीव्र रागज्वर निरोधात्मा उसको प्रयोजन, कहा है कि तीव्र रागज्वर मेरा चला जाय, इसलिये वह भगवानकी भक्ति करता है। इस वास्ते जो श्रेणी माडते हो वे उत्तम पुरुष है। उनको तो वस्तुविचार रहता है। उनकी तो आत्माकी तरफ दृष्टि है।नही जाने घट की, न पट की। कोई पदार्थ चिन्तवनमे आ जाय तो वह विषका बीज जो रागद्वेष था वह उनका चला गया। हमारा विषका बीज रागद्वेष बैठा है। इस वास्ते **भगवान की भक्ति, उनके गुणों का चिन्तवन करने से रागद्वेषकी निवृत्ति होती है। अतएव सम्यग्दृष्टिको भगवानकी भक्ति करनी ही चाहिए।**

अपने विरोधी मानकर, जैनधर्म तो रागद्वेष रहित है, कोई उनका अन्तरंगसे विरोधी नही है। भैया, कोई भी मनुष्य जो है, कानजी स्वामीका विरोधी नही है। **वह तो यह चाहता है कि तुम जो इतना-इतना मूल पकड़े हो, इससे तो तमाम संसार उल्टा डूब जायेगा। वह दो हजारके भलेकी बात कहते हो वह तो उल्टा डूबने का मार्ग है। मिथ्यात्व का अंश ही बुरा होता है।** अरे हमारी बात रह जाय, वह बात काहे की। जब पर्याय ही चली जाय, जिस पर्यायमे अहंबुद्धि है, तब बात काहे की है। तुम्हारा यह पर्याय सम्बन्धी ज्ञान, यह पर्याय सम्बन्धी चारित्र, यह पर्याय सम्बन्धी सुन्दरता और आयुका अन्त। अरे सुन्दरता तो अब ही चली जाय। द्रव्यसे विचार करो, वह रख लेवे ? अब ये जवान है, रख लेवे, कि हम ऐसे ही बने रहे, नही रख सकते। अरे तुम जो बोलना चाहो उसको भी नही रख सकते। क्यो ? वह तो उदयमे आकर खिर ही जायगा। इस वास्ते बात तो यह हम अभी भी कहते है कि स्थितिकरणकी आवश्यकता है—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥

हमको तो शत्रुभाव उनमे रखना ही नही चाहिए। कषायके उदयमे मनुष्य क्या क्या काम करता है—कौन

नही जानता है। सब कोई जानते है। हम तो कहते है अब भी समझानेकी आवश्यकता है, अब भी उपेक्षा करने की आवश्यकता नही है। ऐसा व्यवहार करो कि वह समझ जाय। बडेसे बडे पाप समझो कि जो नाहरी-उसका पेट विदारण कर दिया अपने बच्चेका, सुकोशल मुनिका। वह नाहरी जब विदारण कर दिया कि मुनि उनके पिता यशोधर वहा आये। वह केवलज्ञान निर्वाण की पूजा करने वगैरह को। उससे कहते हैं कि जिस पुत्रके वियोगसे यह दशा भई आज उसीको विदार दिया ? तोउसी समय उसके परिणामोने पलटा खाया—परिणामोने पलटा खाया, वह सिर धुनने लगी। अरे सिर धुननेसे क्या होता है। तो महाराज अब तो पापका प्रायश्चित्त यही है कि इस पापका प्रायश्चित्त यही है—किसका ? कि सबका त्याग करो! तब इससे बढकर क्या कर सकती थी। और जब नाहरी जैसी सुधर जाती है तो मनुष्य न सुधर जाय ? मगर यह बात, हमारे मनमे यह कल्पना नही होनी चाहिए कि ये हमारे विरोधी है। **वह कषायके उदयमे बोलता है—बड़े-बड़े बोलते हैं—क्या बड़ी बात हे।** रामचन्द्रजी कपायके उदयमे छह महीने मुर्दाको लिये फिरे, सीताका वियोग हुआ तो मुनिसे पूछते हैं कोई उपाय है, बताओ तो हमारा कल्याण कैसे होगा। तद्भव मोक्षगामी, देशभूषण कुलभूषण से सुन चुका और एक स्त्रीके वियोगमे इतना पागल हो गया। अरे तुम बता तो दो जरा, कहो हमारा भला कैसे होगा ? तो उन्होने वही उत्तर दिया जो देना था—सीताके वियोगका उत्तर नही दिया। यह उत्तर दिया कि जब तक लक्ष्मण से स्नेह, तबतक तुम्हारा कल्याण नही होगा। और जिस दिन लक्ष्मण से स्नेह छूटा, कल्याण हो गया। देख लो उसी दिन हुआ। **मेरी समझमे तो आप लोग विद्वान् है, सब हैं, कोई ऐसो चिट्ठी लिखो जिससे सब वह छूट जाय। हम तो यही कहेगे भैया और अन्त तक यही कहेगे—चाहे वे विरोधी बने रहे, चाहे वह छपा देवे कि हमारा मत इन्होने स्वीकार कर लिया—जो उनकी इच्छा है—उसमें हम क्या कर सकते है।** उनके पण्डालमे नियमसे तीन दिन, चार दिन गये उनका सुना, करा, सब कुछ किया, उन्होने जो अभिप्राय लगाया हो और आप लोगोने जो लगाया हो अभिप्राय। मगर हम जो गये, हमारा भीतर का तात्पर्य यही था कि—हे भगवान! **ये मिल जाय, तो एक बडा भारी उपकार जैनधर्मका होय। अरे शिखरजी से निर्मल क्षेत्र और कौन है कि जहां पर नही होने की थी बात। हम क्या करें बताओ ? बात ही नहीं होनी थी। हमारे वशकी बात तो नही थी।** अच्छा और भिडाने वाले उनके अन्दर ऐसे होते ही हैं—हर कही ही ऐसे होते हैं—जैसे मन्त्री तो शनि भये और राजा होय बृहस्पति। और मन्त्री ही तो शनि बैठे, राजा बृहस्पति होनेसे क्या तत्त्व होय। वह तो अच्छी ही कहे मगर तोडने मरोडने वाले तो वहाँ बैठे है। बीचमे मन्त्री बैठा है, सो बताइये कि कैसे बने। हम तो यह कहे कि सम्यक्त्वके तो आठ अग बताये, जिसमे दर्शनाच्चरणाद्वापि। दर्शन यानि श्रद्धासे च्युत हो जाय कदाचित् चारित्रसे च्युत हो जाय। दर्शनाच्चरणाद्वापि चलता धर्मवत्सलै। फिर उसीमे स्थापित करना उसीका नाम स्थितिकरण है और वात्सल्य जो है।

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्ति-र्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥

अपनी ओरसे जो कोई हो, अपनेमे मिलावो। तत्त्व तो यह है भैया। और यह सम्यग्दृष्टि बने हो तो आठ अग नही पालोगे ? आठ अग तो तुम्हारे पेटमे पडे है। क्योकि वृक्ष चले और शाखा नही चले सो बात नही हो सकती। अगर सम्यग्दृष्टि बने हो तो आठ अग होना चाहिए। यहा जोर दिया समन्तभद्र स्वामि ने—**नाङ्गहीनमल छेत्तु**

जन्मसन्तति को अगहीन सम्यग्दर्शन छेदन नही कर सकता। यह सागोपाङ्ग होना चाहिए। कोई यही से टल जाय तो नीचे लिख दिया है कि एक एक अगके जो उदाहरण दिये वे तो हम लोगोको लिख दिये। और जो पक्के ज्ञानी है उनके तो आठ ही अग होना चाहिए। इस वास्ते हम तो कहते है कि स्थितिकरण सबसे बढिया है। और आप लोग सब जानते हैं। हम क्या कहे ?

एक बात हो जाती तो सब हो जाता। **"निमित्त कारण को निमित्त मान लेते तो सब हो जाता।"**

———

१०

हरिजनों की धार्मिक पात्रता

आत्माकी प्रबल प्रेरणा सदा यही रहती है कि "जो मनमे हो वही वचनोसे कहो, यदि नही कह सकते तब तुमने अबतक धर्मका मर्म ही नही समझा।" माया, छल, कपट, वाक्-प्रपञ्च आदि वञ्चकताके इन्ही रूपान्तरोके त्यागपूर्वक जो वृत्ति होगी वही धार्मिकता भी कहलायगी। यही कारण है कि इस विषयमे कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ।

हरिजन और उनका उद्धार—

अनन्तानन्त आत्माये है परन्तु लक्षण सबके नाना नही, एक ही है। भगवान गृद्धपिच्छने जीवका लक्षण उपयोग कहा है। भेद अवस्थाकृत है, अवस्था परिवर्तनशील है। एक दिन जो बालक थे अवस्था-परिवर्तन होते होते वृद्धावस्थाको प्राप्त होगये, यह तो शरीर परिवर्तन हुआ, आत्मामे भी परिवर्तन हुआ। एक दिन ऐसा था, जो दिनमे दस बार पानी, पाँच बार भोजन करते भी सङ्कोच न करते थे वे आज एक बार ही भोजन और जल लेकर सन्तोष करते है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सामग्रीके अनुकूल प्रतिकूल मिलनेपर पदार्थोमे तदनुसार परिणमन होते रहते है। आज जिनको हम नीच पतित या घृणित जातिके नामसे पुकारते है। उनकी पूर्वावस्था (वर्ण व्यवस्था आरम्भ होनेके समय) को सोचिये और आजकी अवस्थासे तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। उस अवस्थासे इस अवस्था तक पहुँचनेके कारणोका यदि विश्लेषण किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि बहुसख्यक वर्गकी तुलनामे उन्हे उनके उत्थान-साधक अनुकूल कारण नही मिले, प्रतिकूल परिस्थितियोने उन्हे बाध्य किया। फलत इस जातिको विवश यह दुर्दिन देखनेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। उनकी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एव धार्मिक सभी समस्याये जटिल होती गई। उनकी दयनीय दशा पर कुछ सुधारकोको तरस आया। गाधीजीने उनके उद्धारकी सफल योजना सक्रिय की। क्योकि उनकी समझमे यह अच्छी तरह आ चुका था कि यदि हरिजनो को सहारा न दिया गया तो कितना हो सुधार हो, कितना ही धर्म-प्रचार हो, राष्ट्रीयताका यह काला कलङ्क धुल न सकेगा। वे सदाके लिये हरिजन (जिनके लिए हरिका ही सहारा हो और सब सहारोके लिए असहाय हो) ही रह जावेगे। यही कारण था कि हरिजनोके उद्धारके लिए गाधीजीने अपनी सत्य साधुताका उपयोग किया। विश्वके साधु सन्तोसे जोरदार शब्दोमे आग्रह किया कि "धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नही" यह स्पष्ट करते हुए उन्होने हरिजन उद्धारके लिए सब कुछ त्याग दिया, सब कुछ कार्य किया, दूसरोको भी ऐसा करनेका उपदेश दिया। हमारे आगममे गृद्ध पक्षीको व्रती लिखा है, मृत्यु पाकर कल्पवासी देव होना भी लिखा है, यही नही श्री रामचन्द्रजीका मृतभ्रातृमोह दूर करनेमे उसका निमित्त होना भी लिखा है।

आधुनिक युगमे हरिजनोका उद्धार एक स्थितीकरण कहा जा सकता है। धर्म भी हमारा पतित-पावन है, यदि हरिजन पतित ही है तो हमारा विश्वास है कि जिस जैनधर्मके प्रबल प्रतापसे यमपाल चाण्डाल जैसे सङ्गतिके पात्र हो गये है उससे इन हरिजनोका उद्धार हो जाना कोई कठिन कार्य नही है।

ब्राह्मणादि कौन ?—

आगम मे लिखा है कि अस्पृश्य शूद्र से स्पृष्ट हो जावे तव स्नान करना चाहिये। अस्पृश्य क्या अस्पृश्य जाति मे पैदा होनेसे ही होजाता है ? तव तीन वर्णों मे (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) पैदा होनेसे सभी को उत्तम हो जाना चाहिये। परन्तु देखा यह जाता है कि यदि उत्तम

जाति वाला निन्द्य काम करता है तव चाण्डाल गिना जाता है, उससे लोग घृणा करते है। घृणा की बात तो ठीक ही है, लोग उसे पक्ति-भोजन और सामाजिक कार्यमे सम्मिलित नही करते। जो मनुष्य नीच जातिमे उत्पन्न होते हैं परन्तु यदि वह धर्मको अगीकर कर लेता है तो उसे सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है, उसे प्रमाणित व्यक्ति माना जाता है। यह तो यहाँ के मनुष्य की बात है किन्तु जहा न कोई उपदेष्टा है और न मनुष्यो का सद्भाव है, ऐसे स्वय-भूरमणद्वीप और समुद्रमे असख्यात तिर्यञ्च मछली, मगर तथा अन्य थलचर जीव व्रती होकर स्वर्गके पात्र होजाते है, तव कर्म-भूमिके मनुष्य व्रती होकर यदि जैनधर्म पालें तब आप क्या रोक सकते है ? आप हिन्दू न बनिये, यह कौन कहता है, परन्तु हिन्दू-जो उच्च कुल वाले है वे यदि मुनि वन जावे तो आपको क्या आपत्ति है।

'हिन्दू' शब्दका अर्थ मेरी समझमे धर्मसे सम्वन्ध नही रखता। जैसे भारतका रहने वाला भारतीय कहलाता है इसी तरह देश विदेशकी अपेक्षा यह नाम पडा प्रतीत होता है। जन्म-से मनुष्य एक सदृश उत्पन्न होते हैं किन्तु जिनको जैसा सम्वन्ध मिला उसी तरह उनका परिणमन होजाता है। भगवान आदि-नाथके समय तीन वर्ण थे। भरतने ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की, यह आदिपुराणसे विदित है, इससे सिद्ध है कि इन तीन वर्णोमेसे ही ब्राह्मण हुए। मूलमे तीन वर्ण कहासे आये, विशेष ऊहापोहसे न तो आप ही अपनेको ब्राह्मणादि सिद्ध कर सकते हैं और न शूद्र कौन थे यह निर्णय भी आप दे सकते है।

शूद्रोके प्रति कृतज्ञ बनिए—

लोगोका जो उपकार शूद्रोसे होता है अन्यसे नही होता। यदि वे एक दिन को भी मार्ग, कूडाघर, शौचगृह आदि स्वच्छ करना बन्द करदे तब पता लग जावेगा। परन्तु उनके साथ आप जो व्यवहार करते है यदि उसका वर्णन किया जाय तो विवाद चल पडे। वे तो आपका उपकार करते हैं परन्तु आप पक्तिभोजन जब होता है तब अच्छा अच्छा माल अपने उदरमे स्वाहा कर लेते है और उच्छिष्ट पानी से सिंचित पत्तलोको उनके हवाले कर देते है ! जिसमे सहस्रो कीटाणुओकी उत्पत्ति हो जाती है। वह उच्छिष्ट भोजन जिसे हम करवावें वह क्यो न पतित हो जावेगा। अच्छे अच्छे फल तो आप खा गये और सडे गले या आने काने पकडा देते है उन विचारोको ! इसपर भी कहते हो हम आर्ष-पद्धतिकी रक्षा करते है। बलिहारी इस दयाकी। धर्मधुरन्धरता-की ! मेरा तो दृढतम विश्वास है कि पशु जो है उन्हे भी दूषित भोजन न देना चाहिये, हरिजन तो मनुष्य है।

शूद्र भी धर्म धारण कर व्रती हो सकता है—

यह तो सभी मानते है कि धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नही। चतुर्गतिके जीव भी सम्यक्त्व उपार्जनकी योग्यता रखते है, भव्यादि विशेषण-सम्पन्न होना चाहिये। धर्मवस्तु स्वत सिद्ध है और प्रत्येक जीव मे है, विरोधी कारण पृथक होनेपर उसका स्वयम् विकास होता है और उसका न कोई हरता है और न दाता हो है। तथापि इस पञ्चम कालमे उसका पूर्ण विकास नही होना, चाहे गृहस्थ हो, चाहे मुनि हो। गृहस्थमे सभी मनुष्योमे व्यवहार-धर्म का उदय हो सकता है, यह नियम नही कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही उसे धारण करे, शूद्र उससे वञ्चित रहे।

गृद्ध पक्षी मुनिके चरणोमे लेट गया। उसके पूर्व भव मुनिने वर्णन किये, सीताने रामचन्द्रजीको उसकी रक्षाक भार सुपुर्द किया। जहाँ गृद्ध पक्षी व्रती हो जावे, वह शूद्र शुद्ध नही हो सकते, बुद्धिमे नही आता। यदि शूद्र इन कार्योंको त्याग देवें और मद्यादि पीना छोड देवें तब वह व्रती हो सकता है। मन्दिर आनेकी स्वीकृति देना न देना आपकी इच्छा पर है। परन्तु इस धार्मिक कृत्यके लि जैसे आप उनका बहिष्कार करते है वैसे ही कल्पना करो यदि वे धार्मिक कृत्यके लिए आपका बहिष्कार कर दें असहयोग कर दें तब आप क्या करेंगे ? सुनार गहना बनादे, लुहार लोहेका काम न करे, बढई हल न बनावे लोधी कुरमी आदि खेती न करे, धोबी वस्त्रप्रक्षाल छोड देवे, चर्मकार मृत पशु न हटाये, बसौरिन सौरीक काम न करे, भगिन शौचगृह शुद्ध न करे, तब ससार हाहाकार मच जावेगा। हैजा, प्लेग, चेचक और क्षय जै भयकर रोगोका आक्रमण हो जावेगा। अतः बुद्धिसे का

लेना चाहिये। उनके साथ मानवता का व्यवहार करना चाहिये,जिससे वह भी सुमार्ग पर आ जावे। उनके बालक भी अध्ययन करें तब आपके बालकोंके सदृश वे भी बी. ए, एम. ए. बैरिस्टर हो सकते है। संस्कृत पढें तब आचार्य हो सकते हैं। फिर जिस तरह आप पच पाप त्यागकर व्रती बनते है यदि वे भी पच पाप त्याग दे तब उन्हे व्रती होनेसे कौन रोक सकता है ? मुरारमे एक भंगी प्रतिदिन शास्त्रश्रवण करने आता था, ससारसे भयभीत भी रहता था, मासादिका त्यागी था, शास्त्र सुननेमे कभी भूल करना उसे सह्य न था।

धर्म सब का है—

आप लोगोने यह समझ रखा है कि हम जो व्यवस्था करे वही धर्म है। धर्मका सम्बन्ध आत्मद्रव्य से है, न कि शरीरसे। हा यह अवश्य है जब तक आत्मा असज्ञी रहता है, तब तक वह सम्यग्दर्शनका पात्र नही होता। सज्ञी होते ही धर्मका पात्र हो जाता है। आर्ष वाक्य है कि चारो गतिवाला सज्ञी पचेन्द्रिय जीव इस अनत ससारके शामक सम्यग्दर्शनका पात्र हो सकता है। वहापर यह नही लिखा कि अस्पृश्य शूद्र या हिंसक सिह या व्यन्तरादि या नरकके नारकी इसके पात्र नही होते। जनताको भ्रममे डालकर हरएकको बावला और अपनेको बुद्धिमान कह देना बुद्धिमानी नही। आप जानते है कि ससारमे जितने प्राणी है सभी सुख चाहते है और सुखका कारण धर्म है, उसका अन्तरङ्ग साधन तो निजमे है, फिर भी उसके विकासके लिए बाह्य साधनो की आवश्यकता है।

जैसे घटोत्पत्ति मृतिका से ही होती है, फिर भी कुम्भारादि बाह्य साधनोकी आवश्यकता अपेक्षित है, एव अन्तरग साधन तो आत्मामे ही है, फिर भी बाह्य साधनोकी अपेक्षा रखता है। बाह्य साधन देव गुरु शास्त्र है। आप लोगो ने यहा तक प्रतिबन्ध लगा रक्खे है, कि अस्पृश्य शूद्रोको मदिर आनेका भी अधिकार नही है। उनके आनेसे मदिरमे अनेक प्रकार विघ्न होनेकी सम्भावना है। यदि शान्त भावसे विचार करो तब पता लगेगा कि उनके मदिर आनेसे किसी प्रकार की हानि नही अपितु लाभ ही होगा। प्रथम तो जो हिंसा आदि महापाप संसारमे होते हैं यदि वे अस्पृश्य शूद्र जैन धर्मको अङ्गीकार करेगे तब वह पाप अनायास ही कम हो जायेगे। आपके वशमे ऐसा भले ही न हो परन्तु यदि दैवात् हो जाये तब आप क्या करेगे ? चाण्डालको भी राजाका पुत्र चमर ढुलाते देखा गया ऐसी जो कथा प्रसिद्ध है, क्या वह असत्य है ? अथवा कथा छोडो, श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे लिखा है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥

आत्मामे अचिन्त्यशक्ति है। जैसे आत्मा अनन्त ससारके कारण मिथ्यात्व करनेमे समर्थ है उसी तरह अनन्त संसारके बन्धन काटनेमे भी समर्थ है।

मेरा हृदय यह साक्षी देता है कि मनुष्य पर्याय वाला जो भी चाहे वह कोई भी जाति हो कल्याणमार्ग का पथिक हो सकता है। शूद्र भी सदाचारका पात्र है, हाँ यह अन्य बात है कि आप लोगो द्वारा जो मदिर निर्माण किये गये है, उनमे उन्हे मत आने दो और शासकवर्ग भी आपके अनुकूल ऐसा कानून बनादे परन्तु जो सिद्धक्षेत्र है, कोई अधिकार आपको नही जो उन्हे वहा जानेसे आप रोक सके। मन्दिरके शास्त्र भले ही आप अपने समझकर उन्हे न पढने दे परन्तु सार्वजनिक शास्त्रागार, पुस्तकालय, वाचनालयोमे तो आप उन्हे शास्त्र, पुस्तक, समाचार-पत्र आदि पढने से मना नही कर सकते। यदि वह पच पाप छोड देवे और रागादि रहित आत्माको पूज्य माने, भगवान अरिहन्तका स्मरण करे तब क्या आप उन्हे ऐसा करनेसे रोक सकते है ?

मेरे हृदयमे दृढ विश्वास है कि अस्पृश्य शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतोका पात्र है। यदि अस्पृश्यका सम्बन्ध शरीरसे है तब रहे, इसमे आत्माकी क्या हानि है ? और यदि अस्पृश्यका सम्बन्ध आत्मासे है तब जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह अस्पृश्य कहाँ रहा ? मेरा तो यह विश्वास है कि गुणस्थानोकी परिपाटीमे जो मिथ्या गुणस्थानवर्ती है वह पापी है। तब चाहे वह उत्तमवर्णका क्यो न हो, यदि मिथ्यादृष्टि है तब परमार्थसे पापी ही है। यदि सम्यक्त्वी है तब उत्तम आत्मा है।

यह विषय शूद्रादि चारो वर्णों पर लागू है। परन्तु व्यवहारमे मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका निर्णय बाह्य आचरणोसे है, अत जिसके आचरण प्रशस्त है वही उत्तम कहलाते है, जिनके आचरण मलिन है वे जघन्य है। तब एक उत्तम कुल वाला यदि अभक्ष्य भक्षण करता है, वेश्यागमनादि पाप करता है, उसे भी पापी जीव मानो। और उसे मन्दिर मत जाने दो, क्योकि शुभाचरणसे पतित अस्पृश्य और असदाचारी है। शूद्र यदि सदाचारी है तब वह आपके मतसे भगवानके दर्शनका अधिकारी भले ही न हो परन्तु पञ्चम गुणस्थान वाला अवश्य है। पापत्याग ही की महिमा है। केवल उत्तमकुलमे जन्म लेनेसे ही व्यक्ति उत्तम हो जाता है ऐसा कहना दुराग्रह ही है। उत्तम कुलकी महिमा सदाचारसे ही है कदाचारसे नही। नीचकुल भी मलिनाचारसे कलङ्कित है। वे माँस खाते है, मृत पशुओको ले जाते हैं, आपके शौचगृह साफ करते हैं, इसीसे आप उन्हे अस्पृश्य कहते है।

सच पूछा जाय तो आपको स्वय स्वीकार करना पडेगा कि उन्हे अस्पृश्य बनाने वाले आप ही है। इन कार्योसे यदि वह परे हो जावे तो क्या आप उन्हे तब भी अस्पृश्य मानते जावेगे ? बुद्धिमे नही आता कि आज भङ्गी यदि ईसाई हो जाता हे और वह पढ लिखकर डाक्टर हो जाता है तब आप उसकी दवा गट-गट पीते है या नही ? फिर क्यो उससे स्पर्श कराते है ? आपसे तात्पर्य बहुभाग जनतासे हे। आज जो व्यक्ति पापकर्ममे रत है वे यदि किसी आचार्य महाराजके सानिध्यको पाकर पापोका त्यागकर देवे तब क्या वे धर्मात्मा नही हो सकते ? प्रथमानुयोगमे ऐसे बहुत दृष्टान्त है। व्याघ्रीने सुकौशल स्वामीके उदरको विदीर्ण किया और वही श्री कीर्तिधर मुनिके उपदेशसे विरक्त हो समाधिमरण कर स्वर्ग-लक्ष्मीकी भोक्त्री हुई। अत किसीको भी धर्मसेवनसे वञ्चित रखनेके उपाय रचकर पापके भागी मत बनो।

जैनदर्शनकी महिमा तो वही आत्मा जानता है जो अपनी आत्माको कषायभावोसे रक्षित रखता है। यदि कषायवृत्ति न गई तब वह मुनि, आचार्य कुछ भी बननेका प्रयत्न करे सब एक नाटकीय स्वाग धारण करना ही है। वे दूसरोका तो दूर रहे अपना भी उद्धार करनेके लिये पत्थरकी नौका सदृश है।

अस्पृश्यता—

शूद्रोमे भी कई मनुष्य उत्तम प्रकृतिके होते है परन्तु अधिकाशका चारित्र घृणित होनेसे उन्हे अस्पृश्योकी श्रेणीमे गिना दिया जाता हे। परमार्थ दृष्टिसे विचार किया जावे तब पाप करनेसे आत्मा पापी और अस्पृश्य कहलाता है। जाति या कुलमे उत्पन्न होने मात्रसे आत्मा पापी और अस्पृश्य नही होता। यद्यपि शास्त्रोमे दो गोत्र माने हैं और उनका इस तरहसे विभाग किया है कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमे उत्पन्न हो उसे उच्च गोत्री कहते हैं और इनसे अतिरिक्त शूद्रोमे जन्म ले उसे नीचगोत्री कहते है पर इसका यह अर्थ नहीं कि उच्च कहलाने वाले कुलमे जन्म लेने वालेका आचरण उच्च ही होता है और शूद्रकुल वालोका पतित ही होता है, क्योकि इसमे विरोध देखा जाता है। उत्तम कुल वाले ऐसे ऐसे पाप करते है जो श्रवण सुननेको असमर्थ हे।

जिनको हम नीच मानते है उनमे यदि कोई विशेष अवगुण है तो वह मदिरापान करना है। यदि वे आज मदिरापान छोड देवे तब वह कुल अनायास उत्तम गणनामे आ सकता है। भारत सरकारको इस ओर प्रयत्न करना चाहिये। मद्यपान निषेध होते ही हरिजनोका कोटि कोटि रुपया बच जावेगा। उनका वह रुपया स्वच्छतामे लगाया जावे। उनके बालको को यथायोग्य शिक्षा दी जावे, तो अल्पकालमे ही लोग उन्हे अपनाने लगे। ससारमे ऊपरी सफाईकी बहुत मान्यता है।

हरिजनोको हम लोगोने केवल सफाईके लिये अछूत बना रखा है। इतनी दया नही जो कभी उन्हे मानवधर्मका उपदेश देते। यदि वह कभी मार्गमे सफाई करते मिलते हैं तब हमारा शब्द निकलता है—"दूर हटो ! हम आते हैं ! !" यह नही समझते कि हमारी स्वच्छताके लिये ही तो इन्हे यह करना पडता है। यदि कभी उनपर दयाका भाव हुआ तब उन्हे जीर्ण शीर्ण वस्त्र देकर अपने कृतकृत्य होनेका दावा करते है।

हरिजनके विषयमे जो धारणा है वह उस रूपसे है जैसी परम्परासे चली आई है। यद्यपि उनके सस्कार इतने मलिन हो चुके है जो शताब्दियो मे बदलेगे किन्तु जब कोई सुमार्ग पर लाने की चेष्टा करेगा तब तो सुधरेगे। चाण्डालका पुत्र चाण्डाल हो हो यह हमारी श्रद्धा नही है। यदि कोई प्रयास करे तब उसके सस्कार उत्तम हो सकते है।

हम लोगोने पशुओ तकसे तो प्रेम किया, कुत्ते अपनाये, बिल्ली अपनायी। किन्तु इन मनुष्योसे इतनी घृणा की जिसका वर्णन करना हृदयमे अन्तर्व्यथा उत्पन्न करता है। अत यदि भङ्गियोको सुधारना चाहते हो तो उन्हे अपनाओ।

प्रथम तो भारत सरकारका कर्तव्य है कि मदिरापान का निषेध करे। इसका प्रचार शूद्रोमे ही नही उच्चवर्गमे भी हो गया है। एकदम उसका निराकरण करे। मद्य यह उपलक्षण है। भाँग, गाँजा, चरस, अफीम, चण्डू जितने मादक द्रव्य है सभीका निषेध करे। परन्तु सरकार रुपयेकी आय देखती है। "यदि इन मादक द्रव्योको बेचना छुडवा देवे तब करोडोकी आय न होगी" यह जितना विचारणीय है उससे कही अधिक उनके जागृत जीवनका उद्धार कैसे हो यह अधिक विचारणीय है।

उत्पत्तिके समय मनुष्य नग्न ही होता है, और मरणके समय भी नग्न रहता है। जब मनुष्य पैदा होता है, जिस देशमे पैदा होता है उसी देशकी भाषाको जानता है। तथा जिसके यहाँ जन्म लेता है उन लोगोका जो आचारणादि होता है वही उस बालकका हो जाता है। जन्मान्तरसे न तो भाषा लाता और न आचारादि क्रियाओको लाता है। जिस कुलमे जा जन्म लेता है उसीके अनुकूल उसका आचरण हो जाता है। अत. "सर्वथा जन्मान्तर सस्कार ही वर्तमान आचरणका कारण है" यह नियम नही, वर्तमानमे भी कारणकूट के मिलनेसे जीवोके सस्कार उत्तम हो जाते है। अन्यकी कथा छोडो। मनुष्योके सहवाससे पशुओके भी नानाप्रकार की चेष्टाएँ देखनेमे आती है। और उन बालकोमे जो ऐसे कुलोमे उत्पन्न हुए जहाँ किसी प्रकारके ज्ञानादिके साधन न थे वे ही उत्तम मनुष्यों के समागममे उत्तम विद्वान् और सदाचारी देखे गये। इसलिये अस्पृश्य सदा अस्पृश्य ही बने रहेगे ऐसी श्रद्धा करना उचित नही है।

क्या अस्पृश्यका अर्थ यह है कि उनके स्पर्शसे हमे स्नान करना पडता है? या वे मद्यादि पान करते है इससे अस्पृश्य है। या वे हम लोगोके द्वारा की गई गन्दगी स्वच्छ करते है इससे अपृश्य है? या शरीरसे मलिन रहते है इससे अस्पृश्य है? या परम्परासे हम उन्हे अस्पृश्य मान रहे है इससे अस्पृश्य है? यदि मद्य मास सेवनसे अस्पृश्य है तब जो लोकमे उत्तम कुलके है और म ससेवन करते है वे भी अस्पृश्य होना चाहिये। यदि गन्दगीके साफ करनेसे अस्पृश्य है तब प्रत्येक मनुष्य गन्दगी साफ करता है, वह भी अस्पृश्य हो जावेगा। शरीर मालिनता भी अस्पृश्यताका कारण नही है। बहुतसे उत्तम कुलवाले शरीर मलिनतासे अस्पृश्य हो जावेगे। तब यह हो सकता है कि जो उनमे मलिनाचारकी बहुलता है वह अस्पृश्यताका साधक है। यह बहुत उत्तमकुलमे भी पाई जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जो यहा पर पापाचारमय प्रवृत्ति है वही अस्पृश्यताका कारण कल्याणके मार्गसे दूर रखने वाली है।

मेरा विश्वास—

मेरा यह दृढतम विश्वास है कि मनुष्य जातिमे जन्मे जीवको यदि कालादिलब्धि कारणकूट मिल जावे तब वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है और अप्रत्याख्यान का क्षयोपशम हो जावे तब देशव्रती भी हो सकता है। मेरी तो यहा तक श्रद्धा है कि चाण्डाल कुलमे जन्मा भी जीव योग्य सामग्रीके मिलनेपर उसी पर्यायसे व्रती होसकता है। मन्दिर आने दो, या न आने दो यह और बात है। यदि यह श्रद्धा होनेके कारण लोग हमारी निन्दा करते है, तो करे। हमे उसका कोई भय नही। हम उसे आगमानुकूल मानते है। तथा शूद्र कुल वाला वज्रवृषभनाराच सहननका धारी हो सकता है, क्षयोपशम सम्यक्त्वी भी हो सकता है, उसे यदि श्रुतकेवली या केवलीके पादमूल का सम्बन्ध मिले तब क्षायिकसम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।

मेरे विचारसे चाण्डालके भी इतने निर्मल परिणाम हो सकते है कि वह अनन्त ससारका कारण मिथ्यात्वका अभाव कर सकता है। जो आत्मा सबसे बडे पापको नाशकर सकता है फिर भी चाण्डाल बना रहे ? यह समझमे नही आता। चाण्डालका सम्बन्ध यदि शरीरसे है तब तो हमे कोई विवाद नही। जिसे विवाद हो रहे। परन्तु आत्माको जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब वह पुण्य जीवोकी गणनामे आ जाता है। आगममे मिथ्यादृष्टि जीवोको पापी जीव कहा है, चाहे वह कोई वर्णका हो। परन्तु हम लोग इतने स्वार्थी हो गये कि विरले तो यहाँतक कह देते है कि यदि इन लोगोका सुधार हो जावेगा तो हमारा कार्य कौन करेगा ? लोकमे अव्यवस्था हो जावेगी अतः इनको उच्चधर्मका उपदेश ही नही देना चाहिये। इतना स्वार्थ जगतमे फैल गया है कि जिनके द्वारा हमारा सब व्यवहार बन रहा है उसीसे हम घृणा करते है।

किन्तु ससारमे ऐसा कौन होगा जो आत्मीय हितकी अवहेलना करे ? आप जानते है धर्म कोई पौद्गलिक पर्याय नही, और न पुद्गलका गुण है, और न पुद्गल ही है। धर्म वह आत्मकी पर्याय है जो मोह और क्षोभसे रहित हो। वही कहा है—

"चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥"

निश्चयकर चारित्र ही धर्म है, और आत्माका जो शम परिणाम है वही धर्म है। दर्शनमोहके उदयसे आत्मामे जो परिणाम है और चारित्रमोहके उदयमे जो क्षोभपरिणाम होता है इन दोनो परिणामोसे रहित आत्माका जो निर्मल परिणाम होता है उसीका नाम साम्यभाव है। वही परिणाम धर्म है और उसीका नाम चारित्र है। यही मोक्षमार्ग है।

हरिजनो का कर्तव्य—

१ आज हमारे हरिजन धर्म काम करते हुए भी मद्यपान आदि अवगुणोको छोड देवे और जो रुपया बचे उसका स्वय मन्दिर बनवा लेवे, प्रतिदिन धर्मकथा करें, सिनेमा आदि जाना छोड देवे।

२ अपने मकानको स्वच्छ रखें, झाडनेकी झाडू टोकनी मकानसे पृथक रखें, बल्कि म्युनिसपलसे प्रार्थना कर एक पृथक गृह इन सफाईके साधनो (झाडू टोकनी आदि) को रखनेके लिये रहे।

३ बाजारकी सडी गली वस्तुए खाना छोड देवे।

४ जब कुए पर पानी भरने जावे तब स्वच्छ वर्तन लेकर जावे।

५ निरन्तर अपनी सन्तानको स्वच्छ रखें।

६. जो कोई कुछ देवे, स्वच्छ हो तभी ले। यदि गन्दा हो तो लेनेसे इन्कार कर दे। यह कहे कि हम भी मानव है। आपको लज्जित होना चाहिये ऐसा निन्द्य व्यवहार करते हो। उचित तो यह है कि उतना ही भोजन परसाओ जितना खा सको। तृष्णा पापकी जड है, उसे छोडो। बहुत दिन आपका आचरण शिष्ट समुदायके विरुद्ध रहा। इसीसे आज तक विदेशी शासकोके दास रहे। अब स्वराज्य पाकर भी यदि इन निन्द्य कृत्योसे अपनी रक्षा न कर सके तब वही दशा होगी।"

—**वर्णी-वाणी** २/१६३-१७६

११

द्रव्य और उसके परिणाम का कारण

"अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
एको दरिद्रः एक श्रीमानिति च कर्म्मण ॥"

मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ इत्यादि प्रत्ययसे जीवके अस्तित्वका साक्षात्कार होता है। अन्वयसे भी इसका प्रत्यय होता है कि 'यह वही देवदत्त है जिसे मैने मथुरा मे देखा था'। अब यहाँ देख रहा हूँ। इस प्रत्ययसे भी आत्माके अस्तित्वका निर्णय होता है। कोई तो श्रीमान देखा जाता है, कोई दरिद्र देखा जाता है, इस विभिन्नतामे कोई कारण होना चाहिये। यह विषमता निर्हेतुक नही। इसमे जो हेतु है उसीको कर्म नाम से कहा जाता है। नाममे विवाद नही-चाहे कर्म कहो, अदृष्ट कहो, ईश्वर कहो, खुदा कहो, विधाता कहो, जो आपको रुचिकर हो, परन्तु यह अवश्य मानना कि यह विभिन्नता निर्मूल नही। यह भी मानना पडेगा कि जो यह दृश्यमान जगत है वह केवल एक जीव का परिणाम नही। यदि केवल एक पदार्थ का हो तब उसमे नानात्व कहाँ से आया ? नानात्व का नियामक द्रव्यान्तर होना चाहिये। केवल पुद्गलमे यह शब्दादि पर्यायें नहीं होती। जब पुद्गलपरमाणुओंकी बन्धावस्था हो जाती है तभी यह पर्यायें होती है। उस अवस्थामे पुद्गलपरमाणुओंकी सत्ता द्रव्यरूपसे अबाधित रहती है। शब्दादि पर्यायें केवल परमाणुओ की नही, किन्तु स्कन्धपर्यायान्त परमाणुओ की है।

जीव की विकारी पर्याय—

इसी तरह जो रागादि पर्यायें है वह उदयावस्थापन्न जो कर्म, उसके सद्भावमे ही जीवमे होती है। यदि ऐसा न माना जावे तब रागादि परिणाम जीवका पारिणामिक भाव हो जावे। ऐसा होनेसे ससारका अभाव हो जावे। यह किसीको इष्ट नही। किन्तु प्रत्यक्षसे रागादि भावोका सद्भाव देखा जाता है। इससे यही तत्त्व निर्गत होता है कि रागादि भाव औपाधिक हैं। जैसे स्फटिक मणि स्वच्छ है किन्तु जब स्फटिक मणिके साथ जपापुष्पका सम्बन्ध होता है तब उसमे लालिमा प्रतीत होती है। यद्यपि स्फटिक मणि स्वय रक्त नही किन्तु निमित्तको पाकर रक्तिमामय प्रत्ययका विषय होती है। इससे यह समझमे आता है कि स्फटिक मणि निमित्त को पाकर लाल जान पडता है, वह लालिमा सर्वथा असत्य नही।

ऐसा सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूप परिणमती है उस कालमे तन्मय हो जाती है। श्री कुन्दकुन्द महाराजने स्वय प्रवचनसारमे लिखा है—

"परिणमदि जेण दव्व तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥"

इस सिद्धान्तसे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा जिस समय रागादिमय परिणमेगा उस कालमे नियमसे उस रूप ही है। पर्यायदृष्टि से उन्ही रागादिका उस काल मे भोक्ता होगा। जो भाव करेगा, वर्तमानमे उसीका अनुभव होगा। जल शीत है, परन्तु अग्निके सम्बन्धसे उष्ण पर्यायको प्राप्त करता है। यद्यपि उसमे शक्ति अपेक्षा शीत होनेकी योग्यता है परन्तु वर्तमानमे शीत नही। यदि कोई उसे शीत मानकर पान करे तब दग्ध ही होगा। इसी प्रकार यदि आत्मा वर्तमानमे रागरूप है तब रागी ही है। इस अवस्थामे वीतरागताका अनुभव होना असम्भव ही है। उस कालमे आत्माको रागादि रहित मानना मिथ्या है। यद्यपि रागादि परिणाम परनिमित्तक है अतएव औपाधिक है, नाशशील है परन्तु वर्तमानमे तो औष्ण्य परिणत अय.पिण्डवत् आत्मा तन्मय हो रहा है। अर्थात् उन परिणामोके साथ आत्माका तादात्म्य हो रहा है। इसीका नाम अनित्य तादात्म्य है। यह अलीक कथन नही। जिस कालमे एक मनुष्यने मद्यपान किया वर्तमानमे

जब वह मनुष्य मद्यपान के नशासे उन्मत्त होगा तब क्या वर्तमानमे वह मनुष्य उन्मत्त नही ? अवश्य उन्मत्त है। किन्तु किसीसे आप प्रश्न करें कि मनुष्यका लक्षण क्या है ? तब क्या वह उत्तर देने वाला यह कह सकता है कि मनुष्यका लक्षण उन्मत्तता है ? नही। उससे आप क्या यह कहेगे कि उत्तर ठीक नही ? नही कह सकते, क्योकि मनुष्यकी सभी अवस्थाओमे उन्मत्तताकी व्याप्ति नही। इसी तरह आत्मामे रागादि भाव होने पर भी आत्माका लक्षण रागादि नही हो सकता, क्योकि आत्माकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उन सबमे यह रागादिभाव व्यापक रूपसे नही रहता, अत यह आत्माका लक्षण नही हो सकता। लक्षण वह होता है जो सभी अवस्थाओमे पाया जावे। ऐसा लक्षण चेतना ही है। यद्यपि रागादि परिणाम तथा केवलज्ञानादि भी आत्मा हीमे होते हे परन्तु उन्हे लक्षण नही माना जाता, क्योकि वे पर्यायविशेषमे होते है। व्यापकरूप से नही रहते। चेतना ही आत्माका एक ऐसा गुण है जो आत्माकी सभी दशाओमे व्यापक रूपसे रहता है।

चेतना : जीव का लक्षण—

आत्माकी दो अवस्थाएँ है—ससारी और मुक्त। इन दोनोमे चेतना रहती है इसीसे अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है—

> **"अनाद्यनन्तमचलं स्वसम्वेद्यमिद स्फुटम्।**
> **जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥"**

जीव नामक जो पदार्थ है वह स्वय सिद्ध है तथा परनिरपेक्ष अपने स्वय अतिशय से चकचकायमान—प्रकाशमान हो रहा है। कैसा है ? अनादि है। कोई इसका उत्पादक नही। अनादि है, अतएव अकारण है। जो वस्तु अनादि अकारण है वह अनन्त भी होती है। ऐसे ही अनादि अनन्त तथा अचल अजीव द्रव्य भी है। इससे इसका लक्षण स्वसम्वेद्य भी है यह स्पष्ट है। जीव नामक पदार्थमे अन्य अजीवोकी अपेक्षा चेतनागुण ही भेद करने-वाला है। वही गुण इसमे विशद है। जो सब पदार्थोंकी और निजकी व्यवस्था कर रहा है। इस गुणको सभी मानते है परन्तु कोई उस गुणको उससे सर्वथा भिन्न मानते हे, और कोई गुणसे अतिरिक्त अन्य द्रव्य नही, गुणगुणी सर्वथा एक है, ऐसा मानते है। कोई चेतना तो जीवमे मानते है परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेदसे पराङ्मुख रहता है। प्रकृति और पुरषके सम्बन्धसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसमे चेतनाके ससर्गसे जानपना आता है ऐसा मानते है। कोई कहता है कि पदार्थ नाना नही एक ही अद्वैत तत्त्व है। वह जब मायावच्छिन्न होता है तब यह ससार होता है। किसी का कहना है कि जीव नामक स्वतन्त्र जीवकी सत्ता नही। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इनकी विलक्षण अवस्था होती है, उसी समय यह जीवरूप अवस्था हो जाती है। यह जितने मत है सर्वथा मिथ्या नही।

जैनदर्शनमे अनन्त गुणोका जो अविष्वग्भाव सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। वह गुण आत्मीय स्वरूपकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न है परन्तु कोई ऐसा उपाय नही जो उनमेसे एक भी गुण पृथक् हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्यमे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श गुण हैं, चक्षुरादि इन्द्रियोसे पृथक-पृथक् ज्ञानमे आते है, परन्तु उनमे कोई पृथक् करना चाहे तो नही कर सकता। वे सब अखण्डरूप से विद्यमान है। उन सब गुणोकी जो अभिन्न प्रदेशता है उसीका नाम द्रव्य है। अतएव प्रवचनसारमे श्री कुन्दकुन्द देवने लिखा है—

> **"णत्थि विणा परिणाम अत्थ अत्थ विणेह परिणामो।**
> **दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थित्तणिप्पण्णो......"**

परिणामके बिना अर्थकी सत्ता नही तथा अर्थके बिना परिणाम नही। जैसे दुग्ध, दधि, घी, छाछ इनके बिना गोरस कुछ भी सत्ता नही रखता। इसी तरह गोरस न हो तब इन दुग्धादिकी सत्ता भी नही। एव यदि आत्माके बिना ज्ञानादि गुणोका कोई अस्तित्व नही। बिना परि-णामीके परिणामका नियामक कोई नही। हाँ, यह अवश्य है कि ये गुण सर्वदा परिणामशील है किन्तु अनादिसे आत्मा कर्मोंसे सम्बन्धित है इससे इसके ज्ञानादि गुणोका विकाश निमित्तकारणोके सहकारसे होता है। होता उसीमे है, परन्तु जैसे घटोत्पत्तिकी योग्यता मृत्तिकामे ही होती है, परन्तु कुम्भकार के व्यापारके बिना घट नही बनता। कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार कुम्भकारमे ही होगा।

फिर भी मिट्टी अपने व्यापारसे घटरूप होगी। कुम्भकार घटरूप न होगा।

निमित्तकी सहकारिता—

उपादानको मुख्य माननेवालोका कहना है कि कुम्भकारकी उपस्थिति वहाँ पर, जब मिट्टीमे घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है, स्वयमेव हो जाती है। यहाँ पर यह कहना है कि घटोत्पत्ति स्वयमेव मिट्टीमे होती है इसका क्या अर्थ है ? जिस समय मिट्टीमे घट होता है उस कालमे क्या कुम्भरादि निरपेक्ष घट होता है या सापेक्ष ? यदि निरपेक्ष घटोत्पत्ति होती है तव तो एक भी उदाहरण बताओ, जो मृत्तिकामे कुम्भकारके व्यापार बिना घट हुआ हो, सो तो देखा नही जाता। साक्षेप पक्षको अङ्गीकार करोगे तव स्वयमेव आ गया कि कुम्भकारके व्यापार बिना घटकी उत्पत्ति नही होती। इसका अर्थ यह है कि कुम्भकार घटोत्पत्तिमे सहकारी निमित्त है। जैसे आत्मामे रागादि परिणाम होते है, आत्माही इनका उपादान कर्ता है परन्तु चारित्रमोहके बिना रागादि नही होते। होते आत्मामे ही है, परन्तु बिना कर्मोदयके ये भाव नही होते। यदि निमित्तके बिना ये हो तब आत्माके त्रिकाल अबाधित स्वभाव हो जावे, सो ऐसे ये भाव नही। इनका विनाश हो जाता है। अत. यह मानना पडेगा कि वे आत्माका निजभाव नही। इसका यह अर्थ नही कि ये भाव आत्माके होते ही नही। होते तो है परन्तु निमित्तकारण की अपेक्षासे नही होते यदि ऐसा कहोगे तब आत्मामे मतिज्ञानादि जो चार ज्ञान उत्पन्न होते है वे भी तो नैमित्तिक है, उनको भी आत्माके मत मानो।

हम तो यहाँ तक माननेको प्रस्तुत है कि क्षायोपशमिक, औदयिक, औपशमिक जितने भी भाव है वे आत्माके अस्तित्वमे सर्वदा नही होते। उनकी कथा छोडो, क्षायिक भाव भी तो क्षयसे होते है वे भी अबाधित रूपसे त्रिकालमे नही रहते। अत वे भी आत्माके लक्षण नही। केवल चेतना ही आत्माका लक्षण है। यही त्रिकालमे अवस्थित रहता है। इसी भावको प्रकट करने वाला एक श्लोक अष्टावक्र-गीतामे अष्टावक्र ऋषिने लिखा है—

"नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धो मा स्याज्जीविते स्पृहा ॥"

मै देह नही हूँ, और न मेरा देह है, और न मै जीव हूँ, मै तो चित् हूँ, अर्थात् चैतन्य गुण वाला हूँ, यदि ऐसा वस्तुका निज स्वरूप है तब आत्माको बन्ध क्यो होता है ? इसका कारण हमारी इस जीवमे स्पृहा है। यह जो इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु प्राण वाले पुतलेमे हमारी स्पृहा है यही तो बन्धका मूलकारण है। हम जिस पर्यायमे जाते है उसीको निज मान बैठते है। उसके अस्तित्वसे अपना अस्तित्व मान कर पर्यायबुद्धि होकर सब व्यवहार पर्यायके अनुरूप प्रवृत्ति करते-करते एक पर्यायको पूर्णकर पर्यायान्तरको प्राप्त करते है। इससे यही तो निकला कि हम पर्यायबुद्धिसे ही अपनी जीवनलीला पूर्ण करते है।

इस तरह यह ससारचक्र बराबर चला जाता है। यदि इसको मिटाना है तब यह जो प्रक्रिया है उसका अन्त करना पडेगा। इस प्रक्रिया का मूलकारण स्निग्ध परिणाम है। उसका अन्त करना ही इस भवचक्रके विध्वस का मूल हेतु है। इसको दूर करनेके उपाय बडे बडे महात्माओने बतलाए है।

स्व-पर विज्ञान—

आज ससारमे जितने आयतन धर्मके दिखते हैं। इसी चक्रसे बचानेके है। किन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि डाली तब यह सभी उपाय पराश्रित है। केवल स्वाश्रित उपाय ही स्वार्जित ससारके विध्वंसका कारण हो सकता है। जैसे शरीरमे यदि अन्न खाकर अजीर्ण हो गया है तो उसके दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय यह है कि उदर मे पर-द्रव्यका जो सम्बन्ध हो गया है उसे पृथक कर दिया जावे। अनायास ही नीरोगताका लाभ हो सकता है। मोक्षमार्गमे भी यह प्रक्रिया है। अपितु जितने कार्य है उन सबकी यही पद्धति है। यदि हमे ससार बन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो सबसे प्रथम हम कौन है ? हमारा क्या स्वरूप है ? वर्तमान क्या है ? ससार क्यो अनिष्ट है ? जब तक यह निर्णय न हो जावे तब तक उसके अभावका प्रयत्न करना हो ही नही सकता।

यह हम प्रारम्भ मे ही वर्णन कर चुके है उसकी जो अवस्था हमे ससारी बना रही है उससे मुक्त होनेकी हमारी इच्छा है तब केवल इच्छा करने से मुक्तिके पात्र हम नही हो सकते । जैसे अग्नि के निमित्त से जल उष्ण हो गया है, अब हम माला लेकर जपने लगे शीत-स्पर्शवज्जलाय नमः' तब अनल्पकालमे भी जल शीत न होगा । उष्णस्पर्श को दूर करनेसे ही जलका शीत स्पर्श होगा । इसी तरह हमारी आत्मामे जो रागादि विभाव परिणाम हे उनके दूर करनेके अर्थ 'श्री वीतरागाय नम' यह जाप असख्य कल्प भी जपा जावे तो भी आत्मामे वीतरागता न आवेगी किन्तु रागादि निवृत्तिसे अनायास वीतरागता आ जावेगी । वीतरागता नवीन पदार्थ नही, यह आत्मा परपदार्थोसे मोह करता है । मोह क्या वस्तु है ? जिसके उदयसे परमे निजत्वबुद्धि होती है वही मोह है ।

मोह की महिमा—

परको निज मानना यह अज्ञानभाव है । अर्थात् मिथ्याज्ञान है इसका मूलकारण मोहका उदय है । ज्ञानावरणका क्षयोपशम ज्ञानसे होता है परन्तु विपर्यय अज्ञानसे होता है । जैसे शुक्तिका मे रजत का विभ्रम होता है । यद्यपि शुक्ति रजत नही हो गई, परन्तु दूरत्व, चाकचिक्यादि कारणोसे भ्रान्ति हो जाती है, भ्रान्तिका कारण दूरत्वादि दोप है । जैसे कामला रोगी जब शङ्खको देखता है तब 'पीत शङ्ख' ऐसी प्रतीति करता है । यद्यपि शङ्खमे पीतता नही, यह तो नेत्रमे कामला रोग होनेसे शङ्खमे पीतत्व भासमान है । यह पीतता कहाँसे आयी ? तब यही कहना पडेगा कि नेत्रमे कामला रोग है वही इस पीतत्व ज्ञानका कारण हुआ । इसी प्रकार आत्मामे जो रागादि होते है उनका मूल कारण मोहनीय कर्म है । उसके दो भेद है—एक दर्शनमोह दूसरा चारित्रमोह । उसमे दर्शन मोहके उदयसे मिथ्यात्व और चारित्रमोहके उदयसे रागद्वेप होते है ।

मिथ्यादृष्टि जीव उन्हे निज मान अनन्त ससारके पात्र होते है । समझमे नही आता यह विषमता क्यो ? विपमताका मिटना सहज नही, स्वयमेव मिटती है या कारणकूटसे । यदि स्वयमेव मिटती है तब उसके मिटानेका जो प्रयास है वह व्यर्थ है। पुरुषार्थ तो प्राय सभी करते हैं परन्तु सभी सफल मनोरथ क्यो नही होते ? तब यही उत्तर होगा कि जिसने यथार्थ प्रयास नही किया उसका कार्य सफल नही हुआ । फिर कोई प्रश्न करे कि अन्तरङ्गसे तो चाहता है परन्तु प्रयास अनुकूल नही बनते, इनमे कारण क्या है कुछ बुद्धिमे नही आता । अन्ततोगत्वा यही उत्तर मिलता है कि जब जीवका कल्याण होनेका समय आता है अनायास कारणकूट जुड जाते है । कौन चाहता कि हमे आकुलता हो और हम दु खके पात्र बने । फिर भी जो नही चाहता वह होता है और जो चाहता है वह नही होता । यह प्रश्न हरएक करता है, उत्तर भी लोग देते है, किन्तु अन्तमे अकाट्य उत्तर नही मिलता । अत इन झझटो के चक्रमे न पडकर जितनी चेष्टा करो निवृत्तिके ऊपर दृष्टिपात कर करो ।

अन्यकी कथा छोडो, यदि तीव्रोदयमे मिथ्यात्व रूपमे कार्य किये गये उनमे भी यही भावना करो कि अब न करने पडे । मेरी तो यह श्रद्धा है कि कोई भी कार्य करो, चाहे वह शुभ हो, चाहे अशुभ हो, यही भावना मानो कि अब फिर न करना पडे । जैसे मन्द कषायोके उदयमे पूजनादि कार्य करने पडते है उनमे यह भावना रक्खो कि हे भगवन् ! अब कालान्तरमे यह न करना पडे । मिथ्या-ज्ञानी और सम्यग्ज्ञानीमे यही तो अन्तर है कि मिथ्याज्ञानी जीव शुभ कार्योको उपादेय मानता है, सम्यग्ज्ञानी ऋण जान अदा करता है । यही विषमता दोनोमे है । इस विषमताका वारण होना कठिन है । यही कारण है कि अनन्तजन्म तप करते करते द्रव्य-लिंगसे मोक्ष नही होता । इसका मूल अभिप्राय की ही मलिनता तो है । इस अभिप्रायकी मलिनताको मिटाने वाला यह आत्मा स्वय प्रयत्नशील हो, मिट सकती है । यदि यह न होता तो मोक्ष-मार्ग ही न होता । जब आत्मामे अचिंत्य शक्ति है तव उसका उपयोग आत्मीय यथार्थ परिणतिके लिए क्यो न किया जाय ?

ज्ञान की महत्ता—

जो आत्मा जगतकी व्यवस्था करनेमे समर्थ है वह

आत्मीय व्यवस्था न कर सके समझमे नही आता। किन्तु हम उस ओर लक्ष्य नही देते। यहाँपर इस शङ्काको अवकाश नही कि नेत्र पदार्थान्तरोको जानता है परन्तु अपनेको नही जानता। इसका उत्तर यह है कि जब नेत्र अपनेको देखना चाहे तब एक दर्पणको समक्ष रक्खे, उसमे जब मुखका प्रतिबिम्ब पडता है तब नेत्रकी आकृति का बोध हो जाता है। यह भी तो नेत्रने दिखाया। जब ज्ञान घटादि पदार्थोको देखता है तब उनकी व्यवस्था करता है और जब स्वोन्मुख होता है तब यही तो विकल्प होता है कि जो घटादि देखने वाला है वही तो मै हूँ।

परमार्थसे ज्ञान बाह्य घटादिकोकी व्यवस्था नही करता किन्तु ज्ञानमे जो विकल्प हुआ उसको जानता है। उसीकी व्यवस्था करता है। अर्थात् ज्ञानमे जो अर्थाकार विकल्प हुआ, ज्ञान उसी ज्ञानकी पर्यायका सवेदन करता है। तब इसका यही तो अर्थ हुआ कि ज्ञानने अपने स्वरूप ही का वेदन किया। इस तरह ज्ञेय और ज्ञानकी व्यवस्था है। यह व्यवस्था अनादिसे चली आई है। अनन्तकाल पर्यन्त रहेगी। किन्तु इस व्यवस्थामे जो हमारी परको निज माननेकी पद्धति है वही पद्धति रागद्वेषकी उत्पादक है। अतः जिन्हे अपनेको ससारबन्धनमे रखना इष्ट है उन्हे इस मान्यताको अपनाना चाहिये। यद्यपि किसीको यह इष्ट नही कि इस जालमे हम रहे परन्तु अनादिसे हमारी मान्यता इतनी दूषित है जिससे निजको जानना ही असम्भव है। जैसे जिस मनुष्यने खिचडीका भोजन किया है उससे केवल चावलका स्वाद पूछो तो नही बता सकता। इसी तरह मोहके उदयमे जो ज्ञान होता है उसमे परको निज मानने की ही मुख्यता रहती है। यद्यपि पर निज नही, परन्तु क्या किया जावे। जो निर्मल दृष्टि है वह मोहके सम्बन्धसे इतनी मलिन हो गई है कि निजकी ओर जाती ही नही। इसीके सद्भावमे यह दशा जीवकी हो रही है कि उन्मत्त पान करने वालेकी तरह अन्यथा प्रवृत्ति करता है। अत इस चक्रसे बचनेके अर्थ पर मे ममता त्यागो। केवल वचनो से व्यवहार करनेसे ही सन्तोष मत कर लो। जो मोहके साधक हैं उन्हे त्यागो।

पञ्चेन्द्रियो के विषय त्यागने से ही इन्द्रियविजयी होगा। कथा करनेसे कुछ तत्त्व नही निकलता। बात असलमे यह है कि हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान है, इस ज्ञानमे जो पदार्थ भासमान होगा उसीकी ओर तो हमारा लक्ष्य जावेगा। उसीकी सिद्धिके लिये हम प्रयास करेगे, चाहे वह अनर्थकी जड हो। अनर्थकी जड बाह्य वस्तु नही। बाह्य वस्तु तो अध्यवसानमे विषय पडती है। बाह्य वस्तु बन्धका जनक नही। श्री कुन्दकुन्द देवने लिखा है—

> **"वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं दु होदि जीवाणं।**
> **ण हि वत्थुदो य बंधो अज्झवसाणेण बंधो दु॥"**

वस्तुको निमित्तकर अध्यवसानभाव जीवोके होता है किन्तु पदार्थ बन्धका कारण नही। बन्धका कारण तो अध्यवसानभाव है। यदि ऐसा सिद्धान्त है तब बाह्य वस्तु का परित्याग क्यो कराया जाता है? अध्यवसानके न होनेके अर्थ ही बाह्य वस्तुका निषेध कराया जाता है। बाह्य वस्तुके बिना अध्यवसानभाव नही होता। यदि बाह्य पदार्थके आश्रय बिना अध्यवसानभाव होने लगे तब जैसे यह अध्यवसानभाव होता है कि मै रणमे जाकर वीरसू माताके पुत्रको मारूँगा, यह भी अध्यवसान होने लगे कि बन्ध्यापुत्रको मारूँगा, नही होता, क्योकि मारण क्रियाका आश्रयभूत बन्ध्यासुत नही है अतः जिन्हे बन्ध न करना हो बाह्य वस्तुका परित्याग कर देवे।

परमार्थसे अन्तरङ्ग मूर्छा का त्याग ही बन्धकी निवृत्ति का कारण है। परपदार्थ के जीवन-मरण, सुख-दुःखका अध्यवसान तो सर्वथा ही त्याज्य है, क्योकि हमारे अध्यवसानके अनुरूप कार्य नही होता। इससे यह सिद्धान्त निकला कि इन मिथ्या विकल्पोको त्यागकर यथार्थ वस्तु-स्वरूपके निर्णयमे अपनेको तन्मय करो। अन्यथा इसी भवचक्रके पात्र रहोगे। तुम विश्वको अपनाते हो, इसमे मूल जड मोह है। यह अध्यवसान आदि भाव जिनके नही है वही महा-मुनि हैं। वही शुभ और अशुभ कर्मसे लिप्त नही होते।

बन्ध के हेतु—

ये मिथ्यात्व, अज्ञान तथा अविरति रूप जो त्रिविध

भाव है वही शुभाशुभ कर्मबन्धके निमित्त हैं, क्योकि यह स्वय अज्ञानादिरूप है। वही दिखाते है। जैसे जब यह अध्यवसानभाव होता है 'अहं हिनस्मि' यह जो अध्यवसानभाव है यह अज्ञानमयभाव है और आत्मा सत् है, अहेतुक है, ज्ञप्तिरूप एक क्रियावान् है ऐसा जो आत्मा है उसका और रागद्वेषके विपाकसे जायमान हननादि क्रियाओका विशेष भेदज्ञान न होनेसे, भिन्न आत्माका ज्ञान न होनेसे अज्ञान ही रहता है। भिन्न आत्मदर्शन न होनेसे मिथ्यादर्शन रहता है। भिन्न आत्माका चारित्र न होनेसे मिथ्याचारित्र ही का सद्भाव रहता है। इस तरहसे मोहकर्मके निमित्त से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का सद्भाव आत्मामे है।

इसी मोहके उदयके साथ जब ज्ञानावरणका क्षयोपशम रहता है 'धर्मो ज्ञायते' जब यह अध्यवसान होता है, यह जो ज्ञेयभाव ज्ञानमें आते है, इनका और सहेतुक ज्ञानमय आत्माका भेदज्ञान न होनेसे अज्ञान, विशेष दर्शन न होने से अदर्शन, इसी तरह विशेष स्वरूपमे चर्या न होने से अचारित्र का सद्भाव रहता है। यदि परमार्थसे विचारा जावे तब आत्मा स्वतन्त्र है और यह जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वाला पुद्गल द्रव्य है वह स्वतन्त्र है। इन दोनो के परिणमन भी अनादि कालसे स्वतन्त्र है परन्तु इन दोनोमे जीव द्रव्य चेतनगुणवान् है और उसमे यह शक्ति है कि जो पदार्थ उसके सामने आता है उसमे झलकता है, प्रतिभासित होता है। पुद्गलमे भी एक परिणमन इस तरहका है कि उसमे भी रूपी पदार्थ झलकता है परन्तु वह मेरेमे प्रतिभासित होता है यह उसे ज्ञात नही। आत्मामे जो पदार्थ प्रतिभासमान होता है उसे यह भाव होता है कि यह पदार्थ मेरे ज्ञानमे आये। यही आपत्ति का मूल है। उन पदार्थों को अपनाने की प्रकृति मोह के सम्बन्धसे हो जाती है, यही अनन्त ससारका कारण होता है। प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि पर पदार्थका एक अश भी ज्ञानमे नही आता है फिर न जाने उन्हे क्यो अपनाता हे ? यही महती अज्ञानता है। अत जहाँ तक आत्मद्रव्यको आत्मा ही रहने देनेकी अपेक्षा जो अन्यरूप करने का प्रयास है, यही अनन्त ससारका कारण है। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो यह पर-द्रव्य है, यह मेरा है, नही कह सकता ? ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका भाव होता है वह उसका स्व है। जिसका जो स्व होता हे वह उसका स्वामी है, अतः यह निष्कर्ष निकला कि अन्य द्रव्य अन्यका स्व नही तब अन्य द्रव्य अन्यका स्वामी नही, तब अन्य द्रव्य आपका स्वामी नही। यही कारण हे जो ज्ञानी जीव पर को ग्रहण नही करता।

पर का स्वामित्व—

मै ज्ञानी हूँ अत मैं भी परको ग्रहण नही करूँगा। यदि मै परद्रव्य को ग्रहण करूँ तब यह अजीव मेरा स्व हो जावे और मैं अजीवका स्वामी हो जाऊँगा। अजीवका स्वामी अजीव ही होगा, उसे अजीव होना पडेगा, ऐसा नही, मैं तो ज्ञाता दृष्टा हूँ अत पर द्रव्यको ग्रहण नही करूँगा। जब पर द्रव्य मेरा नही तब वह चाहे छिद जावो, भिद जावो, चाहे कोई ले जाओ अथवा जिस तिस अवस्था को प्राप्त हो जाओ तथापि पर द्रव्यको ग्रहण नही करूँगा। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानी धर्म, अधर्म, असतदान इनको नही चाहता। धर्म पदार्थ पुण्यको कहते हैं अर्थात् जब इस जीव के प्रशस्त राग, अनुकम्पा परिणाम और चित्तमे अकलुषतारूप परिणाम होता है उसी समय इस जीवके पुण्यबन्ध होता है अर्थात् तिस कालमे अर्हंत, सिद्ध, साधुके गुणोमे अनुराग होता है इसीका नाम भक्ति है। अर्थात् उनके गुणोकी प्राप्ति हो यही तो भक्ति है। आचार्य श्री गृद्धपिच्छने यही तो लिखा कि —

> "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
> ज्ञातारं विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये ॥"

इसमे यही तो दिखाया है कि तद्गुणका लाभ हमे हो। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिस गुणका अनुरागी है वह उसको नमस्कार करता है। जैसे शस्त्रविद्याका इच्छुक शस्त्रविद्या-वेत्ताको नमस्कार करता है। इसी तरह धर्ममे जो चेष्टा अर्थात् धर्मलाभ का अनुराग यही तो हुआ तथा गुरुओके पीछे रसिक होकर गमन करना। इत्यादि वाक्योसे यही तो निकलता है कि इन सब वाक्योमे इच्छा ही की प्रधानता है।

इच्छा; दु:ख की जननी—

इच्छा परिग्रह है क्योकि इच्छाका जनक मोहकर्म है। मोहकर्मके उदयसे जो भाव होते है सामान्यसे वह इच्छा-रूप पडते है। मिथ्यात्वके उदयमे विपरीत अभिप्राय ही तो होता है। वह इच्छारूप ही है। क्रोधकषाय के उदयमे परका अनिष्ट करनेकी ही तो इच्छा होती है। तथा मानके उदय-मे अन्यको तुच्छ दिखाना, अपनेको महान् माननेकी ही तो इच्छा रहती है। मायाके उदयकालमे अन्तरङ्गमे तो अन्य है, बाह्यसे उसके विरुद्ध कार्यमे प्रवृत्ति होती है। लोभकषाय का जब उदय आया है तब परपदार्थको अपहरण करनेकी ही तो इच्छा होती है। इसी प्रकार हास्यकषाय के उदयमे हास्य का भाव होता है। रतिके उदयमे पर पदार्थके निमित्तको पाकर प्रसन्न होता है। अरतिके उदयमे पदार्थोके निमित्तसे शोकातुर रहता है। भयके उदयमे भयभीत परिणाम होते है। जुगुप्साके उदयमे पदार्थोके निमित्तसे ग्लानिरूप परिणति हो जाती है। जब स्त्रीवेदका विपाक आता है तब पुरुषसे रमण करनेकी चेष्टा होती है। दैवात् पुरुष का सम्बन्ध न मिले तब भावोसे पुरुषकी कल्पना कर अपनी इच्छा शान्त करनेकी चेष्टा यह जीव करता है। पुरुषवेदके उदयमे स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छा होती है। निमित्त न मिलनेसे कल्पना द्वारा यह प्राणी जो जो अनर्थ करता है वह प्राय सर्व विदित है। इसी तरह नपुसकवेदके उदयमे उभयसे रमणके भाव होते है। इसकी इच्छा प्रथम दो वेदवालोकी अपेक्षा प्रबल है। इस विषयमे यदि कोई लिखना चाहे तब बहुत लिख सकता है। इन इच्छाओसे ससार दु.खी है। इसीसे भगवानने इच्छाको परिग्रह माना है।

जिसके इच्छा नही है उसके परिग्रह नही है। इच्छा जो है सो अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नही है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय भाव ही होता है। यही कारण है कि अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभावसे ज्ञानी जीव धर्मकी इच्छा नही करता। ज्ञानमय ज्ञायकभावके सद्भावसे धर्मका केवल ज्ञाता दृष्टा है, जब ज्ञानी जीवके धर्मका ही परिग्रह नही तब अधर्मका परिग्रह तो सर्वथा ही असम्भव है। इसी तरहसे न अशनका परिग्रह है और न पानका परिग्रह, क्योकि इच्छा परिग्रह है। ज्ञानी जीव-के इच्छाका परिग्रह नही, इनको आदि देकर जितने प्रकारके पर-द्रव्यके भाव है तथा पर-द्रव्यके निमित्तसे आत्मामे जो भाव होते है उन सबको ज्ञानी जीव नही चाहता।

अपनी पहिचान—

इस पद्धति से जिसने सब अज्ञान भावोको वमन कर दिया तथा सब पर पदार्थोके आलम्बनको त्याग दिया केवल टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावको अनुभवन करता है। पूर्वकर्मके विपाकसे ज्ञानीके उपभोग होता हे, होओ किन्तु उसमे राग न होनेसे वह उपभोग परिग्रह भावको प्राप्त नही होता। रागादि परिणामके विना मन, वचन और कायके व्यापार अकिञ्चित्कर है। जैसे यदि चूना आदिका श्लेष न हो तब ईटोके समुदायसे महल नही बनता।

परमार्थ से विचार किया जावे सब पदार्थ नियमसे परिणमनशील है। सब पदार्थोका परिणमन अपने अपने मे हो रहा है, किसी पदार्थ का अश भी किसी दूसरे पदार्थमे नही जाता। यह जीव उनका ज्ञाता द्रष्टा बनता है, इतना ही नही किसीको अपनाता है। किसीको रागका विषय करता है। किसीको द्वेषका विषय करता है। इस तरह पर-पदार्थोकी व्यवस्था कर ईश्वर बननेका दावा करता हे। कोई अपनेको अकिञ्चित्कर मानकर अन्यको इसका कर्ता बनाता है, कोई कहता है यह सब भ्रम है। भ्रमसे ही यह अवस्था बन रही है। भ्रमके अभावमे संसारका अभाव है। अत· इन जालोसे बचनेके लिये अपनेको जानना परमावश्यक है। आत्मद्रव्य चैतन्यगुण का आश्रय है। यद्यपि आत्मा अनन्तगुणो का पिण्ड है किन्तु उन गुणोमे चैतन्यगुण ऐसा है जो सबकी व्यवस्था करता है।

परमार्थ दृष्टि से सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमे लीन है। इनमे जीवद्रव्य तो चैतन्य स्वरूपवान् है, पुद्गल चेतनागुण से शून्य है किन्तु उन दोनो-का

अनादिकालसे सम्बन्ध हो रहा है, इससे दोनो अपने अपने स्वरूपसे च्युत होकर अन्य अवस्थाको धारण कर विकृत हो जाते है। ससारमे जो विकृत परिणाम होते है वह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे होते है। यह परिणमन अनादिकालसे धारावाही रूपमे चला आ रहा है और जब तक इसकी सत्ता रहेगी, आत्मा दु खी रहेगा। जिन जीवोको भेदज्ञान हो जाता है वे इन परपदार्थोको अपनाना छोड देते है। उनको परमे निजत्व कल्पना नही होती। यही कल्पना ससारकी मूल जननी है। जिन्होने इसका ध्वस कर दिया वही जगतके प्रपञ्चोसे छूट जाते है।

अनेकान्त; तत्त्व की कुञ्जी—

तत्त्वचर्चा को तो सभी शूर है परन्तु निजमे रहनेवाले बिरले ही हैं। महती कथा करनेको भी सभी वक्ता है परन्तु यदि कोई प्रकृतिविरुद्ध बोले तब उसको निजशत्रु समझते है। शत्रु अन्य नही, आत्माका विभाव परिणाम ही शत्रु है। विभाव परिणामका जनक उपादानसे आत्मा और निमित्तसे आत्मातिरिक्त परद्रव्य है। वह तो जबरन रागादि नही करता। यदि यह रागादि विभाव रूप परिणमे तब अन्यद्रव्य निमित्त होता है। हाँ, यह नियम है कि जब अध्यवसान भावकी उत्पत्ति होगी तब उसमे कोई न कोई परद्रव्य विषय होगा। सर्वथा न मानना कुछ बुद्धिमे नही आता। यदि परद्रव्य निमित्त न हो और यह रागादिभाव आत्माके पारिणामिकभाव हो जाते तब जैसे पारिणामिक भाव अबाधित त्रिकाल सत्तावान् है ऐसे यह भी हो जावे। यदि शुभोपयोगमे परमेष्ठीको निमित्त न मानो तब अन्य जो कलत्र आदि पदार्थ भी ज्ञान मे आ जावे उन्हे त्याग कर वन मे जाने की आवश्यकता नही। अत यही कहना पडेगा कि परमेष्ठी शुभोपयोग मे निमित्त होने से, स्वर्ग का कारण और अशुभोपभोगमे स्त्री आदि नरकका कारण है। परमार्थसे न तो अर्हंत स्वर्गके कारण है और न कलत्रादि नरकके कारण है। अपने शुभ अशुभ कषाय स्वर्ग नरकादिके कारण है। अत सर्वथा एकान्त मत पकडो। पदार्थका स्वरूप ही अनेकान्तमय है।

अकलङ्क स्वामीने परमात्माकी जहाँ भक्ति की है वहाँ लिखा है कि प्रमेयत्वादि धर्मोके द्वारा आत्मा अचेतन है और चैतन्यधर्मके द्वारा चिदात्मा है। इस तरहसे परमात्मा चिदात्मा भी है, और अचिदात्मा भी है। परमार्थसे देखा जावे तब वस्तु अनिवर्चनीय है। अन्यकी कथा छोडो, जब हम घटका निरूपण करते है उस समय रूपादिका जो बोध होता है, उस बोधमे जो विषय आता है वही घट है। अब यहाँ पर पूछने वाला हमसे यह प्रश्न कर सकता है कि जब यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्यमे परद्रव्यका अणुमात्र भी नही आया तब ज्ञान ने घट का क्या निरूपण किया ? ज्ञानमे जो विकल्प आया वही तो कहा। परन्तु वह विकल्प घटके निमित्तसे हुआ इससे कहते है यह घट है, वास्तवमे घट क्या है। मृत्तिका की पर्याय विशेष है,। यह भी कहना व्यवहार है। परमार्थसे न तो कोई पदार्थ कही जाता है और न आता है, सभी पदार्थ निज निज चतुष्टयमे परिणमन कर रहे है।

यह जो व्यवहार है सो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे बन रहा है। देखो, कुम्भकार जब मिट्टी लाता है तब जहाँ मृत्तिका थी कुम्भकारके द्वारा कुदाल से खोदी जाती है। कुम्भकारका व्यापार कुम्भकारमे होता है, उसके हाथके निमित्तको पाकर कुदालमे व्यापार होता है, कुदालके व्यापारसे मिट्टी अपने स्थानसे च्युत होती है, उसे कुम्भकार अपने गर्दभ द्वारा अपने गृहमे लाता है। पश्चात् उसमे पानी डाला जाता है, हाथोके द्वारा उसे आर्द्र बनाता है पश्चात् मृत्तिकापिण्डको चाकपर रखकर दण्ड द्वारा व्यापार होनेसे चक्र-भ्रमण करता है, पश्चात् घट बनता है। वास्तवमे जितने व्यापार यहाँपर हुए सब पृथक्-पृथक् हुए परन्तु एक दूसरेमे निमित्त हुआ। इस तरह यह प्रक्रिया अनादिसे चली आ रही है।

जिसकालमे आत्माका मोह चला जाता है उस समय यह ज्ञानावरणादि कर्म आत्मासे सम्बन्धित नही होते। इन कर्मोके सम्बन्ध न होनेसे आत्मा गत्यादि भ्रमण नहीं करता तब अनायास ही शरीरादिके अभावमे आत्माका जो स्वरूप है उसमे रह जाता है। अब उसे जो आपके ज्ञानमे आवे कहिये। कोई कहता है वह अनन्तज्ञानी है—'सर्व द्रव्य-

पर्यायेषु केवलस्य' अर्थात् केवलज्ञानका विषय सर्व द्रव्य पर्याय है। कोई कहता है अनन्त सुखवाला है, अनन्त शक्तिवाला है। कोई यही कह देता है कि उसकी महिमा अचिन्त्य है। नाना विकल्पोसे उसका निरूपण करनेकी सर्वज्ञकी पद्धति है। वस्तुतः विचार किया जावे तब उसके भावेन्द्रियके अभाव होनेसे न तो उनके ज्ञानमे जैसे हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा पदार्थोका विकल्प होता है—वह विकल्प उसके ज्ञानमे नही होता। हमारा तो यह विश्वास है कि हमारे मतिज्ञानमे जो पदार्थ आता है तथा रूपादि का विकल्प भी होता है परन्तु जिनके इन्द्रिय ही नही उनके पदार्थ तो आवेगा, कल्पना रूपादिको की न होगी। तथा हमारे ज्ञानमे रूपादिक आते है कुछ हानि नही परन्तु हमारे मोहादिक कर्मका सद्भाव होनेसे उन पदार्थोमे इष्टानिष्ट कल्पना होती है। यही कारण है कि हम इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष कर इष्टका सद्भाव और अनिष्टका अभाव चाहते है। इस विवेचनसे सर्वज्ञमे जो ज्ञान है इससे उन्हे शान्ति है सो नही अपितु उनके इष्टानिष्ट करने वाला मोह चला गया, यही उनके महत्त्वका कारण है।

ज्ञानसे न तो सुख ही होता है और न दु ख ही होता है, ज्ञान तो केवल जाननेमे सहायक होता है। व्यवहारमे हमारा उपकारी श्रुतज्ञान है। इसीके द्वारा हम केवलज्ञान-का निर्णय करते है। यदि श्रुतज्ञान न होता तव मोक्षमार्ग-का निरूपण होना असम्भव हो जाता। ससारमे जितनी प्रक्रियाएँ धर्म और अधर्मकी दृष्टिगोचर हो रही है वह श्रुतज्ञान ही का माहात्म्य है। भगवान्‌की दिव्यध्वनिको दर्शाने वाला श्रुतज्ञान ही तो है। आज ससारसे श्रुतज्ञान उठ जावे तो मोक्षमार्गका लोप ही हो जावे। जब पञ्चम कालका अभाव होकर छटवाँ काल आवेगा उस कालमे श्रुतज्ञान ही का लोप हो जावेगा, सभी व्यवहार लुप्त हो जावेंगे, मनुष्योके व्यवहार पशुवत् हो जावेंगे। अत जिन्हे इन पदार्थोकी प्रतीति करना है, उन्हे श्रुतज्ञानका अच्छा अध्ययन करना चाहिये। जितने मत ससारमे प्रचलित है श्रुतज्ञानके बलसे ही चल रहे है। कुन्दकुन्द स्वामीने तो यहाँ तक लिखा है कि —

"आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूसि सव्वभूदाणि।
देवादि ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥"

अर्थात् आगमचक्षु साधु लोग होते है। ससारी मनुष्य इन्द्रियचक्षु होते है। देवलोग अवधिचक्षु होते है। सिद्ध भग-वान् सर्वचक्षु होते है। अर्थात् वह सभी पदार्थोको इन्द्रियके बिना ही देखते है। विचार कर देखो तब यह बात आगम ही तो कहता है। इसीसे देवागममे समन्तभद्र स्वामीने लिखा है—

"स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥"

शुक्लध्यानके वास्ते श्रुतज्ञानकी आवश्यकता है, मति अवधि मन पर्ययकी नही।

एकमात्र कर्त्तव्य तत्त्वाभ्यास—

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन्हे आत्मकल्याण करने-की लालसा है वे सभी विकल्पोको त्याग कर अहर्निश आगमाभ्यास करे और उससे अनादि कालकी जो पर पदार्थोमे आत्मीय वासना है उसका त्याग करे। अकेले ज्ञानके अर्जनसे कोई लाभ नही। जिस ज्ञानार्जनसे आत्म-लाभ न हो उस ज्ञानकी परिग्रहमे गणनाकी जावे तब कोई क्षति नही। बाह्य परिग्रहका त्याग इसीलिये कराया जाता है कि वह मूर्च्छामे कारण होता है। इसी प्रकार यह ज्ञान-का अर्जन है उससे भी तो यह अभिमान होता है कि 'हम बहुज्ञानी है, हमारे सदृश कोई नही'। यह वेचारे पदार्थके मर्मको क्या समझे? हम चाहे तब अच्छे अच्छे विद्वानो को परास्त कर सकते है।' इन कल्पनाओ का कारण वह ज्ञान ही तो हुआ, यदि उसे परिग्रह कह दिया जावे तब कौन-सी क्षति है। ज्ञानकी कथा त्यागो, तप इत्यादि जो अहङ्कारसे किये जावे—'लोकमे हमारी प्रतिष्ठा हो, मै महान् तप-वी हूँ, मेरे समक्ष ये वेचारे क्या तप कर सकते है?' इत्यादि दुर्भावोके उदयमे यह तप हुआ तब इसे परिग्रहका कारण होनेसे यदि परिग्रह कह दिया जावे तव कौन-सी क्षति है? यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामीने इन सबको मदोमे गिनाया है—

"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपु।
अष्टावाश्रित्य मानित्व स्मयमाहुर्गतस्मया॥"

तात्पर्य यह कि यह सव भाव कपायोत्पादक होनेसे यदि इन्हे परिग्रहमे गिना जावे तब कोई क्षति नही।

धनादिक तो विचारसे देखो याह्य पदार्थ है ही। वे उतने बाधक नही जितने ये है। उनके द्वारा आत्मा ठगाया नही जाता जितना इन तप ज्ञान आदिकसे जगत ठगाया जाता है। धर्म कार्य जितनी जगतकी वञ्चना करते है उतनी चोर आदि नही करते। चोर तो केवल बाह्य धनका ही हरण कहते है। यदि उन्हे निर्व्याज धन दे दो तो अन्य हानि नही करते। ये लोग धन ही का तो हरण करते है किन्तु ये द्रव्य तपस्वी आपकी धर्म सम्पत्तिका अपहरण कर अनन्त ससारका पात्र बना देते है। अत आवश्यकता श्रुतज्ञानकी है जिससे पदार्थ तत्त्वका निर्णय हो जावे और हम किसीके द्वारा ठगाये न जावे। आज सहस्रो मत ससारमे चल रहे है इन सबका मूलकारण हमने श्रुतज्ञान-का सम्यक् अध्ययन नही किया यही है। अत जिन जीवो-को इन उलझनोसे अपनी रक्षा करना है उन्हे भेदज्ञानपूर्वक अपनी ज्ञानपरिणति को निर्मल करना चाहिये।

आज ससारका जो पतन हो रहा है उसका मूलकारण यथार्थ पदार्थोके कहने वाले पुरुषोका अभाव है। यहाँ तक शास्त्रोका दुरुपयोग किया कि वकरोकी बलि करके भी स्वर्गका मार्ग खोल दिया। किसीने खुदाके नाम पर दुर्भावोकी कुर्बानी कर स्वर्गका मार्ग खोल दिया। वास्तव-मे कुर्बानी तो राग-द्वेष मोहकी करनी चाहिये। यही आत्माके शत्रु है। इस ओर लक्ष्य देना चाहिये। परन्तु इस ओर लक्ष्य नही। केवल पञ्चेन्द्रियोके विषयमे अनादि कालसे सलग्न है,। इनके होनेमे हम अपने प्राणो तकको विसर्जन कर देते है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी अपनेको गर्तमे गिरा देता है। रसनेन्द्रियके वशीभूत होकर मत्स्य अपने कण्ठको छिदा देता है। घ्राण इन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमर अपने प्राण गमा देता है। चक्षु इन्द्रियके वशीभूत होकर पतङ्ग निज प्राणोका प्रलय कर देता है। श्रोत्र इन्द्रियके वशीभूत होकर मृग वहेलियाके पल्ले पड जाते है। यह तो कुछ भी नही। इन विषयोके वशीभूत होकर प्राणोका ही घात होता है, परन्तु कषायोके वशीभूत होकर बडे-बडे महापुरुष ससारके चक्रमे पड जाते है। आत्माके अहित विषय कषाय हे, इनमे विषय तो उपचारसे अहित करता है। कषाय ही मुख्यतया अहित करने वाला है।

जिन्हे आत्महित करना है उन्हे अपनेको स्वतन्त्र वनानेका प्रयत्न करना चाहिये। स्वतन्त्रता ही मूल सुखकी जननी है। सुख कही अन्यत्रसे नही आता, सुख आत्माका स्वभाव है, उसका बाधककारण पर है। 'पर' क्या ? हम ही तो है। हमने अपने स्वरूपको नही समझा। हम ज्ञान-दर्शनके पिण्ड है। ज्ञानका काम अपने को और परको जानना है। ज्ञानकी स्वच्छतामे पदार्थ प्रतिभासित होता है, उसे हम अपना मान लेते है। ज्ञानके विकल्पको अपना मानना यहाँ तक तो कुछ हानि नही जो पदार्थ उसमे झलकता है, किन्तु उसे अपना मानना सर्वथा अनुचित हे। हमारी तो यह श्रद्धा है कि ज्ञानमे ज्ञेय आया यह भी नैमित्तिक है अत उसे भी निज मानना न्याय सङ्गत नही। रागादिक भावोका उत्पाद आत्मामे होता है। वह राग प्रकृतिके उदयसे होता है, उसे आत्माका न मानना सर्वथा अनुचित है। यदि वह भाव आत्माका न माना जावे तब आत्मा सिर्फ ज्ञान स्वरूपही हुआ, फिर यह जो ससार है, इसका सर्वथा अभाव हो जावेगा। क्योकि रागादिकके अभावमे कार्मण वर्गणाओमे जो मोहादि रूप परिणमन होता है वह न होगा। ज्ञानावरणादि कर्मोके अभावमे जो आत्माके गुण हैं, वह सदा विकाशरूप ही रहेगे। तव ससारमे जो तरतमता देखी जाती है उस सबका विलोप हो जावेगा, ससार ही न होगा। ससारके अभावमे मोक्षका अभाव हो जावेगा, क्योकि मोक्ष वन्धपूर्वक होता है। अत यह मानना पडेगा कि आत्मा द्रव्य स्वतन्त्र है और परिणमनमे भी स्वतन्त्र हे। किन्तु यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि जो रागादि कार्य होते है केवल एक द्रव्यसे नही होते, उनके होने मे दो द्रव्य ही कारण हे। उनमे जहाँ रागादिक होते है वह उपादान और जिसके सहकारितासे होते है उसे निमित्तकारण कहते है।

बहुतसे मनुष्य यह कहते है कि रागादिरूप परिणमन तो जीवमे हुआ, इसमे पुद्गलका कौनसा अश आया ? जैसे कुम्भकारके निमित्तसे मृत्तिकामे घट उत्पन्न हुआ उसमे कुम्भकारका कौन-सा अश आया ? कौन कहता है कुम्भ-कारादिका अश घटमे आया ? नही आया। परन्तु इतना बडा घट क्या कुम्भकारकी उपस्थितिके बिना ही होगा ? नही हुआ। तव यह मानो कुम्भकार ही घटपर्यायके

उत्पादमे सहकारी होनेसे निमित्त हुआ। यह व्यवस्था कार्यमात्रमे जान लेनी। ससाररूप कार्य इन्ही कारणोके ऊपर निर्भर है। जहाँ पर, जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही रहता, ससार नही रहता। ससार कोई भिन्न पदार्थ नही। जहाँ जीव और पुद्गल इन दोनो-का अन्योन्य निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे जीव रागादिरूप तथा पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप परिणमता है इसीका नाम ससार है। केवल जीव और केवल पुद्गल इसका नाम ससार नही।

केवल जीवके स्वरूप पर परामर्श किया जावे तब यह 'अस्ति' आदि तत्त्व नही बनते। यह सबकी अपेक्षा रखते है। इन तीनोके सम्बन्धसे यह सप्त तत्त्व बनते है। जब जीव रागादि भावोसे रहित हो जाता है तब पुद्गलमे ज्ञानावरणादि नही होते। बद्धज्ञानावरणादि कर्म अन्तर्मुहूर्त-मे क्षय हो जाते है। उस समयमे आत्मा केवलज्ञानादि गुणोका आश्रय होकर सर्वज्ञ पदसे व्यपदेश होने लगता है। पश्चात् पूर्वबद्ध जो अघातिया कर्म है वे या तो स्वयमेव खिर जाते है या आयुसे अधिक स्थितिवाले हुए तब समुद्-घात विधानसे आयुसमान स्थिति होकर स्वयमेव खिर जाते है, और आत्मा केवल शुद्धपर्याय का पात्र हो जाता है। यद्यपि यह पर्याय केवल आत्मा मे होती है परन्तु अनादिसे लगा हुआ जो मोह है वह इसे व्यक्त नही होने देता।

जैनधर्ममे दो प्रकारके पदार्थ माने जाते है—एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतन किसको कहते ? जिसमे चेतना पाई जावे। उसका स्वरूप आगममे इस प्रकार कहा है—

"चेतनालक्षणो जीवोऽजीवस्तद्विपर्यय.।"

चेतना नामकी एक शक्ति है, जिसका काम पदार्थोको जानना है। चेतना ही ऐसी शक्ति है जो स्व-परको सवेदन करती है। परमार्थसे तो ज्ञान स्वपर्याय ही को वेदन करता है। ज्ञानकी निर्मलतामे पदार्थके निमित्तको पाकर पदार्थका जो आकार है उस रूप आकार ज्ञानमे आता है, न कि वह वस्तु ज्ञानमे आती है। ज्ञानमे तो ज्ञानकी ही पर्याय आती है। मोही जीव, जो ज्ञानमे आता है, उसे ही निज मान लेता है। ज्ञानमे जो आया वह ज्ञानका परिणमन है, इसमे तो कोई विवाद नही, किन्तु ज्ञान परिणमनसे भिन्न जो वस्तु है उसे निज मानना मिथ्या है।

ज्ञानमे जैसे बाह्य पदार्थ आते है वैसे सुखादिक गुण भी आते है, किन्तु वे अभ्यन्तर है। वे भी ज्ञानगुण की तरह आत्माके है, परन्तु स्वरूप सभीके पृथक्-पृथक् है। अपने अपने स्वरूपको लिये आत्मतत्त्वके साधक है। अर्थात् इन सब गुणोका जो अविष्वग्भाव सम्बन्ध है इसीका नाम द्रव्य है। द्रव्य अनन्तगुणो का पिण्ड है। इसीसे आत्मा ज्ञान भी है, दर्शन भी है, सुख भी है, वीर्य भी है। ज्ञान दर्शन भिन्न है। यह दोनो ही भिन्न भिन्न स्वरूप है। इसी तरह सभी गुण पृथक् पृथक् जानने। यथा पुद्गलमे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण भिन्न है। इस भिन्नताका द्योतक भिन्न इन्द्रियो द्वारा इनका ज्ञान होना है। भिन्न होने पर भी इनका अस्तित्व पृथक् नही हो सकता, इससे कथञ्चित् एक क्षेत्रावगाही होनेसे एक है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा अखण्ड एक द्रव्य है। वैसे ही पुद्गल भी अखण्ड एक द्रव्य है। जैसे अनत गुणो का पिण्ड आत्मा है, वैसे ही अनन्त गुणोका पिण्ड पुद्गल है। जैसे आत्मामे अनन्त शक्ति है, वैसे पुद्गलमे भी अनन्त शक्ति है। जैसे आत्मामे अनन्त पदार्थोके जाननेकी सामर्थ्य है वैसे पुद्गलमे भी अनन्तज्ञान को प्रगट न होने देनेकी शक्ति है। अन्तर केवल इतना ही है कि आत्मा चेतन है, पुद्गल अचेतन है। केवल द्रव्यका विचार किया जावे तो न तो बन्ध है और न मोक्ष ही है। और न ये शब्द, बन्ध, इत्यादि जो पर्याय पुद्गल द्रव्यमे देखे जाते है आत्मामे है। पुद्गल और जीवके सम्बन्धसे ही यह ससार देखा जाता है। इस विकृतावस्थाही का नाम ससार है। ससारमे जीवकी नाना प्रकारकी नाना अवस्थाएँ होती है। इन्हीसे जीवमे नाना प्रकारके दु खोका व अनेक प्रकार के वैषयिक सुखो का अनुभव होता है। परमार्थसे कभी भी इस जीवको एक क्षणमात्र भी सुख नही।

यद्यपि सर्व द्रव्य स्वयसिद्ध है किन्तु अनादिसे जीव और पुद्गलका अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है। इससे जीवकी जो स्वाभाविक अवस्था है उससे वह च्युत है। पुद्गल भी अपने स्वाभाविक परिणमनसे च्युत हो रहा है। यद्यपि जीव द्रव्यका एक अश न तो पुद्गल द्रव्यरूप हुआ है और

न पुद्गलका एक परमाणु भी जीवरूप हुआ है फिर भी दोनो अपने अपने स्वरूप च्युत हो रहे है। जैसे तोला भर सुवर्णको और तोला भर चाँदीको गलाने से एक पिण्ड हो गया। इस तोलाभर सोनामे एक खशखश भी न्यूनता न आई न एक खशखश वृद्धि हुई। यही अवस्था चाँदीकी हुई। फिर भी पिण्डको न शुद्ध सोना कहते है और न शुद्ध चाँदी ही कह सकते है। दोनो अपने अपने स्वरूपसे च्युत है। यही अवस्था जीव और पुद्गलकी है। यद्यपि बन्धावस्थामे जीव द्रव्यका एक अश न तो पुद्गल द्रव्यरूप हुआ है और न पुद्गलका एक अश जीवरूप हुआ है फिर भी दोनो अपने अपने स्वरूपसे च्युत हैं।

इस अवस्थामे जीवकी क्या क्या दुर्दशा हो रही है सो किसीसे गुप्त नही। यह सम्बन्ध अनादि का है। जैसे बीज वृक्षका सम्बन्ध अनादिसे चला आ रहा है। यदि कोई बीजको दग्ध कर देवे तब वृक्ष नही हो सकता और वृक्षके अभावमे बीजोत्पत्ति नही हो सकती। इस तरह जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे जो ससार सन्तति धारावाही रूपसे आ रही है इसका मूलकारण मोहादि परिणाम है। यदि आत्मा रागादिपरिणाम त्याग देवे तो अनायास ही नवीन बन्ध न हो। जो बद्धकर्म है वे उदयमे आकर स्वयमेव खिर जायेगे। अनायास ही आत्मा इस बन्धनसे मुक्त हो सकता है। यह सब है परन्तु न जाने यह जीव क्यो इस चक्रसे मुक्त नही होता। अनादि कालसे मोहके चक्रमे परिवर्तन कर रहा है। प्रतिदिन वही कथा करता है, परको निज माननेमे जो जो उपद्रव होते है वे किसीसे गुप्त नही। केवल जानता ही नहीं किन्तु तज्जन्य दुःखका वेदन भी करता है। इसके अधीन होकर क्या क्या नही करता सो किसीको अविदित नही।

एक सेठजी थे। उनका दूसरा विवाह हुआ था। सेठ क्रूर प्रकृतिके थे। एक दिन सेठ जी का शिर दर्द करने लगा। उन्होने दासी को आज्ञा दी कि सेठानीसे कहो चदन घिसकर लावे और मस्तक मे लगावे। दासीने आकर सेठानीसे कहा कि सेठजी के शिरमे वेदना हो रही है, शीघ्रतासे चन्दन रगड़ो और सेठके मस्तकको मालिश करो, अन्यथा लातोकी मार खानी पड़ेगी। सेठानीने उत्तर दिया—मुझे ज्वर आ गया है, सेठजी से कह दो। जैसेही सेठजी ने सुना, शिर वेदनाकी चिन्ता त्याग सेठानी के पास आकर पूछने लगे—क्या हुआ? सेठानीने उत्तर दिया—आपकी शिर वेदना सुनकर मुझे तो ज्वर आ गया। सेठजीने कहा—इसके दूर करनेका उपाय क्या है? सेठानीने कहा—उपाय है परन्तु यहाँ होना असम्भव है। सेठजीने पूछा—उपाय कौन-सा है?

सेठानी ने कहा—मेरे घर पिताजी चन्दनके तेलको मेरे तलवेमे मर्दन करते थे या मेरा भाई पैरको मलता था। आपसे क्या कहूँ? उपाय सुनकर सेठजी चन्दनका तेल लेकर सेठानीके पैरका मर्दन करने लगे। सेठानीने बहुत मना किया पर उन्होने एक न मानी और तलुओंको मलकर अपनेको कृतकृत्य माना।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्नेहके वशीभूत होकर जो जो कार्य न हो वे अल्प है। अन्य सामान्य मनुष्योकी कथा त्यागो, तीन खण्ड के अधिपति महाविवेकी, धर्मके परम अनुरागी लक्ष्मणने श्री रामचन्द्रजीके स्नेहमे आकर प्राणोका उत्सर्ग ही तो कर दिया। श्री रामचन्द्रजी महाराज, जो तद्भवमोक्षगामी थे, स्नेहके वशीभूत होकर छह मास पर्यन्त लक्ष्मणके शरीरको लिये फिरे और अन्तमे स्नेहको त्यागकर ही सुखके पात्र हुए। श्री सीताजीका जीव सोलहवे स्वर्गका प्रतीन्द्र था। जब श्री रामचन्द्रजीने गृहस्थावस्था को त्याग दिगम्बर पद धारण किया। उस समय सीताके जीव प्रतीन्द्रने यह विचार किया वे एक बार देवलोकमे आवे पश्चात् यहाँसे च्युत होकर हम दोनो मनुष्यजन्म धारण कर साथ साथ सयम धारण करे और कर्मबन्धन काट मोक्षके पात्र होवे। ऐसा विकल्प कर जो उपद्रव किया सो पद्मपुराणसे सभी को विदित है सबको विदित होने पर भी इस मोह पर विजयी होना अतिकठिन है।

आत्म-विश्लेषण—

अन्यकी कथा कहाँतक लिखे? हमारी अस्सी वर्षकी आयु हो गई और पचास वर्षसे निरन्तर इसी प्रयत्नमे तत्पर हैं कि मोहशत्रुको परास्त करे। जितने बार प्रयास किया बराबर अनुत्तीर्ण होते रहे। बालकपनमे तो माता पिताके स्नेहमे दिन जाते थे। मेरी दादी मुझपर बहुत

स्नेह करती थी। प्रातःकाल ताजी रोटी और ताजा घी खिलाती थी और मेरा पालन-पोषण करती थी। उस समय हम कुछ जानते ही न थे कि मोह दुखदायी पदार्थ है। प्रत्युत इसीको सुख मानते थे। ऐसेही प्रमोदमे निरन्तर अपनेको धन्य समझते थे। हमारे एक मित्र श्री हरीसिंह सौरया थे जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि थे। उनसे हमारा हार्दिक स्नेह था। इतना स्नेह कि एक दूसरेके बिना हम लोग एक मिनिट भी नही रह सकते थे। इसी तरह रात्रिदिन काल व्यतीत करते थे। परलोकका कोई विचार न था। जब कुछ पण्डितोका समागम हुआ तब कुछ व्यवहार धर्ममे प्रवृत्ति हुई। भगवानकी पूजा और पद्मपुराणका श्रवण कर अपनेको धन्य समझने लगे। इसी पूजा आदि कार्योमे धर्म मानने लगे और अपनेको धर्मात्मा समझने लगे। कुछ दिन बाद व्रत करने लगे, रात्रिभोजन त्याग दिया, कभी रसपरित्याग करने लगे।

इतनेमे पिताजीने विवाह कर दिया। थोडे ही दिनोमे माँने मेरी पत्नीको ऐसे रगमे रँग दिया कि वह हमसे कहने लगी कि अपनी परम्परामे अपने धर्मका परित्याग कर तुमने जो धर्म अङ्गीकार किया उसमे बुद्धिमत्ता नही की। हमने भी उससे बिना विचारे कह दिया कि यदि तुम्हारी आत्मा हमारे धर्मसे विमुख है तब हमारा तुम्हारा व्यवहार अच्छा नही। उसने भी आवेगमे आकर कहा मै भी तुमसे सम्बन्ध नही चाहती। अस्तु, हम और हमारी पत्नीमे ३६ का सा (परस्पर विरुद्ध) सम्बन्ध हो गया।

हम टीकमगढ प्रान्तमे चले गये और वही एक पाठशालामे अध्यापकी करने लगे। दैवयोगसे वहीपर श्री चिरौजीबाईजीके गाँव, सिमरा, गये। धर्ममूर्त्ति बाईजीने बहुत सान्त्वना दी तथा एक अपढ क्षुल्लकके चक्रसे रक्षा की। पढनेकी सम्मति दी किन्तु कहा शीघ्रता मत करो, मै सब प्रबन्ध कर भेज दूँगी। परन्तु मैने शीघ्रता की, फल अच्छा न हुआ। अन्तमे अच्छा ही हुआ। अच्छे अच्छे महापुरुषो और पण्डितोका समागम हुआ, तत्त्वज्ञानके व्याख्यान सुने, व्यवहारधर्ममे प्रवृत्ति हुई, तीर्थयात्रा आदि सब कार्य किये परन्तु शान्तिका आस्वाद न आया। मनमे यह आया कि सबसे उत्तम काम विद्याप्रचार करना है। जो जातिसे च्युत हो गये है उन्हें पंचायत द्वारा जातिमे मिलाना। जो दस्से है उन्हे मन्दिरोके दर्शन करनेमे जो प्रतिबन्ध है उसे हटाना, तथा बाईजी द्वारा जो मिले उसे परोपकारमे दे देना आदि। सब किया भी, परन्तु शान्तिका अश भी नही आया। इन्ही दिनोमे बाबा भागीरथजी का समागम हुआ। आपके निर्मल त्यागका आत्माके ऊपर बहुत ही प्रभाव पडा। मै भी देखा-देखी निरन्तर कुछ करने लगा, परन्तु कुछ सफलता नही मिली।

व्रत-ग्रहण—

अन्त मे यही उपाय सूझा जो सप्तम—प्रतिमाके व्रत अङ्गीकार किये। यद्यपि उपवासादिककी शक्ति न थी फिर भी यद्वा तद्वा निर्वाह किया। बाईजीने बहुत विरोध किया—'बेटा! तुम्हारी शक्ति नही, परन्तु हमने एक न मानी। फल जो होना था वही हुआ। लोग न जाने क्यो मानते रहे? काल पाकर बाईजीका स्वर्गवास हो गया। तब मै श्री मोतीलालजी वर्णी और कमलापति सेठजीके समागममे रहने लगा। रेलकी सवारी त्याग दी। मोटरकी सवारी पहले ही त्याग दी थी। अन्तमे वह विचार हुआ कि श्री गिरिराजकी यात्रा करना चाहिये। भाग्यसे बाबू गोविन्दरायजी गया वाले आ गये। बरुआसागरसे चार आदमियोके साथ चल दिये। दो मील चलनेके बाद थक गये, चित्त बहुत उदास हुआ इतनेमे एक नौकर था वह बोला—

'सागर दूर सिमरिया नियरी।'

इसका अर्थ यह है कि बरुआ सागरसे अभी आप दो मील आये है, वह तो दूर है, सिमिरिया यद्यपि ७०० मील है परन्तु उसके सन्मुख हो अत. वह समीप है। कहने का तात्पर्य यह कि गिरिराज समीप है। बरुआसागर दूर है। इस वाक्यको श्रवण किया और उस दिन १० मील मार्ग तय किया।

शान्ति कहाँ—

कुछ माह बाद शिखरजीकी वन्दना की, वहाँ पर कई वर्ष बिताए, परन्तु जिसे शान्ति कहते है, नही पाई। प्राय. विहारमे भ्रमण भी किया। श्री वीरप्रभुके निर्वाण क्षेत्रमे

श्री राजगृही चार माह रहे। स्वाध्याय किया। वन्दनाएँ की। शक्तिके अनुकूल परस्पर तत्त्वचर्चा भी की, परन्तु जिसको शाति कहते है, अणुमात्र भी उसका स्वाद न आया। वहाँसे चलकर वाराणसी आये। अच्छे अच्छे विद्वानो का समागम हुआ, परन्तु शान्तिका लेश भी न आया। वाराणसी त्यागने पर दशमीप्रतिमाका व्रत लिया, परन्तु परिणामो की जो दशा पहिले थी वही रही—शान्तिका आस्वाद न आया। कुछ दिनो वाद मनमे आया कि क्षुल्लक हो जाओ, नटकी तरह इन उत्तम स्वागोकी नकल की—अर्थात् क्षुल्लक बन गये। इस पदको धारण किये पाँच वर्ष हो गये परन्तु जिस शान्तिके हेतु यह उपाय था उसका लेश भी न आया। तब यही ध्यानमे आया अभी तुम उसके पात्र नही। किंतु इतना होनेपर भी व्रतोके त्यागनेका भाव नही होता। इसका कारण केवल लोकेपणा है। अर्थात् जो व्रतका त्याग कर देवेंगे तो लोकमे अपवाद होगा। अत कष्ट हो तो भले ही हो, परन्तु अनिच्छा होते हुये भी व्रत-को पालना। जब अन्तरङ्गमे कषाय हे, वाह्यमे आचरण भी व्रतके अनुकूल नही तब यह आचरण केवल दम्भ है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामीका कहना है कि यदि अन्तरङ्ग तप नही तव वाह्यवेप केवल दु खके लिये है। पर यहाँ तो वाह्य भी नही; अन्तरङ्ग भी नही। तब यह वेष केवल दुर्गतिका कारण है, तथा अनन्त ससारका निवारक जो सम्यग्दर्शन है उसका भी घातक है। अन्तरङ्गमे तो यह विचार आता है कि इस मिथ्यावेप को त्यागो। लौकिक प्रतिष्ठामे कोई तत्त्व नही। परन्तु यह सब कहने मात्रको है। अन्तरङ्गमे भय है कि लोग क्या कहेगे ? यह विचार नही कि अशुभकर्मका बन्ध होगा। उसका फल तो एकाकी तुम ही को भोगना पडेगा। यह भी कल्पना है। परमार्थसे परामर्श किया जावे तब आगे क्या होगा ? सो तो ज्ञानगम्य नही, किन्तु इस वेषसे वर्तमानमे भी कुछ शान्ति नही। जहाँ शान्ति नही वहाँ सुख काहेका ? केवल लोगोकी दृष्टिमे मान्यता वनी रहे इतना ही लाभ है।

तब क्या करे—

मेरा यह विश्वास है कि अधिकाश जनता भयसे ही सदाचारका पालन करती है। जहाँ लोगोकी परवा नही वहाँ पापाचरणसे भी भय नही देखा गया। जहाँ लोकभय गया वहाँ परलोककी कौन गणना। अतः जिन्हे आत्म-कल्याण करना हो वे मनुष्य तत्त्वाभ्यास करे और यह देखे कि हम कौन हे ? हमारा स्वरूप क्या है ? हमारा कर्त्तव्य क्या है? पुण्य-पापादिका क्या स्वरूप है? पुण्य पापादि परमार्थसेहै या केवल कल्पना है ? जो वर्तमानमे विषय सुख होता है क्या उसके अतिरिक्त कोई सुख है या कल्पना मात्र हे ? आज जगतमें अनेक मतो का प्रचार हो रहा है। उनमे तथ्याश है या कुछ नही ? इत्यादि विचारकर निर्णय कर अपनी प्रवृत्तिको निर्मल करनेकी चेष्टा करना उचित है। केवल गल्पवादमे ही काल पूर्ण न कर देना चाहिये। अनादिकी कथाको छोडो, वर्तमान पर्याय पर विचार करो।जबसे पैदा हुये पाच या छह वर्ष तो अबोध मे ही गये। कुछ पर्याय के अनुकूल ज्ञानका विकास बिना शिक्षाके ही हुआ। जैसा देखा वैसा स्वयमेव होगा। बहुभाग भाषाका ज्ञान बिना किसीके सिखाये आ गया। अनन्तर पाठशालामे जानेसे अङ्कविद्या और अक्षरका आभास गुरु द्वारा होने लगा। सात वर्षमे हिन्दी या उर्दूका इतना ज्ञान हो गया जो व्यवहारके योग्य हो गया। अनन्तर जिस धर्ममे अपने माता-पिता और कुटुम्बी जनकी प्रवृत्ति देखी उसी मतमे अपनी भी प्रवृत्ति करने लगा। यदि माता-पिता श्रीरामके उपासक है तव आपभी उसी धर्मको मानने लगता है। जैनधर्मानुयायी माता-पिता हुए तब जिनमदिर मे जाने लगा। मुसलमान हुए तव मसजिदमे जाने लगा। ईसाई हुए तब गिरजाघरमे जाने लगा इत्यादि। कहाँतक लिखे जो परम्परासे चला आया हैं उसीसे अपने उद्धारकी श्रद्धा प्रत्येक मत वाले को है। जो मुसलमान है वह खुदाका नाम लेनेसे ही मोक्ष मानता है। इत्यादि। कहाँतक लिखे अपनी श्रद्धाके अनुकूल कल्याणके मार्गको अपनानेकी सबकी प्रवृत्ति रहती है। यह सब होते हुये भी कई महा-नुभावोने इस विषयमे अच्छा प्रकाश डाला है। कोई पर-मेश्वर हो इसमे विवाद करनेकी आवश्यकता नही परन्तु आत्मकल्याण-मार्ग अपने ही पास है अन्यके पास नही। यदि नेत्रमे ज्योति नही, तव चश्मा चाहे हीराका हो चाहे काँचका हो, कोई लाभ नही हो सकता। इसी तरह यदि हमारी अन्तरङ्ग परिणति मलिन है तब चाहे गङ्गास्नान

करो चाहे प्रयाग स्नान करो चाहे मक्काशरीफ जाओ। चाहे मदिर जाओ। चाहे हिमालयकी शीतल पहाडियो पर भ्रमण करो। शाति नही मिल सकती। अत परमात्माके विषयमे विवाद करना छोडो। केवल परिणति निर्मल बनाओ। कल्याणके पात्र हो जाओगे और यदि परिणति निर्मल न बनाई तब परमात्माकी कितनी ही उपासना करो कुछ भी शातिके अस्वादके पात्र न होगे।

—वर्णी वाणी : ३/२६५-२६८

✲

ज्ञानी जीव जब रागादिकोको ही हेय समझता है, तब रागादिमे विषय हुए जो पदार्थ, उन्हे चाहे, यह सर्वथा असम्भव है। जब यह वस्तुमर्यादा है तब परसे उपदेशकी वाछा करना सर्वथा अनुचित है। परमे परबुद्धि कर उसके द्वारा कल्याण होनेकी भावनाको छोड़ो। इस विश्वासके छोड़े बिना श्रेयोमार्गका पथिक होना कठिन है। जैसे ससारके उत्पन्न करनेमे हम समर्थ है वैसे ही मोक्षके उत्पन्न करनेमे भी स्वय समर्थ है। जैसे—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनः स्वस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ।।

आत्मा ही आत्माको ससार और निर्वाणमें ले जाता है। अतः परमार्थसे आत्माका गुरु आत्मा ही है। परन्तु ऐसा कथन सुनकर कई भाई ऐसी अन्यथा कल्पना करते है, जो भक्तिमार्गके विरोधी उपदेश है। उनसे हमारी मध्यस्थता है। जबतक कायरताकी लहर है, कल्याण दूर है।

—अध्यात्म-पत्रावली—३०

१२

वर्णी-प्रवचन

(समयसार)

मोह : सारे दुःखों की जड़—

मोह, राग द्वेष इस प्रकार भाव तीन प्रकारके होते हैं। आत्मा तो शुद्ध है, एक प्रकारका है। देवदत्तका सिर्फ एक ही लडका था तो वही लडका बडा हुआ और वही छोटा हुआ। चैतन्यमात्र आत्मा एक प्रकार का है। इसमे कर्मरूपी अजन लगा हुआ है। आत्मा वडा सरल एव सीधा है। इसमे जैसी जग लगी वैसे ही परिणाम हो जाते है। यह आत्मा कभी रागी कभी द्वेषी और कभी मोही हो जाता है तथा अज्ञानी हो करके ससार के चक्कर मे फँसा हुआ है।

भइया! जव हम पढते थे तो ठाकुरदास जी को हम बहुत श्रद्धा की दृष्टिसे देखते थे। उनके सामने अधिक बातचीत नही किया करते थे। एक दिन हमारे साथी हजारी ने हमसे कहा कि भाग पियो। हमने पूछा कि भागमे क्या रखा है। कहने लगा कि भाग पीनेसे साक्षात् महादेवके दर्शन होते है। तो मैने पूछा कि क्या हमारे भगवान आदिनाथ भी हमे दिख सकते है? उसने कहा—हाँ। तो हमने थोडी सी भाग पी ली। सोचा पहिली बार थोडी सी पीकर भगवान आदिनाथके थोडेसे ही दर्शन करने को मिल जावेंगे। भइया! उसका नशा चढ आया और पडितजीके पास पढने को गये। तो पुस्तकके अक्षर बहुत बडे बडे दिखाई देने लगे। तो मैने पडितजीसे कहा कि आज पढने को जी नही चाहता। मेरी इच्छा है कि मैं आज सोऊँ। पडितजीने कुछ कहा नही तो मैने कहा कि सुनते नही जी! मैने कहा कि आज सोनेको जी चाहता है। पडितजी समझ गये कि किसीने इसे भाग पिला दी है। उन्होने मुझे लिटा दिया और अपनी धर्म-पत्नीसे कहा कि इसे दही और खटाई खिला दो ताकि इसका नशा उतर जावे। मैने कहा कि रात को मैं नही खाता, मेरा नियम है। तो पडितजीने कहा कि जब भाग खाई थी तब नियम कहाँ चला गया था! मैने उत्तर दिया कि एक नियम टूट गया दूसरा क्यो तोडूँ? तो भइया! सस्कार भी बडे प्रबल होते है। हमे अपने जैनधर्म के सस्कार नही मिटाना चाहिये। यदि संस्कार रहे आवे तो हमारा कल्याण हो जावे।

आत्मा तो मिथ्यादर्शन आदि भावोसे दूसरे मार्ग पर आ जाता है। आत्मामे जैसा दाग लग जावेगा वैसा ही वह हो जावेगा। देखिये मत्र को साधने वाला व्यक्ति दूसरे मत्रके द्वारा ही अपनी शक्तिको प्रदर्शित कर देता है। बिच्छू, बर्र आदिके जहर शान्त हो जाते है। पानी पीनेसे तृषा शात हो जाती है। व्याख्यानदाता हजारो आदमियो को अपनी वाणी द्वारा मोहित कर लेता है। पदार्थोमे अचित्य शक्ति है। मिथ्यादर्शन आत्मा की शक्तिको विकृतिमे परिणत कर देता है। पुद्गल द्रव्यकी शक्ति आत्माकी शक्तिको चोपट कर रही है। पदार्थकी शक्ति विलक्षण है। साम्यभावमे वह शक्ति है कि वह ससारको काट देवे। हमे ससार-सागरसे पार लगा देवे। मोहमे शक्ति अधिक है। चारित्रमोहसे मुनि भी अन्यकी प्रशस्तियोको मिटाकर अपनी प्रशस्ति लिखने लगता है।

हम पढते है कि जिस समय लव कुशके समक्ष नारद मुनि आये और उन्होने लव और कुशको राम लक्ष्मण सरीखे होनेका आशीर्वाद दिया तथा उनकी सारी कथा सुनायी तब दोनोने ही उनसे अपनी माताका बदला लेनेके लिये युद्धकी ठान ली। तो मोह ही सब कराता है। माताके मोहने लव-कुशको युद्धके लिये बाध्य कर दिया। मोहकी शल्यने यह उपद्रव करा दिया। मोहकी महिमा विचित्र है।

भइया ! जिस समय राम व रावणका युद्ध हुआ तो रावण का चक्र लक्ष्मणके हाथमे आ गया तो रामने कहा—मुझे तुम्हारा चक्र नही चाहिये तुम तो मेरी सीता लौटा दो पर अभिमानी रावणने कुछ ध्यान नही दिया । और जिस समय सीताको रावण उठा ले गया तो रामने मोहमे पागल हो करके वृक्षोसे सीताका पता पूँछा । बताइये तो इतने बडे महापुरुष और मोहने उनकी कैसी विचित्र दशा की ? और फिर जब रामचन्द्रजीने मुनि अवस्थाको धारण किया तो सीताके जीवने नाना प्रकारके रूप धारण करके कई प्रकारके उपद्रव किये । परन्तु जब राम मोहविजयी हो गये थे तो उन्हे कौन डिगा सकता था । तो ससारमे जितने दुख है वे सब मोहसे ही होते है इसलिये इसे ही जीतने का प्रयत्न हमे करना चाहिये ।

(सागर ३०-३-५२)

आत्मा-समयसार—

जीवकी पर्याय जीवमे हुआ करती है और पुद्गलकी पर्याय पुद्गलमे हुआ करती है । जीवका आश्रय पाकर पुद्गल द्रव्यमे व्याप्य-व्यापक भावसे परिणमन होता रहता है । पुद्गल और जीव दोनो ही परिणमनशील है । यदि हम एकको भी परिणमनशील न माने तो ससारका अभाव हो जावे ।

जीव पुद्गलको कर्मरूपसे परिणमा देता है । यदि पुद्गलमे कर्मरूप होनेकी ताकत नही होती तो उसे कौन कर्मरूप परिणमा सकता था । निमित्त पाकर जीव और पुद्गल दोनोमे परिणमन होता रहता है । यह परिणमन जुदा जुदा रहता है । जीवमे रागादिक होनेका कारण पुद्गल विपाक है । शका है कि रागादिक दोनोके होता है, एक जीवका होता हे और पुद्गलका अलग होता है । परन्तु इसका समाधान यह है कि जैसे दर्जी ने अछार बनाया तो अछारकी क्रिया अछारमे ही हुई, दर्जीके हाथ की क्रिया हाथमे हुई । वह अछारमे नही गई । इस प्रकार रागादिक दोनोमे नही होते वरन सिर्फ जीवमे ही राग-द्वेष हुआ करते है । परन्तु ये औपाधिक हैं यह बात जब जीव जान लेता है, छोड देता है । रागादिकका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते है । व्यवहारसे देखो तो जीव और कर्ममे बन्ध पर्याय हो रही है, विभिन्नता नही हो सकती । परन्तु यदि निश्चयनयकी दृष्टिसे देखो तो जीव और पुद्गल पृथक् पृथक् है ।

द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे विचार करो तो जीव अबद्ध है । और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा देखो तो जीव बद्ध है । जो ऐसा जान लेता है वही मोक्षगामी होता है । भगवान्ने दो नय कहे है । व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा रागी-द्वेषी है, मोही है और निश्चयनयकी दृष्टिसे देखो तो आत्मा अखड है, अचल है, अभेद्य है, स्वसवेद्य है । विश्वको जानने वाला केवलज्ञानी है । वह तीनो लोकोके पदार्थोको ज्ञानमे देख रहा है पर हम मतिज्ञान श्रुतज्ञान से थोडा बहुत इन्द्रियजन्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, पर उसमे मोह न लाना ही बुद्धिमानी है । ज्ञान तो सतत होता ही रहेगा वह हटने वाली वस्तु नही है । समयसार मे अखिल नयोका पक्ष मिट जाता है । नय कुछ नही विगाड सकता ।

विकल्प शात होनेका नाम ही समयसार है । इसकी प्राप्ति प्रथम तो श्रुतज्ञानसे व शास्त्रसे आत्माका ज्ञान करनेसे होती है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है । इन्द्रिय या अनिन्द्रियसे मतिज्ञानके द्वारा पदार्थोका निश्चय करना पडता है । वह बुद्धि हम पर पदार्थो की ओर लगाये हुए है । वहाँ से दृष्टि हटावे और आत्माकी ओर लगावे तो हमारा कल्याण हो जावे ।

भइया ! एक लड़का था । वह सातवी कक्षामे पढता था । उसकी परीक्षा लेनेके लिये इन्स्पेक्टर आया । वह लडका बहुत चतुर था परन्तु उसने इन्स्पेक्टरके प्रश्नोके उत्तरमे कहा कि मैने पढा ही नही है, मै क्या उत्तर दूँ । अध्यापक को रोष आगया और उसे एक थप्पड़ मार दिया तथा इन्स्पेक्टर भी क्रोधित हुआ । अन्तमे लडकेने कहा कि हम तो कुछ पढे नही हैं छोटेमे इतना जरूर पढे थे कि क्रोध नही करना चाहिये, पर आप सब यह भी नही पढे ।

यदि हमने शास्त्रोका अध्ययन किया और क्रोध नही छोडा तो शास्त्र पढनेमे हमने निरर्थक समय बरबाद किया । अपनी आत्मासे जो बात करोगे वह सच होगी ।

झूठ बातके लिये आत्मा कभी गवाही दे ही नही सकता। दुनियामे जो बुद्धि लगा रहे हो वहाँ से हटाकर उसे अपनी ओर लगा दो। यदि हम श्रुतज्ञानको अपनी आत्मा की ओर लगावे तो कोई विकल्प पैदा हो ही नही सकता, क्योकि आत्मा तो एक है। जहाँ दो होते है वहाँ ही विकल्प हो सकता है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न करो फिर दूसरोका कल्याण करो। यदि दूसरोकी भलाई पहले करना चाहोगे तो न उनकाही कल्याण होगा और न तुम्हारा ही। केवलज्ञानी विश्वको बाहर मानता है और हम उसे अपने भीतर मानते है। केवलज्ञानीसे हममे यही अतर है। यदि हम यह अतर दूर करदे और आत्मामे जो एक है, अखड है विचरण करने लगे तो हमारा ससार शीघ्र कट जावे।

आत्माका ध्यान करो उसीमे सार है। केवलज्ञान तो पढनेसे आता है नही, वह तो मोहनीयके अभावसे आता है। हमने ससारके पदार्थोको अपनेमे चिपका लिया है। उनको छोडो तो कल्याण हो जावे। भइया! हमारा काम तो कहनेका है, करो न करो तुम्हारी मर्जी।

(सागर ३१-३-५२)

पुण्य और पाप—

अब यहाँ पुण्य पापके अधिकारका वर्णन है। सच्ची बात पूछो तो भइया! पाप पुण्य दोनो ही त्याग हे। आत्मा तो अखडपिंड है। कुदकुदस्वामी कहते है कि पुण्य और पाप दोनो ही बुरे त्याग हैं। न शुभ अच्छा है और न अशुभ बुरा है। ये तो दोनो ही बेडिया है। चाहे सोनेकी हो या लोहे की। परतत्रता तो दोनोमे है। स्वाधीनता किसीमे भी नही।

तब क्या करना चाहिये सो बताते है कि कुशीलका खोटा स्वभाव है उससे न तो राग करना चाहिये और न द्वेप ही करना चाहिये। यदि हमने उसमे राग वा द्वेष किया तो हमारी स्वाधीनता नष्ट हो जावेगी। लौकिक दृष्टात यह है कि यदि कोई स्त्री खोटी है तो उससे न तो राग ही करना चाहिये और न द्वेष ही करना चाहिये। कर्मप्रकृति जब तक है तब तक तो अपने उदय से चारो गतियोमे भ्रमण करावेगा ही। कर्म तो उपद्रव ही करते है। उनमे न तो हमे राग करना चाहिये और न द्वेष करना चाहिये। जहाँ हमने ऐसा किया वहीसे निर्जरा और सवर जो मोक्षके कारण है शुरू हो जाते है।

भइया, मोह है बुरी चीज। रामचन्द्रजी ६ माह तक अपने भाईको गोदमे लेकर मोहमे यहाँ वहाँ पागलसे होकर फिरते रहे और जब उनका मोह गल गया तो सीताजीके जीवने कितने उपद्रव किये, पर फिर क्या था? अन्तमे केवलज्ञान हुआ और मोक्ष गये।

यहाँ इतने आदमी वृद्ध है फिर भी वे ससार की चिन्ता करते है मोह करते है। यह लडका मेरा है यह पोता मेरा है—इसीमे अपना अमूल्य समय बरबाद करते रहते हैं। वे ही बतावे, इतने दिन तो रहे घरके जजाल-मे। मिला क्या उनको सुख सो बतावें। आकुलतामे सुख तो मिल ही नही सकता। जरा वे इस ओर दृष्टि करे, थोडा यह भी करके देख लेवे। इसमे सुख मिलता कि नही। यदि न करे तो बताइये हम क्या करे? हमारा काम तो कहनेका है सो कह दिया। मानो या न मानो आपकी मर्जी। लेकिन इतनी बात जरूर हे कि मनुष्य जन्म की सार्थकता धर्म को धारण करनेमे है।

(सागर १।४।५२)

संवर—

यहाँ सवरका वर्णन किया गया है। सवर याने कर्मो-के आने का रुक जाना है। कर्मोका न आना ही सवर है।

"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्"

इसमे यह भावना की जाती है कि ससारमे किसीको दुख ही न हो। इसी प्रकार कर्मोका आना होवे ही नही। मोक्षका मार्ग सवर ही है। निर्जरा तो हमेशा होती ही रहती है। पर सवर होना कठिन है। यदि सवरपूर्वक निर्जरा हो तो समझना चाहिये कि ससारका अत निकट ही है। सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति का जब उदय होता है तब ही सवर होता है। आत्माका ज्ञान पर द्रव्यसे भिन्न है ऐसा विश्वास कर सम्यग्ज्ञान करनेकी आवश्यकता है। इससे हमे सच्ची शाति और सच्चा सुख मिलेगा।

बनारसमे पुराने समयकी बात है। एक बडा भारी

मल्ल आया, उसने बनारसके सारे मल्लोको हरा दिया तो राजाको बडी निराशा हुई और वह लिखने लगा कि अमुक व्यक्तिने बनारसके सारे मल्लोको पराजित कर दिया। वहाँ एक ६ वर्षीय बालक बैठा था। उसने कहा—'महाराज एक विनन्ती है कहो तो अर्जी करूँ। राजाने कहने के लिये कहा। उसने जवाब दिया कि 'आप ऐसा मत लिखिये कि उसने सारे मल्लोको पराजित कर दिया। उसको यह लिख देना चाहिये कि उसने अमुक अमुक मल्लको पराजित कर दिया'। राजाने कहा—'ऐसा कौन है जो उसे हरा सके ?'

उत्तरमे उसने कहा—'महाराजजी। क्या इन्ही मल्लोने सारे मल्लोका ठेका ले लिया है ? मै चाहूँ तो उसे हरा दूं। पहले तो राजाने उसे नादान समझा लेकिन जब उसकी हठ देखी तो राजाने स्वीकृति दे दी। ७ दिन-के बाद कुश्ती हुई। १ घटे तक वह लडका यहाँ वहाँ कूदता रहा सो उतने समयमे उस मल्लको उसने खूब थका दिया। अन्तमे मल्लने उस लडकेको पकड लिया और कहा कि बताओ 'कहाँ पटकूँ ?' वह इस विचारमे ही था कि लडके ने उसे पटक दिया और उसपर विजय प्राप्त की। कहनेका तात्पर्य यह है कि सवर करनेका ठेका थोडे ही किसीने लिखा लिया है। जिस चाहेको हो जावे। चाहे वह गरीब हो, चाहे धनवान् हो। चाहे कमजोर हो, चाहे बलवान् हो। चाहे किसी भी गतिका हो। जैनियो ने थोडे ही जैनधर्मका ठेका ले लिया है ? वह तो जीव-मात्रका धर्म है।

सम्यग्दर्शन सज्ञी पंचेन्द्रिय जीवके हो सकता है। मिथ्यात्व संसारका कारण है। जब सम्यग्दर्शन हो गया ससार रुक गया, चलो छुट्टी पायी।

क्रोधादि जो चार कषाये है उन्हे हम अपना मानते है। लोभमे राग करते है, द्वेष करते हैं। कुदकुदस्वामीने आत्माका लक्षण उपयोग बतलाया है। चैतन्य आत्माका लक्षण है और वह हर अवस्थामे मौजूद रहता है। आत्माका लक्षण क्रोध नही हो सकता, क्योकि यदि क्रोध आत्माका लक्षण होता तो उसे हर अवस्था मे मौजूद रहना चाहिये था, पर वह रहता नही है। इससे मालूम पडता है कि क्रोध आत्माका लक्षण नही है। क्रोध पृथक् है, उपयोग पृथक् है। क्रोधमे क्रोध ही होता है उपयोग नही होता और जो उपयोग होता है उसमे क्रोध नही होता। दोनो एक दूसरेके प्रतिकूल है परन्तु उपयोग आत्माकी वस्तु है और क्रोध कर्मका औदयिक भाव है; जबतक कर्मोदय है उसकी सत्ता है। जब उसका उपशम, क्षयो-पशम या क्षय हो जावे तब क्रोध दूर हो जाता है। लेकिन उपयोग न तो कर्मके उदयसे होता है और न क्षय क्षयो-पशमसे। वह तो आत्माका अभिन्न लक्षण है।

जब कर्म और कषाय तुम्हारे नही है तो फिर उन्हे अपना मानकर क्यो उपद्रव कर रहे हो ? यदि हमारी वस्तु हो तो मानना चाहिये अन्यथा काहेको पागल बने हुए हो। देखिये दर्पणके सामने कोई वस्तु आती है तो वह उसमे ज्योकी त्यो प्रतिबिम्बित हो जाती है। यदि उस प्रतिबिम्बको दर्पणका प्रतिबिम्ब माने तो वस्तुके हटाये जाने पर उस प्रतिबिम्बको उस दर्पणमे रहना चाहिये, पर वह उसमे नही रहती इसलिये मालूम पडता है कि वह प्रतिबिम्ब दर्पणका नही है। इसी प्रकार क्रोधादि जो कषाय है वे भी कर्मके उदयसे होते है वे आत्माका लक्षण नही है। एक चीज दूसरे की नही हो सकती है। एककी सत्ता दूसरेकी सत्तामे नही हो सकती। ज्ञानमे क्रोधपना नही है। क्रोधमे ज्ञानपना नही है। इस वास्ते वे भिन्न है। भेदज्ञान हो जानेसे जब शुद्धात्माका अनुभव जीव करने लगता है तब रागद्वेषका सवर हो जाता है। हम पर पदार्थोको अपनी चीज समझकर ससारमे रुल रहे है। आत्मामे अनत गुण है वे भी पृथक् पृथक् माने जाते है तब फिर दूसरी चीजे हमारी कैसे हो सकती है। सम्यग्दृष्टिको कैसी ही विपत्ति आ जावे तो भी वे आकुलताको प्राप्त नही करते। जब भेदज्ञान हो गया और मनमे यह निश्चय हो गया कि मै ज्ञानदर्शन का पिंड हूँ। स्वर्णको कितनी ही तेज अग्निमे जला दो परन्तु वह अग्निमे भी सोना रहेगा उसी प्रकार प्रचड विपाक कर्मका उदय होने पर वह ज्ञानमे विकृति नही ला सकता। हजार कारण-कलाप जुट जावे परन्तु स्वभाव कभी नही मिट सकता। यदि वस्तुका स्वभाव मिट जावे तो वस्तु

ही मिट जावे। हजार विरुद्ध कारण जुटें तो भी हमे घबडाना नही चाहिये। समझना चाहिये कर्मका विपाक आया सो ऐसा देखना पडा और सहना पडा। देखिये जब मोहनीय कर्मका उदय उतने बडे महापुरुषको आया जो इसी भवसे मोक्ष जाने वाला था, अपने भाईके प्रेममे पागल हो गया और ६ माह तक उसकी मृतकाया को लिये यहाँ वहाँ भटकता रहा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे हम पढते थे और बाई-जी वही थी। एक दिन एक बगाली विद्वान् आया। उसने कहा कि बाईजी क्या कर रही हो? बाईजीने कहा—कि 'भइया! रोटी बना रही हूँ। मेरा बच्चा पढनेको गया है उसे खिलाऊँगी और मै खाऊँगी।' वह इतना सुनकर चला गया। पासकी कोठरीमे वह अकेला ही ठहरा था, फिर भी वह कहने लगा कि 'तूँ भी रोटी बना अपने बच्चो को खिला–देख ये भूखे हैं। बना जल्दी रोटी बना।' बाईजीने सोचा कि इसके साथ तो कोई औरत है नही यह किससे रोटी बनानेके लिये कह रहा है। उन्होने पूँछा कि 'क्यो जी? किससे रोटी बनानेको कह रहे हो?' उत्तरमे उसने कहा कि 'मैं अपनी स्त्रीकी फोटोसे कह रहा हूँ।' बाईजी ने कहा कि 'मूर्ख तू इतना भी नही जानता कि कभी अजीव भी रोटी बनाता है।' 'सो तो मै भी जानता हूं'—उसने। कहा तो कहनेका तात्पर्य यह है कि हम समझते है कि ऐसा करना बुरा है तो भी हम उसे धकाये चले जाते है। यह कल्याणकारी बात नही।

सम्यग्दृष्टि यह समझते है कि जितने ये पुत्र पौत्र आदिक हे वे सब अन्य है। आत्मज्ञान नही होनेसें हम सब पागल होरहे है। प्रचण्ड कर्मका उदय हो तो हमे भुगतना पडेगा। सम्यग्दृष्टि जीव प्रचण्ड कर्मके उदय होने पर न द्वेष करता है और न राग करता है।

शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेका कारण भेदज्ञान है। पन्नालालजी बहुत लोभी वा द्रोही आदमी थे पर ज्ञानवान थे सो उन्होने अन्त मे मुनि अवस्था प्राप्त करली थी। ज्ञान कभी न कभी काममे आ ही जाता है।

काम तो सब करना ही पडता है पर अभिप्राय वही रहता है। निर्मल भाव वालेके ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भाव होता है, रागद्वेपकी सत्ताका निरोध होजाता है और शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो जाती है।

योग दो प्रकार के होते है (१) शुभयोग (२) अशुभयोग। यदि दोनो ही मिट जावे तो मोक्ष हो जावे। योग जबतक है तबतक शुभ और अशुभ योगके मूल कारण रागद्वेष है। उसमे वर्तमान जो आत्मा है उसको दृढ़तर भेद-विज्ञान है अत: उससे आत्माको आत्माके द्वारा आत्मासे रोके।

भइया! घोडेकी लगामको पकडकर दूसरी दिशा बदलनेके लिये पहले लगाम खीचनी पडती है। उसे फिर दूसरी ओर मोडना पडता है। इसीप्रकार पर पदार्थोकी तरफसे मनको रोककर फिर शुद्धज्ञान दर्शनकी ओर मुडना चाहिये। जो मनुष्य समस्त कषायोसे विमुक्त होकर आत्मामे तल्लीन होते है उनके कर्मका बन्धन नही होता है।

कषाय रुक जावे तो योग अपने आप रुक जावे। कषाय नष्ट हो जाती है परन्तु योग वर्तमान रहता है तो भी उसमे कर्माभावकी शक्ति नही रहती। योग तो मिथ्यादृष्टिके रहता है और सम्यग्दृष्टिके भी रहता है। परन्तु कषायसहित योग होनेसे मिथ्यादृष्टि कषायरहित होकर केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेते है। पर उसके रहनेसे जगके कल्याणार्थ उपदेश देते फिरते है।

आदिनाथ भगवानके दो स्त्रियाँ थी और १०० लडके थे। परन्तु जब तपस्याके हेतु घरसे बाहर निकल पडे और केवलज्ञान होगया तो इसके उपरान्त दुनिया भरका परिग्रह रचा गया। समवसरणकी रचना की गई पर मोह न होनेसे उतनी वस्तुएँ कुछ न बिगाड सकी।

कर्मके अभावसे युक्त यह आत्मा एक आत्मामे ही विचरण करता है। आत्मा पर पदार्थसे भिन्न है। चैतन्य चमत्कार युक्त आत्मा सब पर पदार्थोंको त्याग देता है तो वह शीघ्र ही कर्म नष्ट करके मोक्ष प्राप्त करता है।

यदि मिथ्यात्व होगा तो कर्म होगा और इसके विपरीत यदि सम्यग्दर्शन होगा तो न कर्म होगा न राग होगा और न ससार ही होगा। भेदविज्ञान की तब तक साधना

करो जबतक कि ज्ञान ज्ञानरूप न हो जावे। जो सिद्ध हुए है वे भेदविज्ञानके द्वारा ही और जो असिद्ध है वे भेदविज्ञानके अभावके कारण। शुद्ध आत्माकी उप-लब्धि करके सवर होता है तथा भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। भेदविज्ञानसे राग-समुद्र शान्त हो जाता है यदि हे भव्य-जीवो ! तुम अपना कल्याण करना चाहते हो तो भेदविज्ञानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो।

भाइयो ! कल्याणका जो मार्ग आचार्यो ने बताया है, उस मार्गका आप अवलम्बन करते नही हो। विभूतिकी विडम्बनाको प्राप्त कर रहे हो। आप स्वय तो समझते नही दूसरेको समझाते फिरते हो।

अगर आध्यात्मिक विद्या न पढी जावे तो आत्माकी सच्ची शान्ति व सुख प्राप्त नही हो सकता। विद्याके चमत्कार देख लो। साइन्सने ऐसे चमत्कार कर दिये जिन्हे हम मानते है, समझते हैं, पर क्या जनता सुखके मार्ग पर है ? मुझे तो मालूम है कि जैसे परिग्रहकी वृद्धि होती है वैसे ही आकुलता बढ जाती है। और जहाँ आकुलता रहती है वहाँ सुख हो ही नही सकता। आत्माका कल्याण आध्यात्मिक विद्यासे ही हो सकता है। यदि हम आज अपनेको देखने लगे तो हमे ससार दिखने लगे। अपना हित करो ससारका हित हो जावेगा। पर हम ऐसा करते नही है। हमारी तो ऐसी प्रकृति होगयी है कि हमे बिना दूसरेकी आलोचना किये चैन नही पडता। समस्त प्राणियोमे समताभाव धारण करो। समताभाव सम्पूर्ण आचरणोमे उत्कृष्ट आचरण है।

राज्य तो वह कहलाता है जिसमे धर्म अर्थ काम ये तीनो पुरुषार्थ अविरोध रूपसे चल रहे हो। धर्म उसे कहते है जिससे स्वर्ग व मोक्षकी प्राप्ति हो। इसके विरुद्ध जो फल देवे वह अधर्म कहलाता है। अरे हाय रे हाय ! जैनोकी बडी दुर्दशा है। क्या करें सब जाति वाले बडी बुरी निगाहसे देखते है—ऐसा हम कहते है परन्तु हम तो दावेके साथ कहते है कि यदि आज अपने धर्मकी आज्ञाका पालन करो। बुरी दृष्टिसे देखना तो दूर रहा सारा ससार तुम्हारे पैरो पर गिरेगा, तुम्हारी पूजा करेगा।

भाई ! उसीका प्रभाव पडता है जो नियम कर लेता है। हमारा मोह तो क्षीण नही हुआ। हमारा आप पर कैसे प्रभाव पडे ? और आप कैसे मोह छोडे। यदि हम किसी भी नियम पर अमल करने लगें तो हम दूसरेको अमल करनेके लिये कह सकते है अन्यथा नही। इसके बाद १२ भावनाओका वर्णन इसमे है। कहते है कि हे भव्य ! भावशुद्धिके लिये भावनाओका चिन्तन करो। हम और आप रातदिन मोह कर रहे है। हम अपने बच्चोको पढाते हैं—

राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एकदिन अपनी अपनी बार ॥

६-६ वर्षके बच्चोको तो पढाते हैं पर जो हमको पढना चाहिये सो हम पढते नही। हम ख्याल नही करते और अपनेसे बच्चोको चिपटाये रहते है। द्वादशानुप्रेक्षा मुक्ति मन्दिरकी सीढी है।

सबसे पहले अनित्य भावनाका वर्णन किया गया है। हम इन्द्रियोके सुखोमे लीन है। विचार किया जावे तो ससारमे जितने सम्बन्ध है वे सब विपत्तियाँ ही है और सबकी सब नीरस है उनमे कोई रस नही।

एक समय एक साधु के पास एक बच्चा पढता था वह बहुत ही भक्ति किया करता था और रोज आया करता था। कुछ कालके उपरान्त उसकी सगाई हुई और वह २-४ रोज पढने न जा पाया तथा जिस दिन वह वहाँ गया तो साधुने पूँछा क्यो भाई कहाँ गये थे' ? उत्तर दिया—'महाराज आपकी सगाई थी।' साधुने कहा—'बेटा, हमारे से गया।,

थोड़े दिनो बाद उसकी शादी हुई। सो १०-१५ दिन फिर साधुके यहा नही गया। जिस दिन वह साधुके पास पहुँचा सो साधुने पुनः पूँछा !—'क्यो बच्चे कहाँ गये थे।'

उसने कहा—'महाराज आपकी शादी थी।'

महाराजने कहा—अपने माता-पितासे गया।

कुछ दिनो बाद उसके बच्चा हुआ तो साधु ने कहा—'अब तू अपनेसे ही गया।'

फिर अपने शरीरको छोड़कर अपने बच्चोकी चिन्ता

होने लगती है। अपना कल्याण करो! कहाँ के लड़के कहाँ के बच्चे ?

शरीर रोगोका मदिर है। जरा यौवनका घर है। जीवनका मरण होता ही है। जिसने जन्म लिया है वह अवश्य ही मौतको प्राप्त होगा। जो पदार्थ पुण्योदयसे आते है वे पाप होने से विलयमान हो जाते है। एक घटेमे २५०००) का लाभ हो जावे या घाटा पड जावे । तत्त्वदृष्टिसे विचार करो ये न पहले तुम्हारे थे और न अब भी तुम्हारे है। यदि ऐसा निश्चय हो जावे तो न दुख हो और न सुख।

जिस समय रावण मरने लगा तो रामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—कि 'रावण सबसे बडा नीतिज्ञ है जावो कुछ शिक्षा ले आवो।' लक्ष्मण गये और रावणके सिर-हाने बैठकर पूछने लगे परन्तु रावणने कुछ भी उत्तर नही दिया।

लक्ष्मण लौट आये। रामचन्द्रजीने फिरसे कहा कि जाकर उसके पैरोके पास बैठकर पूँछना। लक्ष्मण गया और उसने पूछा तो रावणने उत्तरमे कहा—

'करले सो काम, भजले सो राम।'

स्पष्ट करते हुए उसने कहा कि मरनेके पूर्व मैने विचार किया था कि मै नरकसे लेकर स्वर्गतक सीढी बना दूँगा तथा समुद्रके पानीको मीठा कर दूँगा। पर जो काम हो जावे सो ही काम है।

(सागर २।४।५२)

अथिर पर्याय—

ससार स्थिर नही है। न भाग्य किसीका साथी होता है। जिसको सुबह राज्याभिषेक होना था, क्या मालूम था कि उसे सुबह जगलको जाना पडेगा।

एककी लडकी की शादी हुई। सो भाँवर के समय लडकी सो गई। उसकी माताने आकर उसे जगाया। जागकर उसने अपनी मातासे कहा कि मैंने स्वप्नमे देखा है कि मै विधवा हो गई हूँ। माताने उत्तर दिया कि इस अवसर पर ऐसे अशुभ विचार नही करना चाहिये। भाँवरको जब लड़का आया तब उस समय उसका सिरदर्द करने लगा, परन्तु समय चूक रहा था इसलिये लोगोने उसकी भाँवर पडवा दी। सुबह उसका देहान्त हो गया। क्या होना था, क्या हो गया। जिस प्रकार समुद्रमे लहरे उठती हैं उसी प्रकार कर्मके उदयसे हमारी पर्याये बदलती रहती है। इन पर्यायोको हमे अपना नही समझना चाहिये।

आयुको कोई रोकने वाला नही, जब किसीकी मौत आ जाती है फिर उसे बचानेमे कोई समर्थ नही। परन्तु हम इतना तो कर सकते है कि आयु ही न मिले। यौवन और धन स्वप्नके सदृश है। जब नीद खुले तब ही सारा मजा किरकिरा हो जाता है। इसी प्रकार जबतक शुभ कर्मका उदय है तबतक यह सुख है। नही तो एक क्षणमे विलय जाता है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ स्थिर है। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ अस्थिर हैं। इसलिये पर्यायमे जो चीज प्राप्त हुई है उसका अभिमान करना व्यर्थ है।

ज्ञान समान न आन—

यदि मोक्षकी इच्छा है तो ज्ञान गुण प्राप्त करो। यदि जीव ज्ञानसे रहित है और वह बहुत-सी क्रियाएँ भी करे तो भी उसे मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। मोक्षमे जीव विषयसे विरक्त हो जाता है। यदि पाँचो इन्द्रियोके विषयोमे आनन्दका अनुभव हो तो समझना चाहिये कि ससार है और यदि आनन्द नही आवे तो मोक्ष है। बस इतना ही विज्ञान है। यदि मोक्ष-प्राप्तिकी आकाक्षा है तो विज्ञान प्राप्त करो। ऐसा कौन मूढ है जो यह नही समझता कि ये पाँचो इन्द्रियोके विषय है, इससे विरक्त होना ही मोक्षका कारण है। हम इन विषयोमे ऐसे फँसे हुए है कि न तो माता-पिताको समझते है और न धर्मका आचरण करते है। ये तो सब ठीक ही है, हम स्वयको भी नही गिनते।

बनारसमे जब हम पढते थे, उस समय फारसके नाटक सर्वप्रिय थे। वहाँ 'हजीरे हिसर' नाटक आया। हमारे शास्त्रीजी ने कहा— 'नाटक देखने चलो, अच्छा नाटक आया है।'

हमने कहा—'शास्त्रीजी, आपने तो पुस्तकोके सिवाय कुछ देखा नही, आपको क्यो कर इच्छा हुई ? और फिर वहाँ हम =) ।) के टिकट पर जा नही सकते। वहाँ तो बीडी फीडी पीते है। हमे वह धुआँ बहुत बुरा लगता है। हम तो ३) रुपयोके टिकट पर चलेगे पर हमारे पास तो पैसा है नही ।'

शास्त्रीजीने उत्तर दिया—'चलो, तुम्हे हम ऊँचे टिकिट पर ले चलेगे और टिकटके पैसे हम दे देगे।'

हम देखने को गये। वही हमारे पास एक आदमी बैठा हुवा था। उसने एक कागज पर कुछ लिखा और सामने जहाँ रानी अपना पार्ट कर रही थी उसके पास फैंक दिया। रानी का पार्ट एक स्त्री ही कर रही थी। उसने उस कागजको उठाया और उसे पढा। फिर उस कागजके कई टुकडे कर पैरोसे मसल दिया।

जब मनुष्यने यह देखा तो उसने छुरा निकाला और अपनी आत्महत्या करली। उसने कुछ विषय सम्बन्धी ही बात लिखी होगी। और उसकी अवहेलना देखकर अपने प्राणान्त कर लिये। ससारके दुखके कारण इन्ही विषयोकी आकाक्षा है। विषयमे जो रस है, वही संसार है। विरस ही मोक्ष है। यही देख लो, दूर जाने की आवश्यकता नही। अभी, इसी समय मोक्ष देखने को मिल जावे।

मनुष्य सब क्रियाओको कर डाले, महातप भी सहन कर ले, लेकिन ज्ञान यदि न होवे तो तीन कालमे भी मोक्ष नही हो सकता है। सारे अन्धे मिल जावे और कितना ही प्रयत्न करे तो भी वे निर्दिष्ट स्थान पर नही पहुँच सकते है। सहजबोध की कलासे मोक्ष सुलभ है। ज्ञानमे रत हो जावो, सन्तोष करो, आत्मा ज्ञानके बराबर है। ज्ञान ही आत्मा हे। देखिये अग्निमे उष्णता रहती है, जिस समय उष्णता नही उस समय अग्नि ही नही रहती। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। आत्मामे सन्तोष करो। सागरमे कई प्रकार की लहरे आती रहती है। सारा विश्व ही ज्ञानमे आता है। तू दीनकी तरह उनके पीछे दौडता फिरता है। जिस दिन तू उसे छोड देगा तेरे पीछे वे दौडते फिरेगे। इसलिये हमेशा आत्मामे रत रहो। इतना ही कल्याण मार्ग है, इसलिये ज्ञानमात्रमे सन्तोष करो। ऐसी कौनसी चीज है जो ज्ञानमे न आती हो ? दुख भी ज्ञानमे आता है, सुख भी ज्ञानमे आता है। ज्ञान तो पीछा छोडता नही और तुम ज्ञान को जानते नही।

पानी गर्म हो गया। ज्ञानसे हम जान लेते है कि यह अग्निके सयोगसे इस पर्याय को प्राप्त हो गया है। यथार्थ मे इसका स्वभाव शीतलपना है। यह क्रोध है—यह भी ज्ञान बताता है इसलिये ज्ञानमे सतोष करो और इसीका अनुभव करो। उसीमे तृप्त रहो, उससे आगे कोई चीज नही। यदि तुम आत्मामे रत हो जाओ, उसीमे सन्तोष करो तथा उसीमे तल्लीन हो जावो तो तुम्हे सुख मिलेगा। और वह सुख न तो किसीसे पूछना पडेगा और न कोई बता सकेगा। वह तो आत्मा की वस्तु है और आत्मामे ही अनुभवन की जाती है।

जब आँखमे मोतियाबिन्दु पड जाता है तो आँखसे दिखना बन्द हो जाता है। परन्तु जब इसे निकाल कर फेंक दिया जाता है तो आँखसे अपने आप दिखाई देने लगता है। किसीसे पूछना नही पडता कि हमे दिखाई देता है—या नही।

एक नवीन बहूके गर्भ रहा तो उसने अपनी सासुसे कहा—कि 'जब बच्चा पैदा होने लगे तब हमे जगा देना।'

सासुने कहा—'तुम्हे जगानेकी जरूरत नही पड़ेगी तुम स्वय सारे मोहल्ले को जगाओगी। इसी प्रकार यदि तुम कषाय को छोड दो तो तुम्हे सुख या आनन्द होगा वह तुम्हे किसीसे पूछना न पड़ेगा।

ज्ञानी जीव परपदार्थ को ग्रहण नही करता। क्या करे, समय ही ऐसा आगया है। लोग इसको ढोग समझते है। प्राचीन कालमे हजारो मनुष्य घरसे विरक्त हो जाते थे, वनमे निवास करते थे, वही पर लडको को पढाया करते थे। परन्तु हम सब ही विषयभोग चाहते है, यदि दुखी न हो तो क्या हो ? बीसो कथाऐ हमे बिना मूल्य शिक्षा की मिलती है, पर आजकल तो सस्कृतभाषा भी बिना रुपये खर्च किये नही मिलती ! सच्ची शिक्षा तो वह है जो दुख को दूर करे और सुखको उपजावे। यदि किसी

को १०००) माहवार मिलते है तो उसे १००) खर्च करने चाहिये और ९००) शिक्षादानमे देना चाहिये। वर्तमान समयमे तो शिक्षासे रोटी कमानेकी इच्छा की जाती है, कल्याण कैसे हो ?

धनका तो दान हो सकता है पर कषाय का तो त्याग ही करना पडेगा। ज्ञानी विचार करता है जो जिसका 'स्व' है वही उसका धन है और उसका वह स्वामी है। आत्मा का परिग्रह आत्मा और ज्ञान का परिग्रह ज्ञान है। ज्ञान क्रोध नही हो सकता और क्रोध ज्ञान नही हो सकता। परपदार्थ हमारे नही है—ऐसा समझकर वह परपदार्थो को ग्रहण नही करता है। जैसा मैं हूँ वैसे ही भगवान् है। भगवान ने परपदार्थ छोड दिये हैं और हमने परपदार्थ ग्रहण किये है, इसलिये हम सेवन करने वाले कहलाते है और हम सेवक भी बने हुए है। मालिक बनना हो तो अभी बन जावो, जो भगवान्के चरणोमे सिर रगडना पडता है वह छूट जावे, सिर्फ परपदार्थोका त्याग कर दो। हम क्यो हमेशा हलके बने रहे ?

यदि परपदार्थ को हम ग्रहण करें तो वह हमारा 'स्व' होगया और हम इसके स्वामी हो गये, तो हम अजीव हो जावेंगे। तो क्यो अपने आप अजीव बनते फिरते हो ? तुम तो एक टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो, ज्ञान ही तुम्हारा है। तुम ज्ञानके स्वामी हो। अतएव तुम्हे परद्रव्य को ग्रहण नही करना चाहिये।

एक समयका कथानक है कि एक क्षत्रिय और वैश्य मे लडाई हुई। क्षत्रियको वैश्यने हरा दिया और उसकी छाती पर आगया। उसी समय क्षत्रियने पूछा—'तुम कौन हो ?'

वैश्यने उत्तर दिया—'मै तो वैश्य हूँ।'

क्षत्रियने ऐसा सुनते ही साहसपूर्वक उसे नीचे कर दिया। इसी प्रकार जब हमे मालूम पड जाय कि कर्म-कषाय तो परपदार्थ है और वे हमे ससारमे नानाप्रकार के कष्ट दे रहे है तभी हम उन्हे पराजित कर सकते है। लेकिन यदि हम समझे ही नही तो हमारी गलती है। नेता जो होते है या तीर्थंकर जो होगये है, वे हममे से ही हुए है। उनके नाम लेनेसे कोई लाभ नही, उन सरीखे काम हमे करने चाहिये। यदि हम ऐसा करें तो हम भी नेता या तीर्थंकर बन सकते है। आज ही हमारा कल्याण हो जावे। हम आज ही बन तीर्थंकर जावें, थोडी इस ओर दृष्टि करने की आवश्यकता है।

हमारा यह निश्चय हो जावे कि ये सारे पदार्थ हमारे नही है, चाहे कुछ भी हो जावे हमारा तो एकमात्र टकोत्कीर्ण ज्ञान ही है। मनुष्य मोहके आधीन होकर विकल्प करते है कि अरे हम क्या करे—हमारे बच्चे हैं, यह गृहस्थी है, सभी विगड जावेगी। पर ये तो सब परपदार्थ है। इनकी तुम्हे क्यो चिन्ता है ? परपदार्थ तो हमारे 'स्व' नही हो सकते, न हम उनके स्वामी ही हो सकते है।

धर्म-अधर्म, खान-पान ये चार पदार्थ है। इनके सिवाय कोई पाँचवी वस्तु नही। सम्यग्दृष्टि जीव न तो धर्म को चाहता है और न अधर्म को पसन्द करता है। परिग्रह नाम बाह्य वस्तुओ का नही है, अपितु अन्तरङ्गमे 'यह मेरी है' ऐसा भाव रखना ही परिग्रह है। राग द्वेष और मोह परिग्रह ही है—इनका त्याग किये बिना पर का त्याग नही होता। हम अपनी इच्छासे जो भोग भोगते है उनसे शरीरकी ही पुष्टि होती है। आत्मा पुष्ट नही होता। धर्मसे हमे काम या अर्थकी सामग्री प्राप्त होती है। पर अर्थ तो अनर्थ की जड है और काम बैरी है अत: इनका कारण धर्म भी त्यागने योग्य है।

ज्ञानी पुरुष जो है वह न तो धर्म को चाहेगा और न अधर्म को। इसी तरह उसके लिये खान-पान भी त्याज्य है पर कर्मोदय से उसे सब भुगतना पडता है।

अर्थसे कभी सतोष प्राप्त नही होता। चक्रवर्तीके तो हजारो लाखो उपभोग्य वस्तुएं होती है। लेकिन वे भी उन सबको छोडकर दैगम्बरी दीक्षा धारण कर जगलकी ओर प्रस्थान कर जाते है। इससे ज्ञात होता है कि ये सब चीजें सुख देने वाली नही है।

इन परपदार्थो को ज्ञानी जीव ग्रहण नही करता इसलिये वह अपरिग्रही होता है। परिग्रह से शून्य होता हुआ और परपदार्थों के विकल्पो को छोडता हुआ तथा

अत्यन्त निरालम्ब होता हुआ ऐसा जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है वह आत्माके सच्चे ज्ञानगुण को प्राप्त करता है। फिर ज्ञानीके भोग क्यो होते है ? पूर्वकर्मके उदयसे उसे भोगना पडता है। परन्तु वह इन्हे ऋण समझकर चुकाता है। इनमे न तो राग करता है, न द्वेष करता है।

टीकमगढमे एक बडा भारी व्यापारी था। उसके व्यापारमे एक गरीब आदमी साझेदार था। एक समय दुर्भाग्यसे उसे व्यापारमे एक लाख रुपया का घाटा पड गया। गरीब आदमीने कहा कि हम तो ५० हजार चुकाने मे असमर्थ हैं पर इतना जरूर कहते है कि तुम्हारा पूरा रुपया चुका देगे। उसने अपनी एक छोटीसी दुकान खोल ली। साल भरमे उसे १२५) का लाभ हुआ। उसे वह उस सेठके पास जमा करने गया। सेठने कहा कि इस दुकानदारी मे कर्ज नही चुक सकता। एक बार और व्यापार कर लो। उसने उत्तर दिया—'अरे हम नही करेगे, एक बार का ५० हजार तो पहले चकाले, फिर दूसरा व्यापार करेगे।'

सेठने कहा—'अबकी बार ऐसा करो। यदि नुकसान हो तो हमारा और यदि लाभ हो तो आधा कर लेंगे।' व्यापार किया सो उसमे ३ लाख का लाभ हो गया। उस आदमीने अपना हिस्सा लेकर कर्ज को व्याज समेत लौटा दिया। उसकी नियत साफ थी, उसमे किसी प्रकार का मैल नही था। इससे सब काम बन गया।

इसी प्रकार जब भी कर्मका उदय आवे शान्तिपूर्वक उसे सहन करना चाहिये। किसी प्रकारकी विकलता मनमे पैदा नही करनी चाहिये।

क्षमा—

भैया! अफीमची अफीम छोडना चाहता है, पर वह आदत से मजबूर है, वह उसे छोड नही सकता। कर्मोदय से प्राप्त प्रत्येक वस्तुका समागम जीवको करना पड़ता है। जिस वस्तुकी इच्छा हम करे वह प्राप्त नही हो सकती। सम्यग्दृष्टि अपने मनमे विचार करता है कि इच्छित चीज मिले तो आकाक्षा करे पर मिले ही नही तो आकाक्षा काहे को करे ?

कर्मका उदय आने पर सक्लेश परिणाम मत करो, कर्म तो उपकारी है। विकारभाव तो द्रव्यके निमित्तसे होते है। शरीर पर है। इसे हम अपना बनानेका प्रयत्न करते है। हम कहते है कि यदि वह तुम्हारी चीज है तो उसे रख लो पर ऐसा नही है वह सर्वदा स्थित नही रह सकता। आत्मामे जो खास चीज उत्पन्न होती है वह है रागद्वेष। ये विकार परिणाम है, वे आ जावे कोई बात नही। उन्हे निकल जाने दो। संक्लेश परिणाम मत करो। जहाँ आकुलता है वहाँ सुख नही हो सकता। अच्छे या बुरे काम की आकुलता दुख देती है, उसे छोडो।

तीर्थंकरकी कर्मोदयसे ६ घडी दिव्यध्वनि खिरती है तो उसको छोडनेमे समर्थ नही तब हमारी क्या सामर्थ्य है ? कर्म खिर जाने पर विकल्प मनमे मत लाओ। ज्ञानी जीवके कर्म होता है पर वह परिग्रहको प्राप्त नही होता; क्योकि उसमे रागद्वेष नही है। अज्ञानावस्थामे आत्मा कर्त्ता हो जाता है। सम्यग्दृष्टिके कर्तृत्व नही रहता है पर कर्मके उदयसे काम करता है।

"हर्रा लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय।"

सो कैसे होवे सम्यग्दृष्टिके राग होता है न द्वेष।

ज्ञानी जीव स्वभावसे रागरहित होनेसे कर्ममे पड़ता हुआ भी परिग्रह-भावको प्राप्त नही होता। परद्रव्यके ग्रहणका भाव मिट गया इसीलिये परिग्रह प्राप्त नही होता। ज्ञानीके हृदयमे यह बात आ जाती है कि पर-पदार्थ मेरे नही है। कीचड मे पडा लोहा कीचड़युक्त हो जाता है। औदयिक को छोड सम्यग्दर्शनको प्राप्त करो, इसी तत्त्वको ही ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

एक समय मच्छड़ अपनी फरियाद लेकर भगवान के पास गये कि महाराज! हमे बडा कष्ट है। हवा हमें यहाँ वहाँ उडा देती है। भगवानने दोनोको हाजिर होने के लिये आदेश निकाला, मच्छड बहुत खुश थे। आज उनका निर्णय होने वाला था, बडी प्रसन्नतासे वे भगवानके पास गये। थोडी देरमे हवा भी वहाँ आई सो मच्छड उड गये। अब निर्णय कैसे हो। मुकद्दमा खारिज कर दिया गया इसी प्रकार क्रोध और क्षमाकी स्थिति है। लोग ऐसा

कहते है कि क्रोध और क्षमा का वैर है पर वास्तविकता यह नही है। क्षमाके सद्भावमे क्रोधका अभाव सर्वमान्य है। जीव अचित्त सचित्त खाते है पर ये उस रूप परिणत नही हो जाते है। ज्ञान अज्ञान नही हो सकता। ज्ञानी जीव भोग भोगता है पर बधका कारण नही। बधका कारण तो भोगोमे आसक्ति बताई गई है। अगर तुम आसक्तिपूर्वक भोगोको भोगोगे तो वँध जाओगे।

दो बहरे थे। दोनो भेड चरा रहे थे। एक आदमी अपनी भेड दूसरेके जिम्मे करके खाना लेनेके लिये चला गया। वह लूली थी। वहाँसे वह वापिस आया सो उसने कहा हम खाना ले आये है आओ खालो। तो दूसरेने कहा—हमने तुम्हारी भेड की टाग नही तोडी हम अच्छी नही दे सकते। दोनो एक दूसरे की बात समझनेमे असमर्थ थे इसलिये लडाई प्रारम्भ हो गई। इतनेमे वहाँ एक घोडा वाला आया। दोनो ही उसके पास अपनी फरियाद लेकर दौडे और अपनी अपनी बात सुनाई परन्तु वह भी बहरा था। उसने समझा ये लोग कहते हैं, कि यह घोडा इनका है। उसने उत्तर दिया—यह तो हमारी घोडीका बच्चा है हमे क्यो चोरी लगाते हो ? अब वे जमीदार साहबके पास पहुँचे। वह भी बहरा था। रातको उसकी और उसकी स्त्रीकी लडाई हुई थी। उसने समझा कि ये हमारी लडाईके बारेमे कह रहे है, इससे उसने कहा—इसमे हमारी कोई गलती नही पटेलनने ही ज्यादती की है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि बहरे है, वे एक दूसरे की बात समझनेमे असमर्थ है। इनका बिल्कुल बनता नही। सम्यग्दृष्टि बन जाते तो सब काम बन जाता। सम्यग्दृष्टि किसी कर्मकी अभिलाषा नही करता। जिनकी अज्ञान चेतना मिट गई वह कर्मकी इच्छा काहेको करेगा ?

रत्तो बंधदि कम्मं—

रागादिकसे बन्ध होता है। मुनिराजने विचार किया कि बन्धकी जड राग है। वे साम्यभाव करके राग छोडते है, ऐसे मुनिको नमस्कार है। जब कृतान्तवक्र सेनापति दिगम्बर दीक्षा धारण करने लगा तो रामचन्द्रजी ने कहा कि यह दीक्षा तो बहुत कठिन है तुम इसको कैसे सहन कर सकोगे ? उसने उत्तरमे कहा कि जब तुमसे जिसका गहरा मोह था उसको छोड दिया तो हमे यह कोई कठिन नही मालूम पडती।

रागको जान करके हम प्रमादी बन गये है और जैसी चाहे क्रीडा करते रहते है। परन्तु ज्ञानके उदयमे ये सब नष्ट हो जाते है, रातको नाटक करते समय भले ही कोई काला आदमी अपने मुखमे पाउडर लगा ले और अग्रेजो का काम करे लेकिन जब दिनको सूर्यका प्रकाश होगा तब उसकी पोल खुल जावेगी।

ज्ञानीका भोजन आनन्द हे, आकुलता नही। सहज अवस्था को प्राप्त होता हुवा वह अनाकुल और निरापद हो जाता है। धर्म सिद्धान्तके अनुसार आठ वर्षका बालक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है और केवलज्ञानी हो सकता है।

अज्ञानताके कारण हरिण गर्मीके दिनोमे चमकती हुई धूलमे जलकी कल्पना करता है और यहाँ-वहाँ दौडता फिरता है पर उसे जल नही मिलता। अज्ञानताके कारण रस्सीको हम साँप समझ लेते हैं सो कोई नुकसानकी बात नही। पर हम इष्टानिष्टकी कल्पना कर लेते है—वही नुकसानकी बात हे।

एक मनुष्य था, उसके एक लडका था। एक समय उसने हाथीके पैरसे दवता हुवा अपना लडका देखा। यथार्थमे वह उसका लडका नही था, पर उसे ऐसा भान हुवा कि यह मेरा ही लडका है। ऐसा सोचकर वह मूर्छित हो गया। वहाँ उसका मित्र आया और सारी बात समझकर वह कुछ गुलाब जल लाया और साथमे उसके लडके को लिवा लाया और उसकी मूर्छा दूर की। तो अज्ञानसे उसे मूर्छा नही आई, पर मोह होनेसे ही उसे मूर्च्छा आ गई थी। यदि मोह न होता और उसका लडका भी दब जाता तो भी मूर्च्छा होनेका कोई कारण न था। ससारमे सबको मोह ही सताता है। इसलिये इस मोह को ही छोडना चाहिये।

एक धनी पुरुष अपने मालसहित जहाजमे जा रहा था दुर्भाग्यसे उसका जहाज फट गया और सारा माल

डूब गया । वह पुरुष एक लकडीके सहारे एक किनारे पर पहुचा । उसके पास खानेको तो कुछ नही था सो उसने सोचा कि चलो एक हुडी लिखे देता हूँ और उसे शहरमे सकार लेता हूँ, सौ रुपया मिल जावेगा जिससे घर जाने का साधन वन जायगा । इसलिये उसने एक हुडी लिखी और चूँकि कोई आदमी तो था नही इसलिये वह स्वय ही हुंडी सिकारनेको गया पर उसे कोई पहचानता नही था, अतएव किसीने उसे पैसा नही दिया ।

उसके नगरको एक बैलो वाला अपने बैल लेकर जा रहा थासो उसने खाने पर उसके यहाँ नौकरी कर ली और बर्तन वगैरह मलने लगा । जिस समय वह वर्तन मलता था उस समय उसके मनमे यही कल्पना थी कि मै तो सेठ हूँ, जब नगरमे पहुच जाऊँगा तब उसी प्रकार आनन्द उठाऊँगा । इसी तरह हमारा तो विश्वास है कि हमे भेदज्ञान हो जावे तो हमे कितने ही उपद्रव आवे पर हम सोचते है कि हम तो मोक्ष जावेगे । अरे और सब बाते छोडो सातवे नरकके भयानक कष्टोका भी सामना करता हुवा वह नारकी जिसके सम्यग्दर्शन हो गया है यही विचार करता है कि हमे तो मोक्ष जाना है । जैसे किसी पुरुषने अपने शरीरमे तेल लगाया फिर धूलमे जाकर कई प्रकारकी अस्त्र-शस्त्रकी क्रीडाएँ की तो उसके शरीरमे धूल लग गई । पर धूल लगनेका कारण न तो उसकी शस्त्रक्रीडा है और न धूल ही । धूल लगने का मुख्य कारण उसके शरीरमे जो तैल लगा है, वही है ।

इसी प्रकार मोहसे लिपटा हुवा मनुष्य जो अचित्त सचित्तकी बात किया करता है उसे उससे ही बन्ध होता है । दूसरे सम्यग्दृष्टि मनुष्य जो रागद्वेष मोहसे रहित है उनके कर्म करने पर भी बन्ध नही होता । अत सिद्ध है कि उपयोगमे जो राग-द्वेष मोह है वही बन्ध का कारण हे ।

जो मनुष्य तेलके निमित्तसे धूल रूपी बन्धको प्राप्त हुवा था यदि वह अपने तेलको बिल्कुल साफ करले और फिरसे वे ही सब व्यापार करे तो उसे वैसी धूल नही लगेगी । इसी प्रकार यदि हमारे उपयोगमे से मोह निकल जावे तो हमारे लिये बन्ध न होगा । सम्यग्दृष्टि मिथ्या-दृष्टिके समान सब काम करता हुआ बन्धको प्राप्त नही होता । इसका मूल कारण उसकें रागका न होना ही है ।

आदिनाथ वर्तमान कालके २४ तीर्थंकरोमे से प्रथम तीर्थंकर थे । उन्होने अपने लडकोको गोदमे खिलाया । विषय सेवन किया । चार गुणस्थानके वाद उनको बन्ध नही हुवा तो हमने क्या गल्ती की जो हमे बन्ध होगा ?

सम्यग्दृष्टिके बन्ध नही होता पर यदि वह इच्छा करके काम करने लगे तो उसे भी बन्ध शुरू हो जावेगा । इसलिये मोह छोडना ही चाहिये । 'परजीवको मै मारता हूँ परजीव मुझे मारते है ।' यह अध्यवसान भाव जिसके होता है वह ही कर्मबन्धको प्राप्त करता है । आयुका क्षय हो जाता है तो मरण हो जाता है । न तुम किसीको मार सकते हो, न किसीको जिला सकते हो । ये तो पर्याये है जो नष्ट हो जाया करती है । यथार्थमे जीव तो मरता नही है । अज्ञानी ही यह समझता है कि हमारी कृपासे ये प्राणी सुख पा रहे है, जी रहे है ।

मैनासुन्दरीके पिताने जब अनेकोसे पूछा कि तुम किसके भाग्यसे जीवित हो ? तो सबने तो यही उत्तर दिया कि आपके भाग्यसे, लेकिन मैनासुन्दरीने कहा कि हम तो अपने भाग्यसे जीवित है । इसपर वे बहुत क्रोधित हुए और उसका एक कोढ़ीके साथ विवाह कर दिया । मैना-सुन्दरीका दृढ़ विश्वास था कि यह सब पापके उदयका निमित्त है । जब पुण्यका उदय होना होगा इष्टकारी वस्तुओका समागम हो जायगा । सिद्धचक्रविधान किया । पापोका क्षय हो गया पुण्यका उदय आ गया, तथा सब इष्टकारी वस्तुएँ मिल गईं । श्रीपालका शरीर कचन सरीखा सुन्दर हो गया ।

हमारे ही आँखो देखी एक बात है । खुर्जामे एक मुसलमान था उसके एक लडकी थी । उसका निकाह एक मुसलमानके साथ पढाया गया । दुर्भाग्यसे उसे कोढ हो गया । लड़कीके पिताने लड़कीको दूसरा निकाह पढानेको बहुत समझाया पर जब वह तैयार न हुई तब उसके पिताने उसे अपने घरसे बाहर निकाल दिया । वह लड़की अपने पतिके साथ गाँवके बाहर रहने लगी और उसने हिसा करना और मास खाना छोड़ दिया । हिन्दुओके

यहाँसे वह भीख माँगकर लावे और अपने पतिकी सेवा करे। उसके अच्छे दिन आये जिससे उसका कोढ ठीक हो गया, फिर कुछ चन्दा करके उसने दुकान की। आज वही ५० हजार का गृहस्थ है। जब पापका उदय आता है तब दुख देने वाली सामग्री अपने आप उत्पन्न हो जाती है हममे दूसरा कोई कर्तृत्वशक्ति नही रखता।

छह माह तक आदिनाथ को आहार नही मिला, इसमे दु:खी होने की क्या आवश्यकता? ससारका यही तो ठाठ है। आयुका उदय है सो जीता है और जब आयुकर्म समाप्त हो जावेगा सो कोई भी बचा न सकेगा।

धर्मानुरागके कारण मुनियोने शास्त्रोकी रचना की, मोह सब कुछ करवाता है और हम कहते है कि हम कर रहे है, यह ही हमारी भूल है।

एक समय हम यहाँ से बनारसको जा रहे थे। रास्ते मे एक शिकारी मनुष्य मिला। कुछ चर्चा छिड गई तो मैने उससे अहिंसाके बारेमे बातचीत छेडी पर वह उसे न रुची। मैने उससे उस दिनके लिये शिकार छोडनेके लिये कहा पर उसने उसे स्वीकार नही किया। और वह बाँदकपुर स्टेशन पर उतर गया। जब हम बनारससे एक वर्ष बाद लौटे तो कटनी स्टेशन पर वही आदमी फिरसे मिल गया। उसने कहा कि अहिंसाकी चर्चा छेड़ो। मैने कहा कि तुम सुनते ही नही, मानते ही नही, तुम्हे नही सुनाते। अन्तमे उसने अपनी सारी कथा सुनाई कि उस दिन हम यहाँ से जगलमे गये, पर हमे एक शिकार नही मिला। घर जाकर अपनी स्त्रीसे कबूतर मारने को कहा पर उसने अस्वीकार कर दिया। फिर उसने बबरचीसे कहा, उसने भी मना कर दिया। फिर उसकी हिम्मत नही पडी कि वह अपने हाथसे कबूतरको मार दे। इस प्रकार आज एक वर्ष व्यतीत हो गया, पर हमने शिकार नही किया। इसलिये आज शिकार न खेलनेकी प्रतिज्ञा लेता हूँ।

पाप छोड़ दे तो हमारा कल्याण हो जावे। पाच पाप छोडना चाहिये। बाह्य वस्तु बधका कारण नही, जीवका उपयोग ही बधका कारण है। यदि ऐसा है कि बाह्य वस्तुसे बध नही होता तो बाह्य वस्तुओको छोड़ने का उपदेश क्यो देते है? अध्यवसान भाव बिना पर पदार्थों के नही हो सकता। बाह्य वस्तुका आश्रय तो लेना ही पडता है।

पच समितिसे मुनि यदि चर्या करे तो उसे बध नही होता भले ही उससे किसी जीवका हनन हो जावे।

कषाय या अध्यवसान—

अध्यवसान भाव जो होगा सो वस्तुको प्रतीत करके होगा। ससारमे सिर्फ एक वस्तु है जिसे भोगा जा सकता है। वह है पुद्गल। पाँचो इन्द्रियोके विषय पुद्गल ही है। मै किसीको सुख पहुँचाता हूँ, दुख पहुचाता हूँ, मारता हूँ, जिलाता हूँ—ये सब आकाशके कुसुमके समान असत्य हैं। हम क्या करे हमारा भाई तो मानता नही, कुटुम्ब मानता नही, नही तो हम यह सब त्याग कर देते। अरे उन्हे मनानेसे कुछ न होगा। तुम स्वय मान जाओ तो सब काम बन जावेगा। देखो तो हम कैसी २ इच्छाऐ करते है, यदि वे इच्छाएँ पूरी हो जाती तो कोई बात नही थी पर वे इच्छाएँ तो पूरी होती नही है।

रागद्वेष मोह न होवे तो बध नही हो सकता। भले ही सब प्रकारके कर्म करना पडे। लोग कहते है कि हमारी सब बातें मानते है पर हम कहते है कि त्यागी हो जावो तो इस बातको कोई नही मानता। हमारी क्या बात है। हम तो छद्मस्थ है। सर्वज्ञ भगवान की बात सब ही माने—ऐसा तो कोई नियम नही है।

हम कहने लगते है कि यह कालियुग है इसमे तो इतनी शक्ति नही रहती कि सम्यग्दर्शन धारण कर सके। क्या हो गया यदि हम शरीरके छोटे हो गये। कोई सबसे छोटा पुरुष होगा तो क्या उसे सम्यग्दर्शन नही होगा—ऐसा कोई नियम है? सज्ञी पचेन्द्रिय होना चाहिये। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी शक्ति सबमे है। मनुष्योको तो ठीक—हाथी—कुत्ता, बन्दर सब ही सम्यग्दृष्टि हो सकते है।

कोई किसीका कुछ विगाड नही सकता। जैसा तुम बनना चाहो वैसा काम करो। तुम काम करो दूसरा और अच्छी पर्याय लेना चाहो, यह तो हो नही सकता।

झाँसीकी बात है। एक १०-१२ वर्षका लडका था। उस समय बहिष्कार आन्दोलन हो रहा था। सब आदमी जगल कानून तोडने पर लगे हुए थे। वह लडका भी एक कुल्हाडी लेकर जंगलकी ओर जा रहा था। रास्तेमे उसे एक कप्तान मिला—'उसने पूँछा कि तुम कहाँ जा रहे हो ? उसने उत्तर दिया कि क्या तुमको दिखता नही। हम तो जगल काटने जा रहे है, कुल्हाडी हाथमे है। उसने फिरसे पूँछा कि 'जगल काटनेसे क्या मिलेगा ? उत्तरमे उस लडकेने कहा—'यह बात बडे नेताओ से पूछो; हमसे क्या पूछते हो ? हम तो वैसा ही करेगे, जैसा वे सब कहेगे।

उस कप्तानको गुस्सा आ गया और उसने एक थप्पड जोरसे उसके गाल पर मार दिया। लडकेने कहा—'शान्ति, शान्ति, शान्ति। इस प्रकार उसने ३-४ चाटे लगाये। उतने बार ही उसने शान्ति शान्ति शब्दो का उच्चारण किया।

अफसरने कहा—'तू बडा नालायक है।'

लडकेने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—'तुम क्रोध करते हो और मै शान्ति रखनेके लिये कह रहा हूँ और आप मानते नही। अब कौन जाने नालायक कौन है' ?

अफसर उसके उत्तरोसे बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और उसने कहा—'अच्छा तुम्हे क्या चाहिये सो माँगो। लडका था उसने कहा—'तुम कुछ दे नही सकते हो। नौकर हो। ४००-५०० रुपये मिलते होगे। १००-२०० रुपया दे दोगे, सो हमे चाहिये नही और हमे जो चाहिये है, सो तुम नौकर होनेसे दे नही सकते। रहने दीजिये, हमे कुछ नही चाहिये।'

उस कप्तानने नौकरी छोड दी और विलायत चला गया। सो यदि आत्मा निर्मल हो तो असर अवश्य पडता है। छोटे बडे का कोई प्रश्न नही।

यदि अग्नि राखके भीतर हो तो जो चाहे उसके ऊपर लात रखता हुवा चला जाता है। अगारे पर कोई लात नही रखता। हम ही हिंसक है, हम ही चोर है और यदि हम चाहे तो अपरिग्रही होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते है। हम लोगोको उचित है कि अब हम अपनी ओर देखे। हम जयन्ती मनानेके लिये पर्याप्त खर्च करते है लेकिन अपनी ओर देखते नही। महावीरके रास्ते पर चलना था सो चलते नही।

लोग कहते फिरते है कि जैनोके ऊपर सबकी बुरी निगाह है पर हम कहते है कि तुम्हारी खुदकी तुम्हारे ऊपर बुरी निगाह है। तुम शुभास्रव करो तो देव हो जावो सो वह आस्रव हमने अपने उपयोगसे ही किया, भगवानने क्या कर दिया ? हमने ही तीव्र कषाय कर अपनी आत्माको पापी बना लिया। तुम्ही धर्मका ज्ञान कर लो तुम्ही अधर्मका ज्ञान करलो। ज्ञानके ही कारण यह सब कार्य चल रहा है। बिना ज्ञानके तो कुछ हो नही सकता।

तुम ससारको जानते हो, ससारमे स्थित वस्तुओ को जानते हो, और तुम्ही मोहको जानने वाले हो, पर तुम सबसे भिन्न हो। हमारेमे मोह है यदि यह छूट जावे तो संसार छूट जावे। नग्न होनेसे कोई लाभ नही यदि अन्तरङ्गका मोह न छोडा। मोहसे ही ससारमे सुख दुखकी माया फैल रही है।

छटवे गुणस्थान तक व्यवहारमे सब उपदेश है, शास्त्र रचना है, इसके बाद सातवे गुणस्थानसे लेकर १२ वे गुणस्थान तक आत्मा और ज्ञानका ही मनन है। १३ वे गुणस्थानमे केवलज्ञान हो जाता है पर वचनयोग होनेसे जगत्के कल्याणके हेतु दिव्यध्वनि खिरती है।

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति और कषाय जो है वे आत्माका बन्ध करने वाले है। ये सब मिट जावे तो कल्याण हो जावे। मै इसकी हिंसा करता हूँ यह अध्यवसान भाव है। आत्माको न कोई मारने वाला है और न कोई जिलाने वाला है, आत्माके अन्दर ज्ञानगुण मौजूद है वह हमेशा उसके साथ रहता है। रागादि जो क्रियाये है वे आत्मासे भिन्न है। इनका विशेष ज्ञान नही हुआ, इसलिये ससार है। पेडामे खोवा और शक्करका स्वाद अलग अलग है पर हम उसे एकरूप समझ रहे है।

जो बन्धके निमित्त है उन्हे जिन्होने छोड दिया वे ही यति है। आनन्द आत्माकी वस्तु है। वह तुम भी प्राप्त

कर सकते हो। ज्ञानमे परपदार्थ झलकते रहते हैं उसमे कोई आनन्द नही। आनन्दकी जड मोहका अभाव है। उसीको लाने का प्रयत्न करो।

जाननेमे क्या धरा है—हमने जान लिया। परन्तु उनमे राग द्वेष करना ही बिगाडका कारण है। आचार्योंने सब तैयार कर रखा है—आपको खाना ही है। जो दौलतरामजी ने कह दिया उससे आगे भगवान क्या कहेगे ?

'आतम के अहित विषय कषाय—
इनमे मेरी परिणति न जाय।'

तुम तो टससे मस नही होना चाहते, कल्याण कैसे होवे ? मन्दिरके बाहर जाते हो सो सब भूल जाते हो।

आत्मा तो स्वाश्रित है, पराश्रित तो अध्यवसान है। जरा इस तरफ दृष्टि करो। यदि अभिप्राय निर्मल नही और तप वगैरह करे तो ससारसे नही छूट सकते। मोक्ष की श्रद्धा नही होती, बाह्यकी ही श्रद्धा होती है। इसीसे वह उस ओर लगनेसे असमर्थ रहता है। मन्दिरका फल शुभोपयोग नही होना चाहिये। दृष्टि रखो कि ससार कटे। तुम्हारी दृष्टि तो मोक्षप्राप्तिकी ओर लगना चाहिये। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो ही पूजन करते है। राग दूसरी जगह न जावे इसलिये सम्यग्दृष्टि धर्मकार्यमे व्यतीत करता है। लौकिक पदार्थोंकी प्राप्ति के लिये धर्मकार्य नही है।

कर्मोंका बन्ध तो कषायसे होता है। मन दुष्ट है ऐसा लोग कहते है। मन कोई बुरी चीज नही, कषाय बुरी चीज है। इन्द्रियाँ क्या बुरी है, यदि है तो उन्हे जीतने का प्रयत्न करो। तुम कहते हो कि पुद्गल मिट जावे तो हमारा कल्याण हो जावे—यह झूठ है। वस्तुओके नष्ट हो जाने से कषाय थोडे ही नष्ट हो जाता है ?

अज्ञान भाव—

ज्ञानका जो पुञ्ज है वह स्फुरायमान है अर्थात् विकासको प्राप्त होता है। वह ज्ञान अचल, टङ्कोत्कीर्ण के समान स्थिर है। आत्मामे बन्ध और मोक्षकी कल्पना सामान्यकी अपेक्षा नही की जाती, परन्तु जब विशेषकी अपेक्षा पदार्थका निरूपण करना होता है उस समय बन्ध और मोक्ष दोनोका समावेश करना पडता है।

जिस प्रकार स्वप्न झूठा होता है परन्तु उस झूठेपनसे यह निश्चय किया जाता है कि स्वप्नकी यह स्थिति है। इसी प्रकार जैनधर्मके सिद्धान्तके अनुसार जो मिथ्याज्ञान होता है उससे सिद्ध होता है कि आत्माके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है जो मिथ्यारूप परिणत है। यदि वह पर्याय मिट जावे तो शुद्ध टङ्कोत्कीर्ण ज्ञान प्रगट हो जावे। यदि ज्ञानके सद्भावका ही निषेध किया जावे तो मिथ्या-का आरोप किस प्रकार सिद्ध किया जा सकेगा ?

कर्त्तृत्व या भोक्तृत्व जितने भी भाव हैं वे ज्ञानसे रहित है। ये अज्ञानावस्थामे ही होते है। आत्माका कर्त्तापना स्वभाव नही है, उसका स्वभाव तो ज्ञायक भावसे पूर्ण है। यह ज्ञान न तो कर्त्तापनमे परिवर्तित हो सकता है और न कर्त्तापन ज्ञानमे परिवर्तित हो सकता है। ज्ञान ज्ञान रहेगा और पदार्थ पदार्थ रहेगा। द्रव्य कभी परिवर्तनशील नही है पर पर्याय उसकी बदलती रहती है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। जिसमे ये तीन पर्याय न हो सके वह पदार्थ ही नही कहा जा सकता।

चेतना ३ प्रकारकी है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। इसके सिवाय चोथा परिणमन कोई भी नही है।

अज्ञानचेतनामे आत्मामे कर्त्तापनका आभास होता है। क्रोध हो जाता है, पर वह आत्माकी चीज नही है क्योकि यदि वह आत्माकी चीज होती तो वह आत्माके साथ रहती। पर वह आत्माके साथ कभी रहती नही है। आत्माका ज्ञायकभाव है जो हमेशा उसके साथ रहता है।

तीन मनुष्य थे। वे बाजारको निकले। एक मनुष्य घट (सोने का) खरीदना चाहता था। दूसरा आदमी सोनेका मुकुट खरीदना चाहता था और तीसरे आदमीकी इच्छा सोने खरीदनेकी थी। एक स्वर्णकारके पास सोनेका घडा था। वह अधिक दिनसे बिका नही था, इसलिये वह उसे तोडकर मुकुट बनानेका प्रयत्न करने लगा। तीनो

आदमी इसके पास अपनी अपनी इच्छित वस्तुएँ खरीदने आये। जो घटका अर्थी था उसे दु ख हुआ। जो मुकुटका अर्थी था उसे हर्ष हुआ तथा जो स्वर्णका अर्थी था वह न सुखी हुआ और न दुखी हुआ। पर्याय की अपेक्षा वस्तु परिणमनशील है।

जीवके जितने परिणाम हैं वे जीवके ही होगे। आत्मा न तो किसीसे उत्पन्न हुआ और न किसीको उत्पन्न करनेमे समर्थ है। ससारी जीवकी जितनी पर्याय होती है वे कर्मोदयसे होती और जीव हमेशा ही रहता है तथा उसका जो ज्ञानमय स्वभाव है वह भी उसके साथ हमेशा रहता है। क्रोधी होना; शान्त होना ये तो पर्यायें है, आत्माके स्वभाव नही।

जीवका जो तादात्म्यभाव ज्ञान है वह जीवके साथ हमेशा रहता है। पर्याय दृष्टिसे आत्मा कभी तिर्यञ्चमे, कभी देवमे और कभी मनुष्यमे जन्म लेकर उसके प्रतिरूप शरीरको धारण करता रहता है।

पुद्गल और आत्मा एक क्षेत्रावगाह हो रहे है। आत्माका जो स्वरूप ज्ञायकभाव था वह कर्मोदयसे राग-द्वेष मोह युक्त हो रहा है। राग द्वेष कर्मीके कारण होते है। रागमे राग या द्वेष करनेसे फिर कर्मबन्ध होता है, कर्मबन्धसे चारो गतियोमे परिभ्रमण करना पडता है। जीवके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते है। पुद्गलके निमित्तसे आत्मामे रागद्वेष आदि उत्पन्न होते रहते है—ये सब मिट जावे तो ससार मिट जावे।

उपकारी शिक्षा—

ससारकी परिस्थिति इस समय अत्यन्त भयङ्कर और दयनीय हो रही है। परिग्रह-पिशाचके आवेगमे मानवने दानवका आश्रय ले लिया है। लाखो निरपराध व्यक्तियो-की निर्मम हत्या हो रही है। करोडोकी सम्पत्ति अग्निदेव-के द्वारा भस्म हो चुकी। हजारो मकानोको श्मशान बना दिया! कहते क्या है? ऐसा स्वराज्य आजतक ससारमे किसीने नही पाया जो बिना लडाई किये ही मिल गया। ऐसा इतिहासमे कोई भी दृष्टान्त नही है। परन्तु यह भी तो दृष्टान्त इतिहासमे नही मिलता कि राज्य मिलने-पर इतनी हत्याएँ निरपराधियोकी हुई हो। इससे यही सिद्ध होता है कि आजकलके मनुष्योके हृदयमे धार्मिक शिक्षाका बिलकुल अभाव है। यह आजके विज्ञानका फल है।

विलायत वालोको लोग बडा विज्ञानी मानते हैं और उनकी बडी बडी कीर्तियाँ आलाप करते है। परन्तु उन्होने एक अणुबमसे लाखो मनुष्य और करोडोकी सम्पत्तिका स्वाहा कर दिया। जो जापान ५० वर्षमे सम्पन्न हुआ था वह एक दिनमे रसातल पहुँचा दिया गया। जापानकी लोग बड़ी प्रशसा करते थे कि उसने थोड़े ही कालमे अपने देश-को सम्पन्न बना लिया। परन्तु यदि उसकी अन्तरङ्ग व्यवस्था देखे तो पता चले। उसने चीनको नाको दम कर दिया, लाखो मनुष्योका स्वाहा कर दिया तथा जो देश काबूमे आया उसे भिखमङ्गा बना दिया।

मै तो इतिहास भूगोल जानता नही, पर इतना अवश्य जानता हूँ कि आजकलकी शिक्षा केवल अर्थोपार्जनकरी और कामविषयिक है। इसलिये लोगोके हृदयमे शिक्षित होनेपर भी वह राष्ट्रीयता नही आई जो आजके स्वतन्त्र नागरिकको आवश्यक है। राष्ट्रीयता जबतक पूर्णरूपसे नही आयगी स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओसे प्रेम न होगा और न औद्योगिक धन्धोको प्रोत्साहन मिलेगा। यन्त्रादि द्वारा लाखो मन कपास और लाखो थान कपड़ा मिलो द्वारा एक दिनमे बन जाता है। फल यह होता है कि इने-गिने धनाड्यो को उससे लाभ पहुँचता है या लाखो मजदूरो को मजदूरी मिलती है। परन्तु करोडो मनुष्य और हजारो दुकानदार आजीविकाके बिना मारे मारे फिरते है। इसी प्रकार यन्त्रो द्वारा एक दिनमे हजारो मन तैल तैयार हो जाता है। फल इसका यह हुआ जो इने-गिने धनाढ्य और सहस्रो मजदूर मजदूरी पा जाते है परन्तु हजारो तेली हाथपर हाथ धरे रोते है। कोलुओ द्वारा जो तैल निकलता था वह स्वच्छ होता था तथा जो खली निक-लती थी उसमे तैल का अश रहनेसे गाय भैंसोको खानेमे स्वाद आता था। वह पुष्टकर होता था। इसी प्रकार शक्कर आदिके मिलोकी भी व्यवस्था समझिये। यह तो कुछ भी बात नही, यदि कपडेके मिलोकी व्यवस्थाका जानने वाला लिखता तो पता चलता कि उनमे हजारो मन चर्वी लगती है। यह चर्वी क्या वृक्षोसे आती है?

नही, कसाईखानोको पहले आर्डर दिये जाते है कि इतने मन चर्वी हमको भेजो। चमडा कितना लगता है इसका पारावार नही। इतने पर भारतवासी चाहते है जो गोवध बन्द हो जावे।

पाठकगण! जरा मनको शान्त कर विचारो तो सही हम स्वय इन बातोसे घृणा नही करते! पतलेसे पतला जोडा चाहिये। चाहे उसमे अण्डेका पालिश क्यो न हो। ग्रामोमे चले जाइये, पशुओके चरनेको भूमि नही! मनुष्योके आचरणके ऊपर दृष्टिपात कर यदि कोई लिखे तो पुराण बन जावे।

अच्छेसे अच्छे अपनेको मानने वाले होटलोमे चायके प्याले चाटते देखे गये है। जिस प्यालेसे मासभक्षी चाय पीते है। उसीसे निरामिषभोजी चाय पी रहे है। कोई कहे क्या करते हो? तो उत्तर मिलता है अजी छोडो इसी छुआछूतने भारतको गारत कर दिया। इसका मूल कारण यदि देखा जावे तब **शिक्षामे धर्म-शिक्षा और सच्ची राष्ट्रीयताका अभाव ही इसका कारण है।** अतः यदि देशका कल्याण करनेकी सत्य भावना है तब एक तो **प्रारम्भसे धार्मिक शिक्षा** अनिवार्य करो और दूसरे यह प्रतिज्ञा प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये कि **हम स्वदेशी वस्त्रादि का ही उपयोग करेगे।**

शिक्षाका महत्त्व इतना है जो आत्मा इस लोककी कथा छोडो परलोक मे भी सुखका पात्र हो जाता है। **शिक्षा उसे कहते हैं जिससे प्राणियोको सुख हो।** सभी मनुष्य दुखसे भयभीत रहते है और सुखको चाहते है अत शिक्षा ऐसी हो जिसके द्वारा प्राणियोको सुख हो। **जिस शिक्षासे प्राणियोका विनाश हो वह काहेकी शिक्षा? वह तो एक तरहका अस्त्र है। केवल धनार्जन करना शिक्षाका काम नही, धनार्जन तो व्यापारसे होता है।**

भारतमे करोडपतियोके ऐसे ऐसे फर्म है जो उनके मालिक साधारण पढे लिखे है। **यह संसार महान दु:खोका भण्डार है इसमे शान्तिका लाभ बिना उत्तम शिक्षाके नही मिलता।**

प्राचीन कालमे अपरिग्रही गुरु शिक्षा देते थे जिसके द्वारा ससारी मनुष्य सुमार्गमे प्रवृत्तिकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे तथा अन्तिम वयमे गृहस्थीका भार बालकोके ऊपर छोड आप ससारसे विरक्त होकर मुक्ति-पथके पात्र हो जाते थे। आजकल उस शिक्षाके अभावमे केवल धन-सञ्चय करते करते परलोक चले जाते हैं और वही सस्कार अपने उत्तराधिकारीमे छोड जाते है। **अत. यदि समाज और देशका उत्थान आप लोगोको इष्ट है तब पहले शिक्षाकी व्यवस्था ठीक करो।**

—**वर्णी-वाणी : २ / ३१०-३८५**

✲

"बाह्यनिमित्त कोई भी ऐसे प्रबल नही, जो बलात्कार परिणाम को अन्यथा कर देवे। अभी अन्तरगमे कषायकी उपशमता नही हुई। इसीसे यह सर्व विपदा है। आकुलता करनेकी कोई आवश्यकता नही। अपना स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है। यही निरन्तर भावना और तद्रूप रहनेकी चेष्टा रखना। यदि कर्मोदय प्रबल आया तब शान्तभावसे सहना, यही कर्मको नाश करने का प्रबल शस्त्र है।"

—**अध्यात्म-पत्रावली—५३**

१३
वर्णी प्रवचन
(ज्ञानार्णव)

समताभाव—

ज्ञानार्णवके रचयिता शुभचन्द्राचार्यने प्रारम्भ मे परमात्माको नमस्कार किया है। कहते है कि ज्ञानकी जो लक्ष्मी है उसके साथ आत्माका तादात्म्य सबध है और आत्मा ज्ञानमे निशक प्रवृत्ति करता है। अनतसुखके धारी परमात्माको नमस्कार है।

यह जीव विपयसेवन आदि मे आनदकी प्रतिच्छाया देखता है इसलिये उन्हे प्राप्त करनेका प्रयास करता है। ज्ञानकी प्राप्ति अज्ञानसे उत्पन्न दु खकी निर्वृत्तिके लिये है। महाव्रतका आचरण भी आनदके लिये है। यदि आनद प्राप्त करना चाहते हो तो दु खको दूर करनेका उपाय उसके मुख्य कारण राग और द्वेपको दूर करना है और इनका मूल कारण मोह है। उसे मिटानेसे आप ही आप सुख प्राप्त हो जाता है।

मोहरूपी अग्निको नाश करनेकी यदि इच्छा है तो साम्यभावका अवलम्बन करो। यदि सयम धारण करना चाहते हो तो मोहका त्याग कर दो, आप ही आप सयम हो जायेगा। यदि ससारके दुखोसे छूटने या मुक्ति पानेकी प्रबल इच्छा है तो पाँच इन्द्रियोके विषयोको जो विषके समान है उन्हे छोडो। रागरूपी वृक्षोका जो बगीचा है उसे यदि छेदना चाहते हो तो साम्यभावका अवलम्बन करो। साम्यभावमे न राग होता है न द्वेष। सब पदार्थोको समान मानो। धनी गरीब आदमीकी अपेक्षा मत करो। जैसे भिक्षाको निकले हुए मुनि गरीब व धनीके घरकी अपेक्षा नही करते इसी प्रकार साम्यभाव वाला प्राणी न राग करता है और न द्वेप ही। राग द्वेपका अभाव ही साम्यभाव है।

भाव दो प्रकारके होते है (१) चैतन्य (जीव) (२) अचैतन्य (जड)। वैसे तो पदार्थ एक ही रूप है पर हमने उसके दो टुकडे कर दिये है। जो हमारे विचारोकी रुचिके अनुकूल पदार्थ हुए उन्हे हम इष्टपदार्थ कहने लगते है और इसके प्रतिकूल पदार्थोको अनिष्टके नामसे पुकारते है। वैसे तो पदार्थ न तो इष्ट है और अनिष्ट।

एक कथानक है कि एक गाँवमे दो भाई रहते थे। उनमे बडा घनिष्ठ प्रेम था। वे एक दूसरेसे अत्यन्त प्रेम करते थे। उनके एक एक लडका था। एक दिन एक भाई बाजारसे दो सतरे लाया। एक बडा था और एक कुछ छोटा। जब वह घर आ रहा था तो रास्तेमे दोनो लडके मिले। दाहिनी तरफ उसका लडका और बायी तरफ भाईका लडका था परन्तु अपने लडकेकी तरफ वाले हाथमे छोटा सतरा था इसलिये उसने पलट करके बडा सतरा अपने लडकेको और छोटा सतरा भाईके लडकेको दिया। यह दृश्य उसका भाई देख रहा था। उसने आकर कहा—कि अब हमारा तुम्हारा नही चल सकता, तुम अलग रहने लगो।

इसके कहनेका यह मतलब है कि यदि उसके साम्यभाव होता तो यह नौबत न आती।

मुक्तिका स्वयवर हो रहा है। यदि तुम उसे वरण करना चाहते हो तो भवका दु ख देने वाले जो राग द्वेष है उन्हे साम्यभावसे छोडकर स्वयवरमे चले आवो। अगर परमात्माके स्वरूपको देखना चाहते हो तो समवसरण, तीर्थक्षेत्र, मंदिर, चैत्यालय आदि कही भी जानेकी जरूरत नही परन्तु उसके स्वरूपको अपने ही आत्मामे देख सकते हो। साम्यरूपी सूर्यकी किरणोसे राग द्वेष रूपी अवकार-

को दूर कर दो तो घर बैठे ही अपनेमे ही परमात्माको देख सकते हो ।

क्षमा देखना चाहते हो तो घटो पूजन, व्याख्यान, शास्त्र, व्रत आदिमे जो समय लगाते हो वह समय क्रोध को जीतनेमे लगावो । यदि क्रोधको दूर नही कर सकते तो क्षमा नही मिल सकती । मैदा देखनेके लिये गेहूँके ऊपरका ही छिलका निकालकर देखना पडेगा । वह न तो जलमे है और न चक्कीमे । किसीकी सपत्ति उसीके पास रहती है दूसरे के पास नही होती । न तो दिगम्बर भाई मन्दिरमे भगवान देख सकते है और न तारण भाई शास्त्रोमे । परमात्मा तो आत्मामे ही है । जरा इस ओर दृष्टि करनेकी जरूरत है ।

मिली हुई चीजको दूर करनेका रास्ता जरूर होता है, आत्मा व कर्म मिले हुए है । इनको पृथक् पृथक् करने का उपाय है । जहाँ तक साम्यभाव रहे वहाँ तक तो आत्माकी सीमा है, उसके आगे जहाँ साम्यभाव नही रहा और रागद्वेष आदि हुए वही समझो कि तुम्हारी आत्मा नही । जो चतुर ग्वालन होती है वे दहीको मथकर घी निकाल लेती है । जब छाछ शेष रहती है और जिसमे फिर मक्खन निकलनेकी शक्ति नही रहती तब उसे छोड देती है । हरएक पदार्थमे बडी शक्ति विद्यमान है । चतुर रसोइया पकनेको रखी हुई वस्तुके रूप, रग, स्वाद व स्पर्शको देखकर ही उसके पूर्ण पकनेकी स्थितिको स्पष्ट बता सकते है । ज्ञानमे अचिन्त्य शक्ति मौजूद है ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि हृदयकी निर्मलता और साम्यभावमे भी बहुत शक्ति है । इसी साम्यभावसे जीव कर्मको अलग कर सकता है ।

अन्य पदार्थ दूसरेका न तो कुछ बिगाड कर सकता है और न बना सकता है । दीपक प्रकाशमान होकर घटकी स्थितिको बता देता है । घट दीपकके कार्यमे बाधक नही हो सकता है । जैसे चुम्बकसे दूरकी वस्तु खिची हुई चली आती है उसी प्रकार दीपक किसीके पास नही जाता पर प्रकाशसे वस्तुस्थितिका ज्ञान करा देता है । घटकी उपस्थिति व अनुपस्थितिमे दीपकका कार्य होता है । दीपक घटमे कोई विकार उत्पन्न नही कर सकता; क्योकि वस्तुका स्वभाव परसे उत्पन्न नही होता और न परको उत्पन्न ही करता है । इसी प्रकार आत्मामे ज्ञान स्वभाव है वह हमे दुख सुखका ज्ञान करा देता है । ज्ञानसे हम जान जाते है कि यह दुख है और यह सुख है । सुधार और बिगाड तो पदार्थमे कुछ हुआ नही । हम हैं जो ज्ञानसे जाने हुये सुख और दुखकी ओर दृष्टिपात करते है पर जिससे 'हम' यह बोध हुआ वह जो ज्ञान है उसकी तरफ हम दृष्टिपात नही करते । साम्यभावकी उत्पत्ति सब दु.खोको नष्ट कर देती है । सुख देखना चाहते हो तो दुख के मूल कारणको अभी मिटा दो, अभी इसी समय तुम्हे सुखका अनुभव होगा । शुभोपयोग और अशुभोपयोगसे जो कर्मका बध होता है वह तो पराधीन है जब उदयमे आवेगा तब फल देगा । दे या न दे, कभी कभी कर्मों की उदीरणा हो जाती है और वे फल नही दे पाते । पुण्यका लाभ स्वतत्र नही, पर साम्यभावका फल तो अभी इसी समय मिल जाता है । किसान बीज बोता है तो समय पर उसे फल मिलता है । यदि उपयुक्त साधन पूर्ण न हो पाये तो कहो फल भी न मिले । पर साम्यभावमे यह बात नही होती उसका फल नही मिट सकता ।

साम्यरूपी वायुसे जिसने अपना आत्मा पवित्र कर लिया है तथा जिसने मोह मिटा दिया है तथा जिसके राग व द्वेष जीर्ण हो गये है ऐसे प्राणीकी ससार वन्दना करता है । ससार उसको पूज्य मानता है । विश्व उसकी पूजन करता है ।

राग द्वेषरूपी वृक्षोसे परिपूर्ण जो जगल है उसकी रक्षा मोह करता है । महावीर मुनिने चरित्र साम्यरूपी अग्निसे इस जगलको जला दिया है ।

जिसके साम्यभाव हो जाते है उसकी आशाऐ नष्ट हो जाती है । अविद्या और चित्तरूपी सूर्य मर जाता है ।

भैया ! तारणस्वामीका मार्ग भी बहुत ही सर्वोत्कृष्ट है लेकिन हम उस मार्ग पर चले नहीं, नही तो हमारा कल्याण हो जाता । सागरमे दो विद्वान् रहे जो शास्त्र सुनावे और हमे धर्ममार्ग बतलावे । हमे जिस समय यहासे प्रस्थान करना पडेगा उस समय न तो हम मदिर ले जा सकेंगे और न चैत्यालय । हमे यहा ही घर छोडना

पडेगा। यदि हम पहले ही से नगे हो जावे तो हमारा कल्याण हो जावे। हमे इस मार्गको प्रदर्शित करने वाले शास्त्रकी शरण लेनी पडेगी। यहाँ एक पण्डित रहे, चाहे कोई सुने या न सुने, वह शास्त्रवाचना करता रहे। अब तो सारा रुपया ज्ञानमे लगानेकी आवश्यकता है। मदिरोमे लगानेकी जरूरत नही। जब वृद्धावस्था हो जाती है तो हमे ऐसी वस्तु खाना चाहिये जो सरलतासे पच सके। अरे, भगवानका नाम लो इसे न तो खाना पडेगा और न पीना ही पडेगा। डरो मत इससे कुपच भी नही होगा। तुम्हारा कल्याण इसीमे ही है।

हम स्त्रियोसे ही तो पैदा हुए और उन्हीसे कहते है कि वे कमजोर है। वे कुछ करती नही। यदि जेवर कपडेके खर्चेमे से एक पैसा रुपया और टैक्सके रुपयोमेसे एक पैसा रुपया ज्ञानदानमे खर्च करे तो हाईस्कूल कालेज बन सकता है और विद्यालय महाविद्यालय हो सकता है। कौनसी कठिन बात है।

समताभाव—

साम्यभाव वाले योगीने एक क्षणमे जितने कर्मोको काट लिया है, उतने कर्मो को मिथ्यादृष्टि जीव कोटि-वर्षोमे नही काट सकता है।

आत्मा को छोड़कर शेष परपदार्थो की पर्यायोसे विलक्षण आत्माका निश्चय करना ही साम्यभाव है। अपनेसे पर तो पर है ही, पर अपने मे जो पर्याय उत्पन्न हो उस पर जरा विचार करो। जो यह शरीरिक सुन्दरता है वह भी पर है। अच्छा इसको भी छोडो ज्ञानावरण आदि जो कर्म है उनको तो हम देख नही सकते, पर कर्मोके उदयसे होनेवाले फलको जानकर उसकी सत्ताका निश्चय करते है सो वह भी परपदार्थ है।

कर्म दो प्रकारके होते है पहला घातिया कर्म, दूसरा अघातिया कर्म। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी स्वाधीन नही है। देखिये हम आँखसे ही तो देखते है, कानसे ही तो सुनते हैं पर जब आँख चली जाती है या कान चले जाते है तो हमारा देखना और सुनना बद हो जाता है। तो बताइये यदि वे हमारे ही होते तो क्यो चले जाते ? इससे मालूम पडता है कि पर पदार्थोका सबध हमसे जरूर है पर वह आत्मासे सर्वथा भिन्न है। कर्मोदयसे हुआ जो ज्ञान वह अपना नही है। देखिये तो मोहनीय कर्मकी कैसी विलक्षणता है। ज्ञानावरण कर्म तो आत्माके ज्ञानको ढक ही लेता है सो कोई नुकसानकी बात नही। जब दूर होगा सो हो जावेगा, पर यह मोहनीय कर्म तो विपरीत श्रद्धा करा देता है। आठो कर्मोमे सबसे अधिक लुच्चा-कर्म मोहनीय कर्म ही है। इसके उदयसे होने वाली पर्याये अपनी नही है। क्षायिक पर्याय व पारिणामिक भाव ही अपने है। बाकी सब पर पदार्थ है। जब जीव साम्यभावी हो जाता है तो उसके सबधको पाकर दुष्टसे दुष्ट जीव भी शान्त हो जाते है। जिस प्रकार जगल जल रहा है और पानीकी वृष्टि हो जावे तो जगलकी भयकर अग्निभी शात हो जाती है। क्रूरपरिणामी जीव भी साम्यभावी जीवके ससर्गसे अतिप्रसन्न हो जाता है। जैसे वर्षातमे वर्षा होनेके सबबसे सारे जगह कीचड मच जाती है। वह जल कीचड कर देता है परन्तु जब अगस्त्य नक्षत्रका उदय हो जाता है तो पानी सूख जाता है तथा कीचड मिट जाती है। भइया ! वर्त्तमानमे तो ऐसे परिणाम वाले जीव है नही। नहीं तो उनकी शक्ति हम प्रत्यक्ष देख लेते। एक समय की बात है कि एक क्षुल्लक बहुत ही विद्वान् थे। एव बड़े ही स्वाभिमानी थे। एक दिन वह मदिरमे प्रतिष्ठित थे, इतनेमे सगुनचन्दजी नामके व्यक्ति वहाँ आये। उनको देखकर क्षुल्लकजी खडे हो गये। और कहने लगे कि सगुनचन्द तू बडा निर्मल एव प्रतापी है। न व्यवहारसे और न शास्त्राज्ञासे उन्हे उठना चाहिये था, पर निर्मल आत्माकी शक्ति अपरम्पार है। उसे कौन रोक सकता है !

एक समयकी बात है कि मंदिरमे स्त्रियाँ ऐसे जेवरो को धारण करके आती थी कि जिनसे छम छम छम जैसी आवाज होती थी और सबका ध्यान उस ओर बट जाता था। सब पुरुषोने बैठकर निर्णय किया कि जिसकी स्त्री मदिरमे ऐसे जेवरको धारण करके आवे, जिससे छम छम आवाज हो, उससे २५) जुर्माना लिये जावे। सगुनचन्दजी ने यह प्रस्ताव रक्खा था। दैवयोगसे जब यह निर्णय हुआ था उस समय सगुनचदजीकी स्त्री मदिरजीसे चली आई थी। दूसरे दिन वह ही छम छम करती हुई मदिरमे आई।

सगुनचन्दजीने तुरन्त ही २५) मँगाकर जुर्मानाके दिये। लोगोने वहुत समझाया कि अज्ञातमे ऐसा अपराध हुआ है पर उन्होने एक भी न सुनी। कहने का तात्पर्य यह है कि नियम पालने वाला ही नियम चला सकता है।

शास्त्रोको रचने वाले तो बडे-बडे योगी पुरुष हुए है। उनके वचनोको शिरोधार्य करके हम सव साम्यभावी हो सकते है। कोई कठिन बात नही है। योगीके ससर्गसे क्या नही हो सकता। योगीसे तो इन्द्र भी सतुष्ट हो जाते हैं। शेर और गाय अपने वैरको भूल जाते हे। मनुष्योकी वात तो जाने दीजिये पशु भी प्रभावित हो जाते हैं। जहाँ योगी पहुँच जाते है वहाँ वैर, भय, क्रोध सब ही नष्ट हो जाते हैं। चन्द्रमाकी शीतल किरणें आतप को दूर कर देती हैं। सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है।

जिस मुनिका मोह क्षीण हो गया है उसके प्रसादसे हिरणी सिंहनीके बच्चेको दूध पिलाने लगती हे। गाय व्याघ्रके बच्चेके साथ खेलने लगती है। बिल्ली हसके बच्चोके साथ क्रीडा करने लगती है। मयूरी सर्पके बच्चो को खिलाने लगती है। आजन्मसे जो वैरी होते हैं वे भी अपना वैर भूल जाते है।

जयपुरके राजाके यहाँ अमरचन्दजो दीवान थे। एक समय राजा इन्हे शिकार खेलनेके लिये जगल लिवा ले गये। जगलमे हिरनोका समूह जो राजाने देखा तो उन्होने बन्दूकका निशाना उनकी ओर किया। तो अमरचन्द्रजीने उनकी बन्दूक पकड ली। और कहा कि तुम तो इस राज्यके रक्षक हो, इनको कैसे मार सकते हो ? तो उत्तरमे राजाने कहा- हमारा काम तो बन्दूक चलाना है। तो फिर अमरचन्दजीने पुकार कर हिरनो से कहा—कि अय हिरनो खडे रहो! तुम्हारा राजा ही तुम्हे मारने पर तुला हुआ हे। जब रक्षक भक्षक हो गया तो तुम कैसे भाग सकते हो ? तुम सब खडे हो जावो मार लेने दो देखे, कितनोको मारते है। भइया, उसका ऐसा असर हुआ कि सारे हिरन खडे हो गये। फिर राजाका साहस नही हुआ कि किसीको मार सके। सो निर्मल परिणामी जीव यदि हिरनोको रोक सके तो इसमे आश्चर्यकी क्या बात है!

एक समय इन्ही अमरचन्दजीको अजायवघर का प्रवधक वना दिया गया। और जब इनके पास सिंहको मास खिलानेकी स्वीकृति मागी गई तो इन्होने १०-५ सेर बरफी खिलानेकी स्वीकृति दी। परन्तु ८ दिन तक तो सिंहने खाया नही। इस पर इसकी रिपोर्ट की गई, तो अमरचन्दजी स्वय ही सिंहके पिंजडेमे बरफी खिलानेको गये। उन्होने सिंहसे कहा कि—बरफी खालो, यदि मास खाना है तो मुझे खा डालो। इस पर न मालूम क्या हुआ भइया! शेरने बरफी खा ली। सब आदमी वडे ही आश्चर्यमे आये। सो इससे मालूम पडता है कि जिनके परिणाम निर्मल हो जाते है उनकी शक्ति अपरम्पार हो जाती है।

एक मनुष्य मुनिकी पुष्पोसे पूजन करता है और एक मनुष्य उनके कण्ठमे सर्प डालता है तो भी मुनिकी दृष्टिमे दोनो एक ही है, न वे किसीसे राग करते है और न किसी से द्वेष, ऐसा साधु साम्यके वगीचामे प्रवेश कर सकता है। तुम चाहो तो स्वय करके देख सकते हो—कौन वडी वात है।

भइया! बाईजी के यहाँ एक चूहा रोज ही कुछ न कुछ खराब कर देता था। कभी दूध खराव कर दे, कभी दही खराव कर दे। तो बाईजीने एक दिन चूहेसे कहा—कि तुम रोज कोई न कोई वस्तु खराब कर देते हो, जिससे कभी मुझे और कभी मेरे लडकेको उस वस्तुसे वचित रहना पडता है। इतने बडे सागरमे क्या तुम्हे हमारा ही घर मिला जो हमे ही नुकसान पहुँचाते हो ? इसपर वह दूसरे दिनसे नही आया। क्या हो गया सो कर्मकाडके विद्वान जाने, हम तो कुछ वता नही सकते।

तो करे क्या, परिणामोकी शक्ति तो अपरम्पार है। थोडा सा चित्त ही इस तरफ देना है। साम्यभावी क्या मोक्ष नही जा सकता ? क्या भगवानने ही मोक्ष जानेका ठेका ले लिया है ? यह तो मोक्षमार्ग है। भगवान तो मोक्ष गये तथा हम सबको भी वहाँ जानेका रास्ता बता गये। साम्यभाव वाला जो जीव होता है वह न तो किसीसे राग करता है और न किसीसे द्वेष करता है। वन हो या नगर हो, शत्रु हो या मित्र हो, वह इन सबको जान करके

भी किसीसे राग द्वेष नही करता। ज्ञानसे पदार्थोंको जान लेना थोडा ही अपराध है। ज्ञान तो अपना काम करेगा ही, ज्ञान तो वस्तुस्थिति को प्रदर्शित कर देता है। यह हमारी गलती है कि हम उसमे मोहके द्वारा राग द्वेष करने लगते है— यही हमारा अपराध है।

व्यवहारसे विचार करो तो ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय पृथक् पृथक् है और निश्चयसे सब एक ही है। मोहकी कल्पना मिट जावे तो ससार मिट जावे।

अभिप्राय एक न होनेसे ही झगडे होते है। यदि एक ही अभिप्राय हो पावे तो काम बनते कुछ देर न लगे। देखो, यदि तुम लोग चाहो तो आश्रम और विद्यालय एक हो जावें। अभी दृष्टि उस तरफ गई नही है। जहाँ २०० विद्यार्थी पढते है वहाँ ५०० पढने लगें, पर उस तरफ अभी हमने ध्यान नही दिया, नही तो काम बननेमे देर न लगेगी।

मुनि तो तुम्हारी दो रोटी खा करके तुम्हारे लिये शास्त्र लिख गये। साम्यभावी मुनिको न तो श्मशानमे विरोध होता है और न महलमे राग। अगर पर्वत चलायमान हो तो हो, पर मुनिका मन चलायमान नही होता।

हम सब पढते है। सुकुमालका चरित्र तुमने पढा ही है। जिस समय सुकुमालके साथ वहाके राजाने भोजन किये तो सुकुमालने कभी वैसे चावल खाये नही थे। वह तो कमलके पत्रोमे रातभर रखे हुये चावलोको बनवा कर खानेका अभ्यासी था। चूंकि चावल कम थे इसलिये सेठानीने कुछ दूसरे चावल पकानेको डाल दिये। राजाने तो सब चावल खा लिये परन्तु सुकुमालने चुन-चुन कर कमलपत्र वाले ही चावल खाये। उन्होने सूर्यका प्रकाश देखा नही था इसलिये राजाके सामने दीपकके प्रकाशमे उनकी आँखोमे आसू आ गये। इसपर राजाने कहाकि तुम्हारा लडका वैसे तो ठीक है पर खाने मे कमजोर है। तथा आँखे भी कमजोर है। पर सेठानीने कहा कि यह सब इसकी कोमलता है। कहा इतना सुकुमाल आदमी और कहा रातको अपने मामा मुनिके पाठको सुनकर उन्हे वैराग्य हो गया। सात खड ऊपरसे रातको ही रस्सीसे नीचे उतर आये। वह इतने कोमल थे कि उनके हाथो और पावोसे खूनकी धाराऐ निकलने लगी। पर रातको ही जगलमे चले गये और तपस्या करके तथा शुक्लध्यान माड कर सर्वार्थसिद्धिमे गये। तपस्यामे उनके पूर्व जन्मकी वैरिणी श्यालिनी और उसके बच्चो ने उनके मासको खाया परन्तु सुकुमाल अपने ध्यानमे अडिग रहे और साम्यभावी बने रहे। फल हुआ कि सर्वार्थसिद्धि गये और एक भवमे मोक्षभी चले जावेगे।

जो योगी होता है वह जगत्को उन्मत्तके रूप मे देखता है। पागल तो उसे कहते है जो अन्यथा बोले। हम सब पराई चीजोको अपनी मान रहे है। अब बताइये हम पागल हुए या नही। यदि इन्द्रका गुरु वाचस्पति भी आ जावे और साम्यभावके गुणोका वर्णन करे तो हजारो सागरोकी आयु बीत जाये तो भी उसके गुण समाप्त नही हो। दुष्प्रज्ञाने बलसे वस्तुतत्त्वका विलोप कर दिया है। यह प्रज्ञा हरएक घरमे वर्त्तमान है। मोक्षमार्गमे लगने वाले जीव बहुत कम है।

राग द्वेषको जीतकर व समताभाव धारण कर जो सुख दुखमे सम आचरण करे वही सच्चा योगी है। राग द्वेषको मिटानेकी कोशिश करो। एक तरफ चित्त लग जावे यदि सब तरफसे चित्त हट जावे तो।

तत्त्व-विचार

यदि तत्त्वका निश्चय नही हुआ और मंदिर तीर्थ वगैरह भी किया तो भी सब व्यर्थ है। अन्न छोड दिया सो क्या किया अन्न तो पदार्थ ही था। उसमे जो मोह है उसे छोडो, उसमे सार है, क्या बतावे? काम और अर्थ की लालसाके वशीभूत हो हमने सब चौपट कर दिया।

मोहरूपी तिमिर हटनेसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ तथा राग-द्वेष दूर होनेसे ही सम्यक्चारित्र होता है। उपचारसे महाव्रत और देशव्रत करता है। इनका फल राग-द्वेषकी निर्वृत्ति ही है। जैसे गुरवेल तो कडवी होती ही है पर यदि वह नीमके वृक्ष पर चढ जावे तो उसके कडवे पन का क्या कहना! इसी प्रकार ससारमे कष्ट हो रहे है और आप सब अशुभ कर्मोका बध करके उनकी और भी वृद्धि कर रहे है। हम पाखडकी ओर अग्रसर हो रहे है। थोडेसे

ोडे सासारिक कार्यके लिये हम कुदेव और कुगुरुको पूजने गते है । अब बताइये हमारा कल्याण कैसे हो सकता है ।

हमने ही कर्मों का उपार्जन किया और उसका फल भी हमे ही भुगतना पडेगा । भगवान तो कहते है कि यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो ईश्वरकी भक्ति करना भी छोड दो । कुन्दकुन्द स्वामी कहते है कि स्वर्ग लोक तो पचेन्द्रिय के विषयोका घर है । चक्रवर्तीको इतनी सम्पत्ति और ऐश्वर्य मिला पर इसमे आत्मज्ञानकी कौन-सी वृद्धि हो गई सो बताइये ? साता वेदनीय कर्म ने इस जीवको सुख ही तो दिया, और इससे तीव्र कषाय ही आ गई, और बताइये क्या हो गया ! तो तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो ज्ञात होगा कि शुभ और अशुभ दोनो ही कर्म त्याज्य हैं।

हम राग करते है और दूसरोसे कराते हैं। शास्त्र सुननेका फल तो एक ही है कि हम राग-द्वेष करना छोडें। हमको छोड दो, कोई भी यहाँ बैठेगा या वडे भगवान के पास भी चले जावो, तो वह भी राग-द्वेष छोडनेका उपदेश देगे । तुम्हे विवेकरूपी माणिक्य मिला है, लेकिन तब भी माणिक्यको छोडकर तुम बिना विचार किये ही रमणीय विषयोमे तल्लीन हो रहे हो ।

स्वर्गकी प्राप्ति परिणामोसे होती है न कि द्रव्यसे । एक गरीब आदमी है और वह मोटे चावल चढाता है और उसके परिणाम एकचित्त होकर भगवानके स्वरूपमे लवलीन हो रहे हैं। तथा एक धनिक आदमी हीरा माणिक्य ले भगवानकी पूजन कर रहा है पर उसके परिणाम घरकी ओर लगे हुए है तो इसकी अपेक्षा उस गरीब आदमीको फल अच्छा मिलेगा। इससे मालूम पडता है कि भावकी कीमत होती है । मेढक तो सिर्फ कमलका फूल मुँहमे दबाकर पूजनकी महती बाछा लेकर जा रहा था और उसका रास्तेमे ही देहान्त हो गया। तब भी शुभ परिणाम होनेसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति हो गई—तो इसमे कौन-सी आश्चर्यकी बात हो गई ? ससारमे ऐसे ऐसे काम प्रारम्भ हो गये है जिससे सब चौपट हो गया है । सुखकी प्राप्ति सम्यक्चारित्रसे होती है । सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानसे होता है तथा सम्यग्ज्ञान आगमसे होता है । आगम श्रुतिसे होता है । गणधर देव आगम बनाते है । श्रुति आप्त भगवानसे होती है । आप्त भगवान राग द्वेष रहित होते हैं। ऐसे त्याज्य रागादिकको समझकर उन्हे छोडो । जिसको तुम पूजते हो सो क्या तुम उसके शरीरकी पूजन करते हो या उसके गुणोमे अनुराग रखते हो । बताइये तो आप भगवानसे बच्चा मागते हो, धन मागते हो । क्या उनके पास तुम्हे देनेको रखा है ?

वीतरागविज्ञान ही सच्ची बात कह सकता है। क्योकि यह तो निर्विवाद है कि झूठ बोला जावेगा तो या तो अज्ञानताके कारण या राग-द्वेषके कारण, परन्तु आप्त भगवानमे दोनो चीजे वर्तमान नही है ।

राग-द्वेष न होनेसे ज्ञान कर्मोंकी निर्जरा करा देता है। नेत्रने वस्तुओका ज्ञान करा दिया, रागद्वेष नही होना चाहिये—चलो छुट्टी पाई। कषाय करना बुरा है । आचार्यों ने वर्णन किया है कि ये पुत्र मित्र घर धन सम्पत्ति है वे सब नरकको ले जाने वाले है और उन्होने वही नरकके दुखोका वर्णन कर दिया । तो इनसे तो अनिष्ट बुद्धि करवा दी तथा स्वर्गोंके सुखोका निरूपण किया सो उसमे लाभबुद्धि उत्पन्न करा दी। भगवानने भी जीवको लोभ उत्पन्न करा दिया, व्यवहार है करे क्या ।

बडे बडे आचार्य उपदेश देते है कि किसीसे बोलना नही चाहिये, क्योकि जिससे हम बोलते है वह आत्मा नही और जो आत्मा है वह बोलता नही । परन्तु वे स्वय ही बोलते है । सो क्या करे मोहका उदय आया उसे तो भुगतना ही पडेगा ।

बोधरूपी जो रतन मिला है अगर उसे छोड दोगे तो जिस प्रकार समुद्रमे रत्न फेक देनेसे वह फिरसे प्राप्त नही हो सकता उसी प्रकार बोध भी फिरसे प्राप्त नही किया जा सकता ।

अन्तमे निचोड करके दिखलाते है कि ससारमे सब वस्तुऐं प्राप्त होना सुगम है। राज्य मिल जावे, धन सम्पत्ति मिल जावे, मनके अनुकूल स्त्री पुत्र मिल जावे, एक बोधि ही दुर्लभ है जो बार बार नही मिलती ।

यदि ज्ञान न हो तो पडितोसे सुन लो और अपना कल्याण कर लो, अरे ! यदि लड्डू बनाके नही जानते तो

उसे खाके तो जानते हो ? भेदज्ञान पैदा कर लो— चलो छुट्टी पाई ।

भिखमगोमे भी मागनेकी कला होती है। वे इस तरीकेसे मागते है कि हमारे मनमे गुदगुदी पैदा हो जाती है और हम उसे भिक्षा दिये वगैर चैन प्राप्त नही करते।

एक समयकी बात है कि हमारे घरके पाससे एक भिखारी आया करता था। वह भइया! इस तरीकेसे मागे कि हमे कुछ न कुछ देना ही पडता था। एक दिन वह मागनेको आया। मैने कुछ उसे दिया। तथा उसे रोककर पूछा—'क्यो भाई, तुम्हारा पेट तो भूखा दिखता नही और तुम इस तरहसे क्यो गिडगिडा रहे थे।' वह कहने लगा कि 'यदि इस तरहसे न गिडगिडाये तो हमे कौन देगा ?' फिर मैने उससे पूछा—'क्यो भाई ? तुम्हारे पास कितना पैसा है।' उसने कहा '५०) है'। मैंने कहा 'ठीक बताओ। 'वह कहने लगा' २००)है, दो स्त्रियाँ है। आरामसे मोराजी मे रहते है। आठ दिनको खाना रखा हुआ है। आनन्द करते है। लेकिन एक बात है कि तुम लोगोमे विवेक बिल्कुल नही।' मैने पूछा—'क्यो भाई! क्या बात है। हमने तो तुम्हे खानेको दिया और हमसे ही ऐसा कहते हो ? उसने उत्तरमे कहा—कि 'यदि तुम न देते तो हमे दूसरी जगह मिल जाता। लेकिन कभी कभी जो लँगडा इस तरफ मागता है और उसे तुम कुछ न कुछ या बाईजी भी दे दिया करती है। परन्तु तुम्हे क्या मालूम उसके पास २०००) रुपया नगद है। तुम्हे तो पात्र अपात्र का कुछ विवेक नही है।'

भइया, सच्ची बात पूछो तो हममे विवेक बिल्कुल नही है। अरे हमने कमाया और हम ही उसका उपभोग न कर सके—यह हमारी नादानी है।

ज्ञान का प्रकाश

ऋण चुकानेके दो रास्ते है। एक तो ऋण लेवे नही और प्राचीन कर्ज चुका देवे। इसी प्रकार सवर कर्मोंके आनेको रोक देता है। प्राचीन कर्म रहे सो खिर जावेंगे।

शीतकाल था। मैं और मेरे कुछ अन्य सहपाठी रुई भरानेके लिये बाजारमे गये। बनारसकी वार्ता है यह। सो सबके लिये तो भरने के लिये नौजवान मिल गये परन्तु मेरे हिस्सेमे एक बूढा आदमी पडा। मैने कहा—'अरे तुम नही भर सकते बूढे आदमी हो। हमारे सब साथी चले जावेंगे। हम तो तुमसे नही भरवाते।'

उसने उत्तर दिया—'अरे घबडाते क्यो हो ? उन सबसे अच्छा और जल्दी तुम्हे दे देंगे, तुम चिन्ता न करो।' सबने तो एक बारमे सब रुई धुनक डाली, पर बूढेने तो एक एक छटाक करके धुनकी। अन्तमे सबसे पहले उस वृद्धने वह रुई धुनकी और वह रुई सबसे अच्छी धुनकी गई। उसने मुझसे कहा—'कुछ समझे कि नही या पूरे मूर्ख ही हो।' मैने कहा—'मै सब समझ गया 'तुम अपनी एक-एक छटाक धुनक करके काम करनेकी चिन्ता कम करते गये और उन्होने पूरी ही धुनकी और फिरसे पूरी ही धुनकी। इससे उनको पूरेकी ही चिन्ता रही।'

इसी प्रकार जब हम कर्मोका सवर कर लेते है तो एक चिन्तासे निर्वृत हो जाते है फिर हमे सिर्फ निर्जरा ही करना पडती है सो वह भी हम कर लेगे। रागादिकको रोककर जिसने ज्ञानकी धुरी धारण करके संवर कर दिया वह अब प्राचीन कर्मका नाश करने के लिये निर्जरा करनेके लिए उद्यत होता है।

सवर कहाँसे होता है इसको बताते है। वीतरागी चेतन व अचेतन दोनोका उपभोग नही करता है। उपभोग-का अर्थ है—रुच जाना। जैसे तुमने किसी पदार्थको खाया तो तुम्हे जिह्वासे उस पदार्थका स्वाद आया। तुमको रुच गया सो तुम उसमे राग करने लगे। मुनिने भी उस पदार्थ-को खाया और जिह्वा इन्द्रियसे उसके रसास्वादनका ज्ञानोपार्जन किया परन्तु उन्होने उसमे रागबुद्धि नही की। वह समझते है कि सिर्फ शरीरकी स्थितिके लिये उन्हे ऐसा करना पडा। क्योकि कहा है—

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

मन्दिरमे हम भी जाते है, माली भी जाता है और मन्दिरमे सबसे अधिक समय लगाता है लेकिन भक्त हम ही कहलाते है, माली नही। परिणामोकी अपेक्षासे यह व्यवहार होता है। यदि हमे धर्म रुच गया तो समझना चाहिये कि हमारा कल्याण हो गया।

बन्ध का कारण राग-द्वेषकी परिणति है। पदार्थके उपभोगमे दो बातें होती है। जब सातावेदनीयका उदय होता है तो पदार्थ रुचिकर प्रतीत होनेसे सुखानुभव होने लगता है। कभी-कभी वे ही पदार्थ असातावेदनीयके उदयसे अरुचिकर प्रतीत होनेसे दु खानुभव होने लगता है। ज्ञानमे तो सुख दु ख दोनो ही आवेगे। परन्तु चूँकि उपयोग बन्धका कारण नही, बन्धका कारण मोह है। जहाँ उपयोग-के समय मोहका सहयोग मिला वही पर नवीन कर्मका बन्ध हो जाता है।

असातावेदनीयके उदयसे यदि किसीको दु ख हुआ। यदि अब वह अपने सक्लेश परिणाम करेगा तो उसे नवीन कर्मबन्ध होगा और यदि समता धारण की तो उसे सवर होगा।

दीपचन्दजी सुनाया करते थे कि मारवाडमे एक बुढिया थी। उसके ७ लडके थे। वे बहुत ही सुन्दर और आज्ञा-कारी थे। आयुपूर्ण होनेसे बडे लडकेका स्वर्गवास हो गया। उस बुढियाने बहुत ही विलाप किया। दिन रात रोती रहती थी। लडकोने बहुत समझाया कि हम तुम्हारी सेवा करेंगे और यदि तुमने विलाप करना नही छोडा तो अवश्य हम सब भी मर जावेगे। दैवात् सब मर गये।

आचार्योंने तो यह निरूपण किया है कि कर्मके उदयसे होनेवाले पर पदार्थोंका उपभोग करलो, पर उनमे न तो विषाद ही लावो और न उनसे सुख ही मनाओ। बन्धका कारण कषाय है। बन्धके जो अनुभाग और स्थिति भेद किये गये है कषाय पर निर्भर है। तीव्र कषायमे तीव्र अनुभाग एव लम्बा स्थिति बन्ध होगा।

अभी किसीको यदि कोई विषैला जीव जन्तु काट खावे तो मन्त्रमे ऐसी ताकत है कि वह उसे दूर कर देता है। उसी प्रकार ज्ञान भी एक ऐसा मन्त्र है जिससे मोह राग और द्वेपरूपी कर्म क्षणमे ही नष्ट कर दिया जाता है। कई वस्तुऐ ऐसी देखनेको हमे मिलती हैं या हमे भुगतना पडती है जिन्हे हम नही जानते लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि उपयोग करते समय आत्माका सन्तुलन ही खो दिया जावे।

धर्मका फल मीठा रहता है पर धर्मकी रक्षा करना वडा कठोर है। देखिये तो आज सुबह खाया फिर अपना पेट खाली हो जाता है। क्या विचित्र लीला है? रोज रोज यहाँ आनेकी कोई आवश्यकता नही। अरे! एकदिन समझलो और अपने कल्याणमे लग जाओ।

जो तुम इतरको दृष्टा मानते हो उसको छोड अपनेको ही दृष्टा समझो। तू न तो शरीर है और न किसी जाति-वाला है। तू ही ज्ञाता है, तू ही दृष्टा है। भूल छोड दो आज कल्याण हो जावे। ज्ञान और वैराग्यकी ताकत ये दो चीजे ही तुम्हारा कल्याण कर देगी। कोई मनुष्य मद्यपान कर लेता है और वह पागल हो जाता है। ऐसे समय यदि दवाई खा ली जावे तो नशा दूर हो जावे, चलो छुट्टी पाई।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको तीव्र विरागीभाव होनेसे नवीन कर्मबन्ध नही होता। प्रमादी भी नही होना चाहिये। भीतर हृदयका अभिप्राय ठीक रखो। भइया, अध्यापक लडकेको मारता है तो लडका कहता है—'अच्छा मारा'। उसका सरक्षक कहता है—'अच्छा मारा' क्योकि उस अध्यापक का अभिप्राय उस लडके को पढाने का है।

सम्यग्दृष्टिको भी सव भुगतना पडता है। मोहसे मुनि अपने पास पिछी रखते है। कही जीवोका घात न हो जावे—यह मोह रहता है। जब मोह नष्ट हो जाता है तो कोई बुराई पैदा नही होती। देखो तो हम नित्यप्रति पुद्गलकी पर्यायोको बुरी अवस्थामे ला रहे है। सुन्दर २ पदार्थ मल मूत्र और अन्य पर्यायोमे बदल रहे है। यह सब तुम्हारे ही दोषो का परिणाम है। जब परिहारविशुद्धि हो जाती है तो शरीर ऐसा हो जाता है कि भोजन भी करते है तो भी मलमूत्रका परिणमन नही होता हे। इससे ज्ञात होता है कि शरीरमे मोह न होनेसे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो ही विषय सेवन कर रहे है पर एकको फल प्राप्त नही होता और एकको होता है। ज्ञानवैभव एव विरागताका बल है। सेवन करते हुए भी असेवक है, क्योकि वे उदासीन है तथा पदार्थ-के स्वरूपको जानते है। अन्तरग आसक्ति न होनेसे

सम्यग्दृष्टिके बन्ध नही होता और मिथ्यादृष्टि न सेवन करते हुए भी बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान व चारित्र होता ही है। वह अपनी आत्मा मे स्थित होता हुआ रागसे विरक्त होता है। सामान्य व विशेष प्रकारसे कर्मका उदय होता है और हमे सुख व दुख देने वाली विविध प्रकारकी सामग्री प्राप्त होती है। पर सम्यग्दृष्टि यह समझता है कि मैं यह नही हूँ मै तो ज्ञाता और दृष्टा हूँ। किसी वस्तुके विछोहमे या भगवानकी मूर्तिके खण्डन होने पर हम दुखी होते है। तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो हमे वस्तुसे कोई भी दु ख प्राप्त नही होता वरन हम अपने मोहसे ही दु खी होते है। मोहका बडा बाहिजात ठाट है। यदि मोह मिट जावे तो ससार मिट जावे, आत्माका असली आनन्द प्राप्त होने लगे। हमारा ज्ञान है उसमे तो सब पदार्थ झलकेंगे, इसमे मोह क्यो करते हो। मोहसे उस पदार्थको अपना मान लेते हो—यही तो गलती है। यदि यह गलती सुधर जावे तो कल्याण होनेमे कोई विलम्ब नही।

वर्तमान कालमे जल गर्म है पर उसका स्वभाव गर्म नही है वह तो स्वभावत शीतल है। पर अग्निके सयोग से गर्म हो गया है। गर्मीको मिटाने का प्रयत्न किया जावे और वह दूर हो जावे तो जलका जो स्वभाव शीतलता है वह प्रगट हो जावेगा।

आत्मामे जो औदयिक परिणाम है उनको सहते हुए रागद्वेषको मिटानेकी कोशिश करो। ये रागद्वेष तो ठीक है क्षायोपशमिक ज्ञान भी तुम्हारा रहने वाला नही है। भइया! यह बात तो जरूर है कि हम मोह वगैरह को दूर करनेका प्रयत्न करते है, क्योकि ये बुरे है। इनसे आकुलता प्राप्त होती है। पर हम ज्ञान को मिटाने का प्रयत्न नही करते, क्योकि इससे हमे दुख नही होता। दुख देने वाली असली चीज तो मोह है। ज्ञानमें जो चीज आवे सो आवे, उससे हमारा कोई बिगाड होने वाला नही है पर उसमे राग-द्वेष नही करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि राग-द्वेषका त्याग करता है। वह समझता है कि राग-द्वेष हमारा नही है वह तो कर्मोदयसे हुआ है। हम तो इससे बिलकुल पृथक् है। यह तो मिटने वाली चीज है इसे मिटाना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टिके नियमसे सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र होता ही है। वह अपनी आत्माको जानता हुआ औदयिकभाव को छोडता है। मदिरमे बैठकर भी हमने यदि अपना राग नही छोड़ा तो सब व्यर्थ है। हम अरिहंतका नाम लेते है पर जरा उसके अर्थ पर तो विचार कीजिये।

'अ' का अर्थ होता है अरि याने मोहनीय कर्म। 'र' का अर्थ होता है रज याने अज्ञान, अदर्शन व अतराय। 'हत' का अर्थ मारने वाला। जिसने मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय इन ४ घातिया कर्मोको नष्ट कर दिया है वे ही अरिहंत कहलाते है। व्यावहारिक दृष्टिकोणसे हम उनका पूजन करते है लेकिन उनके गुणोको प्राप्त करनेका हम प्रयत्न नही करते—यही हमारी कमजोरी एव मूर्खता है।

मनुष्य जब राग, द्वेष, मोह छोड देता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है। उन्हे छोडने की आवश्यकता ही नही पडती, जब उनको वह परपदार्थ समझने लगता है तब उनसे हेयबुद्धि तो हो ही जाती है। राग, द्वेप, मोह और कषाय ये छोडने योग्य है। सामान्य व विशेष भावोंसे पृथक् होकर केवलज्ञान व वैराग्यको ही अपना स्वभाव मानना सम्यग्दृष्टिका कर्त्तव्य है। सम्यग्दृष्टिको मकान तो मिल गया। अब तो उसके कूडे कचडेको झाड कर साफ करनेकी आवश्यकता है।

जो मोहादि है वही तो कूडा कचडा है।

सम्यग्दृष्टिने, जो कर्म व कषाय उसे दबो रहे थे, उन सबको चूर कर दिया है। जिस तेज अग्नि ने वज्रको भस्म कर दिया वह तो शेष कूडा करकटको शीघ्र ही नष्ट कर देगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि शीघ्र ही अज्ञान, राग, द्वेष और मोहको नष्टकर सकता है।

जो लेशमात्र भी राग-द्वेपको माने वह अपनी आत्माको नही जान सकता है। जो आत्माको नही जानता वह जीव अजीवको नही जान सकता और जो जीव अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त कर सकता है?

जबसे यह ससार है हम हरएक पदार्थमे पागल हो जाते हैं और उसे अपना मान बैठे हैं। एक पर्यायमे आये तो दूसरी पर्यायको भूल जाते हैं। यथार्थमे ये अवस्थाएँ अस्थिर हैं अपनी नही है। ये तो पुद्गल-परिणमन है। समयको कोई रोक नही सकता। हम तुम तो ठीक ही हैं तीर्थङ्कर पद तक तो रुका नही। यदि तुम्हारा ही पद है तो रख लो उसे अपने पास तब जानें। लेकिन रहता नही। इससे मालूम पडता है कि ये शरीर धन, ऐश्वर्य आदि हमारे नही है। हमारा तो जो स्थायीभाव ज्ञान है वही है।

भइया, एक बुढिया थी। उसके ३ लडके थे। सो एक दिन एक पडोसीने विचार किया कि किसीका निमत्रण किया जावे। उसने बुढियासे आकर कहा—कि छोटे लडके का नेवता किये जाता हूँ। बुढियाने उत्तर दिया कि भाई किसी का भी नेवता कर जावो, हमे कोई उज्र नही, पर इतना अवश्य है कि तीनो ही ३-३ सेरका खाने वाले हैं। इसी प्रकार चाहे किसी भी भावनाका चिन्तन करो बात एक ही है।

भाव बहुतसे पैदा होते है। शात परिणाम कभी होते है और कभी क्रोध रूप परिणाम हो जाते हैं। परन्तु ये स्थिर परिणाम नही है। इससे यह आत्माका स्वभाव नही हो सकता। मोह, कषाय, राग, द्वेष आत्मामे होवे परन्तु ये है अस्थायी ही। ये हमेशा टिकने वाले नही है। ज्ञानभाव ऐसा है जो आत्मामे नित्य है—अव्यभिचारी है।

ज्ञानमे कोई विपत्ति नही है, मोह नही हो तो कोई उपद्रव नही हो सकता। जहाँ दो वस्तुएँ होती है वही तो झझट पैदा हो जाती है। यदि शुद्ध दाल ही बनाई जावे तो उसमे कोई उपद्रव नही और यदि उसमे नमक मसाला डाला जावे, तो कभी रौना और कभी खारा ऐसी विशेषताऐ हो जाती है।

चिन्ताका विकल्प सब बिगाड करता है। व्यवहारमे भी देखा जाता है कि जिस मनुष्यके जितनी कम चिन्ता होगी वह उतना ही सुखी होगा।

बुढिया का एक लडका था। वह उसे खूब खिलाया करती थी। उस लडकेको कोई चिन्ता नही थी। वह आरामसे रहता था और खेला करता था। वह शरीरका काफी मजबूत था। उसके घरके सामनेसे राजाका हाथी निकला करता था। जब कभी वह लडका हाथीकी साकल पर लात रख देता था, हाथीकी यह मजाल न थी कि वह आगे बढ सके। हाथीको चिन्ता हुई कि हमसे बलवान आदमी यहाँ मौजूद है और वह कमजोर होने लगा। यह देखकर राजाने उसके कमजोर होनेका कारण ज्ञात किया और उस दिन लडकेको दरबारमे बुलाया।

उससे कहा—'हमारे यहाँ नौकरी करोगे?'

उसने उत्तर दिया—'हमे क्या करना है नौकरीका, हम तो आरामसे रहते है। हमे तुम्हारी नौकरीकी आवश्यकता नही।'

राजाने कहा—'अच्छा इतना काम करना कि तुम्हारे घरके पास जो मंदिर है उसमे एक दीपक रख देना। हम तुम्हे ५००) माहवार देगे। ये लेते जाओ रुपये।'

लडकेने सोचा कि इतने रुपये मिल रहे है और थोडा-सा ही तो काम है। उसने रुपये ले लिये और बडी खुशीके साथ घर आया।

जब वह लडकोके साथ खेल रहा था तो उसके मनमे यह चिन्ता पैदा हो गई कि दीपक जलाना है। दूसरे दिन जब उसने हाथीकी जजीर पर अपना पैर रखा तो हाथी उसे खीच ले गया।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जब चिन्ता हो जाती है तो शरीर का बल अपने आप कम हो जाता है। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो चिन्ताको छोडकर आत्मामे लीन रहो। अपनी समालोचना करो तो कल्याण हो जावे। उसकी तरफ अभी अपनी दृष्टि नही गई। दुनिया का यदि भला चाहते हो तो पहले अपना भला करो।

मोक्षका साक्षात् उपाय ज्ञान है। जिस प्रकार बादलोमे सूर्य छिपा रहता है तब प्रकाश नही रहता। पर जैसे जैसे वह घनपटल से दूर होता है वैसे ही ज्ञानके उदयसे आत्मा-का अज्ञानाधकार नष्ट हो जाता है। कर्मपटलसे यह आत्मा आच्छादित है। जैसे जैसे कर्मपटल दूर होगे वैसे

वैसे आत्माका विकास होगा। कर्मपटल दूर करनेके लिये हमे ज्ञानको हासिल करना चाहिये।

अनन्त पर्यायोको यदि नही जानते हो तो कोई नुकसान नही। भेदज्ञान हो जावे तो सन्तोष करो इससे अधिक समवसरणमे क्या मिलेगा ? हम अपने शरीरको कष्ट दे—तप करे, महातप करे और यदि ज्ञान नही हो तो हमारा कल्याण नही होगा। सतत ज्ञानका अभ्यास करो—इतना ही इसका तात्पर्य है।

एकमेः एव शरणम्

कोई हमारी रक्षा करने वाला नही है। ऐ प्राणी ! ससारमे ऐसा कोई जीव है जो मरने वाला न हो ? नही सभी मरणको प्राप्त होता है। यमरूपी सिंहका पैर जहा पड जाता है फिर उसकी कोई रक्षा करने वाला नही है। ससारमे कोई शरण नही है। सुर हो या असुर हो, तन्त्र हो या मन्त्र हो, मरने वाले जीवको कोई भी नही बचा सकता !

मृत्यु का नाश कोई कर नही सकता, लेकिन जन्मका नाश तो कर सकता है। जब जन्मका नाश हो जावेगा तो मृत्युका अपने आप नाश हो जावेगा। परन्तु सबसे बडा दुर्गण हममे यह है कि हम अपनी कमजोरी बताते है। जो काम तीर्थंकरने किया उस कामके करनेकी शक्ति हममे है। हम दिनरात आकुलता उत्पन्न करते रहते है कि अरे हमारा यह नष्ट हो गया, अरे ! हमारा तो सर्वनाश हो गया। इस बातकी ओर कोई भी विचार नही करता कि 'इस ससाररूपी वनमे अनन्तानन्त पुरुष विलीयमान हो गये है। तीर्थङ्कर तो बचे नहीं फिर हमारी क्या शक्ति है ?'

राजगृहीमे जहा भगवानने जन्म लिया वहाँ एक कुतिया भी नही दिखाई देती। हम प्रयत्न करते है कि हमारा स्मारक बन जावे। सूर्य तककी तो तीन दशाये होती है। हमारी क्या होगी—सो सोच लो।

एकत्व भावना

भवरूपी जो मरुस्थल है इसमे नाना प्रकारके दुख मौजूद है। आचार्योका तात्पर्य यह है कि तुम अकेले ही हो, तुम्हारे कर्मोंके फलको तुम्ही भुगतने वाले हो।

दो आदमियोमे अधिक मित्रता थी। उन्होने यह निश्चय किया था कि हम साथ ही त्यागी होगे। जब एक आदमीने दूसरेसे कहा कि चलो हम त्यागी होनेके लिये तैयार है, इस पर उसने कहा कि थोड़ीसी कसर रह गई। इस प्रकार वह हर समय कह देता था। वह त्यागी मर कर स्वर्ग गया। परन्तु वह फिरसे उसके पास आया और त्यागव्रत धारण करनेके लिये अपने मित्रसे कहा। उसने फिरसे वही उत्तर दिया कि अभी थोडी-सी कसर रह गई है। देवने कहा—हम तुम्हारी कसर थोडी-सी देरमे निकाल देते है, तुम थोडा-सा काम करो। बीमार बन जाओ एक दिनके लिये।

देवके कथनानुसार वह बीमार पड गया। घरमे बडा तहलका मच गया। डाक्टर और वैद्य बुलाये जाने लगे। देव वैद्यका रूप धारण करके वहाँ आ गया। उसने उस कमरेसे सबको बाहर कर दिया और थोडासा दूध और एक सिगडीमे अग्नि मगाई। उस दूधको अग्नि पर तपने को रख दिया।

इसके बाद उसने पूछा—तुम बताओ तुम्हारा सबसे प्रिय कौन है ? उसने उत्तर दिया कि हमारी माता हमे चाहती है। तदनन्तर उसने माताको बुलाया। और कहा, माताजी तुम्हारे लड़केकी तबीयत अभी ठीक हो सकती है, यदि तुम यह दबाई सहित दूध पी डालो। परन्तु इससे तुम्हारा स्वर्गवास अभी हो जावेगा। माताने कहा—हमारे तो तीन लडके और है यदि यह न रहेगा तो हमारी सेवा तो दूसरे कर लेगे। इस प्रकार उसने पिता-पत्नी आदि जो भी उसके प्रिय थे सबको बुलाया परन्तु उसके पीछे मरनेको कोई तैयार नही हुआ।

अब उसे ख्याल आ गया। मनुष्यकी कसर तो कभी पूरी नही हो सकती और यदि आज दृढ निश्चय कर ले तो फिर कोई कठिन बात नही।

अपने स्वरूपको न जान करके और परपदार्थको ग्रहण करके हम यह सब कष्ट भुगत रहे है। हमारा साथ देने वाला कोई नही है।

जब हमने एकत्वपने को प्राप्त कर लिया तो हमने ही मोक्ष प्राप्त कर लिया। कोई भी हमारा भला बुरा करनेवाला नही है। हमे अपने को ही देखना चाहिये। एक आदमी स्वर्ग जाता है, और एक नरक मे जाता है, एक अकेला शोकादि करके कर्मबंध करता है और एक ज्ञानी व्यक्ति कर्मको नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। जो जैसा काम करेगा वही उसके फलको भुगतेगा। तुम्हारे हाथकी बात है, जो इच्छा हो सो पर्याय धारण कर लो।

परमार्थसे विचार करो तो आत्मा एक है। वह कर्मके निमित्तसे ही बंधयुक्त हो रहा है, यह बंध मिटे तो मोक्ष हो जाय।

✲

सागर के समान मनुष्य को गम्भीर होना चाहिये। सिंह के सदृश उसकी प्रकृति होना चाहिये। शूरता की पराकाष्ठा होना ही मनुष्य के लिये लौकिक और परमार्थिक सुख की जननी है। परमार्थिक सुख कही नही, केवल लौकिक सुख की आशा त्याग देना ही परमार्थ सुख की प्राप्ति का उपाय है। सुखशक्ति का विकास आकुलता के अभाव से होता है।

—गणेश वर्णी

१४

गागर में सागर

पूज्य वर्णी जी महाराज यद्यपि कवि नही थे पर एक कवि का हृदय उन्हे प्राप्त था। जितनी कोमल अनुभूतिया, जितना तीक्ष्ण दृष्टिकोण और अभिव्यक्ति की जितनी सामर्थ्य एक अच्छे कवि मे होनी चाहिये, पूज्य वर्णी जी मे उससे कुछ अधिक ही थी।

यह बहुत कम लोगो को ज्ञात है कि वर्णी जी चिन्तन के गहन क्षणो मे कभी-कभी अपने विचारो को पद्यबद्ध भी करते थे। उनकी यह कविता पूर्णत स्वान्त. सुखाय हुआ करती थी और कभी भी इसका पाठ, प्रचार या प्रकाशन नही हुआ करता था। प्राय. ये रचनाये बाबा जी की डायरी के पन्नो पर यत्र-तत्र बिखरी पडी है। इनका सकलन सबसे पहले श्री नरेन्द्र विद्यार्थी ने किया तथा एक सौ बीस दोहे वर्णी-वाणी के प्रथम दो भागो मे प्रकाशित किये। हमे दस पद्य और ऐसे प्राप्त हुए है जो अब तक अप्रकाशित थे। पाठको को बाबा जी के इस दुर्लभरूप की छवि का दर्शन कराने के लिये हम ये पद्य यहाँ प्रकाशित कर रहे है।

इन पद्यो मे विषय की गम्भीरता के साथ भाषा की सरलता और उदाहरणो की सहजता दर्शनीय है।

ये पद्य उस महान् चिन्तक की समय-समय की मन: स्थिति का भी अच्छा चित्राङ्कन प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिये होली के दिन जब सारे नगर मे धूल, कीचड और गन्दगी की उछाल का माहौल बनता है तब बाबा जी इस वातावरण को रूपक बनाकर आत्मा की अन्तरग शान्त परिणति और की बाह्य दाहक रागपरिणति वाली दशा पर ढाल कर कहते है—

जग मे होरी हो रही, बाहर निकरे कूर।
जो घर बैठे आपने, काहे लागै धूर॥

जीवन के बीतते हुए दिनो का हिसाब पूज्य वर्णी जी कितनी बारीकी से रखते थे इसके दो उदाहरण है। अपनी छियत्तर वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उन्होने लिखा—

सत्तर छह के फेर मे, गया न मन का मैल।
खाँड लदा भुस खात है, बिन विवेक का बैल॥

इसी प्रकार अस्सी वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उनकी अभिव्यक्ति की तीक्ष्णता देखिये—

अस्सी वर्ष की आयु मे, कियो न आतम काम।
ज्यो आये त्यो ही गये, निशि दिन पीस्यो चाम॥

अब आप उनके शेष पद्यो का रसास्वादन कीजिये।

मंगलाचरण—

आदीश्वर जिन वन्द कर, आगम गुरु चित लाय।
अन्य वस्तु को त्याग कर मेटहु जगत उपाय॥

इस भववनके मध्यमे, जिन बिन जाने जीव।
भ्रमण-यातना सहनकर, पाते दु:ख अतीव॥१॥
सर्वहितङ्कर ज्ञानमय, कर्मचक्र से दूर।
आत्म-लाभके हेतु तस, चरण नमू हत क्रूर॥२॥

आत्मज्ञान

कब आवे वह सुभग दिन, जा दिन होवे सूझ।
परपदार्थको भिन्न लख, होवे अपनी बूझ॥३॥
जो कुछ है सो आपमे, देखो हिये विचार।
दर्पण परछाही लखत, श्वानहि दु:ख अपार॥४॥
आतम आतम रटनसे, नहिं पावहिं भव पार।
भोजनकी कथनी किये, मिटे भूख नहि लार॥५॥
यह भवसागर अगम है, नाही इसका पार।
आप सम्हाँले सहज ही, नैया होगी पार॥६॥

केवल वस्तुस्वभाव जो, सो है आतमभाव ।
आत्मभाव जाने बिना, नहि आवे निज दाव ।।७।।
ठीक दाव आये बिना, होय न निजका लाभ ।
केवल पासा फैंकते, नहि पौ बारह लाभ ।।८।।
जिसने छोडा आपको, वह जगमे मतिहीन ।
घर घर मागे भीखसी, बोल वचन अतिदीन ।।९।।
आत्म-ज्ञान पाये बिना, भ्रमत सकल ससार ।
इसके होते ही तरे, भवदुख पारावार ।।१०।।
जो कुछ चाहो आत्मा ! सर्व सुलभ जग बीच ।
स्वर्ग नरक सब मिलत है, भावहि ऊँच रु नीच ।।११।।
आज घडी दिन शुभ भई, पायो निज गुण-धाम ।
मनकी चिन्ता मिट गई, घटहि विराजे राम ।।१२।।

ज्ञान

ज्ञान बराबर तप नहीं, जो होवे निर्दोष ।
नही ढोलकी पोल है, पडे रहो दुखकोप ।।१३।।
जो सुजान जाने नहीं, आपा-परका भेद ।
ज्ञान न उसका कर सके, भववन का उच्छेद ।।१४।।
सर्व द्रव्य निजभावमे, रमते एकहि रूप ।
याही तत्त्व प्रसादसे, जीव होत शिवभूप ।।१५।।
भेद-ज्ञान महिमा अगम, वचनगम्य नहिं होय ।
दूधस्वाद आवे नहीं, पीते मीठा तोय ।।१६।।

दृढ़ता और सदाचार

दृढताको धारण करहु, तज कर खोटी चाल ।
बिना नाम भगवानके, कटे न भवका जाल ।।१७।।

सुख की कुञ्जी

जगमे जो चाहो भला, तजो आदते चार ।
हिंसा, चोरी, झूठवच, और पराई नार ।।१८।।
जो सुख चाहत हो जिया ! तज दो बाते चार ।
पर-नारी, पर-चूगली, परधन और लबार ।।१९।।

गरीबी

दीन लखे मुख सबनको, दीनहि लखे न कोय ।
भलो विचारे दीनको, नर हु देवता होय ।।२०।।

आपत्ति

विपति भली ही मानिये, भले दुखी हो गात ।
धैर्य्य, धर्म, तिय, मित्र ये, चारउ परखे जात ।।२१।।

नम्रता

ऊँचे पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय ।
नीचे हो जी भर पिये, ऊँचा प्यासा जाय ।।२२।।

भूलने योग्य भूल

भव-बन्धनका मूल है, अपनी ही वह भूल ।
याके जाते ही मिटे, सभी जगतका शूल ।।२३।।
हम चाहत सब इष्ट हो, उदय करत कछु और ।
चाहत हैं स्वातन्त्र्यको, परे पराई पौर ।।२४।।

सङ्कोच

हाँ-मे-हाँ न मिलाइये, कीजे तत्त्व-विचार ।
एकाकी लख आत्मा, हो जावो भवपार ।।२५।।
इष्टमित्र सकोचवश, करो न सत्पथघात ।
नहि तो वसु नृप-सी दशा, अन्तिम होगी तात ।।२६।।

परपदार्थ

जो चाहत निजवस्तु तुम, परको तजहु सुजान ।
परपदार्थ ससर्गसे, नहि कबहूँ कल्यान ।।२७।।
हितकारी निजवस्तु हे, परसे वह नहि होय ।
परकी ममता मेटकर, लीन निजातम होय ।।२८।।
उपादान निज आत्मा, अन्य सर्व परिहार ।
स्वात्म-रसिक बिन होय नहिं, नौका भवदधि पार ।।२९।।
जो सुख चाहो आपना, तज दे विषकी बेल ।
परमे निजकी कल्पना, यही जगतका खेल ।।३०।।
जबतक मनमे बसत है, परपदार्थकी चाह ।
तब लगि दुख ससारमे, चाहे होवे शाह ।।३१।।
परपरणति पर जानकर, आप आप जप जाप ।
आप आपको याद कर, भवको मेटहु ताप ।।३२।।
पर-पदार्थ निज मानकर, करते निशिदिन पाप ।
दुर्गतिसे डरते नही, जगत करहिं सन्ताप ।।३३।।
समय गया नहिं, कुछ किया, नहिं जाना निजसार ।
परपरणतिमे मगन हो, सहते दुख अपार ।।३४।।
परमे आपा मानकर, दुखी होत ससार ।
ज्यो परछाही श्वान लख, भोकत बारम्बार ।।३५।।
यह ससार महा प्रबल, या मे बैरी दोय ।
परमे आपा कल्पना, आपरूप निज खोय ।।३६।।

जो सुख चाहत हो सदा, त्यागो पर अभिमान ।
आपवस्तुमे रम रहो, शिव-मग सुखकी खान ।।३७।।
आज काल कर जग मुवा, किया न आतमकाज ।
परपदार्थको ग्रहण कर, आई न नेकहु लाज ।।३८।।
जिनको चाहत तूँ सदा, वह नहि तेरा होय ।
स्वार्थ सधे पर किसीकी, बात न पूँछे कोय ।।३९।।

पर सङ्गति

सबसे सुखिया जगतमे, होता है वह जीव ।
जो परसङ्गति परिहरहि, ध्यावे आत्म सदीव ।।४०।।
जो परसगतिको करहि, वह मोही जग बीच ।
आतम अन्य न जानके, डोलत है दुठ नीच ।।४१।।
परका नेहा छोड दो, जो चाहो सुख रीति ।
यही दु खका मूल है, कहती यह सद्-नीति ।।४२।।
जो सुख चाहो जीव तुम, तज दो परका सग ।
नहिं तो फिर पछतावगे, होय रगमे भग ।।४३।।
छोडो परकी सगति, शोधो निज परिणाम ।
ऐसी ही करनी किये, पावहुगे निजधाम ।।४४।।
अन्य-समागम दुखद है, या मे सशय नाहि ।
कमल-समागमके किये, भ्रमरप्राण नश जाहि ।।४५।।

राग

भवदधि-कारण राग है, ताहि मित्र' निरवार ।
या बिन सब करनी किये, अन्त न हो ससार ।।४६।।
राग द्वेष मय आत्मा, धारत है बहु वेष ।
तिनमे निजको मानकर, सहता दु:ख अशेष ।।४७।।
जगमे बैरी दोय है, एक राग अरु दोष ।
इनहीके व्यापार ते, नहि मिलता सन्तोष ।।४८।।

मोह

आदि अन्त बिन बोध युत, मोहसहित दु:खरूप ।
मोह नाश कर हो गया, निर्मल शिवका भूप ।।४९।।
किसको अन्धा नहि किया, मोह जगतके बीच ।
किसे नचाया नाच नहिं, कामदेव दुठ नीच ।।५०।।
जगमे साथी दोय है, आतम अरु परमात्म ।
और कल्पना है सभी, मोहजनक तादात्म ।।५१।।
'एकोऽहं' की रटनसे, एक होय नहि भाव ।
मोहभावके नाशसे, रहे न दूजा चाव ।।५२।।

मगलमय मूरति नही, जड मन्दिरके माँहि ।
मोही जीवोकी समझ, जानत नहि घट माहि ।।५३।।
परिग्रह दुखकी खान है, चैन न इसमे लेश ।
इसके वशमे है सभी, ब्रह्मा विष्णु महेश ।।५४।।

रोकड़ (पूँजी)

जो रोकडके मोह वश, तजता नाही पाप ।
सो पावहि अपकीर्ति जग, चाह, दाह,सन्ताप ।।५५।।
रोकड ममता छाँडि जिन, तज दीना अभिमान ।
कौडी नाही पासमे, लोग कहे भगवान ।।५६।।
रोकडके चक्कर फँसे, नहिं गिनते अपराध ।
अखिल जीवका घात कर, चाहत है निज साध ।।५७।।
रोकडसे भी प्रेमकर, जो चाहत कल्याण ।
विषभक्षणसे प्रेमकर, जिये चहत अनजान ।।५८।।
रोकडकी चिन्ता किये, रोकड सम लघु कोय ।
रोकड आते ही दुखी, किस विधि रक्षा होय ।।५९।।
रोकड जानेसे दुखी, धिक् यह रोकड होय ।
फिर भी जो ममता करे, वह पग-पग धिक् होय ।।६०।।
रोकडकी चिन्ता किये, दुखी सकल ससार ।
परपदार्थ निज मानकर, नहिं पावत भवपार ।।६१।।
रोकड आपद मूल है, जानत सब ससार ।
इतने पर नहिं त्यागते, किस विधि उतरे पार ।।६२।।
साधु कहे बेटा ! सुनो, नहि धन कीना पार ।
अटी मे पैसा धरे, क्या उतरोगे पार ।।६३।।
द्रव्यमोह अच्छा नही, जानत सकल जहान ।
फिर भी पैसाके लिये, करत कुकर्म अजान ।।६४।।
जिन रोकड चिन्ता तजी, जाना आतमभाव ।
तिनकी मुद्रा देखकर, क्रूर होत समभाव ।।६५।।

व्यवहार नयसे

रोकड बिन नहिं होत है, इस जग मे निर्वाह ।
इसकी सत्ताके बिना, होते लोग तबाह ।।६६।।

लोभ

ज्ञानी तापस शूर कवि, कोविद गुण आगार ।
करिके लोभ - विडम्बना, कीन्हा इह ससार ।।६७।।

सन्तोषी जीवन

इक रोटी अपनी भली, चाहे जैसी होय।
ताजी बासी मुरमुरी, रूखी सूखी कोय ॥६८॥
एक बसन तन ढकनको, नया पुराना कोय।
एक उसारा रहनको, जहाँ निर्भय रहु सोय ॥६९॥
राजपाटके ठाठसे, बढकर समझे ताहि।
शीलवान सन्तोषयुत, जो ज्ञानी जग माहि ॥७०॥

कुसङ्गति

मूरखकी सगति किए, होती गुणकी हानि।
ज्यो पावकसगति किये, घी की होती हानि ॥७१॥

दु खशील संसार

जो जो दुख ससार मे, भोगे आतमराम।
तिनकी गणना के किये, नहि पावत विश्राम ॥७२॥

सुख की चाह

सुख चाहत सब जीव हैं, देख जगत जजाल।
ज्ञानी मूर्ख अमीर हो, या होवे कगाल ॥७३॥

भवितव्य

होत वही जो है सही, छोडो निज हकार।
व्यर्थ वाद के किये से, नशत ज्ञान भण्डार ॥७४॥

दिव्य सन्देश

देख दशा ससार की, क्यो नहि चेतत भाय।
आखिर चलना होयगा, क्या पण्डित क्या राय ॥७५॥
राम राम के जाप से, नही राममय होय।
घट की माया छोडते, आप राममय होय ॥७६॥

सुख

जो सुख चाहो मित्र तुम, तज दो बाते चार।
चोरी, जारी दीनता, और पराई नार ॥७७॥
जो सुख चाहो मित्र! तुम, तज दो परकी आश।
सुख नाही ससार मे, सदा तुम्हारे पास ॥७८॥
जो सुख चाहो आतमा! परकी सगति त्याग।
लोहे की सगति पिटै, जगमे देखहु आग ॥७९॥
जो सुखकी है लालसा, छोडो व्यर्थ बलाय।
आतमगुण चिन्तन करो, यह ही मुख्य उपाय ॥८०॥
जो सुख चाहो देहका, तज दो बाते चार।
बहु भोजन, बहु जागना, बहु सोना, बहु जार ॥८१॥
जो सुख चाहो आतमा! तज दो बातें चार।
कुगुरु, कुदेव, कुधर्म अरु, दुखकर असदाचार ॥८२॥
जो सुख चाहो आतमा! परका छोडो सग।
परकी सगतिके किये, होत शान्ति मे भङ्ग ॥८३॥
जो सुख चाहो आतमा! तज दो पर का सग।
परमे निज की कल्पना, यही जगत का अङ्ग ॥८४॥
आप बढाई कारने, निन्दाकार्य करन्त।
उन मूढनके सगसे, होगा नहि दुख अन्त ॥८५॥
जो चाहत हित होय हम, तज दो पर का सङ्ग।
वात बनाना छोड दो, मनहिं बनाओ नङ्ग ॥८६॥
जो चाहत दुख से बचे, करो न परकी चाह।
परपदार्थ की चाहसे, मिटे न मनकी दाह ॥८७॥
जो सुख चाहो आपना, तज दो पर का नेह।
अन्य जनो की बात क्या, मीत न तुमरी देह ॥८८॥
जो निजपरिणति मे रमे, त्याग सकल परपञ्च।
सो भाजन निज अमर सुख, दुख नहिं व्यापे रञ्च ॥८९॥

शान्ति

शान्तिमार्ग अति सुलभ है, परका छोडो मोह।
यही मार्ग कल्याणका, क्यो करते हो कोह? ॥९०॥
चाहत जो मनशान्ति तुम, तजहु कल्पनाजाल।
व्यर्थ भरमके भूतमे, क्यो होते बेहाल ॥९१॥

आत्मज्ञान

गल्पवादमे दिन गया, विषयभोग मे रात।
भोदू के भोदू रहे, रातो दिन बिललात ॥९२॥
आप आपकी बात कर, परको निज मत मान।
आत्मज्ञानके होत ही, हो आतमकल्यान ॥९३॥
शिवमारग निर्द्वन्द है, जो चाहो सो लेय।
मूरख माने द्वन्द्व मे, नहि जाने निज भेय ॥९४॥
जो ससार समुद्रसे, है तरने की चाह।
भेदज्ञान नौका चढो, परकी छोडो राह ॥९५॥
जन तन धन विद्याविभव, नहिं दुर्लभ जग मीत!
पर दुर्लभ निजतत्त्व है, याते तुम भयभीत ॥९६॥

जो चाहत निज तत्त्वको, परसे छाडहु नेह।
नहि तो फिर पछतावोगे, नर्क मिलेगा गेह ॥९७॥
कल्पतरू निज आत्मा, परकी करते आश।
सुधा-सिन्धुको छोडकर, चाटत ओस हताश ॥९८॥
आतमनिधि को त्यागकर, घर घर डोलत दीन।
निज पर के समझे बिना, यह मृग भटकत दीन ॥९९॥
निज निज खोजा पाइया, यामे नाही फेर।
ऊपर ऊपर जे फिरत, उनहि लगत अतिदेर ॥१००॥
थोथी बातोमे नही, मिलता आतमवाद।
पानी मन्थन मे नही, मिलता मक्खनस्वाद ॥१०१॥
जन्म गँमाया भोगमे, कीनी पर की चाह।
दुखी हुआ ससार मे, मिटी न मन की आह ॥१०२॥

आत्म-निर्मलता

अभिप्राय दूषित किये, नहि जानत निजधर्म।
निर्मल आतमके सभी, कर्म होत सद्धर्म ॥१०३॥

संयम

मनुषजनम को पाय कर, सयम नाहि धरन्त।
हाथीसम होकर सभी, गर्दभ भार वहन्त ॥१०४॥

चातुर्य

बहु सुनबो कम बोलबो, सो है चतुर विवेक।
तब ही तो है मनुजके, दोय कान जिभ एक ॥१०५॥

दया

चाहे कितना हू करो, तप-धारण अतिघोर।
एक दया बिन विफल है, रात्रि बिना ज्यो भोर ॥१०६॥

असार संसार

राजा राणा रङ्क अरु, पण्डित चतुर सुजान।
अपनी अपनी बीरिया, रहे न एकहु मान ॥१०७॥

परिग्रह

तजहु परिग्रह कामना, जो चाहत निजरूप।
अर्थचाह जिनकी गई, तिन सम नाही भूप ॥१०८॥

परप्रपञ्च

परकी ममता छोड कर, भजलो आतमराम।
याके कारण मिटत है, जीवन के यमधाम ॥१०९॥
छोडो परकी बात तुम, इसमे नहिं कुछ सार।
परप्रपञ्चके कारने, होय न आत्म-सुधार ॥११०॥

नेह-मोह-माया

नेह दुखका मूल है, यह जाने सब कोय।
इसकी सङ्गति तिलोका, घानी पेरन होय ॥१११॥
मोहोदयमे जीव के, होता है सकल्प।
परमे आपा मानकर, करता नाना जल्प ॥११२॥
जिसने त्यागा मोहको, वह शूरो मे शूर।
जो इसके वश हो रहे, वह क्रूरोमे क्रूर ॥११३॥
महिमा अपरम्पार है, मायावी की जान।
ऊपरसे नीका लगे, भीतर विषकी खान ॥११४॥
करनेको कछु और है, मनमे ठाने और।
वचनो मे कुछ और है, इनकी जाओ न पौर ॥११५॥

अपनी भूल

परम धरम को पाय कर, सेवत विषय-कषाय।
ज्यो गन्ना को पायकर, नीमहि ऊँट चबाय ॥११६॥

खेद

खेद करो मत आतमा, खेद पापका मूल।
खेद किये कुछ ना मिले, खेद करहु निर्मूल ॥११७॥

सदाचार

भवदुख सागर पारको, गुरवच निश्चयधार।
सदाचार नौका चढहु, उतरत लगहि न बार ॥११८
यह जग की माया विकट जो न तजोगे मित्र।
तो चहुगति के बीच मे पावोगे दुखचित्र ॥११९
आपरूप के बोध से, मुक्त होत सब पाप।
ज्यो चन्द्रोदय होत ही, मिटत सकल सताप ॥१२०
जो सुख चाहत आतमा, तजदो अपनी भूल।
पर के तजने से कही, मिटे न निज की शूल ॥१२१

जो आनन्द-स्वभावमय, ज्ञानपूर्व अविकार।
मोहराज के जाल मे, सहता दुख अपार ।।१२२।।
जो सुख है निजभाव मे, कही न इस जग बीच।
पर मे निज की कल्पना, करत जीव सो नीच ।।१२३।।
जो नाही दुख चाहता, तज दे पर की ओट।
अगनी सगत लोह की, सहती घन की चोट ।।१२४।।
पर की सगति के लिये होता मन मे रङ्ग।
लोह अगनि सगति पिटे, होत तप्त सब अङ्ग ।।१२५।।
गल्पवाद मे दिन गया, सोवत बीती रात।
तोय विलोवत होत नहि, कभी चीकने हात ।।१२६।।
जो चाहत दुख से बचे, करो न पर की चाह।
परपदार्थ की चाह से, मिटे न मन की दाह ।।१२७।।

सोरठा

जो चाहत निजरूप, तजहु परिग्रह-कामना।
तिन सम नाही भूप, अर्थचाह जिनको नही ।।१२८।।

❋

"यदि अन्तरङ्गसे रागादिक करनेका अभिप्राय आत्मासे निकल गया तब रागादिक होनेपर भी उनके स्वामित्वका अभाव होने से आत्मा अनन्त ससारका पात्र नही बनता। अभिप्राय ही ससारका जनक है। जिसे इस वृश्चिक डकने नही डसा, वह ससारके बधनसे मुक्त हो चुका। परन्तु हम अभिप्रायको निर्मल करनेकी चेष्टा नही करते। केवल दुराग्रहसे किसी मतके पक्षपातमे अपनी आत्माको पतन कर ससारको तुच्छ और अपनेको महान् माननेमे अपनेको कृतकृत्य मान लेते है। फल इसका यह होता है जो हम कभी भी शातिके पात्र नही बनते। सत्यमार्ग तो यह है जो आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है उसे मोहने रागद्वेषात्मक बना रखा है। उस मोहको दूर कर रागद्वेषरूप विकारोसे बचा लेना ही उसका कल्याण है।"

चतुर्थ खण्ड

लेखमाला

उनके अक्षर—उनकी बात

पूज्य वर्णी जी की धारणा थी—"अपने आचरण से किसी को असुविधा या कष्ट न हो"। यही तो है वह साधना जो मनुष्य को उँचा उठाकर चारित्र के शिखर तक ले जाती है। जनरजन कभी साधुता की कसौटी हो नही सकता—

जनता को प्रसन्न आज तक किसी से हुआ और न होगा और न हम इस प्रयास को करते हैं - परन्तु अपने द्वारा जो किसी को कष्ट न हो यह अवश्य ध्यान में रहता है

आ. शु. चिं.
गणेश वर्णी
गया

का. व. ९
सं २०१०

"रहिमन केहि न होत सुख, बढत देखि निज बेलि।" अपना रोपा विरवा, सागर का जैन विद्यालय। उसके उत्कर्ष के लिए शुभ-कामना सन्देश वा आशीर्वाद देते हुए पूज्य वर्णी जी ने लिखा था—

यह संस्था समस्त बुंदेलखण्ड की आशा है हम हृदय से इसकी आचन्द्रार्क स्थायी उन्नति चाहते हैं इस की उन्नति जैन धर्म की महती प्रभावना है अतः धर्म परायण समाज इस संस्था का पूर्ण संरक्षण करेगी यही हमारी शुभ भावना है

आ. शु. चि.
गणेश वर्णी

ईसरी बाजार
हजारीबाग

सबसे बड़ा पाप—मिथ्यात्व

लेखक—श्री सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी

जहा कही पुण्य और पाप की चर्चा चलती है कि सब से बडा पुण्य पाप क्या है तो अधिकतर व्यक्ति जीवदया को सब से बडा पुण्य और जीवहिंसा को सब से बडा पाप मानते है। 'अहिंसा परमो धर्म' यह जैनो का प्रसिद्ध वाक्य भी है। इसी से जैन घरानोमे जन्मे छोटे छोटे बालक तक जीवजन्तुओ के घात से बहुत भय खाते है। दूसरे बच्चे जब बर्र, चूहा आदि को देखते ही मार डालते है, जैन बच्चे उन्हे बचाने की ही कोशिश करते है। इस तरह जीवदया को बडा पुण्य और जीवहिसा को बडा पाप माना जाता है। किन्तु जैनधर्म मे हिंसा और अहिंसा का मतलब केवल इतना ही नही है किन्तु बहुत गम्भीर और ऊचा है और जब हम उसके प्रकाश मे देखते है तो हिसा और अहिंसा का प्रचलित अर्थ केवल लौकिक ही प्रतीत होता है और इस लौकिक अर्थ ने हमारी दृष्टि उस परमधर्मरूप वास्तविक अहिसा से एकदम हटा दी है।

विचारणीय यह हे कि जिन प्राणियो के प्रति हम दया भाव रखते है वे प्राणी क्यो इस अवस्था को प्राप्त हुए। क्या कभी इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है। दूसरे शब्दो मे ससारी जीव जो नाना गतियो मे भ्रमण कर रहा है इसका कारण क्या है? क्यो यह सुख दु ख का भाजन बनता है? साधारण सा जानकार भी यही कहेगा कि अपने कर्मों के कारण ही वह भ्रमण करता है। तब पुनः प्रश्न होता है कि यह ऐसे कर्म करता क्यो है। जिससे उसे ससार मे भटकना पडता है। इसका कारण है उसका अज्ञान। वह यही नही जानता मै कौन हू? क्या मेरा वास्तविक स्वरूप है? और मै क्या से क्या हो गया हूं? अपने विषय मे उसने कभी विचार नही किया। विचार किया भी तो सारा दोष कर्मो के सिर मढ़कर ही कृतकृत्य हो जाता है। वह यही मानने को तैयार नही होता कि ये कर्म उसी की गलती के परिणाम है।

कर्म के दो प्रकार है। भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव के रागादिरूप परिणामो को भावकर्म कहते है और उन भावो का निमित्त पाकर स्वय ही जो पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणमन करते है उन्हे द्रव्यकर्म कहते है। अज्ञानी जीव अपने मे विभाव भावरूप परिणमन करता है। उन भावो का निमित्त पाकर कोई पुद्गल पुण्यप्रकृतिरूप परिणमन करता है और कोइ पापरूप परिणमन करता है। जीव के भावो मे ऐसी शक्ति है कि उनका निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्था धारण करते है। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। तथा इस जीव के विभावभाव भी स्वय अपने से ही नही होते। यदि ये स्वय अपने से हो तो ज्ञान दर्शन की तरह स्वभाव हो जाय और तब उनका नाश नही हो सकता। अत ये भाव औपाधिक कहे जाते है क्योकि अन्य निमित्त से होते है। वह निमित्त ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म है। ज्यो ज्यो द्रव्यकर्म उदयरूप परिणत होते है त्यों त्यो आत्मा विभावरूप परिणमन करता है। इस प्रकार आत्मा के प्रदेशो मे रागादि के निमित्त से बँधे पुद्गलो के निमित्त से यह आत्मा अपने को भूलकर अनेक प्रकार के विपरीत भावरूप परिणमन करता है। इसके विभाव भावो के निमित से पुद्गलो मे ऐसी शक्ति होती है कि जो आत्मा को विपरीतरूप परिणमाने मे निमित्त बनती है। इस तरह भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होते है। इसी का नाम ससार है।

यद्यपि आत्मा कर्म के निमित्त से रागादिरूप परिणमन करता है तथापि रागादि आत्मा के निजभाव नही है। आत्मा तो चैतन्यगुणमय है। यह बात ज्ञानी तो जानता

है किन्तु अज्ञानी आत्मा को रागादिरूप ही जानता है। अभिप्राय यह हे कि अनादिकाल से यह जीव पुद्गल कर्मके साथ मिला हुआ चला आता है और ऐसा होने से मिथ्यात्व रागद्वेषरूप विभाव परिणामो से परिणमता आता है। ऐसा परिणमते हुए यह स्थिति आई कि जीव अपने निज स्वरूप केवलज्ञान, केवलदर्शन, अतीन्द्रियसुख से भ्रष्ट तो हुआ ही किन्तु मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम के कारण 'मेरा निज स्वरूप अनन्त चतुष्टय है, शरीर सुख दुख मोह रागद्वेष ये सब कर्म की उपाधि है, मेरा स्वरूप नही है' ऐसी प्रतीति भी नही रही। इस प्रतीति के भी छूटने से जीव मिथ्यादृष्टि हुआ। मिथ्यादृष्टि होने से कर्मबन्ध किया। उसके उदय मे चारो गतियो मे भ्रमता है यह ससार की परिपाटी है।

इस प्रकार भ्रमण करते हुए जब किसी जीव का ससार निकट आ जाता है तब जीव सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। सम्यक्त्व को ग्रहण करनेपर पुद्गलपिण्डरूप मिथ्यात्वकर्म का उदय मिटता है तब मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम मिटता है। विभाव परिणाम के मिटने पर शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। इस तरह क्रमसे जीव पुद्गलकर्मसे तथा विभावपरिणाम से सर्वथा भिन्न होकर अपने अनन्तचतुष्टय स्वरूप को प्राप्त होता है और इस तरह ससार का अन्त होता है।

साराश यह है कि जब तक अशुद्ध परिणमन है तब तक जीव का विभाव परिणमन है। उस विभाव परिणमन का अन्तरग निमित्त तो जीव की विभावरूप परिणमन की शक्ति है और बहिरग निमित्त मोहनीय कर्मरूप परिणमा पुद्गल पिण्डका उदय। मोहनीय कर्म के दो भेद-मिथ्यात्वरूप और चारित्रमोहरूप। जीव का विभाव परिणमन भी दो प्रकार का है—जीव का एक सम्यक्त्गुण है वही विभावरूप होकर मिथ्यात्वरूप परिणमा है। उसका बहिरग निमित्त मिथ्यात्वरूप परिणमा पुद्गलपिण्ड का उदय। जीव का एक चारित्र गुण है वह भी विभावरूप परिणमता हुआ विषय-कषायलक्षण चारित्रमोहरूप परिणमा है। उसका बहिरग निमित्त है चारित्र मोहरूप परिणत पुद्गलपिण्ड का उदय। इनमे सब से प्रथम उपशम या क्षपण मिथ्यात्व कर्म का होता है। उसके बाद चारित्रमोहका उपशम अथवा क्षपण होता है।

जब जीव का संसार थोडा रहता है अर्थात् काललब्धि आती हे तब उसे परमगुरु का उपदेश प्राप्त होता है कि ये जो शरीर आदि है, मोह रागद्वेष है, जिनको तू अपना जानता है और उनमे रत है वे तेरे नही है कर्मसयोगकी उपाधि है। इत्यादि सप्त तत्त्वो और नौ पदार्थों के उपदेश से उसे जीवद्रव्य का विचार उत्पन्न होता है कि जीव का लक्षण तो शुद्ध चिद्रूप हे। यह सब उपाधि तो कर्मसयोग जन्य है। जिस समय इस प्रकार से दृढ प्रतीति होती है उसी समय समस्त वैभाविक भावो के प्रति त्यागभाव उपजता है शरीर सुख दु ख सब जैसे थे वैसे ही हैं केवल परिणामो मे उनके प्रति जो स्वामित्वपना था वह छूट गया। उसी का नाम अनुभव और उसीका नाम सम्यक्त्व है।

पाण्डे राजमल्ल जी ने समयसार कलश की टीका मे लिखा है कोई जानेगा कि जितना भी शरीर, सुख, दु:ख, राग, द्वेष, मोह है, उसकी त्यागबुद्धि कुछ अन्य है कारण रूप है तथा शुद्ध चिद्रूप का अनुभव कुछ अन्य है, कार्यरूप हे। उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है-राग द्वेष, मोह, शरीर मुख दु ख आदि विभाव पर्यायरूप परिणत जीव के जिस काल मे ऐसा अशुद्ध परिणामरूप सस्कार छूट जाता है उसी काल मे उसके अनुभव है। उसका विवरण—जो शुद्ध चेतनामात्र का आस्वाद आये विना अशुद्ध भावरूप का परिणाम छूटता नही और अशुद्ध सस्कार छूटे विना शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता नही। इसलिये जो कुछ है सच है।

यह जैन सिद्धान्त है जो बतलाता है कि जीव के ससार-भ्रमण का एकमात्र कारण उसका मिथ्याभाव है। वह जब तक नही मिटता तब तक समस्त त्याग, तपस्या, व्रत, चारित्र कार्यकारी नही है

सयसार कलश मे कहा है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरै र्मोक्षोन्मुखै कर्मभि,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं सवेद्यमानं स्वयं,
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

कोई जीव दुष्कर तप और मोक्ष से विमुख कार्यों के द्वारा क्लेश पाते है तो पाओ। अन्य कोई जीव महाव्रत और तप के भार से भग्न होते हुए क्लेश पाते है तो

पाओ। जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है निरामयपद है और स्वय सवेद्यमान है ऐसे ज्ञान को ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार प्राप्त नही कर सकते।

इस आत्मज्ञान का प्रतिबन्धी एकमात्र मिथ्यात्व-भाव है। उसके छूटे बिना ससार से छुटकारा नही हो सकता। अत सबसे बडा पाप मिथ्यात्व है। यही आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

न हि मिथ्यात्वसम किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-सम नान्यत्तनूभृताम् ॥

तीनो कालो और तीनो लोको मे प्राणियो का मिथ्यात्व के समान कोई बुरा अकल्याणकर नही है और सम्यक्त्व के समान कोई कल्याणकारी नही है। अतः

तत्रादौ सम्यक्त्व समुपाश्रयणीय-मखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञान चरित्र च ॥
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे सर्व प्रथम पूर्णप्रयत्न के साथ सम्यक्त्व को सम्यक्रूप से अपनाना चाहिये। क्योकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

सम्यग्दर्शन के अनेक लक्षण शास्त्रो मे विभिन्न दृष्टि कोणो से कहे है किन्तु वे लक्षण विभिन्न होने पर भी मूल मे एक ही अभिप्राय को लिए हुए है। मिथ्यात्व का उदय रहते हुए उनमे से कोई भी सम्यक्त्व हो नहीं सकता। सच्चे देव शास्त्र गुरु का तीन मूढतारहित आठमदरहित और आठअगसहित श्रद्धान या सप्त तत्त्व का श्रद्धान मिथ्यात्व के उदय मे यथार्थ नही है। जब तक मिथ्यात्व का उदय है तब तक यथार्थ तत्त्व की प्रतीति सम्भव नही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो आत्मा के गुण होने से आत्मस्वरूप है। अत. सम्यग्दर्शन का मूल आत्मप्रतीति, आत्मश्रद्धा और आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति से शून्य सम्यक्त्व सम्यक्त्व नही है और आत्मानुभूति तथा मिथ्यात्व के अभाव का साहचर्य है जैसा ऊपर राजमल जी ने लिखा है। प आशाधर जी ने भी सागार-धर्मामृत के पहले अध्याय मे असयमी सम्यग्दृष्टि को 'निश्चय सम्यग्दर्शनभाग् भवेन्' लिखा है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन ही यथार्थ सम्यग्दर्शन है जो मोहनीयकी सात प्रकृतियो के उपशम या क्षय से होता है इसी के होने से ससार सान्त होता है और इसी के अभाव मे द्रव्यलिंगी अभव्य भी मुनिपद धारण करके ग्रैवेयक से ऊपर नही जाता। इसीको लेकर दौलतराम जी ने लिखा है—

'मुनिव्रतधार अनन्तवार ग्रैवक उपजायो।
पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥

इसका यह मतलब नही है कि मुनिपद धारण करने से अनन्तवार ग्रैवेयको मे उत्पन्न हुआ। किन्तु आत्मज्ञान के बिना सम्यक्त्वविहीन मुनिपद धारण करने से ग्रैवेयक तक-ही जा सका, अन्यथा तो मोक्ष प्राप्त कर लेता।

इसको लेकर चारित्र के पक्षपाती यह कहते है कि सम्यक्त्व के बिना भी केवल चारित्र से ग्रैवेयक तक चला गया। उनका कथन ठीक है, किन्तु मोक्षमार्ग मे उसकी कोई कीमत नही है। ग्रैवेयक तक जाकर भी रहेगा तो ससार मे ही। ससार का अन्त तो सम्यक्त्वसहित चारित्र से हो सकता है। जिसे एक बार भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई वह नियम से चारित्र धारण करके मोक्ष जायेगा। किन्तु मुनिपद अनन्तवार धारण करने पर भी अभव्य अपने चारित्र के प्रभाव से सम्यक्त्व को धारण नही कर सकता। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को ही भ्रष्ट कहा है, चारित्र से भ्रष्ट को भ्रष्ट नहीं कहा।

बाह्य त्यागरूपचारित्र सम्यक्त्व के बिना भी सभव है किन्तु सम्यक्त्व के लिये किसी बाह्य त्याग की आवश्यकता नही। आवश्यकता है वस्तुस्वरूप के ज्ञान के द्वारा स्वपर के ज्ञान की, हेय उपादेय के बोध की। नयचक्र मे कहा है—

'जे णयदिट्ठीविहीणा ताण ण वत्थूसहाव उवलद्धि।
वत्थुसहावविहीणा सम्मादिट्ठी कह होंति ॥'

जो नयदृष्टि से विहीन है उन्हें वस्तुस्वभाव की उपलब्धि-ज्ञान नही हो सकता और वस्तुस्वरूप के ज्ञानके बिना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

प आशाधर जी का असयत सम्यग्दृष्टी तो जीवकाण्ड गोम्मटसार का प्रतिरूप है वह सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर

केवल यह दृढश्रद्धान रखता है कि वैषयिकसुख हेय है और आत्मिकसुख उपादेय है। वह इन्द्रिय सम्बन्धी सुख भी भोगता है दूसरे जीवो को पीडा भी पहुँचाता है अर्थात् गोम्मटसार के शब्दो मे न इन्द्रिय के विषयो से विरत है और न त्रस स्थावर जीवो की हिंसा से विरत है, फिर भी पाप से लिप्त नही होता। प. आशाधर जी के शब्दो मे—

अयमर्थो यथा तलबरेण मारयितुमुपक्रान्तश्चोरो यद्यत्तेन खरारोहणादिक कार्यते तत्तत्करोति। तथा जीवोऽपि चारित्र-मोहोदयेन यद्यदत्मनीन भावद्रव्यहिंसादिक कार्यते तत्तदयोग्य जानन्नपि करोत्येव दुर्निवारत्वात्स्वकाले विपच्यमानस्य कर्मण: ।'

आशय यह है कि जैसे कोतवाल के द्वारा मारने के लिये पकडा गया चोर जो जो कोतवाल कराता है, गधे पर बैठाना आदि वह सब करता है उसी तरह जीव भी चारित्र मोह के उदय से जो जो वह भावहिंसा द्रव्यहिंसा आदि कराता है वह उसे अनुचित जानते हुए भी करता है क्योकि अपने समय पर उदयमे आने वाला चारित्र मोहनीय दुर्निवार होता है।

समयसार कलश मे जानने और करने का विश्लेषण बडी सुन्दररीति से किया है कि जो जानता है वह कर्ता नही और जो कर्ता है वह जानता नही। असल मे सम्य-क्त्व प्रकट होने पर जीव की दृष्टि ही बदल जाती है उसका स्वामित्व-भाव चला जाता है। उसे ससार शरीर भोगो के प्रति अन्तरङ्ग से विरक्ति आती है। तभी तो पहली प्रतिमा वाले को समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन-शुद्ध और ससार शरीर तथा भोगो से विरक्त कहा है। किसी भी बाह्य त्याग की कोई बात नही है। बाह्य त्याग हो और न सम्यग्दर्शन हो, न ससार शरीर और भोगो के प्रति आन्तरिक विरक्ति हो, तो उस त्याग का क्या मूल्य है? किन्तु आज केवल त्याग का मूल्य है सम्यदर्शन का नही। पचमकाल जो है। अत. मिथ्यात्व-भाव के साथ ही व्रत चारित्र चलता है। वह भी चले किन्तु सम्यक्त्व-ग्रहण के लिये प्रयत्न तो करना चाहिये। शास्त्र स्वाध्याय के द्वारा दृष्टि को तो परिमार्जन करना चाहिये। जैसा प. आशाधर जी ने लिखा है—

'तत: सयमलब्धिकालात्पूर्व ससारभीरुणा भव्येन सम्यग्दर्शनाराधनाया नित्य यतितव्यम्।''

इससे सयम का लब्धिकाल आने से पूर्व ससार से भयभीत भव्य को सम्यग्दर्शन की आराधना मे सदा यत्नशील रहना चाहिये।

यह हमारी प्रेरणा है। अत सबसे बडा पाप मिथ्यात्व है क्योकि वह जीवो की आत्माओ का महान घातक होने से महान हिंसारूप है। किसी के प्राणो का घात तो एक ही भव मे दु खदायी है। किन्तु मिथ्यात्व तो जीवके सुख सत्ता चैतन्यरूप निश्चयप्राणो का आदिकाल से घात कर रहा हे। यही सब अनर्थो की जड हे इसे मारे बिना जीवो का ससार के बन्धन से छुटकारा नही हे——

कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रशस्तभाव ही ससार-बन्धनके नाशका मूल उपाय है। शास्त्रज्ञान तो उपायका उपाय है। यावत् हमारी दृष्टि परोन्मुख है, तावत् स्वोन्मुख-दृष्टिका उदय नही। यद्यपि ज्ञान स्वपरव्यवसायी है। परन्तु जब स्वोन्मुख हो तब तो स्वकीय रूपका प्रतिभास हो। ज्ञान तो केवल स्वरूपका प्रतिभासक है, परन्तु तद्रूप रहना, यह बिना मोहके उपद्रवके ही होगा। कहने और करनेमे महान् अन्तर है। आप जानते है, प्रथम सम्यग्दर्शनके होते ही जीवके पर पदार्थोमे उदासीनता आजाती है। और जब उदासीनताकी भावना-दृढ़तम हो जाती है, तब आत्मा ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। अत आतुर नही होना। उद्यम करना हमारा पुरुषार्थ है।

—अध्यात्म-पत्रावली-६६

२

आध्यात्मिक सुख के सोपान : गुणस्थान

बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री,

सुख दुख की स्थिति

जन्मके बाद मरण और उसके बाद पुन जन्मग्रहण, इस प्रकार की जो जन्म-मरण की सतत परम्परा चलती है उसी का नाम ससार है। वह ससार चतुर्गतिस्वरूप है। प्राणी कभी तिर्यंच, कभी नारकी, कभी मनुष्य और कभी देव होता है। वह दु खसे डरता है और सुख चाहता है। पर इच्छानुसार उसे वह सुख प्राप्त होता नही है, बल्कि वह दुखी ही अधिक रहता है। वह कभी इष्टके वियोगसे व्याकुल रहता है तो कभी अनिष्टके सयोगसे सन्तप्त दिखता है। इसका कारण यह है कि उसने यथार्थतः सुख-दु खके स्वरूप और उनके कारणोको समझा ही नही है। अभीष्ट बाह्य पदार्थोंके सयोगसे जो सुखका अनुभव होता है वह यथार्थत. सुख नही, सुखाभास है और वह भी स्थायी नही है, किन्तु विनश्वर है। इन्द्रिय विषयोपभोगजनित सुख उत्तरोत्तर तृष्णाका कारण होनेसे सन्तापका ही बढाने वाला है[१]। ऐसे सुखके पश्चात् जो दुख अनिवार्यरूपेण प्राप्त होने वाला है वह अतिशय संक्लेश-जनक होता है[२]।

वास्तविक सुख वही है जिसमे आकुलताका लेश न हो और जो स्थायी हो। ऐसा वह सुख अपने आपमे ही विद्यमान है, न कि क्षणनश्वर विषयभोगो मे। वे विषयभोग तो उत्तरोत्तर तृष्णाके बढाने वाले है, उनसे सन्ताप दूर होने वाला नही है[३]। वह निराकुल सुख परावलम्बनको छोडकर स्वावलम्बी हो जानेपर ही सम्भव है। उस सुखके कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। वस्तु-स्वरूपको जानकर उसपर दृढतापूर्ण श्रद्धा होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। वस्तुकी यथार्थताका बोध हो जाना सम्यग्ज्ञान है। वस्तुस्वरूपको जानकर—हेय व उपादेयको समझकर[४]—तदनुरूप आचरण करना ही सम्यक्चारित्र है।

यह प्राय' सभी जानते है कि अधिक भोजन करना अथवा प्रकृतिके प्रतिकूल भोजन करना दु'खदायक है, पर सबमे उस प्रकारकी दृढता होती नही है। यही कारण है जो कितने ही स्वादलोलुपी आसक्तिके वश होकर प्रतिकूल या अधिक भोजन करके रोगको निमत्रण देते है व कदाचित् मृत्युके ग्रास भी बन जाते है। यह है ज्ञानके होते हुए भी समीचीन दृष्टि या सम्यग्दर्शनका अभाव। सम्यग्दृष्टि

---

१ तृष्णार्चिष परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहर निमित्त-
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत्॥
बृ स्वयम्भूस्तोत्र ८२

२. सुख हि दु खान्यनुभूय शोभते,
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रता,
धृत शरीरेण मृत. स जीवति॥

३ स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेव पुसा,
स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद भगवान् सुपार्श्व.॥
बृ. स्व स्तोत्र ३१

स धर्मो यत्र नाधर्मः तत् सुख यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञान यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागति.॥
आत्मानुशासन ४६

४. त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुण-दोषनिबन्धनौ।
यस्यादान-परित्यागौ स एव विदुषाम्वरः॥
आत्मानु० १४५

चारित्रमोहके उदयवश परपदार्थों का उपयोग करता हुआ भी अनासक्तिपूर्वक करता है वस्व को स्व और पर को पर समझता है ।

गुणस्थान

दर्शनमोहनीय एव चारित्रमोहनीय आदि कर्मोके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणामरूप अवस्थाविशेषोके होनेपर उत्पन्न होने वाले जिन मिथ्यात्व आदि परिणामोसे जीव देखे जाते है या परिचयमे आते है उन्हे गुणस्थान कहते है[1] ?

जीवके स्वभावभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप गुणोके उपचय और अपचयसे जो उनके स्वरूपमे भेद होता है उसे गुणस्थान कहा जाता है[2] ।

दूसरे शब्द से गुणस्थानको जीवसमास भी कहा जाता है[3] । जीवसमासका अर्थ है जीवोका सक्षेप, अर्थात् जहा अनन्तानन्त जीवोका सक्षेप या सकोच होता है उनका नाम जीवसमास है और वे चौदह है[4]–मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्णकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली । ये गुणस्थान मोक्षरूपी महलके शिखरपर चढने के लिये सोपानो (सीढियो) के समान माने गये है[5] ।

१ मिथ्यादृष्टि—मिथ्याका अर्थ अयथार्थ या विपरीत और दृष्टिका अर्थ श्रद्धा या रुचि होता है । अभिप्राय यह कि जीवाजीवादि तत्त्वार्थोका जो अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान होता है उसे मिथ्यादृष्टि कहते है[6] ।

जिस प्रकार पित्तज्वरसे पीडित मनुष्यको मधुर रस नही रुचता—वह कडुवा प्रतीत होता है—उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के उदयमे जीवको आत्महितकर धर्म नही रुचता है[7] । मिथ्यादृष्टि जीव जिनप्रणीत प्रवचनपर–आप्त, आगम और पदार्थ पर—श्रद्धा नही करता, किन्तु वह अन्य मिथ्यादृष्टियो द्वारा उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट अयथार्थ वस्तुस्वरूपको रुचिकर मानता है[8] ।

---

१ (क) जेहिंदु लक्खिज्जते उदयादिसु सभवेहिं भावेहिं
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ।।
पचसग्रह (भा ज्ञानपीठ) १-३; गो जीवकण्ड ८

(ख) मोहस्योदयतो जीव', क्षयोपशम–तद्द्वयात् ।
पारिणामिकभावस्थो गुणस्थानेषु वर्तते ।।
हरिवशपुराण ३-७९

२ गुणा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषा., तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति स्थान । ज्ञानादिगुणानामेवोपचयापचयकृत स्वरूपभेद, गुणाना स्थान गुणस्थानम् । शतक मल हेम. वृत्ति ९, पृ १४।२., कर्मस्तव. गो. वृत्ति १, पृ ७०.

३ (क) एत्तो इमेसिं चोद्दसण्ह जीवसमासाण मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दसचेव ट्ठाणाणि णादव्वाणि भवति । षट्खण्डागम १, १, १, पु. १, पृ १२.

(ख) जीवाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु व्यवस्थिता' मिथ्यादृष्टय ' चेति । एतेषामेव जीवसमासाना निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि । सर्वार्थसिद्धि १-८

४ जीवा समस्यन्ते एष्विति जीवसमासा', चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसमासा', तेषा चतुर्दशानाम्, चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थ. । धवला पु. १, पृ १३०.

५. गुणस्थानेषु परमपद-प्रासाद-शिखरारोहणसोपानेषु । कर्मस्तव दे स्वो. वृत्ति १,

६. त मिच्छत्त जमसद्दहण तच्चाण होइ अत्थाण । ससइयमभिग्गहिय अणभिग्गहिय च त तिविह ।। भगवती-आराधना ५६, पचस. १-७, धव पु. १, १६३ उद्धृत; शतकचू. ९, पृ ६ उद्धृत ।

७ मिच्छत्त वेदतो जीवो विवरीयदसणो होदि ।
णय धम्म रोचेदि हु महुर खु रस जहा जरिदो ।।
पचस, (भा ज्ञा) १-६; धवला पु १, पृ १६२ उद्धृत
त. भाष्य सिद्ध वृत्ति ८-१०, पृ १३६ उद्धृत
गो जी. १७ २

८. मिच्छाइट्ठी जीवो-उवइट्ठ पवयण ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भाव उवइट्ठ वा अणुवइट्ठ ।।
पचस (भा ज्ञा.) १-८, कर्मप्रकृति उप क २५;
त भा सिद्ध पृ ८-१०, पृ १३८ उ; गो. जी १८.

मिथ्यात्वके वशीभूत हुआ प्राणी आप्त, आगम और पदार्थ सभीका विपरीत श्रद्धान करता है। उदाहरणार्थ आप्त यथार्थ वही हो सकता है जो सर्वज्ञ होता हुआ वीतराग हो—राग-द्वेषसे रहित हो[१]। ऐसे आप्तके द्वारा जो वस्तुस्वरूपका उपदेश दिया जाता है वही आत्महितकर होनेसे उपादेय होता है। इस प्रकार आप्तके वीतराग होने पर भी मिथ्यात्वसे विमूढमति प्राणी उससे ससारवर्धक धन-सम्पत्ति व सन्तान आदिकी याचना करता है व इसी उद्देशसे उसकी पूजा व स्तुति आदिमे भी प्रवृत्त होता है। वह यह नही समझता कि जो राग-द्वेषसे रहित हो चुका है वह हमारी पूजा व स्तुति आदिसे प्रसन्न होकर न तो कुछ दे सकता है और न इसके विपरीत निन्दासे वह हमारा कुछ अनिष्ट भी कर सकता है। यह वस्तुस्थिति है। फिर भी पूजक व स्तोताके द्वारा निर्मल अन्त करणसे की गई पूजा व स्तुति आदि निरर्थक भी नही जाती। किन्तु उसके आश्रयसे जो उसके पुण्यकर्म का वन्ध होता है उससे पूजक को यथायोग्य अभीष्ट सुखसामग्री स्वयमेव प्राप्त होती है[२]। इसके लिये धनञ्जय कविका उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जाता है कि धनञ्जय कविके पुत्रको सर्पने काट लिया था। ऐसे समयमे भी वे अपने प्रारब्ध अनुष्ठानमे दृढ रहे। उन्होने विषापहार स्तोत्रकी रचना की। इस स्तोत्रके प्रभावसे कहिये या उनके प्रबल पुण्यकर्मके उदयसे कहिये, उनका पुत्र जीवित रहा। इस स्तोत्रके अन्तमे उन्होने यही कहा है कि हे भगवन् ? इस प्रकारसे आपकी स्तुति करके भी मैं दीन बनकर किसी प्रकारके वरकी याचना नही करता। कारण यह कि मागना दीनताका लक्षण है, यह तो लोकप्रसिद्ध है ही, साथ ही आप उपेक्षक भी है—रागसे रहित व निर्ग्रन्थ होनेसे कुछ देनेमे असमर्थ भी है। इसीलिये मै लौकिक किसी प्रकारकी याचना न करके केवल यही चाहता हू कि मेरी भक्ति सदा आपके विषयमे बनी रहे[३]।

इस मिथ्यात्वके साथ रहने वाले मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको, उसके यथार्थ होनेपर भी, मिथ्याज्ञान कहा जाता है। कारण यह कि उसे उन्मत्त (पागल) के समान सत्-असत् के विषय मे विवेकपूर्ण दृढता नही रहती[४]।

---

१. (क) आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।
रत्नक श्रा ५

(ख) यो विश्व वेदवेद्य जनन-जलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्ध वचनमनुपम निष्कलङ्क यदीयम् ।
त वन्दे साधुवन्द्य सकल गुणनिधि ध्वस्तदोष-द्विषन्त,
बुद्ध वा वर्धमान शतदलनिलय केशव वा शिव वा ।।
अकलक · · ·

२. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः,
पुनाति चित्त दुरिताञ्जनेभ्य ।।
वृ स्वयम्भूस्तोत्र ५७.

३ इति स्तुति देव विधाय दैन्याद्,
वर न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छायातरु संश्रयत· स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयात्मलाभ ।।
अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधात्,
त्वय्येव सक्ता दिश भक्तिबुद्धिम् ।
करिष्यते देव तथा कृपा मे
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरि ।।

४ (क) मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च । सदसतोरविशेषाद्य-दृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् । त सूत्र १, ३१-३२.

(ख) तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः । तेपु मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टिरित्यभिधीयते यत्कृत तत्त्वार्थाश्रद्धानम् । तत्र ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितानि त्रीण्यपि ज्ञानानि मिथ्याज्ञानव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति । त. वार्तिक ६, १, १२.

(ग) मिच्छा अलियं अतथ्य दृष्टिर्दर्शन मिच्छद्दिट्ठी जेसि जीवाण ते मिच्छादिट्ठी विवरीयदिट्ठी, अण्णहाट्ठियमत्थ अण्णहा विचिन्तेति मिच्छत्तस्य उदएण । यथा—मद्यपीत-हृत्पूरकभक्षित-पित्तोदयव्याकुलीकृतपुरुषज्ञानवत् । मिच्छत्तं यथार्थावस्थितरुचिप्रतिघातकारणम् । शतकचूर्णि ६, पृ. ७ । १.

(घ) घड-पड-थभादिपयत्थेसु मिच्छाइट्ठी जहावगमं सद्दहतो वि अण्णाणी उच्चदे, जिणवयणे सद्दहणाभावादो । गो. जी जीवका टीका १८ उद्धृत ।

२ सासादन सम्यग्दृष्टि—मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेपर प्राप्त हुए प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालमे जब कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छह आवली मात्र काल शेष रह जाता है तब अनन्तानुबन्धी क्रोधादिमेसे किसी एकके उदयमे आ जानेपर जिसकी अन्तरात्मा कलुषित कर दी गई है, अर्थात् जो उस सम्यक्त्व से च्युत हो चुका है पर अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नही हुआ है, उसे सासादनसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आसादनका अर्थ सम्यक्त्वकी विराधना है, उससे सहित होनेके कारण इस गुणस्थान की 'सासादनसम्यग्दृष्टि' यह सज्ञा सार्थक ही है[1]। इसे स्पष्ट करते हुए यह उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार कोई पर्वतके शिखरसे गिरकर जब तक भूमिमे नही आता तब तक जो उसकी बीच की स्थिति होती है उसीके समान जो भव्य जीव उपशम सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो चुका है, पर मिथ्यात्वको अभी प्राप्त नही हुआ है—उसके अभिमुख है—उसे सासादनसम्यग्दृष्टि जानना चाहिये[2]।

दूसरे प्रकारसे उसकी निरुक्ति इस प्रकार भी की जाती है—आय का अर्थ लाभ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति है, 'आय सादयति इति आसादनम्' अर्थात् जो उस आयको नष्ट करता है उस अनन्तानुबन्धी कषायके उदयका नाम आसादन है (यहा 'आय' मे 'य' का लोप हो गया है)। उस आसादनसे जिसकी समीचीन दृष्टि सहित है उसे सासादनसम्यग्दृष्टि कहते है। अथवा उपर्युक्त अनन्तानुबन्धीके उदयरूप आशादनासे सहित होनेके कारण इस गुणस्थान का दूसरा नाम साशादनसम्यग्दृष्टि है। अथवा सम्यक्त्वरूप रसके आस्वादनसे सहित होनेके कारण इसका तीसरा नाम सास्वादनसम्यग्दृष्टि भी है[3]।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि—जिन कोदो (एक मादक तुच्छ धान्य) की शक्ति कुछ क्षीण हो चुकी है और कुछ शेष बच रही है। उनके उपयोग से जिस प्रकार कुछ थोडासा कलुष परिणाम होता है उसी प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व नामक दर्शन मोह-प्रकृति के उदय से जिस जीव के तत्त्वार्थ का कुछ श्रद्धान भी होता है और कुछ

---

१ (क) यदुदयाभावेऽनन्तानुबन्धिकषायोदयविधेयीकृत सासादनसम्यग्दृष्टि'। तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्ते अनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीव सासादनसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। त. वा ६, १, १३

(ख) आसादन सम्यक्त्वविराधनम्, सह आसादनेन वर्तते इति सासादन विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते। धवला पु १, पृ १६। ४

(ग) आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे। अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥ गो. जीवकाण्ड १६.

२ सम्मत्त-रयणपव्वयसिहरादो मिच्छभावसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥ पंचस (भा ज्ञा.) १, गो जीवकाण्ड २०

३ आयम् उपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षण सादयत्यपनयतीत्यासादनमनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् नैरुक्तो य-शब्दलोप। सति हि तस्मिन्ननन्तसुखफलदो नि श्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयेनोत्कृष्टत' षड्भिरावलिकाभिः सीदत्यपगच्छतीति सह आसादनेन वर्त्तत इति सासादन, सम्यगविपयस्ता दृष्टिजिनप्रणीतवस्तु प्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टि, सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति सासादनसम्यग्दृष्टि, तस्य गुणस्थान सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। अथवा सहाशातनयाऽनन्तानुबन्ध्युदयलक्षणया वर्त्तत इति साशातन स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च, तस्य गुणस्थानम्। अथवा सह सम्यक्त्वलक्षणतत्त्वरसास्वादनेन वर्तते, सम्यक्त्वरस नाद्यापि सर्वथा त्यजतीति कृत्वा सास्वादन., स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च, तस्य गुणस्थान सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमिति। शतक मल. हेम वृत्ति ६, पृ १५।१

अश्रद्धान भी होता है उसे सम्यड्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इसी कारण उसके मति आदि तीन ज्ञान भी अज्ञान से मिश्रित होते हैं[1]।

इस गुणस्थानमे वर्तमान जीवकी दृष्टि या श्रद्धा समीचीन भी होती है और मिथ्या भी होती है। इसीलिये उसे सम्यड्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इसके लिये यह उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार दही मे गुडके मिला देने पर उन दोनोका स्वाद पृथक् पृथक् उपलब्ध नही होता, किन्तु मिला हुआ वह विजातीय रूपमे उपलब्ध होता, है, उसी प्रकार सम्यड्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीयका उदय होने पर न तो केवल यथार्थ तत्त्वश्रद्धा होती है और न मिथ्या भी, किन्तु वह मिश्रित रूपमे होती है[2]। दूसरा एक उदाहरण यह भी दिया जाता है कि जिस प्रकार नालिकेर द्वीपवासी किसी मनुष्यके यहां आकर भूखसे पीडित होनेपर भी उसके सामने रखे गये ओदन (भात) आदिके प्रति न तो उसकी रुचि होती है और न अरुचि भी। इसका कारण यह है कि इस प्रकारका भोजन उसने कभी देखा ही नही है। इसीप्रकार सम्यड्मिथ्यादृष्टि जीव की न तो जीवादितत्त्वोके प्रति रुचि ही होती है और न अरुचि भी, किन्तु मिश्रित रूपमे विजातीय तत्त्वश्रद्धा ही उसकी होती है[3]। वह अन्तर्मुहूर्त काल तक इस स्थितिमे रहकर या तो सम्यग्दृष्टि हो जाता है या फिर मिथ्यादृष्टि होता है। इस गुणस्थानकी विशेषता यह है कि ऐसा जीव सयम या देशसयम को ग्रहण नही कर सकता, आयुका बन्ध भी इस गुणस्थान मे नही होता, तथा सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप जिन परिणामोमे उसने आयुका बन्ध किया है उन्हीमे जाकर उसका मरण होता है—यहा मरण नही होता[4]।

४ असंयतसम्यग्दृष्टि—जिसकी दृष्टि या तत्त्वविषयिक श्रद्धा तो यथार्थ है, पर जो सयत नही है—व्रतोसे रहित है—उसे असयतसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इस गुणस्थानमे अनन्तानुबन्धी चार और मिथ्यात्व, सम्यड्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने से जीव सम्यक्त्वको तो प्राप्त कर लेता है पर चार अप्रत्याख्यानावरण व चार प्रत्याख्यानावरण कषायोके उदय के विद्यमान होनेसे वह देशसयम और सकलसयमको प्राप्त नही कर पाता[5]। वह तत्त्वो का श्रद्धान करता है, मोक्षसुखकी इच्छा करता है, अरिहत आदिकी भक्तिमे उद्यत रहता है, अविरतिके आश्रयसे होने वाले कर्म बन्धको जानता है, राग-द्वेष दुखके कारण है यह भी जानता है तथा सावद्ययोगविरतिसे प्राप्त होनेवाले सुखकी भी इच्छा करता है, फिर भी उक्त अप्रत्याख्यानावरणादिके उदयके कारण वह सयमके ग्रहणमे असमर्थ रहता है। इतना अवश्य है कि वह चारित्रमोहके उदयवश पापाचरण करता हुआ भी उसे हेय ही समझता है और उसके लिये आत्मनिन्दा भी करता है[6]।

इस गुणस्थानमे उक्त सात प्रकृतियोके सर्वथा क्षयसे

---

१. (क) **सम्यड्मिथ्यात्वोदयात् सम्यड्मिथ्यादृष्टिः।** सम्यड्मिथ्यात्वसज्ञिकाया प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीणशक्तिकोद्रवोपयोगापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थश्रद्धानाश्रद्धानरूप सम्यड्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते। अतएवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि इत्युच्यन्ते। त वार्तिक ९, १, १४.

(ख) सम्मत्तगुणेण तओ विसोहई कम्ममे स मिच्छत्त।
सुज्झति कोद्दवा जह मदणा ते ओसहेणेव ॥
ज सव्वहा विसुद्ध त चेवइय भवइ कम्म सम्मत्त।
मिस्स अद्धविसुद्ध भवे असुद्ध च मिच्छत्त ॥
तिव्वाणुभावजोगो भवइ हु मिच्छत्तवेयणिज्जस्स।
सम्मत्ते अइमदो मिस्से मिस्साणुभावो य ॥

(ग) मयणकोद्दवभोजी अणप्पवसयं णरो जहा जाइ।
सुद्धाई उ ण सुज्झइ मिस्सगुणा वा वि मिस्साई ॥
सद्दहणासद्दहण जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु।
विरयाविरएण समो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥
शतक चूर्णि ९, पृ ७/२.

२ पचम (भा. ज्ञा) १-१०; धव पु १, पृ १७० उ, गो जी. २२

३ शतक बृ चूर्णि ९.

४. गो. जी. २३-२४

५. गो. जीवकाण्ड २६

६. शतक. वृचूर्णि ९ पृ ७-८, शतक मल. हेम. वृत्ति ९, पृ १६ सागारधर्मामृत १.०००

जिसने क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया है वह फिर कभी मिथ्यात्वको प्राप्त नही होता, वह कमसे कम अन्तर्मुहूर्त कालमे और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम कालमे मुक्तिको प्राप्त कर लेता है[१] ।

उन्ही सात प्रकृतियोके उपशमसे जिस जीवने औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया है वह उपशमसम्यग्दृष्टि कहलाता है । औपशमिक सम्यक्त्वका जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है[२] । उपशमसम्यग्दृष्टि परिणामोके अनुसार मिथ्यात्वको प्राप्त हो सकता है, सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो सकता हे, सम्यड्मिथ्यात्वको प्राप्त हो सकता है, और वेदकसम्यक्त्वको भी प्राप्त कर सकता है[३] ।

दर्शनमोहनीयके भेदभूत सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे वेदक सम्यक्त्व प्राप्त होता है । इसमे सम्यक्त्व प्रकृतिका वेदन या अनुभवन होता है, इसीलिये उसे वेदकसम्यक्त्व कहा जाता है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी यही कहलाता है । दर्शनमोहनीयके भेदभूत सम्यक्त्व प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोसे उदयाभावरूप क्षय, उन्हीके सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धकोके उदयस्वरूप क्षयोपशमके होनेपर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसका क्षायोपशमिक यह नाम सार्थक ही है । इसीको वेदकसम्यक्त्व भी कहा जाता है, कारण कि वह सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयका अनुभव करने वाले जीवका आत्मपरिणाम है, अथवा आगममे वह वेदक नामसे प्रसिद्ध है[४] ।

उक्त तीनो सम्यग्दर्शनो मे औपशमिक और क्षायिक निर्मल है क्योकि वे मलजनक सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे रहित है । परन्तु क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनके साथ जो उस सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय रहता है वह यद्यपि तत्त्वार्थश्रद्धान के नष्ट करनेमे समर्थ नही है, पर उसके निमित्तसे उसमे चल, मलिन और अगाढ दोष सम्भव है । जिस प्रकार अनेक लहरोके समूहमे अवस्थित एक ही जल चचल रहता हे उसी प्रकार आप्तादिविषयिक श्रद्धानभेदो मे यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चचल रहता है । जैसे-अपने द्वारा प्रतिष्ठापित जिनबिम्बादिमे 'यह मेरा देव है' तथा अन्यके द्वारा प्रतिष्ठापित जिनबिम्बादि मे 'यह दूसरे का देव है' इस प्रकार उस सम्यक्त्वप्रकृति के उदयसे श्रद्धामे जो चचलता रहा करती है उसे चलदोष कहा जाता है ।

जिस प्रकार स्वभावत· शुद्ध सुवर्ण मलके ससर्गसे मलिन होता है उसी प्रकार प्रकृत क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जो शकादिरूप मलसे मलिनताको प्राप्त होता है, यह मलदोषका लक्षण है ।

जिस प्रकार वृद्ध पुरुपके हाथमे स्थित रहकर भी लाठी कम्पायमान रहती है उसी प्रकार प्रकृत सम्यक्त्व मे अरिहंतादिविषयिक श्रद्धाके होते हुए भी वह कुछ अस्थिर रहा करती है । जैसे-सब अरिहन्तोमे अनन्तशक्ति के समान होनेपर भी यह देव–शान्तिनाथ जिनेन्द्र-शान्तिके करनेमे समर्थ है, इत्यादि प्रकार का जो अस्थिर श्रद्धान होता है उसका नाम अगाढ दोप हे[५] ।

---

१ पट्खण्डागम पु ४, सू १, ५, ३१७ व १४-१५, पृ ४८१ व ३४६,४७ ; सर्वार्थसिद्धि १-८, पृ ६४ व ५५

२ षट्खण्डागम पु. ४, सू १, ५, ३२१-२२, पृ ४८३.

३ धवला पु १, पृ १७१-७२

४ दर्शनमोहनीयभेदस्य सम्यक्त्वप्रकृते सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च उदयनिपेकदेशघातिस्पर्धकस्योदयात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तत्त्वार्थश्रद्धान भवेत्, तदेव वेदकमित्युच्यते, सम्यक्त्वप्रकृत्युदयमनुभवत आत्मन· परिणामत्वात् वेदकमित्यागमप्रसिद्धत्वाद्वा ।
गो जीवकाण्ड मन्दप्र टीका २५

५ जो पुण वेदयसम्मादिट्ठी सो सिथिलसद्दहणो थेरस्स लट्ठिगहण व सिथिलग्गाहो कुहेउ-दिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ । (धवला पु १, पृ. १७५),
वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता । स्थान एव स्थित कम्प्रमगाढ वेदक यथा ॥
स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽय मेऽन्यकारिते । अन्यस्यासाविति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपिचेष्टते ॥
तदप्यलब्धमाहात्म्य पाकात् सम्यक्त्वकर्मण । मलिन मलसगेन शुद्ध स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥
लसत्-कल्लोलमालासु जलमेकमिर्वास्थितम् । नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चल यथा ॥
समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयम् । देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥
अन ध २, ५७-६१, गो जी जी प्र टी २५ उद्धृत.

सम्यग्दर्शनका यह माहात्म्य है कि उसकी प्राप्तिके पूर्व जो जीव अपरीतससारी-अनन्तससारी-था वह उसके-प्राप्त हो जाने पर परीतससारी हो जाता है-उसका वह ससार अनन्तता से रहित होकर अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र शेष रह जाता है[१]। सम्यग्दर्शनके प्रभाव से मोक्षमार्गसे बहिर्भूत मिथ्यादृष्टि मुनिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थको भी मोक्षमार्गमे स्थित हो जानेके कारण श्रेष्ठ माना गया है[२]। इसके अतिरिक्त उक्त सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जीव नारक आदि निन्द्य अवस्थाओको भी प्राप्त नही करता[३]।

५ संयतासंयत-प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे जिसके सकल सयमरूप परिणाम तो नही होता, किंतु देश सयम होता है, उसे सयतासंयत-पचमगुणस्थानवर्ती श्रावक कहते है। वह एक साथ त्रसहिंसासे विरत और स्थावर-हिंसासे अविरत होता है, इसीलिये उसे विरताविरत या संयतासंपत कहा जाता है। उसकी आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमे श्रद्धा बराबर होती है[४]।

जो प्रत्याख्यान—व्रत या सयमको—पूर्ण रूपसे आवृत (आच्छादित) किया करती है उन्हें प्रत्याख्यानावरण तथा जो उसे अल्परूपमे आवृत किया करती है उन्हे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहा जाता है। अ-प्रत्याख्यानमे 'अ' का अर्थ अल्प या ईषत् अभीष्ट रहा है। उक्त अप्रत्याख्यानावरण कषायोके उदयक्षयसे तथा प्रत्याख्यानावरण कषायोके उदयसे यह पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक अपनी अल्प-शक्ति अनुसार विरतिको ग्रहण करके एक-दो आदि अन्तिम पर्यन्त व्रतो (प्रतिमाओ) को ग्रहण करता है, इसीलिये उसे देशयति या सयतासंयत कहा जाता है। वह परिमितका उपभोग करता है और अपरिमित अनन्तका परित्याग करता है। इसीलिये वह परलोकमे अनन्तसुख का भोक्ता होता है[५]।

---

१. एगो अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तससारो अधापवत्तकरण अपुव्वकरण अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि कादूण सम्मत्तगहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो ससारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि। धवला प्र ४, पृ ३ ५

२ गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने ॥
रत्नक. श्रा ३३

३ सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्नपुसक-स्त्रीत्वानि। दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रता च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका ॥
रत्नक. श्रा ३५.

४ पच्चक्खाणुदयादो सजमभावो ण होदि णवरिं तु। थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पचमओ ॥
जो तसवहाउ विरदो अविरदओ तह य थावर बहादो। एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥
गो जीवकाण्ड ३०-३१,

५ (क) पच्चक्खाणुदयादो सजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पचमओ ॥
गो. जी ३०.

(ख) आवरयन्ति य पच्चक्खाण अप्पमवि जेण जीवस्स।
तेणाऽपच्चक्खाणावरणा णणु होई अप्पत्थे ॥
सव्व पच्चक्खाण जेणावरयन्ति अभिलसन्तस्स।
तेण उ पच्चक्खाणावरणा भणिया णिरुत्तीहि ॥
सम्मद्दसणसहिओ गेण्हन्तो विरइमप्पसत्तीए।
एक्कव्वयाइ चरिमो अणुमइमेत्तोत्ति देसजई ॥
परिमियमुवसेवन्तो अपरिमियमणतय परिहरतो।
पावइ परम्मि लोए अपरिमियमणतय सोक्ख ॥
शतक- चूर्णि ६, पृ ८।१. उद्धृत।

६ प्रमत्तसंयत—जिसके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायोके उदयाभावसे सयम तो होता है, पर सज्वलन चार और नौ नोकषायोके तीव्र उदयसे उसे मलिन करने वाला प्रमाद भी साथमे रहता है उसे प्रमत्तसयत कहते है। चार विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और राजकथा), क्रोधादि चार कषाये, पाच इन्द्रिया, निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद माने जाते है। इनमे सयमकी विरोधी चर्चाको विकथा कहा जाता है। अन्य कषाये आदि अनुभवगम्य है[१]। दूसरे प्रकार से मदिरा, इन्द्रियविषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पाचमेसे किसी एक को अथवा सभीको प्रमाद माना जाता है। जिस प्रकार रागसे प्रमादको प्राप्त हुआ जीव गुण-दोषको नही सुनता है—उनका विचार नही करता है—उसी प्रकार जो गुप्ति और समितिके विषयमे प्रमादसे युक्त होता है उसे प्रमत्तविरत जानना चाहिये[२]।

७ अप्रमत्तसयत—चार सज्वलन और नौ नोकषायोका उदय जब मन्दताको प्राप्त हो जाता है तब पूर्वोक्त प्रमादके विनष्ट हो जानेपर जिसका सयम निर्मलताको प्राप्त हो गया है वह अप्रमत्तसयत कहलाता है। वह स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्तके भेदसे दो प्रकारका है। जो व्यक्त व अव्यक्त सब प्रकारके प्रमादसे रहित होकर भी उपशमश्रेणि अथवा क्षपक श्रेणि पर आरूढ नही हो रहा है उसे स्वस्थान अप्रमत्त कहा जाता है। तथा जो प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे वृद्धिगत होने वाला वेदकसम्यग्दृष्टि अप्रमत्तसयत, अध कारण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन परिणामविशेषोके साथ सक्रमणविधिसे चार अनन्तानुबन्धी कषायोका विसंयोजन करता है—उन्हे अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषायो और नौ नोकषायोरूप परिणमाता है, तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त विश्राम करता हुआ उक्त तीनो परिणामोके आश्रयसे तीन दर्शनमोह प्रकृतियोको उपशान्त कर द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि हो जाता है, अथवा उनका सर्वथा क्षय करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो जाता है, पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रमत्तसे अप्रमत्त और अप्रमत्तासे प्रमत्त इन दोनो गुणस्थानो मे हजारो बार परिवर्तन करता हुआ उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होता है व अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषायो और नौ नोकषायोके उपशमन या क्षपणमे उद्यत होता है वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है। यह सातिशय अप्रमत्ता उक्त

---

१ सजलण-णोकसाणुदयादो सजदो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ।।
वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसजदो होदि।
सयलगुण-सीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ।।
विकहा तहा कसाया इन्दिय-णिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेग होति पमादा दु पण्णरस ।।
गो जी ३२-३४ (सम्यग्दर्शनादिषु गुण-शीलेषु कुशलानुष्ठानेषु अनवधानमनादर' प्रमाद इति लक्षणस्य विकथादिषु पञ्चदशष्वपि विद्यमानत्वात्। प्रमाद्यति जीव कुशलानुष्ठात् प्रच्यवते अनेनेति प्रमाद इति निरुक्तिसद्भावात्। म प्र टीका ३४.)

२ (क) पमत्तो य सो सजओ य सो पमत्तसजओ, अ (?) पच्चक्खाणावरणोदयरहिओ सजलणाणं उदए वट्टमाणो पमायसहिओ पमत्तसजओ। "विकहा कसाय विकडे इन्दिय-णिद्दा-पमायपचविहो। एए सामन्नतरे जुत्तो विरओऽवि हु पमत्तो ।। जह रागेण पमत्तो ण सुणइ दोस गुण च बहुयपि। गुत्ती-समिइपमत्तो पमत्तविरओ त्ति णायव्वो ।।" शतक. चू. ६, पृ ८।१

(ख) प्रमाद्यति स्म सयमयोगेषु सीदति स्मेति
पूर्ववत् कर्तरि क्तप्रत्यये प्रमत्त' अथवा प्रमदन प्रमत्त, प्रमत्त प्रमाद:, स च मदिरा-विषय-कषाय-निद्रा-विकथाना पञ्चानामन्यतम, सर्वे वा। शतक मल हेम वृत्ति ६, पृ. १६। २

इक्कीस मोहप्रकृतियोका उपशम अथवा क्षय करता हुआ उपशम अथवा क्षपक श्रेणि पर आरूढ होता है। विशेष इतना है कि उपशमश्रेणिपर तो औपशमिकसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि दोनो ही चढ सकते है, परन्तु क्षपक-श्रेणि पर केवल क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही चढता है। वेदकसम्यग्दृष्टि दोनोमेसे किसी भी श्रेणिपर आरुढ नही हो सकता इसीलिये उसका पूर्वोक्त प्रकारसे द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि होना अनिवार्य होता है[१]।

यह सातिशय अप्रमत्तसयत उक्त इक्कीस मोहप्रकृतियोका उपशम अथवा क्षय करनेके लिये जो तीन करण किये जाते है उनमेसे प्रथम अध.प्रवृत्तकरणको करता है। इस अध प्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इसमे नाना जीवो की अपेक्षा उपरितन समयवर्ती जीवोके जो विशुद्ध-परिणाम होते है वे चूकि अधस्तन समयवर्ती जीवो के परिणामोसे सख्या और विशुद्धिकी अपेक्षा समान होते है, इसीलिये उनका 'अध·प्रवृत्तकरण' यह सार्थक नाम है[२]। अथाप्रवृत्तकरण और यथाप्रवृत्तकरण इसीके नामान्तर है। करण का अर्थ परिणाम होता है।

८ अपूर्वकरण संयत—पूर्वोक्त प्रकारसे वह सातिशय अप्रमत्त अध प्रवृत्तकरणके कालमे प्रतिसमय अनन्तगुणी वृद्धिके क्रमसे विशुद्ध होता हुआ साता आदि पुण्य प्रकृतियो के चतु स्थान-पतित अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणा बाधता है, असाता आदि पापप्रकृतियोके द्विस्थानगत अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणा हीन बाधता है, तथा सब ही बन्ध-प्रकृतियोके सख्यात हजार स्थितिबन्धापसरणोको करता है। इन कार्योको करता हुआ जब वह अध प्रवृत्तकरणको विताकर उक्त दोनो श्रेणियोमेसे किसी एकमे प्रविष्ट होता है तब वह उसके प्रथम समयमे अपूर्वकरण परिणामोका आश्रय लेता है। यही अपूर्वकरण गुणस्थान कहलाता है[१]।

इस गुणस्थानमे आगे आगे विसदृश समयो मे स्थित जीव जिन परिणामोको प्राप्त करते है वे पूर्वमे नीचेके समयोमे कभी प्राप्त नही हुए, इसीलिये उनका अपूर्वकरण यह नाम सार्थक ही है[२]। इन परिणामोकी अपेक्षा अधःस्तनसमयवर्ती कोई भी जीव उपरितन समयवर्ती जीवो से कभी समान नही होता, किन्तु एकसमयवर्ती जीव उन परिणामो मे विवक्षित परिणाम की अपेक्षा परस्परमे समान भी होते है और असमान भी होते है[५]।

इस प्रकारके अपूर्वकरण परिणामोसे युक्त जीव उसके प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातके द्वारा इक्कीस मोहप्रकृतियो के उपशम अथवा क्षय करनेमे उद्यत होते हैं[४]।

करणका अर्थ परिणाम होता है, यह निर्दिष्ट किया जाता है। प्रकारान्तरसे उसका अर्थ क्रिया भी होता है। यह अपूर्वकरणसयत पूर्वनिर्दिष्ट गुणश्रेणि आदि चारके साथ अपूर्वस्थितिबन्धरूप पाचवा कार्य भी करता है। ज्ञानावरणादि कर्मोकी स्थिति जो पूर्वमे दीर्घ बाधी जाती है उसे अपवर्तना (अपकर्षण) करणके द्वारा अल्प करना, इसे स्थितिघात कहा जाता है। इसी प्रकार पूर्वबद्ध प्रचुर रस (अनुभाग) को अपवर्तनाकरण के द्वारा अल्प करना, इसका नाम रसघात या अनुभागघात है। उपरितन स्थितिवाले कर्मप्रदेशपिण्डको अपवर्तनाकरणके द्वारा नीचे लाकर उसका अन्तर्मुहूर्तमात्र उदयक्षणके आगे शीघ्र से शीघ्र क्षय करनेके लिये प्रत्येक समय असख्यातगुणित वृद्धि के क्रमसे रचना करना, इसे गुणश्रेणि कहते है। अबध्यमान अशुभप्रकृतियोके प्रदेशपिण्डको असंख्यातगुणित वृद्धिके क्रमसे बध्यमान प्रकृतियोमे जो ले जाया जाता है, यह गुणसक्रम कहलाता है। कर्म की स्थिति अशुद्धिके वश जो पूर्वमे दीर्घ बाधी गई थी उसे यहा विशुद्धिके वश अल्प

१ गो जीवकाण्ड जी प्र टीका ४७.
२ गो जीवकाण्ड ४८
३ गो. जी. म. प्र. टीका ५०.
४ पचसं. (भा. ज्ञा.) १८, गो. जी. ५१.
५ गो. जी ५२
६ गो. जी. म. प्र. टीका ५४.

प्रमाण मे बाधता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशुद्धिके बढते जानेसे यहा ये पाचो कार्य अपूर्व ही अपूर्व होते है। यह अपूर्वकरणसयत उपशमक और क्षपकके भेदसे दो प्रकारका है[१]। इस गुणस्थानमे एक साथ प्रविष्ट हुए नाना जीवोके परस्परमे अध्यवसायस्थानके भेदरूप निवृत्ति होती है, इसलिये इसका 'निवृत्ति' यह दूसरा भी सार्थक नाम प्रसिद्ध है[२]।

९ अनिवृत्तिकरणसंयत—अनिवृत्तिकरणका काल भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है, पर वह अपूर्वकरणके कालसे सख्यात-गुणा हीन है। इस गुणस्थानमे एक समयमे प्रविष्ट अनेक जीवोमे जिस प्रकार शरीरके आकार, वर्ण, अवगाहना और लिंग आदि बाह्य तथा ज्ञान-दर्शनादिरूप अभ्यन्तर अवस्थाओसे भेद सम्भव है उस प्रकार जिन विशुद्धपरि-णामोसे उनमे परस्पर भेद सम्भव नही है, अर्थात् जो एक समयवर्ती जीवोके सर्वथा समान होते है, उनका नाम अनि-वृत्तिकरण है। निवृत्तिका अर्थ भेद है, उनमे चूकि विशुद्धि-की अपेक्षा वह निवृत्ति सम्भव नही हे, इसीलिये उनका 'अनिवृत्ति' यह सार्थक नाम है। जिस गुणस्थानमे इस प्रकारके परिणाम हुआ करते है उसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हे। अनिवृत्तिकरणकालके जितने समय है उतने ही वे परिणाम हे। इस प्रकार उसके प्रथम समय मे प्रविष्ट त्रिकालवर्ती नाना जीवोके वे सर्वथा समान होते है। द्वितीय समयमे प्रविष्ट त्रिकालवर्ती नाना जीवोके भी परिणाम सर्वथा सदृश होते है, किन्तु वे प्रथम समयवर्ती जीवोके परिणामोसे अनन्तगुणी विशुद्धिसे युक्त होते है। इसी प्रकार तृतीयादि अन्तिम समयवर्ती जीवो तक वे परिणाम सर्वथा समान होते हुए उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए होतें है[३]।

प्रकारान्तरसे इस गुणस्थानको अनिवृत्ति बादरसाम्प-रायगुणस्थान भी कहते है। इस गुणस्थानको प्राप्त बहुत जीवोके परस्पर सम्बन्ध रखने वाला जो अध्यवसायस्थान होता है उसकी जो व्यावृत्ति या परस्पर भिन्नता है उसका नाम निवृत्ति है, 'ससरति पर्यटति ससारमनेनेति सम्पराय , इस निरुक्तिके अनुसार सम्पराय शब्दसे कषायोदय अभिप्रेत है, इस प्रकार जो सयत अध्यवसायकी निवृत्तिसे रहित और बादर (स्थूल) कषायके उदयसे सहित होता है उसे अनिवृत्ति बादरसम्पराय और उसके गुणस्थानको अनिवृत्ति बादरसम्परायगुणस्थान कहते हैं। यह भी उपशमक और क्षपकके भेदसे दो प्रकारका है। इनमे जो क्षपक है वह चार प्रत्याख्यानावरण, चार अप्रत्याख्यानावरण, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जाति, आतप, उद्योत, स्थावर, साधारण, सूक्ष्म, नौ नोकषाय तथा सज्वलन क्रोध, मान और माया इस प्रकार बीस मोह प्रकृतियो, तीन दर्शना-वरण और तेरह नाम प्रकृतियोका क्षय करता है तथा उपशमक उन्हीका आगमोक्त विधिसे उपशम करता है[४] इसका विशेष व्याख्यान षट्खण्डागम[५] और कर्मप्रकृति आदि कर्मग्रन्थो मे किया गया है।

१० सूक्ष्मसाम्पराय–जिस प्रकार कुसुम्भी रगसे रँगे हुए वस्त्रके धो देने पर वह अव्यक्त सूक्ष्मरगसे युक्त होता है उसी प्रकार सूक्ष्मकृष्टिगत अनुभागको प्राप्त सज्वलन लोभमात्र कषायका उदय जिसके शेष रहता है उसे सूक्ष्म-सराग या सूक्ष्मसाम्परायसयत कहते है। यह सूक्ष्मलोभ यथाख्यातचारित्र को प्रगट नही होने देता, इससे वह सूक्ष्मसाम्पराय सयत यथाख्यातचारित्रसे युक्त जीवसे कुछ ही हीन होता है। वह उपशमक और क्षपकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमे उपशमक तो पूर्वमे अनिवृत्तिकरण

---

१ शतक. मल हेम. वृत्ति ६, पृ. १७ । १८

२ ,, पृ. १७-१८.

३ प च स (भा ज्ञा) २०-२१; गो जी ५६-५७.

४ शतक. मल हेम. वृत्ति ६, पृ १८-१९.

५. जीवस्थान चूलिका पु. ६, पृ.

सयतके द्वारा जिस लोभके अनुभागको सूक्ष्मकृष्टिरूप किया गया था उसे उपशमाता है और क्षपक उसका निर्मूलत क्षय करता है[1]।

११ उपशान्तकषाय–जिस प्रकार निर्मली फलके चूर्णसे युक्त जल अथवा कीचडसे रहित शरत्कालीन तालाबका जल निर्मल होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण मोहके उपशान्त हो जानेसे जो निर्मल यथाख्यातचारित्र को प्राप्त कर चुका है वह उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाता है[2]।

केवलज्ञान और केवलदर्शनके आच्छादक ज्ञानावरण दर्शनावरण और मोहनीय को छद्म कहा जाता है। यद्यपि अन्तराय कर्म उक्त ज्ञान-दर्शनका आच्छादक नही है, फिर भी उसके रहनेपर वे ज्ञान-दर्शन उत्पन्न नही होते तथा उसके नष्ट हो जाने पर वे उत्पन्न होते है, इस अन्वय-व्यतिरेकके कारण उस अन्तराय कर्मको भी छद्मके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। इस प्रकार जो चार घातिकर्मरूप छद्ममे स्थित होते हैं वे छद्मस्थ कहलाते है। इनमे जो माया और लोभ कपायके उदयरूप रागसे सहित होते है उन्हे सरागछद्मस्थ और जो उस रागसे रहित हो जाते है उन्हे वीतराग छद्मस्थ कहा जाता है। यहा क्रोधादि कषायोके उपशान्त कर देने वाले वीतराग छद्मस्थ अभिप्रेत है। इन उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थोके गुणस्थानका नाम उपशान्तकपाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान है[3]।

उपशमश्रेणिके अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानोमे यह अन्तिम है। इस गुणस्थानका काल अन्तर्मूहूर्त मात्र है। तत्पश्चात् उपशमको प्राप्त कराये गये मोहके उदयमे आ जानेसे जीवका नियमसे इस गुणस्थानसे पतन हुआ करता है।

१२ क्षीणमोह–सम्पूर्ण मोहका क्षय हो जानेसे जिसका अन्त करण स्फटिक मणिके पात्रमे स्थित जलके समान स्वच्छ हो चुका है उसे क्षीणकपाय कहा जाता है। यह भी पूर्वोक्त प्रकारसे वीतराग छदमस्थ होता है। इस क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थके गुणस्थानका नाम क्षीण-मोह वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान है[4]। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पॉच निर्ग्रन्थोमे प्रकृत क्षीणमोह सयत चौथा है। क्षपकश्रेणि पर आरूढ हुआ जीव सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानसे सीधा इस गुणस्थानमे आता है। उस क्षपकश्रेणि पर आरूढ हुए जीवकी मुक्ति सुनिश्चित है। उपशमश्रेणि पर आरूढ हुए जीवके समान उसका पतन नही होता। उपशम श्रेणिपर आरूढ हुआ जीव भी अधिकसे अधिक चार वार ही उसपर आरूढ होता है, तत्पश्चात् वह भी क्षपक श्रेणि पर आरूढ होकर नियम से मुक्तिको प्राप्त करता है[5]।

---

१. गो. जी ६०.

२. पचस. (भा ज्ञा.) २४, गो. जी. ६६

३. तत्र च्छाद्यते केवलं ज्ञान दर्शन चात्मनोऽनेनेतिच्छद्म ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायकर्मोदयः। इह यद्यपि केवलज्ञान–दर्शनयोराच्छादकत्वेनान्तराय कर्म्म न प्रसिद्धम्, तथाप्यन्वयव्यतिरेकमात्रापेक्षया तथोच्यते-सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादानादपगमानन्तर चोत्पाददिति। छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः। स च सरागोभवतीति अतस्तद्रव्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम्। वीतो रागो माया-लोभकषायोदयरूपो यस्य स वीतरागः, स चासौ छद्मस्थश्चेति वीतरागछद्मस्थ.। स च क्षीणकषायोऽपि भवति, तस्यापि यथोक्तरागापगमात्, ततस्तद्-व्यवच्छेदार्थमुपशान्तकषायग्रहणम् कथम् (ससारम्) अयन्ते गच्छन्त्येभि प्राणिन इति कषाया क्रोधादय', उपशान्ता उपशमिता विद्यमाना एव सङ्क्रमणोद्वर्त्तनादिकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापिता. कपाया येन स उपशान्तकपाय, स चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्चेत्युपशान्तकषाय-वीतरागच्छद्मस्थ, तस्य गुणस्थानम्। शतक. मल. हेम. वृत्ति ६, पृ २०/१.

४. पचस. (भा.ज्ञा) २५, गो.जी. ६२:

५. अट्ठसु सजमकडएसु च चत्तारि चेव कसायउवसामणयारा / धवला पु, १०, पृ. २९४

१३ **सयोगिकेवली**—पूर्वोक्त क्षीणकषाय गुणस्थानके कालके अन्तिम भागमे जो एकत्व वितर्क-अविचार नामका दूसरा शुक्लध्यान होता है उसके प्रभावसे उक्त गुणस्थानके अन्तिम समय के अनन्तर उत्तर समयमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीन घातिकर्मोंके नष्ट कर देनेपर जिसके क्षीणकषायके अन्तिम समयवर्ती अज्ञानको नष्ट कर देने वाला केवलज्ञान प्रगट हो चुका है तथा उसके साथ ही जो क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन नौ केवललब्धियो का स्वामी हो चुका है उसे योगसे सहित होनेके कारण सयोगिकेवली कहा जाता है। केवलका अर्थ है सहायतासे रहित वह इन्द्रिय, प्रकाश, शब्द एव लिंग आदि की सहायताके विना उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे सहित है इसलिये केवली और योगसहित है इसलिये सहयोगी है, इस प्रकार 'सहयोगि केवली' यह सार्थक नाम हे। इसके अतिरिक्त वह घातिकर्मोको जीतता है, अथवा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यानके द्वारा योगनामक कर्मका निरोध करता है, इसलिये उसको जिन भी कहा जाता है। यद्यपि यह जिनशब्द सामान्य निर्जरासे युक्त होनेके कारण असयतसम्यग्दृष्टि आदि क्षीणकषाय पर्यन्त सभीमे प्रवृत्त है, फिरभी विशेष निर्जराके कारण मुख्यरूपसे तेरहवे गुणस्थानवर्ती सयोगिकेवली ही जिन कहलाते है[1]।

योग, वीर्य, शक्ति, उत्साह और पराक्रम ये समानार्थक शब्द है। वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकार का है। यह तीनो ही प्रकारका योग प्रकृत तेरहवे गुणस्थानवर्ती केवलीके सम्भव है। उनमे मनोयोग मन-पर्यय ज्ञानी आदिके द्वारा अथवा अनुत्तर आदि देवोके द्वारा जीवादि किसी तत्त्वके विषयमे पूछे गये केवलीकी मनसे ही होने वाली देशनामे सम्भव है। वचनयोग उनकी सामान्यसे होने वाली देशना आदिमे रहता है। काययोग उनके गमन और पलको के उन्मेष-निमेष आदिमे रहता है। इस तीन प्रकारके योगके साथ रहनेसे वे सयोग या सयोगी तथा केवल-असहाय ज्ञान-दर्शन-के स्वामी होनेसे केवली होते हैं, इन सयोगिकेवलीके गुणस्थानका नाम सयोगिकेवली गुणस्थान है[2]।

१४ **अयोगिकेवली**—जो केवली मन, वचन व कायकी क्रियारूप योगोसे रहित होकर समस्त आस्रवोका निरोध करता हुआ नवीन कर्मोके वन्धसे रहित हो चुका है तथा जिसने शैलेश्य भावको—अठारह हजार शीलोके स्वामित्व-को—प्राप्त कर लिया है वह अयोगिकेवली कहलाता है।

शैलेश्य के प्रकार

प्राकृत शब्द सेलेसी है। उसके सस्कृतशब्द शैलेश्य, शैलेशी, शैलर्षि और से अलेसी है। शैलेश्यका अर्थ १८००० शीलो का स्वामित्व है, यह निर्दिष्ट किया जा चुका है। शैलेशी-शैलोके स्वामी मेरु पर्वतका नाम शैलेश है, उसकी जो स्थिरता है उसे शैलेशी कहा जाता है। अभिप्राय यह हे कि अयोगिकेवलीकी जो मेरुके समान स्थिरता है वही उनकी शैलेशी अवस्था हे। अथवा जो पूर्वमे अशैलेश था वह अभूततद्भावसे शैलेशी हो जाता है। शैलर्षि-शैल (पर्वत) के जो स्थिर ऋषि अयोगिकेवली हे वह शैलर्षि कहलाता है। से अलेसी-'से' यह अव्यय प्रस्तुत वस्तुका परामर्शक होता है, तदनुसार उससे प्रकृतमे अयोगिकेवली अभीष्ट है, 'अलेस' का अर्थ लेश्यासे रहित है, यहाँ 'अ' का लोप हो जानेसे सेलेसी रह गया हे, जिसका अर्थ लेश्या-से रहित होता ही है। अयोगिकेवली लेश्यासे रहित होते ही है[3]।

---

१. गो. जी. (म.प्र टीका) ६४.

२. शतक. मल. हेम. वृत्ति ६, पृ, २०-२१.

३. गो जी ६५ (म. प्र. टीका)। (शीलभेदोके लिये देखिये मूलाचार का शीलगुणाधिकार, भा. २, पृ १५१-७२)
सेलेसो इर मेरु सेलेसी होति जा तथाऽचलता। होतु व असेलेसो सेलेसी होति थिरताए ।।
अथवा सेलोव्व इसी सेलेसी होति सो थिरताए। से व अलेसी होती सेलेसी होतऽलोवातो ।।
सीलव्व समाधाण णिच्छयतो सव्वसवरो सो य। तस्सेसो सेलेसी होति तदवत्थो ।।
विशेषा. भा. ३६६३-६५.

उक्त तीनो योगोमे प्रत्येक बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद केवली जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकोटि काल तक विहार करके जब अन्तर्मुहूर्तमात्र आयु शेष रह जाती है तब शैलेशी अवस्थाकी प्राप्तिके अभिमुख होते है। उस समय वे प्रथमत बादर काययोगके द्वारा बादर मनोयोगका और वचनयोगका निरोध करते है, तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोगके आश्रयसे बादर काययोगका निरोध करते है। इसका कारण यह है कि बादर काययोगके रहते सूक्ष्म योगका निरोध करना अशक्य होता है। तत्पश्चात् समस्त बादर काययोगका निरोध हो जानेपर सूक्ष्म काययोगके आश्रयसे वे सूक्ष्म वचनयोग व मनोयोग का निरोध करते है। अब जो सूक्ष्म काययोग शेष रह जाता है उसका वे सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यानका चिन्तन करते हुए अपने बलसे ही निरोध करते है, क्योकि उस समय अन्य कोई आश्रयणीय योग नही रहता। इस प्रकार पूर्णतया योगका निरोध हो जानेपर वे समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति शुक्लध्यानका चिन्तन करते हुए ह्रस्व पाच अक्षरो (अ, इ, उ, ऋ और लृ) के उच्चारणमात्र कालमे शैलेशीकरणमे प्रविष्ट होते है।

योग और लेश्यारूप कलकसे रहित यथाख्यातचारित्ररूप शीलके ईश (स्वामी) को शीलेश कहा जाता है, उदर (पेट) आदिके छेदोकी पूर्तिवश आत्मप्रदेशोके सकुचित हो जानेसे जो उस शीलेश की तृतीय भागसे हीन शरीरकी अवगाहना रह जाती है उसमे अवस्थान होना, यही उस शीलेशकी शैलेशी है। वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिकर्मोंकी असख्यातगुणित श्रेणिसे तथा शेष आयु कर्मकी यथावस्थित श्रेणिसे निर्जरा करना, यही शैलेशीकरण कहलाता है। ससार मे स्थित वह अयोग अथवा अयोगी केवली इस शैलेशीकरणो मे प्रविष्ट होकर उसके अन्तिमसमय मे प्रकृति-स्थिति आदि चार प्रकार के कर्म-बन्धनसे रहित होता हुआ औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोको छोड देता है व फलके बन्धनके टूट जानेसे स्वभावत ऊपर उचटनेवाले एरण्ड बीज (अण्डी) की गतिके समान ऊर्ध्वगतिसे एक ही समयमे सीधा लोकके अन्तमे जा पहुँचता है। लोकान्तसे ऊपर न जानेका कारण गमनके निमित्तभूत धर्मास्तिकायका अभाव है। वहा पहुँचकर वह ससारसे मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है और सादि-अनन्तकाल तक परमानन्द—स्वरूप सुख का अनुभव करता है। यही अयोगकेवली का गुणस्थान है।

---

१ शतक मल. हेम. वृत्ति ६, पृ. २१.
शतक चूर्णि ६, उद्धृत गा १-१५ पृ ९-१०,

३

भगवान महावीर की अध्यात्म देशना

डा० प० पन्नालालजी, साहित्याचार्य, सागर (म. प्र.)

लोक–व्यवस्था—

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यो के समूह को लोक कहते है। इनमे सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला, अतीत घटनाओ का स्मरण करनेवाला, तथा आगामी कार्यों का सकल्प करनेवाला द्रव्य, जीवद्रव्य कहलाता है। जीवद्रव्य मे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण विद्यमान है। उन गुणो के द्वारा इसका बोध स्वय होता रहता है। पुद्गल द्रव्य स्पष्ट ही दिखाई देता है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्गल दृष्टिगोचर नही होता तथापि उनके सयोगसे निर्मित स्कन्ध-पर्याय इद्रियो के अनुभव मे आता है और उसके माध्यम से सूक्ष्म पुद्गल का भी अनुमान कर लिया जाता है। जीव और पुद्गल के चलने मे जो सहायक होता है उसे धर्म द्रव्य कहा गया है और जो उक्त दोनो द्रव्यो के ठहरने मे सहायक होता है वह अधर्म द्रव्य कहलाता है। पुद्गल द्रव्य और उसके साथ सम्बद्ध जीवद्रव्य की गति तथा स्थिति को देखकर उनके कारणभूत धर्म अधर्म द्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे आता है। समस्त द्रव्यो के पर्यायो के परिवर्तन मे जो सहायक होता है उसे काल द्रव्य कहते हैं। पुद्गल मे परिवर्तित पर्याय दृष्टिगोचर होती है, इससे काल द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है। जो सब द्रव्यो को निवास देता है वह आकाश कहलाता है। इस तरह आकाश का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

जीवादि छह द्रव्यो मे एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य-दृश्य है। शेष पाच द्रव्य अमूर्तिक है—रूपादि से रहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं है। जीवद्रव्य, अपने ज्ञानगुण से सबको जानता है और पुद्गल द्रव्य उसके जानने मे माध्यम बनता है इसलिये कोई द्रव्य मूर्तिक हो अथवा अमूर्तिक, जीव के ज्ञान से बाहर नही रहता। पुद्गल द्रव्य के माध्यम होने की बात परोक्ष ज्ञान इन्द्रियाधीन ज्ञान मे ही रहती है, प्रत्यक्ष ज्ञान मे नही।

असख्यात प्रदेशी लोकाकाश के भीतर सब द्रव्यो का निवास है इसलिये सब द्रव्यो का परस्पर सयोग तो हो रहा है पर सबका अस्तित्व अपना-अपना स्वतन्त्र रहता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अत्यन्ताभाव रहता है इसलिये सयोग होने पर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन त्रिकाल मे भी नही करता है। यह लोक की व्यवस्था अनादि अनन्त है। इसे न किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसे नष्ट कर सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और घटपटादिरूप पुद्गल द्रव्य, जीव द्रव्य से पृथक् है, इसमे किसी को सन्देह नहीं परन्तु कर्म नोकर्म रूप जो पुद्गल द्रव्य, जीव के साथ अनादिकाल से लग रहा है, उसमे अज्ञानी जीव भ्रम मे पड जाता है। वह, इस पुद्गल द्रव्य और जीव को पृथक् पृथक् अनुभव न कर एकरूप ही मानता है—जो शरीर है वही जीव है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार पदार्थों के सयोग से उत्पन्न हुई एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति ही जीव कहलाती है। जीव नाम का पदार्थ, इन पृथ्वी आदि पदार्थों से भिन्न पदार्थ नही है। शरीरके उत्पन्न होने से जीव उत्पन्न होता है और शरीर के नष्ट होने से जीव नष्ट हो जाता है। जब जीव नाम का कोई पृथक् पदार्थ ही नही है तब परलोक का अस्तित्व स्वत समाप्त हो जाता है। यह जीव-

विषयक अज्ञान का सबसे बृहद् रूप है। यह चार्वाक का सिद्धान्त है तथा दर्शनकारो ने इसे नास्तिक दर्शनो मे परिगणित किया है।

आत्मा का स्वरूप—

अनेक पदार्थों से भरे हुए विश्व से आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकृत करना आस्तिक दर्शनो की प्रथम भूमिका है। आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करने पर ही अच्छे-बुरे कार्यों का फल तथा परलोक का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। अमृतचन्द्र आचार्य ने आत्मा का अस्तित्व प्रदर्शित करते हुए कहा है—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जित स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेत समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥

पुरुष—आत्मा है और वह चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण नामक पौद्गलिक गुणो से रहित है, गुण और पर्यायो से तन्मय है तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित है।

किसी भी पदार्थ का वर्णन करते समय आचार्यों ने दो दृष्टियाँ अङ्गीकृत की है—एक दृष्टि स्वरूपोपादान की है और दूसरी दृष्टि पररूपापोहन की। स्वरूपोपादान की दृष्टि मे पदार्थ का अपना स्वरूप बताया जाता है और पररूपापोहन की दृष्टि मे पर-पदार्थ से उसका पृथक्करण किया जाता है। पुरुष—आत्मा चैतन्यरूप है, यह स्वरूपोपादान दृष्टि का कथन है और स्पर्शादि से रहित है, यह पररूपापोहन दृष्टि का कथन है। देख, तेरा आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है, ज्ञाता द्रष्टा है और उसके साथ जो शरीर लग रहा है वह पौद्गलिक पर्याय है। यह जो स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण अनुभवमे आते है वे उसी शरीर के धर्म है, उन्हे तू आत्मा नही समझ बैठना। तेरा यह आत्मा सामान्य विशेष रूप अनेक गुणो तथा स्वभाव और विभावरूप पर्यायो से सहित है। साथ ही परिणमनशील होने से उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।

अध्यात्म शब्दका अर्थ—

उपर्युक्त प्रकार से परपदार्थों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करना अध्यात्म की प्रथम भूमिका है। 'आत्मनि इति अध्यात्मम्' इस प्रकार अव्ययीभाव समास के द्वारा अध्यात्म शब्द निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है आत्मा मे अथवा आत्मा के विषय मे। अशुद्ध और शुद्ध के भेद से जीव का परिणमन दो प्रकार का होता है। जिसके साथ नोकर्म, द्रव्य कर्म और भावकर्म रूप परपदार्थ का संसर्ग हो रहा है, ऐसा ससारी जीव अशुद्ध जीव कहलाता है, और जिसके साथ उपर्युक्त पर-पदार्थ का ससर्ग नही है, ऐसा सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीव कहलाता है। अशुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमे अन्य धातुओ के समिश्रण से अशुद्धता आ गई है और शुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमे से अन्य धातुओ का समिश्रण अलग हो गया है। जिस प्रकार चतुर स्वर्णकार की दृष्टि मे यह बात अनायास आ जाती है कि इस स्वर्ण मे अन्यद्रव्य का समिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव की दृष्टि मे यह बात अनायास आ जाती है कि आत्मा मे अन्य द्रव्य का समिश्रण कितना हे और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। जिस पुरुष ने स्वद्रव्य—आत्मद्रव्य मे मिले हुए परद्रव्य का अस्तित्व पृथक् समझ लिया वह एक दिन स्वद्रव्य की सत्ता से परद्रव्य की सत्ता को नियम से निरस्त कर देगा, यह निश्चित है।

स्वभाव-विभाव—

शरीर को नोकर्म कहते है। यह नोकर्म स्पष्ट ही पुद्गल द्रव्य की परिणति है इसीलिये तो स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण से सहित है। इससे आत्मा को पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की पहली सीढी है। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, पौद्गलिक होने पर भी इतने सूक्ष्म है कि वे इन्द्रियो के द्वारा जाने नही जा सकते। साथ ही आत्मा के साथ इतने घुले-मिले हुए हैं कि एक भव से दूसरे भव मे भी उसके साथ चले जाते है। उन द्रव्य कर्मों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की दूसरी सीढी है।

द्रव्यकर्म के उदय से होने वाला विकार, आत्मा के साथ इस प्रकार तन्मयीभाव को प्राप्त होता है, कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी जीव भी भ्रान्ति मे पड़ जाते है। अग्नि का

स्पर्श उष्ण है तथा रूप भास्वर है, पर जब वह अग्नि पानी मे प्रवेश करती है तब अपने भास्वररूप को छोडकर पानी के साथ इस प्रकार मिलती है कि सब लोग उस उष्णता को अग्नि की न मानकर पानी की ही मानने लगते है। 'पानी उष्ण है' यह व्यवहार उसी मान्यतामूलक है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म के उदय मे होनेवाले रागादिक विकारी भाव, आत्मा के साथ इस खूबी से मिलते है कि अलग से उनका अस्तित्व अनुभव मे नही आता। तन्मयीभाव से आत्मा के साथ मिले हुए रागादिक विकारी भावो को आत्मा से पृथक् अनुभव करना अध्यात्म की तीसरी सीढी है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता है। वह समझता है कि स्वभाव कही बाहर से नही आता, वह स्व मे सदा विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि स्वभाव का द्रव्य के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव रहता है। और विभाव, वह कहलाता है जो स्व मे पर के निमित्त से उत्पन्न होता है। जब तक पर का ससर्ग रहता है तब तक वह विभाव रहता है और जब पर-ससर्ग छूट जाता है तब वह विभाव भी दूर हो जाता है। जैसे शीतलता पानी का स्वभाव है, वह कही बाहर से नही आती; परन्तु उष्णता पानी का विभाव है, क्योकि वह अग्नि के ससर्ग से आती है। जब तक अग्नि का ससर्ग रहता है तब तक पानी मे उष्णता रहती है और जब अग्नि का ससर्ग दूर हो जाता है तब उष्णता भी दूर हो जाती है। ज्ञान-दर्शन, आत्मा का स्वभाव है, यह कही बाहर से नही आता, परन्तु रागादिक विभाव है, क्योकि वे द्रव्यकर्म की उदयावस्था से उत्पन्न होते है और उसके नष्ट होते ही नष्ट हो जाते है। इसीलिए उनका आत्मा के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव नही है। इस प्रकार पर-पदार्थ से भिन्न अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करना अध्यात्म का प्रयोजन है।

अध्यात्म और स्वरूप-निर्भरता—

ज्ञानी जीव अपने चिन्तन का लक्ष्य बाह्यपदार्थों को न बनाकर आत्मा को ही बनाता है। वह प्रत्येक कारण-कलाप को आत्मा मे ही खोजता है। सुख-दुख, हानि-लाभ, सयोग-वियोग आदि के प्रसङ्ग इस जीव को निरन्तर प्राप्त होते रहते है। अज्ञानी जीव ऐसे प्रसङ्गो पर सुख-दुख का कारण अन्य पदार्थों को मानकर उनमे इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है, जबकि ज्ञानी जीव, उन सभी का कारण अपनी परिणति को मानकर बाह्य पदार्थों मे इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से दूर रहता है। ज्ञानी जीव विचार करता है कि मैने जो भी अच्छा-बुरा कर्म किया है उसी का फल मुझे प्राप्त होता है। दूसरे का दिया हुआ सुख-दुख यदि प्राप्त होने लगे तो अपना किया हुआ कर्म व्यर्थ हो जाय। पर ऐसा होता नही है।[1]

ज्ञानी जीव की यह श्रद्धा रहती है कि मै पर-पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण-पर्यायो से अभिन्न आत्मतत्व हूँ, तथा उसी की उपलब्धि के लिये प्रयत्नशील हूँ। इसकी उपलब्धि, अनादिकाल से श्रुत, परिचित और अनुभूत काम, भोग, बन्ध की कथा से नही हो सकती। उसकी प्राप्ति तो परपदार्थो से लक्ष्य हटाकर स्वरूप-विनिवेश—अपना उपयोग अपने आप मे ही स्थिर करने से—हो सकती है। अध्यात्म के सुन्दर उपवन मे विहार करनेवाला पुरुष, बाह्य-जगत् से पराङ्मुख रहता है। वह अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव का ही बारबार चिन्तन कर उसमे बाधा डालनेवाले रागादि विकारी भावो को दूर करने का प्रबल प्रयत्न करता है। द्रव्यकर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर यद्यपि उसकी आत्मा मे रागादि विकारभाव प्रगट हो रहे है तथापि उसकी श्रद्धा रहती है कि यह तो एक प्रकार का तूफान है, मेरा स्वभाव नही है, मेरा स्वभाव तो अत्यन्त शान्त है—पूर्ण

१— स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृत कर्म निरर्थक तदा॥

—अमितगति आचार्य,

वीतराग है। पदार्थ को जानना, देखना ही मेरा काम है। उसमे इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करना मेरा काम नही है। मै तो अवद्धस्पृष्ट तथा पर से असयुक्त हूँ। अध्यात्म इसी आत्मनिर्भरता के मार्ग को स्वीकृत करता है।

यद्यपि जीव की वर्त्तमान मे बद्ध-स्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्व मे प्राप्त हो रहे है। तथापि, अध्यात्म, जीव के अबद्धस्पृष्ट और उसके फलस्वरूप रागादिरहित—वीतराग स्वभाव की ही अनुभूति कराता है। स्वरूप की अनुभूति कराना ही अध्यात्म का उद्देश्य है अत' सयोगज दशा और संयोगज भावो की ओर से वह मुमुक्षु का लक्ष्य हटा देना चाहता है। उसका उद्घोप है कि हे मुमुक्षु प्राणी! यदि तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नही करता है तो इस सयोगज दशा और तज्जन्य विकारो को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा ?

ज्ञानी जीव, कर्म, नोकर्म और भाव कर्म से तो आत्मा को पृथक् अनुभव करता ही है परन्तु ज्ञेय-ज्ञायक भाव और भाव्य-भावक भाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भाव्य से पृथक् अनुभव करता है। जिस प्रकार दर्पण, अपने मे प्रतिविम्बित मयूर से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा, अपने ज्ञान मे आये हुए घट पटादि ज्ञेयो से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण, ज्वालाओ के प्रतिविम्ब से संयुक्त होने पर भी तज्जन्य ताप से उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा, अपने अस्तित्व मे रहने वाले सुख-दु ख रूप कर्म के फलानुभव से रहित है। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं[1] निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन से तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। ज्ञानी यह भी[2] मानता है कि ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, संयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य है।

इस प्रकार के भेदविज्ञान की महिमा वतलाते हुए भी अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार कलशा मे कहा है—

भेद विज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

आज तक जितने सिद्ध हुए है वे भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए है और जितने ससार मे बद्ध है वे सब भेद विज्ञान के अभाव से ही बद्ध है।

अध्यात्म और नय-व्यवस्था—

वस्तु स्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ मे रहनेवाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो परस्पर विरोधी दो धर्मों मे से एक को प्रमुख तथा दूसरे को गौण कर, विवक्षानुसार, क्रम से ग्रहण करता है। नयो का विवेचन करनेवाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय—आगमिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचना मे नय के द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये है और आध्यात्मिक दृष्टि की नय विवेचना मे उसके निश्चय तथा व्यवहार भेदो का निरूपण है। इस विवेचना मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, दोनो ही निश्चय मे समा जाते है और व्यवहार मे उपचार कथन रह जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि मे वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि मे उस नयविवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय

१— अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंवि॥
—कुन्दकुन्द आचार्य, समयसार, गाथा—३८

२— एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
—कुन्दकुन्द आचार्य, नियमसार, गाथा—१०२

रहता है। जिस प्रकार वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र मे रखकर जगत् के स्वरूप का विचार करते है, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि, आत्मा को केन्द्र मे रखकर विचार करती है। इस दृष्टि मे शुद्ध-बुद्ध एक आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य है। इसीलिये उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का विवेचन करनेवाली दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टि आत्मा के शुद्धस्वरूप को दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध स्वरूप को। अध्यात्म का लक्ष्य शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का है इसलिये वह निश्चय दृष्टि को प्रधानता देता है। अपने गुण पर्यायो से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करना, निश्चय दृष्टि का कार्य है, और कर्म के निमित्त से होनेवाली आत्मा की परिणति को ग्रहण करना व्यवहार दृष्टि का विषय है। निश्चय दृष्टि, आत्मा मे काम, क्रोध मान, माया, लोभ आदि विकारो को स्वीकृत नही करती। चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते है अत उन्हे पुद्गल मानती है[1] इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि के विकल्प जीव के स्वभाव नही है अत निश्चय दृष्टि उन्हे स्वीकृत नही करती। इन सब को आत्मा कहना व्यवहार दृष्टि का कार्य है।

अध्यात्म, निश्चयदृष्टि—निश्चय नय को प्रधानता देता है, इसका यह अर्थ ग्राह्य नही है कि वह व्यवहार दृष्टि को सर्वथा उपेक्षित कर देता है। आत्मतत्व की वर्तमान मे जो अशुद्ध दशा चल रही है उसका सर्वथा निषेध कैसे किया जा सकता है ? यदि उसका सर्वथा निषेध किया जाता है तो उसे दूर करने के लिये मोक्ष मार्ग रूप पुरुषार्थ व्यर्थ सिद्ध होता है। अध्यात्म की निश्चय दृष्टि का अभिप्राय इतना ही है कि हे प्राणी ! तू इस अशुद्ध दशा को आत्मा का स्वभाव मत समझ। यदि स्वभाव समझ लेगा तो उसे दूर करने का तेरा पुरुषार्थ समाप्त हो जायगा। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध पर्यायो का समूह है, उसे मात्र शुद्ध पर्याय रूप मानना सगत नही है। जिस पुरुष ने वस्त्र की मलिन पर्याय को ही वस्त्र का वास्तविक रूप समझ लिया है वह उसे दूर करने का पुरुषार्थ क्यो करेगा ? वस्तुस्वरूप के विवेचन मे अनेकान्त का आश्रय ही स्व-पर-हितकारी है, अत अध्यात्मवादकी दृष्टि उस पर होना अनिवार्य है।

अध्यात्म और कार्य-कारणभाव—

कार्य की सिद्धि मे उपादान और निमित्त इन दो कारणो की आवश्यकता रहती है। उपादान वह कहलाता है जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त वह कहलाता है जो उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होता है। मिट्टी, घट का उपादान कारण है और कुम्भकार, चक्र, चीवर आदि निमित्त कारण है। जिस मिट्टी मे बालू के कणो की प्रचुरता होने से घटाकार परिणत होने की योग्यता नही है उसके लिये कुम्भकारादि निमित्त कारण मिलने पर भी उससे घट का निर्माण नही हो सकता। इसी प्रकार जिस स्निग्ध मिट्टी मे घटाकार परिणत होने की योग्यता है, उसके लिये यदि कुम्भकारादि निमित्त कारणोका योग नही मिलता है तो उससे भी घट का निर्माण नही हो सकता। फलितार्थ यह है कि घट की उत्पत्ति मे मिट्टीरूप उपादान और कुम्भकारादिरूप निमित्त – दोनो कारणो की आवश्यकता है। इस अनुभव सिद्ध और लोकसमत कार्य-कारण भाव का निषेध न करते हुए अध्यात्म, मुमुक्षु प्राणी के लिये यह देशना भी देता है कि तू आत्मशक्ति को सबसे पहले सभाल, यदि तू मात्र निमित्त कारणो की खोजबीन मे उलझा रहा, और अपनी आत्मशक्ति की ओर लक्ष्य नही किया, तो उन निमित्त कारणो से तेरा

१— एए सव्वे भावा पुग्गल दव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहि भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चति ॥ —समयसार, गाथा–४४

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ —समयसार, गाथा–५५

कौन-सा कार्य सिद्ध हो जायगा ? जो किसान, खेत की भूमि को तो खूब सभालता है परन्तु बीज की ओर दृष्टि-पात नही करता, उस सभाली हुई खेत की भूमि मे यदि सडा घुना बीज डालता है तो उससे क्या अकुर उत्पन्न हो सकेगे ? कार्यरूप परिणति उपादान की होनेवाली है इसलिए उसकी ओर दृष्टि देना आवश्यक है। यद्यपि उपादान निमित्त नही बनता और निमित्त उपादान नही बनता यह निश्चित है, तथापि कार्य की सिद्धि के लिए दोनो की अनुकूलता अपेक्षित है, इसका निषेध नही किया जा सकता।

अध्यात्म और मोक्षमार्ग—

'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। इस मान्यता को अध्यात्म भी स्वीकृत करता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की व्याख्या को निश्चयनय के साचे मे ढाल कर स्वीकृत करता है। उसकी व्याख्या है—पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है। पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा मे ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और परपदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा मे लीन होना सम्यक् चारित्र है। इस निश्चय अथवा अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर ही यह जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है अन्यथा नही। इसलिये मोक्ष का साक्षात् मार्ग यह निश्चय रत्नत्रय ही है। देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति अथवा सप्त तत्व के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, जीवादि तत्वो के जानने रूप सम्यग्ज्ञान और व्रत समिति गुप्ति आदि आचरण रूप सम्यक् चारित्र ' यह व्यवहार रत्नत्रय, यदि निश्चय रत्न-त्रय की प्राप्ति मे सहायक है तो वह परम्परा से मोक्ष मार्ग होता है। व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति अनेक वार हुई पर निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना वह मोक्ष का साधक नही बन सकी।

निश्चय रत्नत्रय आत्मा से सम्बन्ध रखता है, इसका अर्थ यह नही है कि वह मोक्ष मार्ग मे प्रयोजनभूत जीवा-जीवादि पदार्थों के श्रद्धान और ज्ञान को तथा व्रत, समिति, गुप्ति रूप आचरण को हेय मानता है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि इन सबका प्रयोजन आत्म श्रद्धान ज्ञान और आचरण मे ही संनिहित है, अन्यथा नही। इसलिये इन सव को करते हुए मूल लक्ष्य की ओर दृष्टि रखना चाहिये।

नव पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकृत करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की है—

भूयत्थेणाधिगदा जीवाजीवा य पुण्ण भावँ च।
आसव संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

मूलार्थ—निश्चय नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन है। यहाँ विषय और विषयी मे अभेद करते हुए नौ पदार्थो को ही सम्यन्दर्शन कह दिया है। वस्तुत ये सम्यग्दर्शन के विषय है।

जीव[1] चेतना गुण से सहित तथा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द से रहित है। जीव के साथ अनादि काल से कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल का सम्वन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्वदशा मे यह जीव, शरीर रूप नोकर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मान कर उसमे अहकार करता है—'इस रूप मै हूँ' ऐसा मानता है। इसलिये सर्व प्रथम इसकी शरीर से पृथकता सिद्ध की जाती है। उसके वाद ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादिक भाव कर्मो से इसका पृथकत्व दिखाया जाता है। कहा गया है—हे भाई। ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न है अत पुद्गल के है, तू इन्हे जीव क्यो मान रहा है ?

जो स्पष्ट ही अजीव है उनके अजीव कहने मे कोई खास बात नही है किन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव

१— अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं॥ —समयसार, गाथा-४९

के साथ घुल मिलकर अनित्य तन्मयीभाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे है उन्हे अजीव मानना सम्यक्त्व की प्राप्ति मे साधक है। रागादिक भाव अजीव है। गुणस्थान, मार्गणा, जीव समास आदि भाव अजीव है, यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है। यहाँ 'अजीव है' इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीव की स्वाभाविक परिणति नही है। यदि जीव की स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल मे भी इनका अभाव नही होता परन्तु जिस पौद्गलिक कर्म की उदयावस्था मे ये भाव होते है उसका अभाव होने पर ये सब स्वय विलीन हो जाते हैं।

ससारचक्र से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है इसलिये आस्रव पदार्थ के विवेचन के पूर्व ही इसे सचेत करते हुए कहा गया है कि हे मुमुक्षु प्राणी ! तू मोक्षरूपी महानगर की यात्रा के लिये निकला है। देख, कही बीच मे पुण्य के प्रलोभन मे नही पड जाना। यदि उसके प्रलोभन मे पडा तो एक झटके मे ऊपर से नीचे आ जायगा, और सागरो पर्यन्त के लिये उसी पुण्य महल मे नजर कैद हो जायगा। दया, दान, व्रताचरण आदि के भाव, लोक मे पुण्य कहे जाते है और हिसादि पापो मे प्रवृत्तिरूप भाव, पाप कहे जाते हैं। पुण्य के फलस्वरूप पुण्य प्रकृतियो का बन्ध होता है और पाप के फलस्वरूप पाप प्रकृतियो का। जब उन पुण्य पाप प्रकृतियो का उदयकाल आता है तब इस जीव को सुख-दु ख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनो प्रकार की प्रकृतियो का बन्ध इस जीव को ससार मे ही रोकने वाला है। स्वतन्त्रता की इच्छा करने वाला मनुष्य जिस प्रकार लोहश्रृङ्खला से दूर रहना चाहता है उसी प्रकार स्वर्णश्रृङ्खला से भी दूर रहना चाहता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के इच्छुक प्राणी को बन्धन की अपेक्षा पुण्य और पाप को एक समान मानना आवश्यक है। सम्यग्र्शन, पुण्यरूप आचरण का निषेध नही करता किन्तु उसे मोक्ष का साक्षात् कारण मानने का निषेध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव, अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धा मे यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नही है और उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नही है।

सक्षेप मे जीव द्रव्य की दो अवस्थाए है—एक ससारी और दूसरी मुक्त। इनमे ससारी अवस्था अशुद्ध होने से हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होने से उपादेय है। ससार अवस्था का कारण आस्रव और बन्ध तत्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण सवर और निर्जरा है। आत्मा के जिन भावो से कर्म आते है उन्हें आस्रव कहते है। ऐसे भाव चार है—१ मिथ्यात्व २ अविरमण ३ कषाय और ४ योग। इन भावो का यथार्थरूप समझ कर उन्हे आत्मा से पृथक् करने का पुरुषार्थ सम्यग्दृष्टि जीव के ही होता है।

आस्रव का विरोधी तत्व सवर है अत अध्यात्म ग्रन्थो मे आस्रव के अनन्तर सवर की चर्चा आती है।[1] आस्रव का रुक जाना सवर है। जिन मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग रूप परिणामो से आस्रव होता है उनके विपरीत सम्यक्त्व, सयम, निष्कषाय वृत्ति और योग-निग्रह-रूप गुप्ति से सवर होता है। अध्यात्म मे इस सवर का मूल कारण भेद-विज्ञान को बताया है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न है अत. उनसे भेद-विज्ञान प्राप्त करने मे महिमा नही है। महिमा तो उन रागादिक भाव कर्मो से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने मे है जो तन्मयी भाव प्राप्त होकर एक दिख रहे है। मिथ्यादृष्टि जीव, इस ज्ञानधारा और मोहधारा को भिन्न-भिन्न नही समझ पाता, इसलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उसमे तत्काल राग-द्वेष करने लगता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उन दोनो धाराओ के अन्तर को समझता है इसलिये वह किसी पदार्थ को देखकर उसका ज्ञाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी-द्वेषी नही होता। जहा यह जीव, रागादिक को अपने

१— आश्रव निरोध सवर:। तत्वार्थ सूत्र—उमास्वामी

ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वही उनके सम्बन्ध से होने वाले राग-द्वेष से बच जाता है। राग-द्वेष से बच जाना ही सच्चा सवर है। किसी वृक्ष को उखाडना है तो उसके पत्ते नोचने से काम नही चलेगा किन्तु उसकी जड पर प्रहार करना होगा। राग-द्वेष की जड है भेद-विज्ञान का अभाव। अत: भेद-विज्ञान के द्वारा उन्हे अपने स्वरूप से पृथक समझना, यही उनको नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। मोक्षाभिलाषी जीव को इस भेदविज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान, ज्ञान मे प्रतिष्ठित नही हो जाता।

सिद्धो के अनन्तवे भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणित कर्म परमाणुओ की निर्जरा ससार के प्रत्येक प्राणी के प्रति समय हो रही है। पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नही होता। क्योकि जितने कर्म परमाणुओ की निर्जरा होती है उतने ही कर्म परमाणु आस्रवपूर्वक बन्ध को प्राप्त हो जाते है। कल्याण, उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्म परमाणुओ का आस्रव और बन्ध नही होता। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है। सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक कार्य निर्जरा का साधक हो जाता है। वास्तव मे सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य है। जिस प्रकार विष का उपभोग करता हुआ वैद्य मरण को प्राप्त नही होता और अरतिभाव से मदिरा पान करने वाला पुरुष मद को प्राप्त नही होता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोगोपभोग मे प्रवृत्ति करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नही होता। सुवर्ण, कीचड मे पडा रहने पर भी जग को प्राप्त नही होता और लोहा थोडी सी सर्द पाकर जग को प्राप्त हो जाता है, यह सुवर्ण और लोहा की अपनी अपनी विशेषता है।

यद्यपि आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनो ही स्वतन्त्र द्रव्य है और दोनो मे चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर है, फिर भी अनादि काल से इनका एक क्षेत्रावगाहरूप सयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बक मे लोहा को खीचने की और लोहा मे खीचे जाने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मा मे कर्म रूप पुद्गल को खीचने की और कर्म रूप पुद्गल मे खीचे जाने की योग्यता है। अपनी अपनी योग्यता के कारण दोनो का एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध हो रहा है। इस बन्ध का प्रमुख कारण स्नेहभाव-रागभाव है। जिस प्रकार धूलि-बहुल स्थान मे व्यायाम करने वाले पुरुष के शरीर के साथ जो धूलि का सम्बन्ध होता है उसमे प्रमुख कारण शरीर मे लगा हुआ स्नेह-तैल है उसी प्रकार कार्मणवर्गणा से भरे हुए इस ससार मे योग रूप व्यायाम को करनेवाले जीव के साथ जो कर्मो का सम्बन्ध होता है उसमे प्रमुख कारण उसकी आत्मा मे विद्यमान स्नेह, रागभाव ही है। सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निबन्ध अवस्था को प्राप्त होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नही समझ पाता इसलिये करोडो वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त नही कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का आचरण तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु उसका वह धर्माचरण भोगोपभोग की प्राप्ति के उद्देश्य से होता है, कर्मक्षय के लिये नही।[1]

समस्त कर्मों से रहित आत्मा की जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते है। मोक्ष शब्द ही इसकी पूर्व होने वाली बन्ध अवस्था का प्रत्यय कराता है। जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन मे पडा हुआ पुरुष बन्ध के कारणो को जानता है तथा बन्ध के भेद और उनकी तीव्र मन्द या मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह बन्धन से मुक्त नही हो सकता। बन्धन से मुक्त होने के लिये तो छेनी और हथौडा लेकर उसके छेदने का पुरुषार्थ करना पडता है। इसी प्रकार अनादि काल से कर्मबन्धन मे पडा हुआ यह जीव कर्मबन्धन के कारणो

१— सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मंभोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्त॥ —समयसार, गाथा–२७५

को जानता है तथा उसके भेद और तीव्र मन्द या मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह कर्म-बन्धन से मुक्त नही हो सकता। उसके लिये तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ होने वाला सम्यक्चारित्ररूप पुरुषार्थ करना पडता है। इस पुरुषार्थ को स्वीकृत किये विना कर्म-वन्धन से मुक्त होना दुर्भर हे। हे प्राणी! मात्र ज्ञान और श्रद्धान को लिये हुए तेरा सागरो पर्यन्त का दीर्घकाल यो ही निकल जाता है परतु कर्मबन्धन से मुक्त नही हो पाता, परन्तु उस श्रद्धान और ज्ञान के साथ जहा सम्यक् चारित्र रूप पुरुषार्थ को अगीकृत करता है वहा तेरा काम बनने मे विलम्ब नही लगता। यहा तक कि अन्तर्मुहूर्त मे भी काम बन जाता है। प्रज्ञा-भेदविज्ञान के द्वारा कर्म और आत्मा को अलग अलग समझकर आत्मा को ग्रहण करना चाहिये और कर्म को छेदना चाहिये।

इस प्रकार अध्यात्म, जीवा-जीवादि पदार्थों की व्याख्या अपने ढग से करता है।

सम्यग्ज्ञान की व्याख्या मे अध्यात्म, अनेक शास्त्रो के ज्ञान को महत्व नही देता। उसका प्रमुख लक्ष्य पर-पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायो से अभिन्न आत्म-तत्व के ज्ञान पर निर्भर करता है। इसके होने पर अष्टप्रवचन-मातृ का जघन्य श्रुत लेकर भी यह जीव बारहवे गुणस्थान तक पहुच जाता है, और अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है। परन्तु आत्मज्ञान के विना ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वों का पाठी होकर भी अनन्त काल तक ससार मे भटकता रहता है। अन्य ज्ञानो की बात जाने दो, अध्यात्म तो केवल-ज्ञान के विषय मे भी यह चर्चा प्रस्तुत करता है कि केवल-ज्ञानी निश्चय से आत्मा को जानता है और व्यवहार से लोकालोक को।[1] यह ठीक है कि केवल-ज्ञानी की आत्मज्ञान मे ही सर्वज्ञता निहित है परन्तु यह भी निश्चित है कि केवल-ज्ञानी को अन्य पदार्थों को जानने की इच्छारूप कोई विकल्प नही होता।

अध्यात्म, यथाख्यातचारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानता है क्योकि उसके होने पर ही मोक्ष होता है। महाव्रत और समिति के विकल्प रूप जो सामायिक तथा छेदोपस्थापना आदि चारित्र है वे पहले ही निर्वृत्र हो जाते है। औपशमिक यथाख्यात चारित्र मोक्ष का साक्षात्-साधक नही है। उसे धारण करनेवाला उपशान्त मोह गुणस्थान वर्त्ती जीव नियम से अपनी भूमिका से पतित होकर नीचे आता है, परन्तु क्षय से होनेवाला यथाख्यात चारित्र मोक्ष का साधक नियम से है। उसके होने पर यह जीव उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है। स्वरूप मे स्थिरता यथाख्यात चारित्र से ही होती है।

इस प्रकार अध्यात्म की देशना मे निश्चय-रत्नत्रय अथवा अभेदरत्नत्रय ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है। व्यवहार-रत्यत्रय अथवा भेदरूप-रत्नत्रय, निश्चय का साधक होने के कारण उपचार से मोक्ष मार्ग माना जाता है।

महावीरस्वामी की इस अध्यात्मदेशना को सर्वप्रथम कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने ग्रन्थो मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका समयसार तो अध्यात्म का ग्रन्थ माना ही जाता है पर प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार तथा अष्ट पाहुड आदि ग्रन्थो मे भी यथाप्रसङ्ग अध्यात्म का अच्छा समावेश हुआ है। कुन्दकुन्दस्वामी की विशेषता यह रही है कि वे अध्यात्म के निश्चयनय सम्बधी पक्ष को प्रस्तुत करते हुए आगम के व्यवहारपक्ष को भी प्रकट करते चलते है। कुन्दकुन्द के बाद हम इस अध्यात्म-देशना को पूज्यपाद के समाधितन्त्र, इष्टोपदेश मे पुष्कलता से पाते है। योगेन्द्र देव का परमात्म प्रकाश और योगसार भी इस विषय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रकीर्णक स्तम्भ के रूप मे आचार्य पद्मनन्दी तथा पण्डित प्रवर आशाधरजी ने भी इस धारा को समुचित प्रश्रय दिया है। अमृतचन्द्र सूरि ने कुन्दकुन्दस्वामी के अध्यात्म रूप उपवन की सुरभि से ससार को सुरभित किया है। यशस्तिलक चम्पू तथा नीति वाक्यामृत के कर्ता सोमदेवाचार्य की 'अध्यात्मामृततरङ्गिणी' भी इस विषय का एक उत्तम ग्रन्थ है।

❋

१— जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणयेण केवली भगवम्।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ —नियमसार, गाथा—१५८

४

पूज्य वर्णी जी के प्रशंसक—श्री मुकुन्द शास्त्री 'खिस्ते'

ले० श्री अमृतलालजी शास्त्री, वाराणसी ।

प्रशममूर्ति पूज्य प० गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य अनेक विशेषताओ के धनी थे । यही कारण है कि समस्त जैन विद्वानो की भाति शताधिक ब्राह्मण विद्वान् भी उनके प्रशसक रहे, जिनमे श्रद्धेय कवि जी प० मुकुन्द जी शास्त्री 'खिस्ते' साहित्याचार्य अग्रगण्य थे । आपका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रारम्भिक जीवन- मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया वि० सं० १९५१ मे आपका जन्म काशी मे श्री प० भैरवनाथ जी खिस्ते एवं श्रीमती शकुनादेवी के यहाँ हुआ था । इनका गोत्र काश्यप, कुलदेवता रेणुका और धर्म था वैष्णव । जब आप केवल दो वर्ष के ही हो पाये थे कि पिता जी का निधन हो गया । बेचारी विधवा माँ ने आपका और आपके बडे भाई नारायण शास्त्री का, जो सात वर्ष के हो चुके थे, पालन-पोषण किया और प्रारम्भिक शिक्षा भी दिलायी ।

बाबा का संरक्षण एवं शिक्षण—वैयाकरणकेसरी श्री प० रामचन्द्र शास्त्री काले, जो काशीवास के लिए महाराष्ट्र से आये हुए थे, परमवृद्ध होने से स्थानीय विद्वत्समाज मे 'बाबा'—नाम से सम्बोधित किये जाते थे। एक दिन आप जिस समय गङ्गातट पर गये, उसी समय कवि जी भी वहाँ जा पहुँचे । परिचय पूछने के पश्चात् बाबा ने कहा—अब तुम अपने को अनाथ नही, सनाथ समझो, हम तुम्हारे बाबा है इत्यादि । फिर बाबा ने अपने द्रव्य से आप दोनो भाइयो का यज्ञोपवीत सस्कार करवाया और स्वय ही व्याकरण पढाना प्रारम्भ किया । कुछ ही वर्षों मे आपने लघुकौमुदी से लेकर पातञ्जल महाभाष्य तक का ज्ञान करा दिया ।

न्याय साहित्य का अध्ययन - बाबा अनेक शास्त्रो के अधिकारी विद्वान् थे, अतः कविजी उन्ही के पास अन्य शास्त्र पढना चाहते थे, पर उनका निधन हो जाने से अन्य गुरुओ के पास जाना पडा । शास्त्रार्थ-महारथी श्री प० रामशास्त्री भण्डारी के निकट आपने नव्य एव प्राचीन न्याय का अध्ययन किया और महामहोपाध्याय कविरत्न प० रामचन्द्र शास्त्री से आचार्य अन्तिम खण्ड तक के साहित्य शास्त्र का । उन दिनो परीक्षा की अपेक्षा शास्त्रार्थ का महत्त्व अधिक था, फिर भी आपने खण्डश' परीक्षा देकर 'साहित्याचार्य' उपाधि प्राप्त की । समय-समय पर शास्त्रार्थ एव समस्यापूर्ति की सभाओ मे भी भाग लेते रहे । ग्यारह सभाओ मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर ग्यारह विजय-पदक भी आपने सञ्चित किये थे । आशु कवि होने से स्थानीय विद्वत्समाज मे आप 'कवि जी कहे जाते थे ।

यह एक सयोग की बात हे कि आपको तीनो गु एक ही नाम के प्राप्त हुए थे ।

अध्यापन– प्रथमत आपने स्थानकवासी जैन साधुअ को, जो चातुर्मास के निमित्त से काशी मे ठहरे हुए थे न्याय-व्याकरण पढाना प्रारम्भ किया । आपके स्प उच्चारण, विशिष्ट अध्यापन शैली एव विद्वत्ता से

इतने प्रभावित हुए कि आग्रहपूर्वक आपको अपने साथ महाराष्ट्र लिवा ले गये। पूर्वजो की जन्मभूमि देखने की लालसा से आप महाराष्ट्र चले गये, पर प्राय: प्रतिदिन पैदल चलने तथा भोजन बनाने की कठिनाई से वहाँ अधिक नही रह सके, काशी लौट आये और आते ही श्री शङ्कर सस्कृत महाविद्यालय मे प्रधानाध्यक के पद पर नियुक्त हो गये।

पूज्य वर्णी जी से भेंट—सन् १९१९ मे स्याद्वाद महाविद्यालय को एक विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ की आवश्यकता थी। उन दिनो केवल विज्ञप्ति प्रकाशित करा देने से अच्छे अध्यापक नही मिलते थे। अतः पूज्य वर्णी जी अपने गुरु प० अम्बादास जी के साथ स्थानीय प्रतिष्ठित विद्वानो से मिले। सभी ने कवि जी को बुलाने का सुझाव दिया। फलत कवि जी के घर गये। पूज्य वर्णी जी के मधुर व्यवहार से आप बहुत प्रभावित हुए और इसीलिए उनके आग्रह को टाल नही सके।

स्याद्वाद महाविद्यालय में नियुक्ति—सन् १९१९ मे कवि जी की स्याद्वाद महाविद्यालय मे नियुक्ति हुई। उस समय स्याद्वाद महाविद्यालय मे धर्मशास्त्र आदि विषयो के पृथक-पृथक् अध्यापक रहे, पर सर्वाधिक प्रतिष्ठा थी प० अम्बादास जी की। कुछ ही दिनो के पश्चात् वैसी ही प्रतिष्ठा कवि जी को प्राप्त हुई, जो अन्त तक बनी रही। प्रतिदिन नियत समय से पहले आना, बाद मे जाना, जैन एव जैनेतर साहित्य के छोटे-बडे सभी ग्रन्थो को सुबोध शैली मे अक्षरशः पढाना, ग्रन्थ-ग्रन्थियो को ऐसे ढग से सुलझाना कि अल्पज्ञ भी समझ जाय और सभी के साथ आत्मीय व्यवहार—इत्यादि विशेषताओ से सभी छात्र प्रभावित हो गये।

आकर्षक वैदुष्यपूर्ण अध्यापन की चर्चा सुनकर स्थानीय अन्य सस्थाओ के अधिकारियो ने आपको अधिक वेतन का प्रलोभन देकर अपने यहाँ आने का आग्रह किया, पर आपने स्याद्वाद नही छोडा। अन्यत्र न चले जाय—यह सोचकर स्याद्वाद ने ही आपका मासिक वेतन पैंतालीस रु० मासिक कर दिया। स्याद्वाद छोडते समय तक आपका यही वेतन रहा।

सन् १९३० मे स्थानीय श्रीचन्द्र कालेज के वरिष्ठ अधिकारी आपके घर गये। उन्होने बहुत आग्रह किया आप स्याद्वाद से श्री चन्द्र० मे आ जाइये। यह आपके घर के निकट है और यहाँ वेतन भी अधिक मिलेगा। आपने इस आग्रह को स्वीकार नही किया। अन्ततो गत्वा आपने स्याद्वाद से बचे समय (अपराह्ण) मे श्रीचन्द्र० जाने का आग्रह स्वीकार कर लिया। सन् १९४० तक आपने दोनो सस्थाओकी सेवा की। श्री चन्द्र० मे तीन घटा प्रतिदिन पढाते थे। वेतन था पचास रु० मासिक।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (क्वीस कालेज) मे नियुक्ति—सन् १९४० मे राज० स० म० विद्यालय के प्रिन्सिपल डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने प्रस्तुत महाविद्यालय मे आचार्य कक्षाओ के छात्रो को साहित्य पढाने के लिए आपको आमन्त्रित किया। अधिक वेतन, सञ्चित कोष (प्रोवीडेण्ट फण्ड), पेंसिन और अधिक अवकाश की सुविधाओ को देखकर आपने दोनो ही सस्थाओ से अवकाश लेकर वहाँ का कार्य प्रारम्भ कर दिया और एक वर्ष के उपरान्त स्थायी हो जाने पर दोनो सस्थाओ मे त्यागपत्र दे दिया। स्याद्वाद के अधिकारियो एव छात्रो के साथ आपका वात्सल्य जीवन के अन्त तक पूर्ववत् बना रहा।

स्वनामधन्य स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द जी के भगीरथ प्रयत्न से यह महाविद्यालय जब (सन् १९५७) वा० सस्कृत विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत हुआ, तब आप इसमे साहित्य विभाग के अध्यक्ष बना दिये गये। सन् १९६१ तक इसी पद पर रहे, बाद मे रिटायर हो गये।

सम्मानित प्राध्यापक—विश्वविद्यालयीय विद्वत्परिषद् के प्रस्ताव के आधार पर आप प्रस्तुत वा० स० विश्वविद्यालय के सम्मानित प्राध्यापक सन् १९६२ मे हुए। इस निमित्त से आपको जीवन के अन्त तक प्रतिमास दो सौ रुपये प्राप्त होते रहे।

साहित्यिक कार्य - आपने काव्यप्रकाश की अप्रकाशित भीमसेनी सस्कृतटीका का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया, जो मूल गन्थ के साथ विद्याभवन चौखम्भा से प्रकाशित है। आप ही के द्वारा सम्पादित 'रत्नावली' पुस्तक कई

वर्षो तक यू. पी. बोर्ड के इण्टर के कोर्स मे निर्धारित रही। जैन ग्रन्थ—यशस्तिलक चम्पू के दोनो भागो के सम्पादन मे अथ से इति तक आपका भरपूर सहयोग पं० सुन्दरलाल जी को प्राप्त रहा। बीसियो अनुसन्धाताओने अपने अनुसन्धेय ग्रन्थ आपसे आद्योपान्त पढे और मार्ग दर्शन भी प्राप्त किया। 'सारस्वती सुषमा' और 'भारत-श्री' आदि स्थानीय सस्कृत पत्रिकाओ मे आपकी समस्या-पूर्तियाँ एव विशिष्ट लेख समय-समय पर मुद्रित होते रहे।

अभिनन्दन—सन् १९४० मे आपके स्थानीय तथा बाहर के सहस्राधिक शिष्यो ने कृतज्ञतावश आपका अभिनन्दन गुरुपूर्णिमा के दिन किया था। अभिनन्दन पत्र के साथ एक थैली भी समर्पित की गयी थी। वि स २०१८ मे स्थानीय नूतन गणेशोत्सव मण्डल द्वारा और वि स २०२३ मे भागीरथी ट्रस्ट आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, चुनार (उ. प्र) द्वारा आपका अपूर्व अभिनन्दन किया गया था तथा अभिनन्दनपत्र भी समर्पित किया गया था।

अपूर्व प्रभाव—आपने पचास वर्षो तक स्थानीय तीनो सस्थाओ के अतिरिक्त अपने घर पर भी जिन छात्रो को पढाया, वे सदा के लिए आपके हो गये। उन पर आपका अपूर्व प्रभाव रहा। किसी भी विद्वान् को गुरु न मान सकने वाले उच्छृङ्खल छात्र भी आपको गुरु मानते रहे और आदर भी करते रहे। कुछ शिष्य तो इतने भक्त रहे कि गुरुपूर्णिमा के दिन आपके चरणो का प्रक्षालन करके अपने मस्तक पर लगाते रहे, चन्दन चर्चते रहे, आरती उतारते रहे, माला चढाते रहे और स्वयं की बनाई गुरु-स्तुति का सस्वर पाठ करते रहे, अथ च मिष्टान्न एव फलो के साथ एकमास के पूरे वेतन को भी सभक्ति समर्पित करते रहे। अब यह प्रथा समाप्त हो रही है, इससे सभव है कतिपय पाठक इन पंक्तियो पर विश्वास न करें। करे या न करे, यह सर्वथा सत्य है। जैसा मैं देखता रहा वैसा ही लिखा है। जैन छात्रो की अपेक्षा जैनेतर छात्र अधिक गुरुभक्त होते है और प्राय निश्छल भी।

उदार मनोवृत्ति—श्रद्धेय कविजी अपने परिवार के प्रति जितने उदार थे, उतने ही अपने सम्बन्धियों, मित्रो, विद्वानो एवं छात्रो के प्रति भी। बडी पुत्री की ससुराल से जब लक्ष्मी की छाया उठ गयी तब आपने अपनी पुत्री और दामाद को अपने पास रख लिया। इनके बच्चो का लालन-पालन किया, पढाया-लिखाया, विवाह किया और फिर उन्हे जीविका भी दिलायी। कविजी ने अपने वृद्ध ससुर को बीसियो वर्षो तक अपने यहाँ रखा और तन मन धन से सेवा भी की। स्थानीय हनुमान घाट पर एक वयोवृद्ध ब्राह्मण विद्वान् अपने परिवार के साथ रहते थे, असहाय थे। कविजी ने बीसियो वर्षो तक इन्हे आर्थिक सहायता दी और बारी-बारी से उनके निधन होने पर अपनी ही ओर से दाह सस्कार से तेरही तक का सारा प्रबन्ध किया। निर्धन छात्रो को आप अपनी ओर से दाल-चावल, आटा और ईंधन के लिये रुपये भी समय-समय पर देते रहे।

गम्भीर आघात—आप ७९ वर्ष तक पूर्ण स्वस्थ रहे। इसका कारण था सयम। आप सदा एक ही बार भोजन करते रहे। सोते समय प्रतिदिन आध सेर दूध पीते रहे। जीवन मे एक बार भी सिनेमा नही देखा। केवल तम्बाखू खाने का ही आपको व्यसन रहा। जीवन के अन्तिम ८० वे वर्ष के उत्तरार्ध मे आपको कमजोरी का अनुभव हुआ। चिरन्तन गङ्गास्नान का नियम टूट गया और बाहर जाना-आना भी बन्द हो गया। चुपचाप घरमे बैठे या लेटे रहने लगे। गत दीपावली के अवकाश मे आपके मझले दौहित्र—श्री दिनकर भट्ट बिलासपुर से, जहाँ वे डिग्री कॉलेज मे पढाते थे, पत्नी को लिवाने रीवा गये। वहाँ पहुँचते ही उनके पेट मे असह्य दर्द उठा, डॉ. को बुलाया गया, उनकी सलाह से अस्पताल मे भर्ती किया गया, दवा चालू हुई पर दर्द बढ़ता ही गया। प्रभात होते-होते प्राणान्त हो गया। विधवा पत्नी ने अपने पिताजी से, जो वही के कॉलेज मे प्राध्यापक है, सती होने की अनुमति मागी। वे कुछ समझाना ही चाहते थे कि इतने मे उसका भी निधन हो गया। दोनो का दाह संस्कार एक ही चिता पर किया गया। इस घटना से समूचे रीवा मे शोक छा गया। सहस्राधिक नर नारियों के नेत्रो से आँसू छलक उठे। यही समाचार जब कविजी के पास आया तो वे ऐसे रोये कि रोने को भी रोना आ जाय। रोते-रोते मूर्छित हो गये। दवा से

होश मे तो आये, पर अवस्था चिन्तनीय होती गयी। अपने-आप उठना भी सभव नही रहा। खाना-पीना छूट गया और काया गलती ही गयी। बड़ी लड़की और पुत्र-वधू दिनरात सेवा मे लगी रही। घर पर और कोई उपस्थित भी नही रहा। अन्त मे ३ जनवरी सन १६७४ के सायकाल ६॥ बजे स्वर्गवास हो गया। अब नकलची परीक्षार्थियो के इस युग मे ऐसे विद्वान का होना सभव नही।

आप अपने पीछे दो पुत्र—श्री प. गजानन शास्त्री बी. ए., व्याकरणाचार्य, श्री चन्द्रशेखर शास्त्री एम एस सी दौहित्र कमलाकर भट्टभट्ट एम. ए साहित्यचार्य, पुत्र-वधू, ज्येष्ठ पुत्री एव छोटे-छोटे दस पौत्र एव दौहित्रो को छोड गये है। भौतिक सम्पत्ति के नाम पर कुछ भी नही छोड सके। उदारचेता होने से कुछ सचय नही कर पाये थे। विश्वविद्यालयीय सचित कोष से तीस हजार रु मिले थे, उन्हे एक स्थानीय व्यापारी डकार गया। हाँ, पहले कुछ मास तक व्याज अवश्य देता रहा। पोष्टाफिस या बैंक मे आपने कभी खाता नही खोला, न किसी का जीवन बीमा ही किया था।

मैंने आपके पास मध्यमा से आचार्य अन्तिम खण्ड तक के सभी साहित्यिक ग्रन्थो का अध्ययन किया था। जैन साहित्य के भी बीसियो ग्रन्थ आपके पास पढे थे। राजकीय सस्कृत महाविद्यालय मे पहले किसी जैन छात्र का नाम नही लिखा जा सकता था, पर श्रद्धेय कविजी ने डॉ मङ्गलदेवजी से अनुमति लेकर अपने विभाग के रजिस्टर मे मेरा नाम लिखा था। शास्त्री तथा आचार्य कक्षा के कोर्स का पूरा अध्ययन मैने उक्त सस्था मे ही उनके पास किया था। मेरे ऊपर आपकी सदैव कृपादृष्टि रही।

जब भी कभी प्रसङ्ग आता था आप वर्णीजी भी प्रशसा किया करते थे। मृत्यु से पहले भी जब मैं उनके घर गया पूज्य वर्णीजी की प्रशसा सुनने को मिली। जैन समाज मे सम्प्रति जितने भी साहित्याचार्य हैं, प्राय वे सभी आपके शिष्य या प्रशिष्य है। मनीषि-मूर्धन्य प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य भी आपके शिष्य हैं।

पूज्य वर्णीजी के प्रशसक ऐसे सुचरित विद्वान् को कभी भुलाया नही जा सकेगा।

—अमृतलाल जैन

ससारमे जहाँ तक गम्भीर दृष्टिसे देखा गया शान्ति का अश भी नही। मै, तूँ, कह कर जन्मका अन्त हो जाता है, परन्तु जिस शान्तिके अर्थ व्रत, अध्ययन, उपवास का परिश्रम उठाया जाता है उस मूल वस्तु पर लक्ष्य नही जाता। कह देना कोई कठिन वस्तु नही। द्रव्यश्रुतमात्र कार्यकारी नही. क्योकि यह तो पराश्रित है। वही चेष्टा हमारे प्राणियोको रहती है। भावश्रुत की ओर लक्ष्य नही। अत जलमन्थनसे घृतकी इच्छा रखनेवालेके सदृश हमारा प्रयास विफल होता है। अत. कल्याण पथ पर चलने वाले प्राणियोको शुद्ध वासना बनाना ही हितकर है।

—अध्यात्म-पत्रावली–३८

५

'जैन-दर्शन में लोक-मंगल की भावना'

श्री मिश्रीलाल जैन एडवोकेट गुना (म. प्र.)

तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि आचार्यों द्वारा श्रुत-परम्परा के आधार पर संकलित की गई है, अत· दिव्य-ध्वनि मे लोकमंगल की भावना ही जैनदर्शन मे लोकमगल की भावना के रूप मे मूर्त हुई है। भगवान महावीर लोक-कल्याण के आदर्श थे; उनका जीवन लोककल्याण के लिये समर्पित जीवन था। स्व-कल्याण मे लोक-कल्याण समाहित है। शुद्धात्मतत्त्व के अन्वेषण मे भौतिक सुखो का परित्याग करने वाले व्यक्ति के हृदय मे वात्सल्य, करुणा, स्नेह और भ्रातृत्व के भाव स्वत. अंकुरित और पल्लवित हो जाते है। ये भाव मुक्तिपन्थ और लोक-कल्याण के प्रारम्भिक चरण है।

जैन-दर्शन का आधार निवृत्तिमूलक है किन्तु स्व-कल्याण मे लोक-कल्याण का निषेध कहाँ ? तीर्थंकर का सम्पूर्ण जीवन तथा दिव्यध्वनि मे मुखरित सन्देश इस सत्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं। तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का खिरना ही लोकमगल के हेतु है। जैनाचार्य समन्तभद्र ने इस सत्य को सुन्दर शब्दो मे व्यक्त किया है—

अनात्मार्थं विना रागै शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ।।

शिल्पी के करस्पर्श से बजता हुआ मुरज क्या कुछ अपेक्षा करता है ? उसी प्रकार तीर्थङ्कर प्राणिमात्र के हित का उपदेश देते हैं।

महावीरकालीन भारत मे यज्ञीय हिसा को धर्म का आवरण प्रदान कर दिया गया था। —'यज्ञार्थं पशव. सृष्टा. स्वयमेव स्वयम्भुवा।' स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये पशुओ का निर्माण किया, अतः वेदविहित हिसा, हिसा नही होती।— 'वैदिकी हिंसा हिसा न भवति।' जब हिंसा युगधर्म थी, तब भगवान महावीर ने 'अप्पा सो परमप्पा' का निर्घोष किया।

'अहिसा परमो धर्मः' इस एक वाक्य मे ही विश्वधर्म का सार तथा अहिंसा का चरम आदर्श समाहित है। अहिसा मे विश्वशाति का कल्याणकारी भविष्य निहित है। हिंसा शत्रुता की वर्द्धिका है।

सयंऽतिवायए पाणे अदुवन्नेहिं घायए।
हणंतं वाऽणुजाणइ वेरं वड्ढइ अप्पणो ।।

जैनदर्शन के अनुसार निवृत्ति, मुक्तिदायी तथा जीव का अन्तिम लक्ष्य है। प्रवृत्ति भी वही मान्य है जो सदाचरण द्वारा समाज को नियन्त्रित करे। अनेकान्त-स्याद्वाद निवृत्ति और प्रवृत्ति के समन्वय का सूचक है। यह वैचारिक अहिसा के स्थापन मे सहायक है।

धर्म वही है, जो लोकमगल मे सहायक हो। आचार्यो ने जगत् को पवित्र करने वाले उसके उद्धारक कल्पवृक्ष के समान दयामूलक धर्म को नमस्कार किया है।—

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै।

जैन-धर्म का परम उद्देश्य सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा से लोकमगल का एव निवृत्ति की अपेक्षा से मुक्ति का शाश्वत मार्ग प्रशस्त करना है। तीर्थंकर भगवान् महावीर की वात्सल्यपूरित वाणी मे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य चार सद्भावनाये मुखरित हुई है।

समस्त प्राणियो के कल्याण भी कामना मैत्रीभावना है। यह मैत्रीभावना ही मनुष्य की आचारसंहिता है। शान्तिपाठ मे पूजा के उपरान्त व्यक्ति और समष्टि के मगल की कामना की जाती है।

लोक-कल्याण की भावना जैसी जैन-धर्म और जैन-साहित्य मे सर्वत्र बिखरी हुई है, वैसी उदात्त भावना अन्यत्र दुर्लभ है। अपरिग्रह के सिद्धान्त मे लोक-कल्याण का सन्देश है। भगवान् महावीर का उपदेश है कि मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने सग्रह के उपयोग का अधिकारी केवल अपने को न समझे, उसका उचित व्यक्तियो मे उचित वितरण करे।

असविभागी न हु तस्य मोक्खो।

देवाधिदेव ने जाति, धर्म, वर्ण, लिग आदि के भेद का तिरस्कार करते हुये कहा है कि कर्म ही ब्राह्मणत्व या शूद्रत्व का निर्णायक है। उन्होने उपेक्षित एव तिरस्कृत शूद्रवर्ग को धर्माचरण का अधिकार दिया।

महाकवि भूधर ने दिव्य-ध्वनि की प्रशस्ति मे कहा है—

वीर हिमाचल तें निकसी,
गुरु गौतम के मुखकुण्ड ढरी है।
मोह-महाचल भेद चली,
जग की जड़ता-तप दूर करी है।।
ज्ञान-पयोनिधि माँहि रली,
बहु-भंग-तरंगनि सो उछरी है।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति
मैं अंजुरी निजशीश धरी है।।
या जग-मंदिर मे अनिवार
अज्ञान अँधेर छयो अतिभारी।
श्री जिनकी धुनि दीपशिखा सम,
जो नहिं होत प्रकाशनहारी।।
तो किस भाति पदारथ पांति,
कहां लहते रहते अविचारी।
या विधि सत कहे धनि है,
धनि है जिनबन बड़े उपकारी।।

हे जिनवाणी! तू पवित्र गगानदी की भाँति वीर-हिमाचल से निकलकर गौतमरूपी कुण्ड मे गिरी है। वहाँ से चलकर तू मोहरूपी पर्वत का भेदन कर ससार के अविवेकरूपी सताप को दूर करती हुई ज्ञानरूपी सागर मे जाकर गिरी है, जिसमे सप्तभगरूपी लहरे उछला करती है। ऐसी पवित्र जिनवाणी को मैं हाथ जोड कर नमस्कार करता हूँ।

ससाररूपी मन्दिर मे निविड अन्धकार व्याप्त है। दीपशिखा की भाँति भगवान् की दिव्यध्वनि यदि प्रकाश न करती, तो संसार के पदार्थ कैसे ज्ञात होते? सज्जन पुरुष इसीलिये उपकारी जिनवचनो का साधुवाद करते है।

विपरीत विचारधारा तथा अन्य धर्मो के प्रति समन्वय की भावना लोकमगल तथा पारस्परिक सौमनस्य के लिये आवश्यक है। भगवान् महावीर का धर्म वीतरागता की नीव पर खडा है। वीतराग किसी धर्म, सम्प्रदाय, विचार-धारा या व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष नही करता। वह सत्य का अन्वेषण तथा सत्य का ही आश्रयण करता है। जैन-दर्शन का स्याद्वाद इसी समन्वय की भावना को पल्लवित करता है। दर्शन के अतिरिक्त आचरण मे भी माध्यस्थ्य तथा तटस्थता का उपदेश इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का द्योतक है। भगवान् महावीर ने दुराग्रह, पक्षपात या अन्धश्रद्धा को प्रोत्साहित नही किया। भगवान् महावीर के अनुयायियो मे इसी निष्पक्ष समन्वय भावना के दर्शन होते है।

इतिहास और सस्कृति के प्रकाण्ड विद्वान वासुदेवशरण अग्रवाल हेमचन्द्र जी के सन्दर्भ मे लिखते है कि 'विचार के क्षेत्र मे हेमचन्द्र आने वाले युग के ऋषि थे। हेमचन्द्र की समन्वय बुद्धि मे हिन्दी के आठ सौ वर्षो का रहस्य ढूंढा जा सकता है। प्रसिद्ध है महाराज कुमारपाल के साथ आचार्य हेमचन्द्र भी सोमनाथ के मन्दिर मे गये और उनके मुख से यह अमर उद्गार निकला—

भवबीजाकुरजलदा रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

ससाररूपी बीज के अकुर को हरा करने के लिये मेघरूप रागद्वेष आदि विकार जिसके मिट चुके है। मेरा प्रणाम उसके लिये है, वह फिर ब्रह्मा, विष्णु, शिव या तीर्थंकर कोई भी क्यो न हो?

इस प्रकार की उदात्त वाणी धन्य है, जिन हृदयो में

इस प्रकार की उदारता प्रकट हो, वे धन्य है। इस प्रकार की भावना राष्ट्र के लिये अमृत बरसाती है।'

विक्रम की आठवी शती के दिग्गज विद्वान हरिभद्र-सूरि भी स्पष्ट और निश्चित शब्दो मे अपने निष्पक्षपात और ऋजुभाव को व्यक्त करते हैं।—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

महावीर की वाणी के प्रति मेरा पक्षपात नही है और न कपिल आदि के प्रति मेरा वैरभाव है। मेरा तो यही मत है कि जिसका वचन युक्तिसगत हो, वह ग्राह्य है।

आपत्तिग्रस्त मनुष्य की सेवा करना आवश्यक धर्म है। भगवान् महावीर ने कहा कि समर्थ होकर भी सकटापन्न व्यक्ति की सेवा से विमुख होना महामोहनीय कर्म है। जो मनुष्य अपने इस प्रकार के कर्त्तव्य से उदासीन हो जाता है, वह धर्म से सर्वथा पतित हो जाता है। उक्त पाप के कारण वह सत्तर कोडा-कोडि सागर—चिरकाल तक जन्म-मृत्यु के चक्र मे उलझा रहेगा। सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा। यदि कोई साधु भी अपने समी-पस्थ रोगग्रस्त साधु की सेवा छोडकर तपश्चरण मे लग जाता है, तो वह सघ मे रहने योग्य नही है। सेवा ही धर्म है।—

असगि होय परिजणस्स सगिणहयाए अब्भुट्वेयब्बभ भवई।

जो अनाश्रित और निराधार है, तुम उन्हे आश्रय दो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी करुणा का उपदेश देते हुये कहा—जो प्यासा है, भूखा है, उसे दुखित देखकर दुखित होना तथा उसके प्रतिकार के उपाय करना अनुकम्पा है।

सेवा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये भगवान् महावीर ने कहा—

'वेयावच्चेण तित्थयर-नाम-गोत-कम्म निबधइ।

सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।

आचार्य समन्तभद्र के शब्दो मे भगवान् का शासन सर्व सकटो का उन्मूलक है। वही अक्षुण्य तथा सर्वोदय तीर्थ है।

सर्वापदामन्तकर निरन्तरम्।
सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव ॥

प्रकोष्ठ की देहरी पर स्थित प्रदीप जिस प्रकार कक्ष के अभ्यन्तर और बाह्य दोनो को द्युतिमान् करता है, उसी प्रकार प्रभु की वाणी मे ध्वनित सन्देश बाह्य और आभ्यन्तर, शरीर और आत्मा, व्यक्ति और विश्व दोनो को आलोकित करते है।

"जितने अश मे रागादिक न्यून हो वही धर्म है। बाह्यव्यापारसे जितनी उपरमता हो वही रागादिक की कृशता मे हेतु है। जितना बाह्य परिग्रह घटे उतनी ही आत्मा मे मूर्च्छा के अभाव से शान्ति आती है और जो शान्ति है वही मोक्षमार्ग की अनुभावक है, अत. जहाँ तक बने, यही पुरुषार्थ कीजिये। सर्व से आभ्यन्तर निवृत्ति रखिये। क्योकि तत्त्व निर्वृत्तिरूप है। "यथा निवृत्तिरूप यतस्तत्त्वम्।" स्वाध्याय को आचार्य महाराज ने अन्तरग तप मे गिना है। और श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने आगमज्ञान ही त्यागियो के लिये मुख्य बताया है। और आगमज्ञान का मुख्य फल भेदज्ञान है।"

—अध्यात्म-पत्रावली—६४